अगस्त 1949 को भूटान सरकार ने स्वतन्त्र भारत की सरकार से एक नयी सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार भूटान और भारत के सम्बन्ध पूर्ववत् रखने का निश्चय किया गया।[1]

भूटान के विकास के लिए भारत बराबर सहायता कर रहा है। भूटान के एक महत्वपूर्ण सड़क जो उस राज्य के नगर पारो के साथ भारत का सम्बन्ध स्थापित करती है भारतीय इंजीनियरों की सहायता से बनायी गयी है। एक और सड़क भूटान के उस क्षेत्र में बनायी गयी जिस पर चीन ने दावा किया था। इन दोनों सड़कों के निर्माण में भारत का पन्द्रह करोड़ रुपया खर्च पड़ा था।

भारत-चीन युद्ध के पश्चात् सिक्किम और भूटान दोनों का महत्व बहुत बढ़ गया है। चीन के मानचित्रों में भूटान के तीन सौ वर्गमील का क्षेत्र तिब्बत के भाग के रूप में दिखाया गया था। चीनी सैनिकों का जमाव इन्हीं दो राज्यों की सीमाओं पर है। इस हालत में भारत की सीमा की सुरक्षा शृंखला में भूटान और सिक्किम कमजोर कड़ियाँ हैं। प्रतिरक्षा के प्रयोजन के लिए भूटान और चीन के तीन सौ मील की सीमा और सिक्किम तथा चीन के बीच की सौ मील की सीमा भारत की उत्तरी सीमा का ही अंग है। इस सीमा की सुरक्षा बड़ा कठिन है। भूटान और सिक्किम दोनों की भूमि समुद्र की सतह से दस हजार फीट ऊँची है जो बराबर हिमाच्छादित रहती है। इस हालत में भारत को इस क्षेत्र में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता है। इन राज्यों का चीन के सैनिक दबाव से ही नहीं वरन् कूटनीतिक दबाव से भी रक्षा करना भारत का उत्तरदायित्व है।

भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही भूटान के सामने यह समस्या पैदा हो गयी थी कि उसे अपने दो शक्तिशाली पड़ोसियों चीन और भारत के बीच किसे अपना निकटतम पड़ोसी स्वीकार करना चाहिए क्योंकि यह छोटा सा पहाड़ी प्रदेश उत्तर में तिब्बत से घिरा हुआ है और दक्षिण में भारत से। चीन के प्रति किसी प्रकार की अनावश्यक शत्रुता को अभिव्यक्त न करते हुए भी भूटान के राजा ने यह महसूस किया कि उनके देश का भविष्य भारत के साथ ही जुड़ा हुआ है, क्योंकि भारत और भूटान के सम्बन्ध न केवल अंग्रेजी शासनतन्त्र की वजह से बने बल्कि इनका इतिहास हजारों वर्ष सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता के रूप में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त दोनों देशों की घनिष्ठता के पक्ष में भारत की गुट निरपेक्षता और दूसरे देशों के मामले में अनावश्यक हस्तक्षेप न करने की भी थी।

भारतीय सहयोग—1960 से पहले भूटान अन्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित करने की नीति के पक्ष में नहीं था। मगर तिब्बत में चीन के आधिपत्य के बाद भूटान के शासकों को यह महसूस हुआ कि उनका पृथक्तावाद उनके हित में नहीं है। अतः भूटान के राजा ने भारत से अनुरोध किया कि भूटान की सैनिक सहायता की जाय। 1960 के बाद इन दोनों देशों के बीच प्रतिरक्षा ही नहीं अन्य प्रकार का सहयोग आरम्भ हुआ जिसमें उद्योग चिकित्सा और संचार व्यवस्था सबसे प्रमुख हैं। 1960 से पहले भूटान में सड़कों की अवस्था बहुत ही खराब थी शायद ही कोई ऐसी सड़क थी जिस पर जीप चल सकती हो। एक कस्बे से दूसरे कस्बे तक प्रमुख वाहन खच्चर

1 सिक्किम ने सन्धि के जरिये अपना वैदेशिक सम्बन्ध और प्रतिरक्षा का भार भारत को सौंप दिया था। लेकिन भूटान ने इस सन्धि के द्वारा केवल विदेश नीति का भार ही भारत को दिया। भारत-चीन युद्ध के बाद उसने प्रतिरक्षा का भार भी भारत को सौंप दिया।

भारत और विश्व-राज

दीनानाथ वर्मा एम ए पी एच डी

रीडर पटना विश्वविद्यालय

पटना

कॉमनवेल्थ के अनेक राष्ट्रमण्डलीय देशों का जिनमें भारत भी है राष्ट्रमण्डल की भावी उपयोगिता के विषय में सन्देह होने लगा है और कुछ देश उससे अलग हो जाने के बारे में भी सोचने लगे हैं। ब्रिटेन के साझा बाजार में शामिल होने के फैसले से राष्ट्रमण्डल पर कितना घातक प्रभाव पड़ सकता है उसका पता बहुत कुछ इसी बात से चल जाता है कि भारत में इस विचार को बल मिल रहा है कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन राष्ट्रमण्डल के मित्र देशों के साथ धोखा करने जा रहे हैं और ब्रिटेन की परम्परा को भी वह छोड़ रहे हैं। ब्रिटेन की राष्ट्रमण्डलीय देशों के माल पर सीमा शुल्क में रियायत देने की परंपरा रही है। भारत को आशंका यह है कि साझा बाजार में शामिल होने के बाद ब्रिटेन को भारतीय माल के आयात पर ब्रूसेल्स कमीशन की सिफारिश के अनुसार सीमा शुल्क लगाना होगा।

जनवरी 1969 में लन्दन में हो रहे राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए रवाना होने के पूर्व प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने यह कहा कि कुल मिलाकर राष्ट्रमण्डल का एक विचार विनिमय मंच से अधिक नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि आवश्यकता पड़ने पर भारत राष्ट्रमण्डल से अलग हो सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध में उन्होंने एक शर्त जोड़ दी। श्रीमती गांधी ने कहा कि 1949 से चले आ रहे इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विघटन की जिम्मेदारी हम नहीं लेना चाहते लेकिन यदि अफ्रीकी एशियाई देशों को यह महसूस होने लगता है कि इसकी उपयोगिता खत्म हो चुकी है तो भारत-सरकार इसमें बने रहना भी नहीं चाहेगी। इस प्रकार तत्काल के लिए इस समस्या को टाल दिया गया। लेकिन इस संस्था की व्यर्थता अब धीरे धीरे स्पष्ट होती जा रही है। रोडेशिया जैसे महत्वपूर्ण मसले पर यह पूर्णतया निरर्थक सिद्ध हुआ है। राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के सत्तरहवें सम्मेलन (1969) में इस विषय पर चर्चा अवश्य हुई लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं निकला। इस सम्मेलन में राष्ट्रमण्डल के महासचिव आर्नोल्ड स्मिथ ने अपने 1966 68 के प्रतिवेदन में लिखा था कि प्रजातीय असहिष्णुता नवपृथक्तावाद और धनी तथा निर्धन राष्ट्रों के बीच की बढ़ती हुई खाई कुछ ऐसी समस्याएं हैं जो विश्व की सुख शान्ति के लिए अभिशाप बनी हुई हैं। राष्ट्रमण्डल के सत्तरहवें अधिवेशन पर इन्हीं प्रवृत्तियों का प्रभाव रहा और यही वाद विवाद के मुख्य विषय रहे। सम्मेलन शुरू होने के पहले ही जमैका त्रिनीदाद आदि ने यह प्रस्ताव रखा कि लन्दन में एक ऐसा विशेष ब्यूरो स्थापित किया जाय जो राष्ट्रमण्डल सचिवालय के अंग के रूप में सदस्य देशों की प्रजातीय और अप्रवासीय समस्याओं का निदान करे। आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में भी वाद विवाद हुए लेकिन सम्मेलन ने निर्णायक ढंग से कोई ऐसा निर्णय नहीं किया जो सदस्य राष्ट्रों को लाभ पहुँचाता।

राष्ट्रमण्डल का सिंगापुर सम्मेलन—जनवरी 1971 में पहली बार राष्ट्रमण्डल के देशों का सम्मेलन ब्रिटेन से बाहर आयोजित किया गया और वह भी एशिया के एक छोटे-से देश सिंगापुर में। 14 जनवरी 1971 को राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों का यह अठारहवां सम्मेलन शुरू हुआ था और 22 जनवरी को समाप्त हुआ। इस सम्मेलन की विषय सूची में दो मुख्य विषय थे ब्रिटेन द्वारा दक्षिण अफ्रिका के गोरे जातिवादी शासकों को हथियार देने का निश्चय और हिंद महासागर में डियागो गार्शिया द्वीप में ब्रिटेन और अमरिका का सैनिक अड्डा बनाने का निश्चय। अफ्रिका के दस और भारत सरकार लन्दन के इन दोनों निश्चयों को अफ्रिका तथा हिंद महासागर की शान्ति के खिलाफ मानते थे इसलिए सिंगापुर में ब्रिटेन तथा उसके मित्रों का डट कर मुकाबला करने की तैयारी में थे।

भूमिका

"भारत और विश्व-राजनीति" स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति के इतिहास और उसकी समस्याओं को हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने का लेखक का विनम्र प्रयास है। भारत की विदेश नीति पर अंगरेजी में कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। लेकिन जहाँ तक लेखक का ज्ञान है अभी तक हिन्दी में कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है जिसमें इस विषय पर कुछ विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया हो। प्रस्तुत पुस्तक इस अभाव को दूर करने में कितना सफल हुई है इसका निर्णय स्वयं हमारे पाठक करेंगे।

पुस्तक के सम्बन्ध में मैं मौलिकता का दावा नहीं कर सकता। इसकी रचना अंगरेजी भाषा में लिखित कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों के आधार पर हुई है। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय विदेश नीति जैसे गहन विषय को पाठकों के समक्ष सरल भाषा में रखना है। मुझे पूरी आशा है कि हमारे पाठक पुस्तक की विषय-वस्तु को सरलता से समझेंगे और स्वयं अपना निष्कर्ष निकालेंगे।

पुस्तक के प्रणयन तथा प्रकाशन में मुझे कई व्यक्तियों से बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं उन सभी मित्रों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। मैं उन सभी लेखकों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनकी पुस्तकों से मुझे इस पुस्तक की रचना करने में सहायता मिली है।

पुस्तक के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के सुझावों का मैं सादर स्वागत करूँगा।

—लेखक

विषय सूची

अध्याय : 1

स्वतन्त्रता के पूर्व विश्व राजनीति में भारत

(i) विश्व राजनीति में पराधीन भारत की स्थिति

अत्यन्त प्राचीन काल से ही बाह्य जगत् से भारत का सम्बन्ध चला आ रहा है। सम्भवत भारत ने किसी भी युग में दुनिया से पृथक् रहकर एकांतवासी जीवन व्यतीत नहीं किया।[1] दक्षिण पूर्व एशिया के कतिपय देशों तथा यूनान और रोम के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध था। इनमें से कई देशों के साथ यदा क दा कूटनीतिक राजदूतों के आदान प्रदान भी हुए थे।[2] वस्तुत मध्ययुग के आगमन के पूर्व अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का अपना स्वतंत्र अस्तित्व था। किन्तु मुस्लिम राज्य की स्थापना के फलस्वरूप दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के साथ भारत का संबंध पूर्णतया समाप्त हो गया। फिर पश्चिम एशिया में विशाल ओटोमन साम्राज्य (Ottoman Empire) की स्थापना के कारण यूरोप के देशों के साथ भी उसका सम्पर्क प्राय टूट गया। ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का सम्पूर्ण अस्तित्व लुप्त हो गया। अब भारत ब्रिटिश साम्राज्य (जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि [International Law] के अन्तर्गत एक इकाई माना जाता था) में विलीन होकर उसका अभिन्न अंग बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहा। भारत पर शासन करने तथा भारतीय नीति का निर्धारण करने के लिए 1858 में लन्दन में एक इंडिया आफिस (India Office) की स्थापना की गयी और पराधीन भारत की विदेश नीति का निर्धारण वहीं से होने लगा। भारत सरकार ब्रिटिश सरकार की एक अधीनस्थ शाखा (Subordinate Branch) बन गयी और उसपर उसका (ब्रिटिश सरकार का) पूर्ण एवं सर्वोपरि नियंत्रण कायम हो गया। ब्रिटिश सरकार से अलग होकर भारत सरकार किसी समस्या पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं कर सकती थी। इस संदर्भ में प्रो वेस्टलेक ने ठीक ही लिखा था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत भारत का कोई स्थान नहीं है। शांति या युद्ध सदस्यता या अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के लिए वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय

---

1 India did not lead an isolated life but maintained a close and intimate contact with the great civilization of the West through trade and commerce. This led to cultural and occasionally even Political relations. R. C. Mazumdar & A. D. Pusalkar (Ed.) *The History and Culture of the Indian People The Age of Imperial Unity* p 633

2 Ibid Also see A. B. Maity International Status of India *The Modern Review* April 1954 p 288

इकाई युनाइटेड किंगडम (United Kingdom) है जिसका भारतीय साम्राज्य एक अंग मात्र है। [1]

भारतीय देशी रियासतों की स्थिति भी इससे कोई भिन्न न था।[2] उनके वैदेशिक सम्बन्धों पर ब्रिटिश क्राउन (British Crown) का पूर्ण नियन्त्रण था। ब्रिटिश सरकार के भारत स्थित प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को अपनी इच्छानुसार देशी रियासतों पर लागू कर सकते थे। यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध की घोषणा करती अथवा शान्ति समझौता करती या तटस्थ दृष्टिकोण अपनाती तो देशी रियासतों को भी इनमें शामिल होने के लिए वे बाध्य कर सकते थे। ये सारी बातें ब्रिटेन की इच्छा पर निर्भर करती थी देशी रियासतों के शासकों की इच्छा का इसमें कोई महत्व नहीं था।[3] अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत इनकी स्थिति का वर्णन विलियम ली वार्नर ने निम्नांकित शब्दों में किया है "भारत सरकार और देशी रियासतों के पारस्परिक सम्बन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं था। देशी राज्य ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्चता (Paramountcy of British Crown) के अन्दर थे और इस कारण उन पर ब्रिटिश सरकार का पूर्ण नियन्त्रण था।"[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश राज्य की स्थापना के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का अपना कोई पृथक् स्थान नहीं रहा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर भारत की स्थिति एक खिलौने के सदृश हो गयी जो लन्दन के इण्डिया आफिस में बैठे भारत सचिव (Secretary of State for India) के इशारे पर वर्षों तक नाचती रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की स्थिति—भारत की इस असहाय और पराबलम्बी स्थिति को देखकर यह समझ लेना गलत होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में इसका कोई महत्त्व नहीं रहा। वस्तुतः इस स्थिति में रहते हुए भी भारत चाहे अनचाहे तथा परोक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करता रहा।[5] उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में ब्रिटिश विदेश नीति के मूल

---

1 Westlake *Chapters on the Principles of International Law* (1913) p 215

2 ब्रिटिश काल में भारत दो राजनीतिक इकाइयों में बंटा हुआ था ब्रिटिश भारत जिसपर भारत सरकार का प्रत्यक्ष शासन था। देशी रियासतें जिनकी संख्या लगभग 562 थी आन्तरिक मामलों में स्वायत्तता प्राप्त किये हुए थीं। भारत सरकार और देशी रियासतों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण पहले के सन्धि समझौतों के आधार पर होता था। वैदेशिक मामलों में वे पूर्णतया ब्रिटिश सरकार के अधीन रही थीं।

3 A B Keith *A Constitutional History of India* pp 19 220

4 William Lee Warner *The Protected Princes of India* p 373

5 The role of India has been that of a pawn playing a part and even a major part in the balance of world forces and world conflict but not of its own choosing or under its own control —R P Dutt *India Today* (1949) p 502

तत्वों को समझने के लिए हमें हमेशा भारत की महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक सामरिक और राजनीतिक स्थिति पर ध्यान रखना पड़ेगा। इन तथ्यों को किसी भी मूल्य पर आँख से ओझल नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही भारत ब्रिटिश विदेश नीति का मूल आधार बन गया। इस काल में ब्रिटेन के सामने यूरोपीय शक्ति सन्तुलन (Balance of Power) को बनाये रखने की समस्या उतनी गम्भीर नहीं थी जितना भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा की समस्या।[1] उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से लेकर भारत में ब्रिटिश राज्य के अन्त तक इस सम्पूर्ण काल में जो औपनिवेशिक विस्तार, युद्ध अथवा शांति समझौते, कूटनीतिक संघर्ष तथा अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हुए उन सब के मूल में ब्रिटेन की साम्राज्यवादी प्रणाली (Imperial system) के अन्तर्गत भारतीय साम्राज्य की अद्भुत स्थिति थी। भारत इस साम्राज्यवादी प्रणाली का केन्द्रबिन्दु या आधार-स्तम्भ था।[2]

नेपोलियन के युद्ध और भारत—भारत को केन्द्रबिन्दु बनाकर ब्रिटिश विदेश नीति का निर्धारण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही शुरू हुआ। उस समय यूरोप के राजनीतिक नभमण्डल पर नेपोलियन बोनापार्ट का सितारा चमक रहा था। उस महान फ्रांसीसी विजेता की महत्त्वाकांक्षा किसी से छिपी हुई नहीं थी। उसने स्पष्ट रूप से कहा था कि ब्रिटेन को यूरोप में नहीं हराया जा सकता है क्योंकि वह एक छोटा सा द्वीप ही नहीं वरन् दूर देशों में फैला हुआ एक विशाल साम्राज्य है और

1 No person can under ta[illegible] d [illegible] f re gn policy of Lng land w[illegible] d [illegible] know th e relationsl ip [illegible] Ind a bears to the Britisl Fmp r [illegible] per n c n understand the British foreign policy which has inspired th diplom [illegible] c and mil t ry act vities from th e Nepol onic wars r gl t d [illegible] to th establishment of th e League of Nati ns unless he nterpret [illegible] ars diplomatic conflicts t rrit rial annexatio s tr aties a d alli nces and ext n io of prot ctorat s [illegible] th th e f ct of Ind [illegible] consta tly in mind For th e Briti h empir [illegible] s not a Eur p an Empire it is an As at c Em pire and Ind [illegible] s its central pillar —Agnes Sm dley In ia s Rol in World Polit cs *The Mod rn Revie* May 1925 p 530

2 Br tisl f re gn pol cy d[illegible] r ng the last two ce tur es has been gr atly [illegible] fl enced by its str [illegible] g det rm ation t contr l India b cause c trol of Ind a [illegible] ss ry f r th e m inter a ce of Brit sh upr m [illegible] in Eur pe a d [illegible] ar d th wo ld p lit cs gener lly Indi[illegible] may in fac b regard d as th e c ntr of p [illegible] of Briti h Emp r n th East and f r th s re son lone sett g aside all other c n iderati ns mu t b [illegible] f nd d a inst f r [illegible] aggr ssi n It [illegible] n [illegible] nly Bri [illegible] h Supr [illegible] acy [illegible] that country it self which is at s ake the uninterrupted interc ur [illegible] with her astern colo ies them [illegible] s [illegible] ould at once be threatened sh uld foreign ins sio [illegible] ke place
—Archibald Colquhoun *Russia Against India* p 203

भारत उस साम्राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। वह कहा करता था कि ब्रिटेन को भारत में पराजित किया जा सकता है। अतः यूरोप में ब्रिटेन को पराजित करने के लिए वह भारत विजय की योजना बनाने लगा। मई 1798 में एक विशाल सैनिक बेड़ा लेकर वह मिस्र की ओर चल पड़ा। उसका विचार था कि पहले मिस्र पर आधिपत्य कायम करके उसको एक मुख्य फ्रांसीसी सैनिक अड्डा बनाया जाय ताकि वहाँ से भारत पर सुगमतापूर्वक आक्रमण किया जा सके। मिस्र पहुँच कर उसने कुछ भारतीय नरेशों के साथ वार्तालाप भी शुरू कर दी। 1799 में उसने काहिरा से मैसूर के नरेश टीपू सुल्तान को एक पत्र लिखा और उनके साथ सैनिक गठबन्धन कायम करने की इच्छा व्यक्त की। नेपोलियन की इन सैनिक और राजनयिक गतिविधियों को देखकर ब्रिटिश सरकार सशंकित हो उठी और तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड वेलेस्ली ने नेपोलियन के संकट को टालने के लिए कई कदम उठाए। उसने उन भारतीय देशी नरेशों को जिन पर उसको जरा भी सन्देह था कुचलने का काम शुरू किया और फिर स्वेज की तरफ नेपोलियन का मुकाबला करने के लिए भारत से एक सेना भेजने की व्यवस्था की। यह अंग्रेजों का सौभाग्य था कि नेपोलियन कई कठिनाइयों से बाध्य होकर मिस्र से आगे नहीं बढ़ सका। इसका लाभ उठाकर अंग्रेजों ने माल्टा द्वीप पर अधिकार कर लिया। यूरोप से भारत पहुँचने के सामुद्रिक मार्ग में माल्टा की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण थी और इस द्वीप पर आधिपत्य जमाने में ब्रिटेन मुख्यतः इसी तथ्य से प्रेरित हुआ था।

नेपोलियन के मिस्र से लौटने के तुरन्त बाद फ्रांस और ब्रिटेन के बीच आमियाँ की सन्धि (Peace of Amiens) हो गयी और दोनों देशों के बीच युद्ध बन्द हो गया। आमियाँ की सन्धि की एक शर्त यह थी कि ब्रिटेन माल्टा को फ्रांस को लौटा देगा। लेकिन भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए माल्टा का जो महत्व था उसको ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश सरकार ने उस द्वीप को लौटाने से इन्कार कर दिया। 1803 में इंगलैंड और फ्रांस के बीच पुनः जो युद्ध छिड़ा उसका मुख्य कारण यही था। इस तरह नेपोलियन के युद्धों के सिलसिले में भारत एक निर्णायक तत्व साबित हुआ।[1]

1815 में वियना कांग्रेस में ब्रिटेन ने केप आफ गुड होप (Cape of Good Hope) पर दावा किया और कांग्रेस ने नेपोलियन की पराजय के उपरान्त जो प्रादेशिक व्यवस्था की उसके अनुसार केप पर ब्रिटेन के अधिकार को मान लिया गया। केप आफ गुड होप पर अपना अधिकार जमाने के लिए ब्रिटेन उन्हीं कारणों से प्रेरित हुआ था जिन कारणों से उसने माल्टा पर अधिकार जमाया था।[2]

रूस का आतंक—नेपोलियन की पराजय के बाद से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक ब्रिटिश कूटनीति रूस के आतंक से ग्रस्त रही। भारत पर रूसी आक्रमण की तथाकथित योजना वर्षों तक अंग्रेजों के लिए सरदर्द बनी रही। भारत

1 M Prothero *The Development of the British Empire* p 80
2 Taraknath Das *India in World Politics* p 17

पर आक्रमण करके उसपर आधिपत्य जमाने की आकांक्षा कभी रूस ने पाला हो या नहीं, य बात सम्भवत कभी नहीं मानी जा सकेगी, लेकिन सम्पूर्ण उन्नीसवीं स ी म अग्र ज लोग रूस के आतंक स अत्यधिक भयभीत रहे। उसका ख्याल था कि रूस विशाल ओटोमन साम्राज्य को निगलकर किसी तरह भूमध्यसागर तक पहुँचना चाहता है जहाँ से उसका दूसरा लक्ष्य भारत होगा। इस सम्भावना को ध्यान म रखकर पश्चिम एशिया म ब्रिटिश कूटनीति अत्यन्त सक्रिय हो उठी। ओटोमन साम्रा य जो उस समय यूरोप का मरीज (Sickman of Europe) कहा जाता था, को बचाने के लिए ब्रिटेन ने हर सम्भव उपायों का अवलम्बन किया क्योंकि भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए ओटोमन साम्राज्य का अस्तित्व परम आवश्यक माना जाता था।[1]

इसी बीच भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त पर स्थित अफगानिस्तान के सम्बन्ध म अग्रेजों के दिमाग मे कुछ शंकाएं उठीं। उनका यह सोचना था कि अफगानिस्तान का अमीर रूस के साथ साँठ गाँठ कर रहा है। इस कारण उस मुल्क म रूसी प्रभाव के जमने की सम्भावना बहुत बढ़ गयी थी। भारतीय साम्रा य की सुरक्षा को ध्यान म रखते हुए अग्रेज ऐसा होने देना नहीं चाहते थे। 1839 42 का प्रथम आंग्ल अफगान युद्ध (First Anglo Afghan War) इसी नीति का परिणाम था। 1853 के क्रिमिया युद्ध (Crimean War) और उसमें ब्रिटेन की भूमिका को भी हम भारतीय नीति के सन्दर्भ म ही समझ सकते है। इस युद्ध म ब्रिटेन एक नि -द्देश्य से शामिल हुआ था। उद्देश्य यह था कि ओटोमन साम्राज्य की प्रादेशिक अखण्डता पूर्ववत कायम रहे। ब्रिटेन को यह भय सदा बना रहता था कि यदि ओटोमन साम्राज्य खतम हो गया तो यूरोप और भारत के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो जायगा। यह स्थिति भारतीय साम्रा य की सुरक्षा के लिए अत्यन्त खतरनाक मानी जाती था। 1878 के बर्लिन सम्मेलन (Berlin Congress) म ब्रिटेन इसी उद्देश्य से शामिल हुआ था। बर्लिन की सन्धि (Berlin Treaty) द्वारा साइप्रस द्वीप पर इंगलैंड का अधिकार कायम हुआ। भूमध्यसागर से भारतीय साम्राज्य तक जाने वाले मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए साइप्रस के द्वीप का विशेष महत्त्व था। इस कारण ब्रिटेन ऐसी कोई व्यवस्था नहीं मान सकता था जो इस प्रायद्वीप को किसी ऐसी शक्ति (Power) के हाथ में सौंप दे—जो शक्ति बाद में चलकर ब्रिटेन का विरोधी हो जाय। विशेषकर 1869 म स्वेज नहर के खुल जाने से यह द्वीप और

[1] On the Red Sea route a sub serviency Turkey was considered preferable to belligerent Russia and for the next hundred years the British Government became absorbed in wars and intrigues in the Near East almost to had a single purpose to restore the old boundaries of the Turkish Empire that it should remain in occupation of the road to India —R A Reynolds India as an International Problem *The Modern Review* May 1930 p 578

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते और भारत—इस युग में ब्रिटेन ने दुनिया के बड़े बड़े राष्ट्रों के साथ जो महत्वपूर्ण सन्धि समझौते किये उनमें भी भारत को किसी भी ओझल न किया गया। 1902 का एंग्लो जापानी सन्धि (Anglo Japanese Treaty) में भारत की चर्चा प्रत्यक्ष रूप से की गयी थी। इसकी दो धाराएं (1 और 3) मुख्यतः भारत से सम्बद्ध थीं। इनमें कहा गया था सन्धि के हस्ताक्षरकर्ता राज्य ऐसा कोई काम नहीं करेंगे जिससे पूर्वी एशिया और भारत की सुरक्षा पर कोई खतरा पैदा हो। 1907 की एंग्लो रूसी सन्धि (Anglo Russian Convention) के साथ भी लगभग ऐसी ही बात थी। तिब्बत फारस और अफगानिस्तान में रूस अपना साम्राज्यवादी जाल फैला रहा था। भारतीय सुरक्षा पर इसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। इसलिए ब्रिटेन ने रूस की तरफ से निश्चिन्त होने के लिए 1907 में उसके साथ यह सन्धि कर ली।

इस सन्धि की पृष्ठभूमि में एक दूसरी बात भी थी। 1878 की बर्लिन सन्धि के बाद आटोमन साम्राज्य के प्रति ब्रिटेन के रुख में परिवर्तन हो गया था। अब वह ओटोमन साम्राज्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को भारतीय सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण नहीं मानता था। अतएव ओटोमन साम्राज्य में उनकी रुचि निरंतर कम होने लगी। इसी बीच जर्मनी ने कुस्तुन्तुनिया में अपना प्रभाव जमाने का काम शुरू किया और बर्लिन बगदाद रेलवे (Berlin Baghdad Railway) की योजना बनायी। इस रेलवे की योजना से भारत की सुरक्षा पर प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न हो गया। ब्रिटेन ने इस योजना का बड़ा तीव्र विरोध किया। फलतः योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी और बर्लिन बगदाद रेलवे आगे नहीं बढ़ पायी। फिर भी पूर्व में नवीन जर्मनी के खतरे से ब्रिटेन इतना सशंकित हो उठा कि उसने इस खतरे अपने पुराने दुश्मन के साथ समझौता कर लेना ही उचित समझा। इससे पूर्व 1904 में फ्रांस के साथ उसका समझौता (Anglo French Entente) हो चुका था। लेकिन जर्मनी की महत्वाकांक्षा को कुचलने के लिए केवल फ्रांस के साथ समझौता पर्याप्त नहीं था। अतएव 1907 में रूस के साथ भी ब्रिटेन ने समझौता किया और फ्रांस रूस तथा ब्रिटेन को मिलाकर एक त्रिगुट (Triple Entente) का निर्माण हुआ। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के विस्फोट के पूर्व के यूरोपीय कूटनीतिक इतिहास को भारत ने प्रभावित किया। भारत के इर्द गिर्द कोई विरोधी साम्राज्यवादी शक्ति किसी तरह अपना प्रभुत्व न कायम कर सके इसे रोकने के लिए ब्रिटेन ...

pire c st the freedom of a number of countries Pr tecti n of India has been an imp rtant m t ve n British aggres i n in P rsia i Mesopotamia in Afghanistan, in Tib t in Burma even n Egypt and th Mediterranean In the l st ry of European diplom cy during the last century India m l t ell appe r on e ery page so far reaching has b en her influe ce
—P T Moon *Imperialism in World Politics* p 311

वस्तुत एक भारतीय मुनरो सिद्धान्त (Indian Monroe Doctrine) का प्रति पालन किया था जिसका अर्थ था किसी भी मूल्य पर भारत के पड़ोस में किसी भी यूरोपीय देश के साम्राज्यवाद को नहीं पनपने देना।[1]

साम्राज्यवादी प्रसार में भारत का योग—ब्रिटिश साम्राज्यवाद और यूरोपीय साम्राज्यवाद के लिए भारत का एक और महत्व था। भारत जनशक्ति और अन्य साधनों का अपार भंडार था जिनका प्रयोग दूसरे देशों को पराधीन बनाने के लिए भी किया जाता था। भारत सरकार एक विशाल सेना रखती थी। इसके दो प्रमुख काम थे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलना और एशिया के अन्य भागों में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार करना। वस्तुत भारत ब्रिटेन की सैनिक शक्ति का मुख्य केन्द्र बिन्दु था। पास-पड़ोस के देशों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का फैलाव भारतीय सेना और साधनों के प्रयोग से ही सम्भव हो सका था। 1839 में चीन के विरुद्ध पहले पहल भारतीय सेना का प्रयोग किया गया। चीन की सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफीम के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। लेकिन अफीम के व्यापार से अंग्रेज व्यापारी बहुत अधिक लाभ किया करते थे। अतएव उन्होंने तस्करी द्वारा चीन में अफीम पहुँचाना शुरू किया। जब चीन की सरकार ने इनके विरुद्ध कारवाई की तो कई तरह का बहाना बनाकर अंग्रेजों ने चीन के खिलाफ युद्ध उत्पादित कर दिया। अफीम के व्यापार को लेकर कुछ वर्षों बाद चीन के साथ एक दूसरी लड़ाई भी (1857 में) हुई। इन दो युद्धों के फलस्वरूप विदेशियों के लिए चीन का दरवाजा जबरदस्ती खोल दिया गया और बड़ी संख्या में यूरोपीय लोग उसमें बलात् प्रवेश कर गये। फिर चीनी तरबूज को काटने (Cutting of the Chinese Melon) का युग आया और चीन यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के प्रभाव क्षेत्र (sphere of influence) में विभक्त हो गया।

अफगानिस्तान के साथ भी कुछ ऐसी ही बात हुई। भारत के इस पड़ोसी देश के साथ ब्रिटिश भारतीय सरकार ने तीन युद्ध किये—1839 1878 तथा 1919 में। इन युद्धों में अपार धन का व्यय हुआ और यह सारा खर्च भारतीय खजाने से किया गया। अफगानिस्तान के विरुद्ध सैनिक कारवाइयों में जिस सेना का प्रयोग हुआ वह भारतीय सेना थी। यद्यपि अफगानिस्तान पूरी तरह कभी नहीं जीता जा सका और उसपर प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन नहीं स्थापित हुआ लेकिन इन युद्धों के फलस्वरूप वर्षों के लिए पूरी तरह अंग्रेजों के प्रभाव में आ गया। उसकी अपनी ... की

1 The foreign relations of India are regulated by a kind of unwritten Monroe Doctrine I mean that we maintain over all the countries immediately adjacent the policy of allowing no intervention by other European nations and the predominance of no influence except our own It is this necessary attitude that gives us incessant occupation abroad in Asia and bringing us into continual contact or collision with European rivals —Mortimer Durand *Life of Alfred Lyall* p 398

वदेशिक नीति पर कोई नियंत्रण नहीं रहा। आंतरिक बातों में भी वह अंग्रेजों की मर्जी के खिलाफ सामान्यतः कुछ नहीं कर सकता था।[1]

इसी तरह बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दक्षिण अफ्रिका के बोअर लोगों ने अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध शुरू किया। इस युद्ध में अंग्रेजों को बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा। हताश होकर ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश भारतीय सरकार से सनिक सहायता मांगी। उस समय भारत का वायसराय लार्ड कर्जन था। उसने तुरत ही भारत से दक्षिण अफ्रिका के लिए एक विशाल सेना भेजने का प्रबन्ध किया और बोअरों को कुचलने में भारतीय सेना का प्रयोग अत्यन्त ही प्रभावकारी रूप से किया गया।[2]

तिब्बत पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित करने के लिए भी भारतीय सेना और साधनों का प्रयोग हुआ। तिब्बत शुरू से एक अर्द्ध स्वतन्त्र और चीन का संरक्षित राज्य था। भारत और चीन के मध्य में इसकी स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। अतएव ब्रिटिश सरकार ने इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य कायम करने का निश्चय किया। ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय ने यह कहना शुरू किया कि तिब्बत की ओर से भारत पर आक्रमण होने का खतरा बहुत बढ़ गया है। अतएव इसको ब्रिटिश नियन्त्रण में लाना आवश्यक हो गया है। पहले ब्रिटिश सरकार ने अपने एजेंट जासूसों को बौद्ध भिक्षुओं तथा उपदेशकों के रूप में तिब्बत भेजकर गुप्त रूप से वहाँ का नक्शा तैयार कराया। फिर तिब्बत के साथ सीमा का झगड़ा खड़ा किया गया और इस वाद विवाद को तय करने के लिए कर्नल यंगहसबंड को तिब्बत भेजा गया। लेकिन कर्नल यंगहसबंड ने राजदूत के रूप में न जाकर भारतीय सेना की एक टुकड़ी के साथ 1904 में तिब्बत में प्रवेश किया और दलाई लामा को डरा धमकाकर तिब्बत को एक संधि करने के लिए बाध्य किया। यंगहसबंड मिशन के सैनिक अभियान के क्रम में लगभग डेढ़ हजार तिब्बती मारे गये पर उन्हें निरन्तर को हार इसकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ी। इसके बाद तिब्बत पूरी तरह ब्रिटिश भारतीय शासन के नियन्त्रण में आ गया।

इस तरह के कई अन्य ऐतिहासिक उदाहरण उस तथ्य को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि ब्रिटेन ने संसार के अन्य भागों में अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए भारतीय जन शक्ति और साधनों का खुलकर प्रयोग किया और भारत को उसने अपना विश्वव्यापी साम्राज्यवादी नीति का आधार-स्थल बनाया।

1 P T Moon op cit pp 274 9

2 Earl of Ronaldshay *The Life of Lord Curzon* Vol II p 68

3 It is the Indian soldiers who as mere mercenaries fought for the East India Company and other foreign concerns and powers even against their own people It is a historical fact that through the control of India's trade manpower resources and strategic position Great Britain has succeeded during the last three centuries to expand in all Southern Asia

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए भारत की स्थिति का एक और उपयोग था। पड़ोस के देशों के स्वतन्त्रता संग्राम को कुचलने के लिए भारतीय सेना का बीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग से खुलकर प्रयोग किया गया। संसार के किसी भी भाग में पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए किसी स्वातन्त्र्य आन्दोलन के छिड़ने पर भारत से तुरन्त सेना भेजा जाता था और उसको कुचला जाता था। भारतीय सेना हमेशा युद्ध की स्थिति में रखा जाती थी और कुछ ही क्षण की सूचना पर वह एशिया और अफ्रिका के किसी कोने में भेजी जा सकती थी। इस प्रकार लगभग दो सदियों तक भारत संसार में साम्राज्यवाद का प्रधान केन्द्र बना रहा। इसी कारण एक मिस्री नागरिक ने अत्यन्त क्षुब्ध होकर एक भारतीय से कहा था "आप भारतीय केवल अपनी ही स्वतन्त्रता नहीं खो बैठे हैं बल्कि आप दूसरों की स्वतन्त्रता के अपहरण में भी अंग्रेजों की सहायता करते हैं।"

'ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था में भारत की इस केन्द्रीय स्थिति को देखकर लार्ड कर्जन ने कहा था "भारत जिब्राल्टर से शुरू होता और हांगकांग में खत्म होता है" (India begins from Gibralter and ends at Hongkong)। इस भारत रूपी विशाल भूभाग पर ब्रिटेन किसी भी यूरोपीय राज्य का प्रभाव सहन नहीं कर सकता था। 1904 5 के बजट के अवसर पर इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में बोलते हुए लार्ड कर्जन ने कहा था "भारत एक विशाल किले के समान है जो दो तरफ समुद्रों से और एक तरफ पहाड़ों से घिरा हुआ है लेकिन इन दीवारों के बाद एक ढालुआं किनारा है हम नहीं चाहते कि इसपर हम अपना अधिकार कायम करें। लेकिन हम इस बात की अनुमति भी नहीं दे सकते कि कोई दूसरी शक्ति इसपर कब्जा कर ले। हमलोग इसे अपने सहयोगियों और मित्रों के प्रभाव में रखना चाहते हैं लेकिन यदि कोई विरोधी शक्ति इसमें घुस जाय और यहीं अपना अड्डा बना ले तो हम बिना हस्तक्षेप किये नहीं रह सकते। यदि हम ऐसा नहीं करते और विरोधी शक्तियों को यहाँ जमने का अवसर दे देते हैं तो इस भारत में स्वयं हमारी सुरक्षा खतरे में पड़ जायगी। अरबिया, फारस अफगानिस्तान तिब्बत और स्याम के प्रति ब्रिटिश नीति का यही रहस्य है।"[1] इस विचार को बाद में लार्ड कर्जन ने

Africa and Australia India is the key stone of the arch of the British Empire today The great misery of China and the subjugation of various Asiatic peoples even those of Egypt have been brought about by the Indian soldiers and by using Indian resources —T N Das *India in World Politics* p 8

1 India is like a fortress with the vast moat of sea on two of her faces and with mountains as her wall on the remainder But beyond these walls which are sometimes of by no means insuperable height and admit of being easily penetrated extends a glacis of varying breadth and dimensions we do not want to occupy it but we also cannot afford to see it

इम्पीरियल कान्फ्रेंस (कामनवेल्थ) में भारत का प्रवेश

औपनिवेशिक सम्मेलन—ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष शासन में भारत आने के लगभग तीन वर्ष बाद ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत की स्थिति में धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन होना शुरू हुआ। इस परिवर्तन में पहले औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conference) और बाद में इम्पीरियल कान्फ्रेंस (Imperial Conference) ने प्रमुख भूमिका अदा की। अतः औपनिवेशिक सम्मेलन तथा इम्पीरियल कान्फ्रेंस के साथ भारत के सम्बन्धों के इतिहास का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। इसके द्वारा हमें इस तथ्य के समझने में सुविधा होगी कि भारत ने किस प्रकार पराधीन होते हुए भी ब्रिटिश काल में ही एक सीमित अंश में अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया था।

औपनिवेशिक सम्मेलन का प्रारम्भ 1887 में हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासी उपनिवेशों (Self governing Colonies) की सामान्य समस्याओं पर विचार विमर्श करने के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया गया था जिसने बाद में चलकर एक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया। 1887 में महारानी विक्टोरिया के शासन की स्वर्ण जयन्ती में सम्मिलित होने के लिए स्वशासी उपनिवेशों के प्रधान मन्त्री लन्दन आये हुए थे। इसी अवसर से लाभ उठाकर ब्रिटिश सरकार ने उनके साथ विचार विमर्श करने के उद्देश्य से एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसको औपनिवेशिक सम्मेलन का नाम दिया गया। बाद में इसी औपनिवेशिक सम्मेलन का नाम बदलकर इम्पीरियल कान्फ्रेंस रख दिया गया।[1] 1887 के प्रथम औपनिवेशिक सम्मेलन में भारत को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिला। 1897 के द्वितीय औपनिवेशिक सम्मेलन और 1902 के तृतीय सम्मेलन में भी भारत को शामिल होने का अवसर नहीं दिया गया।[2] इस समय तक भारत में राजनीतिक चेतना का विकास हो चुका था और 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) की स्थापना के बाद से भारतवासी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते जा रहे थे। प्रारम्भिक अवस्था में कांग्रेस पर उदारवादी भारतीय नेताओं का प्रभाव था जो ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास रखते थे। इन नेताओं ने यह माँग रखी कि भारत को औपनिवेशिक सम्मेलन की सदस्यता मिलनी चाहिए। [illegible] ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने भारतीयों की इस माँग का समर्थन किया। किन्तु [illegible] ने कहा कि औपनिवेशिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए केवल ब्रिटिश भारतीय सरकार का प्रतिनिधि ही नहीं वरन् भारतीयों को भी आमन्त्रित किया

1 H D Hall *The [illegible] Commonwealth of Nations* pp 9 98

2 Notes on the Status and position of India in the British Empire Memorandum presented to the Indian Statutory Commission by the Government of India *Report of the Indian Statutory Commission* (1930) Vol V p 1333

जाना चाहिए। वह व्यक्ति भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल का गैर सरकारी सदस्य हो सकता है।[1]

इन प्रस्तावों के फलस्वरूप 1907 के औपनिवेशिक सम्मेलन में भारत को अस्थायी रूप से (on ad hoc basis) भाग लेने का मौका मिल गया। भारत सचिव लार्ड मार्ले की अनुपस्थिति में इण्डिया आफिस के एक वरिष्ठ पदाधिकारी जान्स मके ने सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया। औपनिवेशिक सम्मेलन में भारत की स्थिति स्वशासी उपनिवेशों के सदृश नहीं थी लेकिन सम्मेलन कक्ष में घुसने का अवसर उसे अवश्य मिल गया।

इम्पीरियल कान्फ्रेंस—1907 के औपनिवेशिक सम्मेलन का चौथा अधिवेशन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। इसने सम्मेलन को एक स्थायी रूप प्रदान कर उसके लिए एक विधान तैयार किया। औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conf rence) का नाम बदल कर इम्पीरियल कान्फ्रेंस (Imperial Conference) रखा गया तथा स्वशासी उपनिवेशों (Self governing Colonies) के बदले कनाडा, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रिका, यूनाइटेड आदि को डोमिनियन (Dominion) कहने का निश्चय किया गया। यह तय हुआ कि इम्पीरियल कान्फ्रेंस में अब से केवल मन्त्री स्तर के व्यक्ति ही अपने अपने देशों का प्रतिनिधित्व करेंगे। लेकिन भविष्य के इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भारत के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं किया गया। इसका एक कारण था डोमिनियनों के प्रतिनिधि भारत को समान दर्जा देने को तैयार नहीं थे। वे भारत की स्थिति को अत्यन्त निम्न मानते थे और उसको अपने से कम दर्जा देते थे। उनका कहना था कि भारत एक स्वशासी डोमिनियन नहीं है और इसलिए का कक्ष का द्वार उसके लिए नहीं खोला जा सकता। ब्रिटिश डोमिनियन के रा य प्रजातीय भेदभाव के भी समर्थक थे और नहीं चाहते थे कि ... के संगठन में काले लोग घुस जाय। इन कारणों से प्रेरित होकर इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भारत के प्रवेश का उन्होंने बड़ा प्रबल विरोध किया।[2] इसलिए 1911 के इम्पीरियल कान्फ्रेंस के अधिवेशन में भारत को फिर सम्मिलित नहीं किया गया। कुछ समय के लिए भारत सचिव सम्मेलन के अधिवेशन में बैठे अवश्य थे लेकिन इसे सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व या सम्मेलन की भारतीय सदस्यता नहीं माना जा सकता।

लेकिन 1911 के बाद परिस्थितियाँ धीरे धीरे भारत के पक्ष में होने लगीं। भारत जिस सम्मेलन में प्रतिनिधित्व की माँग कर रहा था वह अब औपनिवेशिक सम्मेलन नहीं रह गया था। उसका नाम अब इम्पीरियल कान्फ्रेंस हो गया था। इस नाम परिवर्तन का भारतीय दृष्टि से महत्व था। सम्मेलन के साथ इम्पीरियल शब्द जुड़ जाने से इसका स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया था।

1 158 H C Deb 4S Col 1380

2 S R Mehrotra *India and the Commonwealth* p 91

भारत के बिना इस इम्पीरियल कांफ्रेंस कहना उतना ही गलत प्रतीत हो रहा था जितना प्रिंस आफ डेनमार्क के बिना हैमलेट नाटक खेलना। ब्रिटिश बादशाह को भारतीय साम्राज्य के कारण हिज इम्पीरियल मजेस्टी (His Imperial Majesty) की उपाधि प्राप्त था। इस हालत में इम्पीरियल कांफ्रेंस में भारत की अनुपस्थिति सबको खटक रही थी। अभी तक सम्मेलन में ऐसी बहुत सी बातों पर वाद-विवाद होता रहा था जिसमें इण्डिया आफिस के विचार लिया जाता था। यह इस बात का प्रमाण था कि कांफ्रेंस में भारत का हित उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना अन्य डोमिनियनों का। ऐसी स्थिति में भारत को अलग रखना या कांफ्रेंस में उसके प्रश्न को रखना बराबर अनुचित माना जाने लगा।

राउण्ड टेबल—इम्पीरियल कांफ्रेंस की सदस्यता भारत को दिलाने में सबसे बड़ा समर्थक इंग्लैण्ड का एक राउण्ड टेबल ग्रुप (Round Table Group) था। यह कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, लेखकों, पत्रकारों और राजनीतिज्ञों का एक गुट था जो भारतीय समस्या का अध्ययन साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से करता था।[1] इसके सदस्य भारत में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के वेग को कम करने के लिए ऐसे उपायों को निकालने के लिए सोच और चिंतन किया करते थे जिससे भारतीय प्रभावित होकर ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग करते रहें। इस ग्रुप के सदस्य समाचार पत्रों में लेख लिखकर, पुस्तकें प्रकाशित कराके तथा ब्रिटिश संसद में प्रश्न पूछकर इम्पीरियल कांफ्रेंस में भारत के प्रवेश की माँग का समर्थन करते रहे और इसके लिए उन्होंने एक सबल आन्दोलन का सूत्रपात किया। उनके इस आन्दोलन को बड़े प्रभावशाली ब्रिटिश राजनीतिज्ञों, समाचार पत्रों और संसद के सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। उनके प्रयासों के फलस्वरूप ब्रिटिश संसद में भारत के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठने लगे।[2]

प्रथम विश्व-युद्ध का प्रभाव—1914 में प्रथम विश्व युद्ध के छिड़ने से इस आन्दोलन को बड़ा बल मिला। युद्ध छिड़ने पर भारत ने इंग्लैंड का पूर्ण समर्थन किया और हर तबके के भारतीयों ने इंग्लैंड की पूरी सहायता देने का आश्वासन दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने युद्ध पर एक प्रस्ताव पास करके ब्रिटिश सम्राट के प्रति अपनी राजभक्ति की घोषणा की और भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल ने भी एक प्रस्ताव स्वीकार कर ब्रिटिश सरकार को हर तरह की भारतीय सहायता का वचन दिया। भारतीय सेना युद्ध के कई स्थलों पर पहुँची। युद्ध में इसने सक्रिय भाग लिया और शत्रु को हराने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

1 राउण्ड टेबल (Round Table) के प्रमुख सदस्यों में निम्नलिखित व्यक्ति थे—एल एस एमरी, राबर्ट ब्रांड, राबर्ट सेसिल, [illegible], रेजिनाल्ड कूपलैंड, लियोनेल कर्टिस, जियोफ्री डॉसन, फिलिप कर, डी ओ मलकम, विलियम मेरिस, जेम्स मेस्टन, लार्ड मिलनर तथा ए ई जिमर्न आदि।

2 S R Mehrotra *India and the Commonwealth* pp 79 86

युद्ध में भारतीयों की देन, उनका युद्ध प्रयास तथा उनकी राजभक्ति ने ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों को बहुत हद तक प्रभावित किया और उनकी ओर से भारत को इम्पीरियल वार कॉन्फ्रेंस की सदस्यता दिलाने का प्रयास होने लगा। डोमिनियनों में भी भारत के समर्थकों की संख्या बढ़ने लगी। उनमें से बहुत जो पहले भारत के विरोधी थे अब उसके समर्थक बन गये। इन परिस्थितियों में 12 सितम्बर 1916 को मुहम्मद शफी ने भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक प्रस्ताव पेश करके यह माँग की कि भारतीयों के युद्ध प्रयास का ध्यान में रखते हुए भारत को इम्पीरियल वार कॉन्फ्रेंस की सदस्यता तत्काल दी जाय। गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और यह आश्वासन दिया कि जहाँ तक सम्भव हो सकेगा वह भारत को इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता दिलाने के लिए हर सम्भव उपायों का प्रयोग करेगा।[1] लेजिस्लेटिव कौंसिल ने इस प्रस्ताव को एक प्रबल बहुमत से स्वीकार कर लिया।

इसके बाद लार्ड हार्डिंग ने इस सम्बन्ध में इण्डिया ऑफिस से पत्र व्यवहार किया और ब्रिटिश सरकार पर दबाव डाला कि वह भारत को इम्पीरियल कान्फ्रेंस के सदस्य के रूप में स्वीकार कर ले। उसका उत्तराधिकारी लार्ड चेम्सफोर्ड भी इस दिशा में यत्न करता रहा। उसने इस सम्बन्ध में कई पत्र लिखे। लन्दन में इण्डिया ऑफिस भी निरन्तर इस दिशा में प्रयत्न करती रही। राउण्ड टेबुल ने अपना आन्दोलन और व्यापक कर दिया। इसी ग्रुप का एक व्यक्ति फिलिप कर उस समय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लायड जार्ज (Lloyd George) का प्राइवेट सेक्रेटरी था। उसने प्रधान मन्त्री को हर तरह से प्रभावित करके सिद्धान्त में इस बात को स्वीकार करा लिया कि भारत को इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता मिल जानी चाहिए।

प्रथम विश्व युद्ध ने सभी पुरानी व्यवस्थाओं को प्रभावित किया। इस युद्ध में भारत तथा अन्य सभी डोमिनियन प्रमुख भाग ले रहे थे और वे इस बात की माँग करने लगे कि ब्रिटिश साम्राज्य के नीति निर्धारक संगठनों में परिवर्तन हो और इस काम में उन्हें भी हिस्सा बटाने का अवसर मिले। अभी तक ब्रिटिश विदेश नीति के निर्धारण में डोमिनियन सरकारों से किसी तरह का विचार या परामर्श नहीं किया जाता था। लेकिन उनका कहना था कि ब्रिटिश विदेश नीति से उनका जीवन प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है और इसलिए इसके निर्धारण में उन्हें भी हाथ बटाने का अवसर मिलना चाहिए। डोमिनियन सरकारों की यह माँग अत्यन्त प्रबल हो गयी और अन्त में ब्रिटिश सरकार को झुकना पड़ा। 19 दिसम्बर 1916 को प्रधान मन्त्री लायड जार्ज ने यह घोषित किया कि युद्ध और विदेश नीति पर ब्रिटिश सरकार डोमिनियन सरकारों से विचार विमर्श करने के लिए तैयार है और इसके लिए शीघ्र ही कदम उठाया जायगा। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने इम्पीरियल वार कैबिनेट (Imperial War Cabinet) और इम्पीरियल वार कॉन्फ्रेंस (Imperi

---

1 Proceedings of the Council of the Governor General of India 1915 16 vol LIV pp 41 43

में होने वाले शान्ति सम्मेलन में भारत को अवश्य ही प्रतिनिधित्व मिलेगा। दूसरे देशों के अधिकारों के रक्षार्थ उसने महान त्याग किया था। इस हालत में यह वांछनीय था कि भारत को भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण में बोलने तथा हिस्सा बटाने का अवसर मिले। नवम्बर 1918 में जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ वैसे ही शान्ति सम्मेलन में डोमिनियनों तथा भारत के प्रतिनिधित्व का सवाल गम्भीर रूप से उठ खड़ा हुआ। 27 अक्टूबर 1918 को जब युद्ध की समाप्ति की सम्भावना दिखने लगी तब लायड जार्ज ने इम्पीरियल कान्फ्रेंस की बैठक बुलायी। ब्रिटिश सरकार शान्ति सन्धियों की रूपरेखा के सम्बन्ध में डोमिनियनों और भारत के दृष्टिकोण को जानना चाहती थी। इस सम्मेलन में भारत की तरफ से एस. पी. सिन्हा और बीकानेर के महाराजा सम्मिलित हुए। युद्ध का अन्त करने वाली जो विराम सन्धि हुई थी उसके सम्बन्ध में डोमिनियनों तथा भारत से कोई विचार विमर्श नहीं किया गया था। अतएव डोमिनियनों को यह आशंका थी कि शान्ति-सम्मेलन में भी उनका प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकता है, लेकिन डोमिनियनें शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए बड़ी इच्छुक थीं। कनाडा के प्रधानमन्त्री राबर्ट बोर्डेन ने इस प्रश्न को सम्मेलन में उठाया। लायड जार्ज ने आश्वासन दिया कि वह डोमिनियनों की माँगों को सर्वोच्च युद्ध परिषद के समक्ष रखेगा और यह प्रयास करेगा कि शान्ति सम्मेलन में पृथक रूप में भाग लेने का अधिकार उन्हें मिले। भारतीय प्रतिनिधि ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से अनुरोध किया कि वे भारत के हितों पर भी ध्यान रखेंगे ताकि शान्ति सम्मेलन में भाग लेने का अवसर भारत को भी मिले।

भारत की रुचि—युद्ध के बाद दुनिया की जो रूपरेखा बननेवाली थी उसमें भारत बहुत पहले से रुचि रखता था। वस्तुतः शान्ति सम्मेलन में भाग लेने की भावना से प्रेरित होकर ही भारत इम्पीरियल कान्फ्रेंस की सदस्यता प्राप्त करने के लिए व्यग्र था और इसके लिए इसने निरन्तर प्रयास भी किया था। अक्टूबर 1915 में गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिञ्ज ने भारत सचिव को एक गोपनीय स्मरणपत्र भेजा था जिसमें शान्ति सम्मेलन में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की बात उठायी गयी थी। इस पत्र में कहा गया था कि "पश्चिमी अरेबिया तथा मेसोपोटामिया में भारतीय हित तथा विश्व राजनीति में भारत की भावी भूमिका को ध्यान में रखते हुए शान्ति-सम्मेलन में उसको पृथक प्रतिनिधित्व मिलना अत्यन्त आवश्यक है।"[1] भारत सचिव के नाम गवर्नर जेनरल का यह पत्र इस बात का सबूत है कि युद्ध खत्म होने के बहुत पहले ही भारत सरकार शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए बेचैन थी और किसी कीमत पर इस अवसर को खोने के लिए तैयार न थी।

क्षतिपूर्ति के प्रश्न ने भी शान्ति-समझौता में भारत की रुचि बढ़ा दी। युद्धकाल में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने यह घोषित किया था कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी

1 S R Mehrotra *India and the Commonwealth* p 91

निश्चित के लिए दबाव डालते रहे। अन्त में शान्ति सम्मेलन के आयोजकों को उनकी बात माननी पड़ी और यह निश्चित हुआ कि सम्मेलन में भाग लेने के लिए कनाडा आस्ट्रेलिया दक्षिण अफ्रीकी संघ न्यूजीलैंड तथा भारत के प्रतिनिधि अलग अलग अपना आसन ग्रहण करेंगे।[1] इसी बीच भारत सरकार ने शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि दल की घोषणा कर दी। पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भारत की ओर से शामिल होने के लिए जो प्रतिनिधि दल बना उसके सदस्य निम्नलिखित व्यक्ति थे भारत सचिव ई० एस० मांटेगू (E S Montague) उप भारत सचिव एस० पी० सिन्हा (S P Sinha) तथा बीकानेर का महाराजा। बाघर हटजेन जे डन्लप स्मिथ (J Dunlop Smith) तथा लुई करशॉ (L Kershaw) विशेषज्ञ के रूप में प्रतिनिधि दल में रखे गये।

इस प्रकार ब्रिटिश डोमिनियनों के साथ एक ब्रिटिश उपनिवेश होते हुए भी भारत को पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भाग लेने का अवसर मिला। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास के इतिहास में यह अत्यन्त महत्त्व की बात थी। एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में एक पराधीन राष्ट्र को पृथक् रूप से भाग लेने का अवसर मिलना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक अनोखी बात थी। भारत के प्रतिनिधि सम्मेलन में शामिल हुए उन्होंने उसके वाद विवाद में प्रमुख भाग लिया और सम्मेलन ने जिन शान्ति सन्धियों को तैयार किया उस पर उन्होंने भारत की ओर से हस्ताक्षर किये। इस दृष्टिकोण से भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास का प्रारम्भ-स्थल हम पेरिस के शान्ति सम्मेलन को मान सकते हैं।[2]

राष्ट्रसंघ (League of Nations) में भारत

पेरिस शान्ति सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधित्व का उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास पर तात्कालिक प्रभाव पड़ा। शान्ति सन्धियों के द्वारा राष्ट्रसंघ की स्थापना की गयी। वस्तुतः वर्साय सन्धि को प्रथम छब्बीस धाराएं राष्ट्रसंघ से ही सम्बन्धित था। इसमें राष्ट्रसंघ के संगठन उसके उद्देश्य कार्य प्रणाली आदि का वर्णन किया गया था। शान्ति सम्मेलन में भाग लेने के कारण भारत को भी इस विश्व संस्था की प्रारम्भिक सदस्यता (original membership) प्रदान की गयी।

भारतीय सदस्यता के सम्बन्ध में वाद विवाद—भारत को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दी जाय या नहीं इस विषय पर पेरिस के शान्ति सम्मेलन में पर्याप्त वाद विवाद हुआ। यह कहा गया कि सिद्धान्ततः किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की

---

1 [illegible] Paris Peace Conference 1919 Vol III pp 531 3?

2 India s admission to the Conference marked an important development in the evolution of her international status The Paris Peace Conference may be taken as the actual starting point in the development of the international status of India — Lanka Sundaram The International Status of India *Transactions of the Grotius Society* Vol 17 (1932) p 42

सदस्यता केवल उसी देश को दी जा सकती थी जो सार्वभौम राज्य (Sovereign State) हो। 1919 में किसी भी दृष्टिकोण से भारत एक सार्वभौम राज्य नहीं था। उसकी स्थिति एक उपनिवेश की थी और प्रत्येक दृष्टि से वह ब्रिटिश सरकार के अधीन था। अंतिम विश्लेषण में उसकी आंतरिक और वाह्य नीतियों का निर्धारण लन्दन से होता था। अतः जब शान्ति सम्मेलन में यह प्रस्ताव आया कि भारत को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाय तो राष्ट्रसंघ विषयक समिति में इसका भारी विरोध हुआ। राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) का कहना था कि भारत को सदस्यता के लिए स्वशासन के सिद्धान्त (Principle of self government) का परित्याग नहीं किया जा सकता है अर्थात संघ की सदस्यता केवल उन्हीं राज्यों को मिलनी चाहिए जो स्वतन्त्र हों।[1] यदि इस सिद्धान्त की उपेक्षा करके भारत को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दे दी जाती है तो दूसरे उपनिवेश भी इसके लिए अपना दावा पेश कर सकते हैं। ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड रॉबर्ट सेसिल (Robert Cecil) ने इसके जवाब में कहा कि भारत के साथ इस सिद्धान्त को अक्षरशः लागू नहीं किया जा सकता और कई मानों में भारत किसी स्वशासी राज्य से कम नहीं है। ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही उसे पूर्ण स्वशासित राज्य का स्तर देने का इरादा रखती है।[2]

इस वाद विवाद में दक्षिण अफ्रिका के जेनरल स्मट्स (General Smuts) ने हस्तक्षेप किया और यह बतलाया कि भारत की राजनीतिक स्थिति जो हो उसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता अनिवार्य रूप से देनी ही पड़ेगी। भारत को पेरिस के शान्ति सम्मेलन में प्रतिनिधित्व मिला है और इस हैसियत में वह वर्साय की संधि का एक हस्ताक्षरकर्ता होगा। उस वर्साय की संधि की प्रथम छब्बीस धाराएं राष्ट्रसंघ से सम्बन्धित हैं और इस प्रकार भारत अपने आप राष्ट्रसंघ का प्रारम्भिक सदस्य बन जायगा। उसको सदस्यता प्रदान करने का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। राष्ट्रसंघ के विधान (Covenant) में जो स्वशासी (fully self governing) शब्द आया है और भविष्य के सदस्यों के लिए है भारत पर इसको नहीं लागू किया जा सकता है।[3]

जनरल स्मट्स के इस तर्क ने भारत के सभी विरोधियों का मुंह बन्द कर दिया और शान्ति-सम्मेलन ने अपना निर्णय भारत के पक्ष में दे दिया। यह निश्चित हो गया कि भारत राष्ट्रसंघ का प्रारम्भिक सदस्य होगा। यह भी मान लिया गया कि राष्ट्रसंघ के सदस्य के रूप में भारत को वे सारे अधिकार प्राप्त रहेंगे जो अन्य पूर्ण स्वतन्त्र राज्यों को प्राप्त होते। वह राष्ट्रसंघ की कौंसिल और अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) का

1 S Baker *Woodrow Wilson and World Settlement* Vol III p 15

2 D H Miller *The Drafting of the Covenant* Vol I pp 164 65

3 Ibid p 166

सदस्य भी बन सकता था। इन सब बातो पर अंतिम निणय हो जाने के उपरान्त हा भारत ने वसाय की सधि पर हस्ताक्षर किया और वह राष्ट्रसंघ का सदस्य बना।

राष्ट्रसंघ म भारत की स्थिति—राष्ट्रसंघ म भारत की सदस्यता ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तगत एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी। यह बात समझ से परे थी कि वह एक देश जिसको स्वय स्वतन्त्र रूप से अपनी आन्तरिक नीति का निर्धारण करने का अधिकार नहीं था वह राष्ट्रसंघ के सदस्य के रूप म सम्प्रभु व विभिन्न देशों के अन्तरो के व्यवहार और वायदों का अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर नियमित करेगा। राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र म भारत ने निश्चय ही एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था लेकिन आन्तरिक क्षेत्र म वह पूर्णतया ब्रिटिश सरकार के अधीन था। भारत पूर्णतया 1919 के भारत सरकार अधिनियम (Government of Ind a Act 1919) के प्रावधानों से बंधा हुआ था और इस अधिनियम के अनुसार भारतीय व्यवस्थापिका को विदेशनीति म किसी भी किसी बात पर वाद म या विचार करने तक का अधिकार नहीं था। यह एक विचित्र स्थिति थी और डेविड ह टर मिलर ने ठीक ही इस स्थिति म विचित्र (anomaly among anomalies) स्थिति कहा था।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध म इस तरह की विचित्र स्थिति को उत्पन्न करने म ब्रिटिश सरकार के कुछ अपने स्वार्थ निहित थे। भारत को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान कराने म पेरिस के शान्ति सम्मेलन म उसका जो प्रयास हुआ उसके मूल म एक ही बात थी। ब्रिटेन चाहता था कि राष्ट्रसंघ म वस म स्वो का म या वह जो उसके प्रभाव म रहे और जा उसके आदेशानुसार वहाँ मत दे। ब्रिटिश साम्राज्य के डोमिनियन तथा भारत एसे ही थे। और राष्ट्रसंघ पर अपना प्रभुता कायम करने की भावना से प्रेरित होकर ही ब्रिटेन ने भारत को राष्ट्रसंघ का सदस्यता दिलाने म मदद की थी।[2]

प्रोफेसर ए बी कीथ (A B Keith) का कहना है कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म भारत को अर्द्ध स्वातन्त्र्य की स्थिति (Quasi independence in external relations) प्रदान की जिसके परिणामस्वरूप भारत को एक नया अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। इस विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि वेत्ताओ म काफी विवाद हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि राष्ट्र को सधि समझौता करने या युद्ध घोषित करने का पूर्ण अधिकार हो। भारत को इस तरह का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। राष्ट्रसंघ के प्रति

1 Ibid p 15

The British Government was motivated by her selfish interest when it struggled for India's membership for this would secure the collateral support of India for Britain in her fight for leadership at Geneva —D N Verma I ... te I ... f ... p 26

3 A B Keith ... p 397

अपनी नीति निर्धारण करने में भी भारत स्वतन्त्र नहीं था। भारत सरकार को अनिवार्यत भारत सचिव के आदेशों का पालन करना पड़ता था। प्रारम्भिक सम्मेलन के नाते राष्ट्रसंघ में भारत की स्थिति अवश्य स्वतन्त्र थी लेकिन ब्रिटिश सरकार के सम्बन्ध में भारत सरकार एक अधीनस्थ संस्था थी। इस दृष्टिकोण से विश्लेषण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता के बावजूद भारत एक विशुद्ध अन्तरराष्ट्रीय व्यक्तित्व का दावा नहीं कर सकता था। डब्लू ई हाल (W E Hall) ने ठीक ही लिखा था कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करके स्वशासी डोमिनियनों और भारत ने कुछ न कुछ अन्तरराष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया लेकिन इस व्यक्तित्व का स्वरूप क्या था यह कहना कठिन है।[1] ओपनहाइम (Oppenheim) का कथन भी कुछ ऐसा ही था। भारत के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता के बाद अन्तरराष्ट्रीय विधि में इसका एक विशिष्ट स्थान हो गया है। लेकिन इस स्थिति के स्वरूप का निर्धारण बड़ा ही कठिन है। किसी भी तरह आंशिक रूप में ही सही अन्तरराष्ट्रीय विधि के समर्थकों ने यह मान लिया कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता से भारत की अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में मौलिक परिवर्तन हुआ और अन्तरराष्ट्रीय व्यक्तित्व का उसे एक अंश प्राप्त हुआ।

भारत की इस नवीन अन्तरराष्ट्रीय स्थिति को 1921 के वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference) में मान्यता मिली। इस समय ब्रिटिश सरकार ने निश्चय किया कि उसके द्वारा स्वीकार किए गए अन्तरराष्ट्रीय सन्धि समझौते डोमिनियनों अथवा भारत पर तभी लागू होंगे जब उनके प्रतिनिधि पृथक रूप से उन पर हस्ताक्षर करेंगे और अपनी शर्तों को स्वीकार करेंगे। इसी कारण वाशिंगटन सम्मेलन में भारत को पृथक प्रतिनिधित्व मिला। भारतीय प्रतिनिधि श्रीनिवास शास्त्री ने वाशिंगटन सन्धियों पर भारत की ओर से हस्ताक्षर किया और संसद के द्वारा न पृथक रूप से भारत के लिए इस सन्धि का अनुमोदन किया।[3]

अन्तरराष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास—राष्ट्रसंघ की सदस्यता ने भारत को कई अन्य अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं की सदस्य बनने का अवसर दिया। भारत को तत्काल ही अन्तरराष्ट्रीय श्रम संघ (I L O) अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (Perma

1 That the self governing Dominions and India have acquired something of an international personality by reason of their membership of the League of Nations seems clear but how much is not so evident —W E Hall *A Treatise on International Law* (8th Edition 1924) p 35

2 India stood in a special position By virtue of her membership of the League of Nations India certainly possesses a position in international law It is ... and defies classification — Oppenheim *International Law* *A Treatise* (4th Edition 1928) p 195

3 *Council of State Debates* Vol I 1930 pp 457 58

nent Court of International Justice) बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय समिति (International Committee of Intellectual Co-operation) कृषि से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान (International Institute of Agriculture) अफीम और औषधियों की अन्तर्राष्ट्रीय समिति (Advisory Committee on Opium and Drugs) आर्थिक समिति स्वास्थ्य समिति आदि की सदस्यता मिल गयी।[1] दो विश्व युद्धों के बीच के काल में जितने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए उनमें भी भारत को पृथक प्रतिनिधित्व मिलता रहा। भारत ने 1920 के ब्रसेल्स के वित्तीय सम्मेलन 1921 की नौ सेना से सम्बन्धित वाशिंगटन सम्मेलन लोजान में सम्पन्न 1921 के बारसिलोना सम्मेलन 1922 तथा 1927 के जनेवा के विश्व आर्थिक सम्मेलन 1931 के हेग के क्षतिपूर्ति सम्मेलन और 1932 के विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन तथा इस तरह के कई अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिया।[2]

इस तरह सीमित अर्थ में जब भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया तब बाह्य दुनिया के समक्ष अपनी सत्ता प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लन्दन में एक भारतीय उच्चायुक्त (High Commissioner) की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। 1919 के भारत सरकार अधिनियम में इस पद के सृजन की व्यवस्था की गयी थी और अधिनियम के लागू होने के पूर्व ही लन्दन में भारतीय उच्चायुक्त की नियुक्ति कर दी गयी। इस पद पर काम करने वाले प्रथम व्यक्ति विलियम मेयर (William Meyer) थे जो भारत सरकार में वित्त सदस्य (Finance Member) के पद पर काम कर चुके थे। 1931 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उच्चायुक्त को राजनयिक दर्जा (Diplomatic status) प्रदान कर दिया।[3]

राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने के उपरान्त कूटनीतिक क्षेत्र में भी भारत की स्थिति सुदृढ़ होने लगी। अन्य दुनिया के किसी भी भाग में भारत का कोई कूटनीतिक दूत नहीं रहता था और भारतीय हितों की रक्षा ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय (British Foreign Office) के जरिये होता था। लेकिन राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने पर भारत ने अपने कूटनीतिक दूतों की नियुक्ति करना शुरू कर दिया। भारत सरकार के राजनीतिक विभाग (Political Department) के पदाधिकारी काबुल तथा काठमांडू में रहने लगे। अफगानिस्तान पर्शिया अरबिया स्यामार सुमात्रा जहाँ आदि जगहों में भारत के वाणिज्य दूतों (Consular Agent) की नियुक्ति हुई। 1931 में इसका

1 International Status of India Memorandum presented to the Indian Statutory Commission *Report of the Indian Statutory Commission* (1930) vol V p 1637

2 Lanka Sundaram International Status of India *Journal of the Royal Institute of International Affairs* vol IX No 4 1930 pp 451 55

3 S R Mehrotra *India and the Commonwealth* p 239

सदस्य उन राष्ट्रों द्वारा मनोनीत होते जो औद्योगिक महत्त्व के मुख्य देश (Countries of chief industrial importance) थे। भारत ने दावा किया कि उसको औद्योगिक महत्त्व का एक मुख्य देश माना जाय और इस आधार पर शासक सभा (Governing Body) का एक सुरक्षित सीट उसे दिया जाय। इस तरह का दावा कनाडा, पोलैंड और स्वीडन ने भी किया।[1] इस प्रश्न पर वाद-विवाद बहुत बढ़ गया और इसलिए इस समस्या को राष्ट्रसंघ की कौंसिल के अन्तिम निर्णय के लिए सुपुर्द कर दिया गया। कौंसिल ने काफी बहस के बाद अपना निर्णय भारत के पक्ष में दिया। भारत को औद्योगिक महत्त्व का एक मुख्य देश होने की मान्यता मिल गयी। इस हैसियत से 18 अक्टूबर 1922 को भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की शासक सभा में अपना स्थान ग्रहण किया।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की शासक सभा की सदस्यता भारत के लिए बड़े महत्त्व की बात थी। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। इस सदस्यता ने भारत को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम समस्याओं को सुलझाने का अवसर प्रदान किया। लेकिन सबसे अधिक महत्त्व की बात यह थी कि इसने भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व और स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ कर दिया।[3]

बाद में चलकर भारत को एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ने उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ (U N O) का एक प्रारम्भिक सदस्य बनने का अवसर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के सम्बन्ध में द्वितीय विश्व युद्ध के समय से ही वार्ताएँ चल रही थीं और अगस्त 1944 के डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन में इसके चार्टर का मसविदा तैयार हो गयी। जून 1945 में सनफ्रांसिस्को सम्मेलन में इस चार्टर को अन्तिम रूप से स्वीकार कर संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गयी। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत को भी आमन्त्रित किया गया था और मूल राष्ट्रसंघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करनेवालों में वह भी एक प्रारम्भिक सदस्य था। भारतीय दल जो इस सम्मेलन में भाग लेने गया था उसका नेतृत्व रमास्वामी मुदालियार ने किया था। यह सर्वविदित है कि उस समय भारत स्वतन्त्र नहीं था किन्तु दो विश्वयुद्धों के बीच के काल में उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का जो विकास हो रहा था उसने संयुक्त राष्ट्र की नींव डालने में योगदान करने के लिए उसे अवसर प्रदान किया।

1 International Labour Office *Official Journal* No 6 1920 pp 36 65

2 P P Pillai *India and International Labour Organisation* pp 85 93

3 *Its seat in the Governing Body was* of great value to India not only as a matter of prestige It also gave India opportunity to wield influence on international labour matters Above all membership of the Governing Body established and consolidated India's international status — D N Verma *India and the League of Nations* pp 158 59

परिवर्तन होने लगा। विश्व की घटनाओं से भारतीयों को पृथक रखने की साम्राज्य की नीति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकी और बीसवीं सदी के प्रारम्भ से भारतीय अन्य देशों की राजनीतिक गतिविधियों से अवगत होने लगे। यह समय राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद का था और इनसे सम्बन्धित विदेशी घटनाओं का अध्ययन भारतीय करने लगे। इटली में मेजिनी और गैरीबाल्डी की सफलताओं की ओर उनका ध्यान गया। 1896 में इटली और अबीसीनिया के मध्य जो युद्ध हुआ था उसमें इटली एक अफ्रीकी देश से पराजित हुआ। भारत में इस घटना के महत्व को विशेष रूप से समझा गया। बोअर युद्ध में ब्रिटेन की पराजय से भारतीयों में एक नयी आशा का संचार हुआ। ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर किसी भी आघात को भारतीय अपनी मुक्ति के दृष्टिकोण से देखने लगे।

एशियाई देशों को एक दूसरे से पृथक रखने की साम्राज्यवादी नीति भी बहुत दिनों तक नहीं कायम रह सकी। भारतीय दृष्टिकोण से यह दीवार उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में ही टूटने लगी। विदेशी घटनाओं में बढ़ती हुई रुचि ने भारतीयों को विदेश भ्रमण की ओर प्रेरित किया और इस काल में कई प्रमुख भारतीयों ने विदेशों, विशेष कर एशियाई देशों की यात्रा की। इन भारतीयों में स्वामी विवेकानन्द और धर्मपाल का नाम पहले आता है। इन लोगों ने पड़ोसी देशों का भ्रमण किया, वहाँ के लोगों से सम्पर्क स्थापित किया और स्वदेश लौटने पर अपने देशवासियों को इन देशों के सम्बन्ध में जानकारी दी। इस तरह की यात्राएँ कई कारणों से की जाती थीं लेकिन उनका राजनीतिक महत्व भी था और कभी कभी राजनीतिक महत्व ही सर्वोपरि हो जाता था।[1] 1893 में विवेकानन्द ने जापान का भ्रमण किया था। वे जापान की उन्नति और आधुनिकीकरण से बहुत प्रभावित हुए थे। प्रगतिशील जापान की उन्नति से अपने देश के पिछड़ेपन की तुलना करते हुए उन्होंने बड़ी ही ग्लानि का अनुभव किया था और खिन्न होकर अपने एक पत्र में अपना मन व्यक्त किया था। अन्तर्विरोध में भारतीयों की विचार उनकी कूपमण्डूकता, निराशावादिता आदि की उन्होंने कटु आलोचना की थी और भारतीय विद्यार्थियों को इस कारण फटकारा था कि वे किरानी बनने से आगे की महत्वाकांक्षा नहीं रखते। उन्होंने भारतीय चिन्तकों का इस मनोवृत्ति पर बड़ी कड़ी आलोचना की जो निरन्तर केवल इसी विवाद में पड़े रहते थे कि अछूत क्या है, समुद्र पार जाना धर्म विरुद्ध है या नहीं या छुआ हुआ भोजन खाना चाहिए अथवा नहीं। विवेकानन्द ने अपने देशवासियों को ललकारा और कहा कि वे जापान जायँ, वहाँ जो बातें हो रही हैं उनको देखें समझें और

1 Such trav ls ere undertaken for various reasons but th y never lacked political signifcanc and eventually the political m tiv b came the most frequent and permanent —Warner Levi *Free India* . . 1 . . p 19

मिस्र और आयरलैंड के लोगों के संघर्ष में भारतीयों की सहानुभूति गोपितों के पक्ष में थी। 1905 की रूसी क्रांति 1908 की युवा तुर्क क्रांति और 1911 की चीनी क्रांति ने भारतीयों के दिल में अपार उत्साह का संचार किया। म ग में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन इन घटनाओं से बहुत प्रभावित हुआ और चीनी क्रांति के नेता डॉ सनयात सेन बहुत दिनों तक भारत के राष्ट्रवादियों के हृदय सम्राट बने रहे। चीन की क्रांति के सम्बन्ध में खबरें भारतीय समाचार पत्रों में महत्त्व के साथ छपी और भारतीयों ने इनसे सबक लेने का मौका प्राप्त किया।

इस परिवर्तन से भारतीय मुसलमान भी अछूते नहीं रहे। 1857 की क्रांति की विफलता के बाद से भारतीय मुसलमानों ने अपने आप को भारतीय राजनीति से बिल्कुल पृथक कर रखा था और देश की विभिन्न घटनाओं के प्रति वे पूर्ण उदासीन हो गये थे। लेकिन इस्लामी जगत की घटनाओं ने उनका ध्यान भी विश्व राजनीति की ओर आकृष्ट किया और उनमें भी एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। 1878 में बर्लिन समझौते के बाद आटोमन साम्राज्य के प्रति इंगलैंड की नीति में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। इसके फलस्वरूप इंगलैंड और तुर्की का सम्बन्ध बिगड़ने लगा। भारतीय मुसलमान इस बात से बहुत चिन्तित थे। ओटोमन साम्राज्य का खलीफा मुसलमानों का धर्म गुरु माना जाता था और जब ब्रिटिश सरकार ने उसका विरोध करना शुरू किया तो भारतीय मुसलमान ब्रिटिश नीति से बहुत नाराज हो उठे। वस्तुत भारतीय मुसलमानों में इस बात पर वाद विवाद होने लगा कि यदि ब्रिटेन और तुर्की में युद्ध छिड़ गया तो वे किसको अपना समर्थन देंगे। मुसलमानों में एक ग था जो कहता था कि इस युद्ध की स्थिति में भारतीयों को तुर्की के सुलतान का समर्थन करना चाहिए क्योंकि वह मुस्लिम जगत का खलीफा था।[1]

इंगलैंड की तुर्की विरोधी नीति भारतीय मुसलमानों को लगातार परेशान करती रही। 1907 के आंग्ल रूसी समझौता (Anglo Russ an Convent on) का उन्होंने जमकर विरोध किया क्योंकि इससे उनके इस विश्वास पर गहरा आघात था कि रूस तुर्की का शत्रु और इंगलैंड उसका मित्र है। 1911 में ट्रिपोली को लेकर जब इटली ने तुर्की के खिलाफ युद्ध घोषित किया और इंगलैंड ने इस घटना के सम्बन्ध में तटस्थ नीति का अवलम्बन किया तब भारत का मुस्लिम समाज अत्यन्त परेशान हो गया। भारतीय मुसलमानों का कहना था कि उनकी धार्मिक भावनाओं का ध्यान में रखकर ब्रिटेन को इटली के विरुद्ध तुर्की का समर्थन करना चाहिए था। 1912 के बाल्कन युद्ध ने भारतीय मुसलमानों को और भी भयभीत कर दिया। मोरक्को पर फ्रांसीसी आधिपत्य (1905) बोस्निया हर्जेगोविना पर आस्ट्रिया का आधिपत्य कुस्तुनतुनिया पर रूस की धावणा और ट्रिपोली पर इटली का आक्रमण ने उनके इस विश्वास को दृढ़ कर दिया कि पश्चिमी राष्ट्रों ने तुर्की साम्राज्य को खंडित करके उसे आपस में बाँट लेने का कोई गुप्त समझौता कर लिया है। भारतीय मुसलमानों ने बाल्कन युद्ध को इस्लाम और ईसाई मजहबों के बीच युद्ध

1 S R Mehrotra *India a d t e Commonwealth* pp 184 85

वर्षों में दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की संख्या हजारों हजार में पहुँच गयी। कालान्तर में वे वहीं बस गये।[2]

यूरोपीय साम्राज्यवादियों का भारतीय मजदूरों की सेवा की आवश्यकता थी व उनकी सुख सुविधा या भलाई के लिए चिन्तित नहीं थे। प्रवासी भारतीय मजदूरों का शोषण करके वे अपना धन का जीवन व्यतीत करने लगे। इसके अतिरिक्त प्रजातीय भेदभाव (racial discrimination) के कारण भारतीयों के साथ यूरोपीयों का बड़ा ही असमानुचित व्यवहार होता था। प्रवासी भारतीयों को दक्षिण अफ्रीका में साधारण नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। उन्हें यूरोपीयों के लिए निर्मित सड़क रेल स्कूल पुस्तकालय आदि के उपयोग का अधिकार नहीं था। भारतीयों की बस्तियाँ यूरोपीयों से बिल्कुल पृथक होती थीं। वे रात को अपने घर से बाहर नहीं निकल सकते थे और बिना सरकारी आज्ञा प्राप्त किये एक शहर से दूसरे शहर में नहीं जा सकते थे। इस तरह के कई अन्य प्रतिबन्ध व निर्योग्यताओं पर लगे हुए थे जिससे उनका जीवन अत्यन्त कष्टमय हो गया था।[3] उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में जब भारतीयों का जीवन असह्य हो गया तो उन्होंने इसके विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन शुरू किया। इसका नेतृत्व मोहन दास करमचन्द गाँधी (महात्मा गाँधी) ने किया जो उस समय अपनी वकालत के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका पहुँचे थे। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को अपनी स्थिति ठीक करने के लिए वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा। 1911 में भारतीयों और दक्षिण अफ्रीकी सरकार के बीच एक समझौता (Gandhi Smuts Agreement) हुआ जिससे दक्षिण अफ्रीका प्रवासी भारतीयों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ।

भारतीय इतिहास से दक्षिण अफ्रीका की इन घटनाओं का बड़ा महत्त्व है। दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों का जबतक संघर्ष चलता रहा भारत में इसके प्रति बड़ी बेचैनी रही। यह पहली अन्तर्राष्ट्रीय घटना थी जिसने भारतीयों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने प्रवासी भारतीयों के संघर्ष में रुचि लेना आरम्भ किया और 1894 के बाद से काँग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की समस्या से सम्बन्धित प्रस्ताव पारित किये गये जिनमें दक्षिण अफ्रीकी सरकार की भारत विरोधी नीति की तीव्र निन्दा की गयी।[3] मुस्लिम लीग ने भी प्रवासी भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करके उनका समर्थन किया। दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के संघर्ष को आर्थिक मदद देने के लिए भारत में काफी चन्दे किये गये। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में गोपाल कृष्ण गोखले तथा मदन मोहन मालवीय के भाषण हुए। इन लोगों ने भारत सरकार से आग्रह किया कि वह दक्षिण अफ्रीका की सरकार पर भारत विरोधी नीति

1 C Kondapi *Indians Overseas* pp 5-7

2 R C Majumdar *British Paramountcy and Indian Renaissance* Vol II pp 620 22

3 Ibid pp 623 24

के परित्याग के लिए दबाव डाले।[1] भारतीय लोकमत के समक्ष भारत सरकार का झुकना पड़ा और राजकीय स्तर पर उसने प्रवासी भारतीयों का सवाल दक्षिण अफ्रिका की सरकार तथा ब्रिटिश सरकार के समक्ष उठाया। 1897 के द्वितीय औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conference) में इण्डिया आफिस के एक प्रतिनिधि ने इस सवाल को उठाया। औपनिवेशिक मामलों के मंत्री जोसफ चेम्बरलेन ने स्वशासी ब्रिटिश उपनिवेशों विशेषकर दक्षिण अफ्रिका के प्रधानमंत्री से आग्रह किया कि वे किसी ऐसी नीति का अवलम्बन नहीं करें जिसका भारतीयों की भावना पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े।[2]

प्रथम विश्व युद्ध और भारत—28 जून 1909 के लन्दन टाइम्स में 'भारत में ब्रिटेन के भविष्य (Britain's Future in India)' शीर्षक के अन्तर्गत लोवाट फ्रेजर (Lovat Fraser) का एक लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख का मुख्य निष्कर्ष यह था कि यूरोपीय संकटों में ब्रिटेन के फँसते ही सम्पूर्ण भारत में विद्रोह हो जायगा। इसी तरह के विचार कुछ अन्य अंग्रेज लेखकों ने भी उस समय व्यक्त किये।[3] जर्मनी को सम्भवतः यह विश्वास हो गया था कि जिस क्षण ब्रिटेन यूरोपीय युद्ध में फँसेगा उसी क्षण भारत में विद्रोह की आग फैल जायगी। लेकिन 1914 में जब यूरोप में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा तो भारत में इस तरह की कोई बात नहीं हुई। अंग्रेजी राज्य का विरोध करने के बावजूद भारत के राष्ट्रवादी नेता भी ब्रिटिश सम्राट के प्रति वफादारी व्यक्त करने में गौरव का अनुभव करते थे और किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट में ब्रिटेन को हर तरह की मदद देने को तैयार थे।[4] यूरोप में युद्ध के छिड़ते ही इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल ने 8 सितम्बर 1914 को युद्ध

1 Gopal Krishna Gokhale *Speeches* p 51

2 India and Imperial Conference *Round Table* December 1915 p 96
Also see Lanka Sundaram India and Imperial Conference *The Asiatic Review* vol XXVI No 86 1930 pp 370 71

3 William Archer *India and the Future* (1917) p 17

4 इस समय कुछ ऐसे क्रान्तिकारी भारतीय अवश्य थे जो ब्रिटेन के शत्रुओं से मिलकर और उनसे सहायता प्राप्त करके भारत को स्वतन्त्र कराने के पक्ष में थे। लाला हरदयाल, बरकतुल्ला आदि कुछ निर्वासित भारतीयों ने युद्ध छिड़ते ही जर्मन सरकार से सम्पर्क स्थापित किया और बर्लिन में एक भारत समिति (India Committee) की स्थापना की। जर्मन सरकार और भारत समिति के बीच एक सन्धि हुई जिसके अनुसार यह तय हुआ कि युद्ध में भारतीय जर्मनी की मदद करेंगे और युद्धोपरान्त विजय प्राप्त करके जर्मनी भारत को स्वतन्त्र कराने में सहायता देगा। भारत समिति के पदाधिकारियों को जर्मन सरकार ने राजनयिक स्तर प्रदान किया और राजदूतों की तरह उन्हें विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भारत समिति का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और युद्ध के खत्म होते ही समिति का नामोनिशान मिट गया। देखिए Jawaharlal Nehru, *An Autobiography* p 152

से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पास किया। इसमें ब्रिटिश सम्राट के प्रति भारतीयों की वफादारी की भावना को व्यक्त किया गया था और हर तरह से ब्रिटिश सरकार को समर्थन का आश्वासन दिया गया था।[1] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का दृष्टिकोण भी अत्यन्त सहयोगात्मक था। दिसम्बर 1914 में कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में हुआ। इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस प्रस्ताव में ब्रिटेन सम्राट के प्रति वफादारी की बात कही गयी थी और हर हालत में ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों में मदद देने का आश्वासन दिया गया था। कांग्रेस ने युद्ध के पश्चिमी मोर्चे पर भारतीय सेना भेजे जाने के निर्णय का स्वागत किया तथा वायसराय को इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि उन्होंने भारतीयों को साम्राज्य की सेवा करने का अनूप अवसर दिया है।[2]

भारतीय नेताओं के इस सहानुभूतिपूर्ण रवैये से ब्रिटिश सरकार को युद्ध में बड़ी मदद मिली। युद्ध के पहले भारत सरकार ने यह सोच रखा था कि युद्ध के छिड़ते ही भारतीयों पर नियन्त्रण रखने के लिए इंगलैंड से अतिरिक्त सेना मंगानी पड़ेगी। लेकिन ऐसी नौबत नहीं आयी और भारतीयों के सहयोग-समर्थन के आश्वासन पर विश्वास करके वायसराय लार्ड हार्डिंज ने भारतीय सेना की एक सशक्त टुकड़ी को पश्चिमी मोर्चे पर लड़ने के लिए फ्रांस भेज दिया। पूर्वी अफ्रिका और पश्चिमी एशिया के युद्ध-स्थल पर भी भारतीय शक्ति बहुत बड़ी संख्या में भेजी गयी। कुल मिलाकर दस लाख के लगभग भारतीय सैनिकों ने युद्ध में भाग लिया। 146 लाख पौंड की आर्थिक सहायता भी भारत ने दी। इसके अतिरिक्त भारतीय देशी नरेशों ने भी धन जन से सरकार की सहायता की।[3]

सरदार के एम पणिक्कर ने लिखा है कि एशियाई दृष्टिकोण से प्रथम

---

1 *Proceedings of the Council of Governor General of India* 1914 15 vol LIII pp 16 17

2 कांग्रेस का यह प्रस्ताव इस तरह था

The Congress conveys to His Majesty the King Emperor and the people of England its profound devotion to the Throne its unswerving allegiance to the British connection and its firm resolve to stand by the Empire at all hazards and at all costs It notes with gratitude and satisfaction the dispatch of Indian troops to the Western front and offers to the Viceroy its most heartfelt thanks for affording to the people of India an opportunity of showing that as equal subjects of His Majesty they are prepared to fight shoulder to shoulder with the people of other parts of the Empire in defence of right and justice and the cause of the Empire — *Report of the Twenty-ninth Indian National Congress* 1914 p 1

3 S R Mehrotra *India and the Commonwealth* p 65

विश्व-युद्ध यूरोपीय राष्ट्रों के परिवार में एक गृह युद्ध था। इस युद्ध ने पहली बार यूरोप के साम्राज्यवादी संगठन की एकता को छिन्न भिन्न कर दिया। युद्ध काल में यूरोपीय देशों ने अपने उपनिवेशों के निवासियों से सहायता के लिए अपील की थी। यह एक नयी बात थी। इसने एशिया के राष्ट्रों में एक नया मनोबल पैदा किया। उन्होंने अनुभव किया कि उनके यूरोपीय शासकों को भी उनकी सहायता की जरूरत पड़ सकती है। वस्तुतः युद्ध के समय और उसके बाद यूरोपीय शक्तियां एशियाई राष्ट्रों की निगाह में इतना गिर गयीं जितना पहले कभी नहीं गिरी थीं। उनकी सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। जो लोग युद्ध में गोरों के साथ लड़ने गये थे उन लोगों ने देख लिया कि यूरोपीय लोग वीरता में उनसे श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकते। भारत के लिए विश्व-युद्ध विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। देश की राजनीतिक गतिविधि को नया जीवन मिला। धन और जन में भारत का महान दान और ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा इसके लिए कृतज्ञता ज्ञापन ने भारतीयों को अपने देश के महत्त्व के सम्बन्ध में जागरूक बना दिया। वे अनुभव करने लगे कि विश्व राजनीति में भारत एक मुख्य भूमिका अदा कर सकता है। युद्ध के समय मित्रराष्ट्रों के नेताओं ने कहा था कि उनका युद्ध उद्देश्य संसार को प्रजातन्त्र के लिए सुरक्षित बनाना है। राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने राष्ट्रों के लिए आत्म निर्णय के सिद्धान्त (Principle of self-determination) का नारा दिया। इन सारी बातों ने भारतीयों में एक नवीन उत्साह का संचार किया और वे इन सिद्धान्तों की घोषणा से अत्यधिक प्रभावित हुए। यही कारण था कि मित्रराष्ट्रों के युद्ध प्रयास में भारतीयों ने जी जान से सहयोग किया। गांधीजी जो हाल ही में अफ्रिका से लौटे थे गुजरात के गांवों में घूम घूम कर किसानों को ब्रिटिश सेना में भर्ती होने को कह रहे थे। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और विपिन चन्द्रपाल जैसे उग्रवादी नेता भी ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों में सहयोग करने के लिए अपने देशवासियों से अपील कर रहे थे।

यूरोपीय साम्राज्यवाद की नींव को हिलाने में 1917 के रूस की बोल्शेविक क्रान्ति का भी बड़ा योगदान रहा। क्रान्तिकारी बोल्शेविकों ने साम्राज्यवाद को जबरदस्त चुनौती दी। उन्होंने स्वयं रूस के अधीनस्थ पराधीन जातियों को मुक्त कर दिया और अन्य पराधीन देशों के स्वातन्त्र्य संग्राम में मदद देने का वादा किया। इससे एशिया के राष्ट्रवादियों का मनोबल बहुत ऊँचा हुआ। बोल्शेविक क्रान्ति से भारत विशेष रूप से प्रभावित हुआ। युद्ध के पूर्व भारत में किसानों या मजदूरों का कोई संगठन नहीं था। लेकिन युद्ध के बाद इनकी संख्या में एकाएक अपार वृद्धि हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस परिवर्तन का मुख्य प्रेरणा-स्रोत रूस की क्रान्ति था।

युद्धकालीन परिस्थितियों के अलावा इन सारी बातों ने भारतीय विचारधारा को गहराई से प्रभावित किया और भारतीय दृष्टिकोण में [illegible]। परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। [illegible] से भारत में [illegible]

रण हुआ। युद्ध के समय ही भारतीयों ने पहले पहल अनुभव किया कि भारत के बाहर भी एक विशाल दुनिया है जिसकी अनेकानेक समस्याएं हैं जिनके साथ हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तथा हमारे ऊपर उनका प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है। युद्ध के पहले भारतीय नेताओं ने यह कभी नहीं सोचा कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व हो सकता है। देश की विदेश नीति पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया था। प्रशासन के इस अंग में उन्होंने कभी भी हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं महसूस की और इसको अंग्रेज शासकों के ऊपर ही छोड़ते रहे। लेकिन युद्ध के बाद नयी परिस्थिति में वे अब विश्व नीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय में सोचने लगे। उन्होंने पहले पहल अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का अपना अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व हो सकता है। प्रशासन के इस अंग को वे अब अछूता नहीं छोड़ सकते थे। इस अनुभव के उपरान्त वे ब्रिटिश भारतीय सरकार की विदेश नीति की आलोचना करने लगे। उन्होंने यह भी कहना शुरू किया कि ब्रिटिश सरकार को भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण का कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के अन्त होते ही भारत में एक अभूतपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ।

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन और भारत—कई तरह के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सवालों को लेकर प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय राजनीति में बड़ी सरगर्मी और बेचैनी थी। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न तुर्की का था। युद्ध में तुर्की हार गया था और ऐसा विश्वास किया जाने लगा था कि उस पर एक ऐसी सन्धि आरोपित की जायगी जिससे तुर्की नष्ट हो जायगा। इस कारण भारतीय लोकमत अत्यन्त क्षुब्ध था। इसके अतिरिक्त युद्ध के समय मित्रराज्यों ने आत्म निर्णय के सिद्धान्त (Principle of self determination) को दुनिया में लागू करने का वादा किया था। लेकिन जैसे जैसे युद्ध का अन्त निकट आता गया भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि भारत पर इस सिद्धान्त को लागू करने का उसका इरादा नहीं है। इन घोषणाओं के बावजूद यूरोप के साम्राज्यवादी राज्य पराधीन राष्ट्रों को कुचलने की अपनी पुरानी नीति का ही अनुसरण करते रहे।

कांग्रेस और शान्ति सम्मेलन—इस हालत में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने निष्क्रिय बैठने की नीति का परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर समझा। वे चाहते थे कि युद्धोपरान्त शान्ति सन्धियों द्वारा जिस नवीन विश्व का निर्माण हो उस कार्य में भाग लेने का अधिकार उन्हें भी मिले। युद्ध प्रयासों में भारत की दन भर स्तीय नेताओं द्वारा युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन आदि बातों की पृष्ठभूमि में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता चाहते थे कि पेरिस के शान्ति सम्मेलन में भारत को उचित प्रतिनिधित्व मिले। 1919 के शान्ति सम्मेलन में भारत को प्रतिनिधित्व अवश्य मिला लेकिन भारतीय इससे एकदम असन्तुष्ट थे। यह प्रतिनिधित्व भारत सरकार को प्राप्त हुआ जो किसी भी दृष्टिकोण से भारतीय लोकमत से प्रभावित

होनेवाला नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भारत का अपना दृष्टिकोण था और यह दृष्टिकोण ब्रिटिश भारतीय सरकार के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न था। इस हालत में भारत के राष्ट्रवादी नेताओं के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करें।

इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पेरिस के शांति सम्मेलन में शामिल होने का निश्चय किया। दिसम्बर 1918 में दिल्ली में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। पेरिस में होनेवाले शांति सम्मेलन के सम्बन्ध में इसने यह प्रस्ताव किया कि इसमें भारत को उचित प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और भारतीय प्रतिनिधि दल में जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों को शामिल किया जाना चाहिए।[1] इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास करमचन्द गांधी और हसन इमाम जैसे वरिष्ठ नेताओं को शांति सम्मेलन में कांग्रेस की ओर से शामिल होने के लिए चुना। यह निश्चय हुआ कि ये तीनों व्यक्ति पेरिस के शांति-सम्मेलन में राष्ट्रवादी भारत का प्रतिनिधित्व करेंगे। उस समय तिलक इंगलैंड में थे। अतः कांग्रेस ने उन्हें वहीं से पेरिस जाने का आदेश दिया। तिलक ने पासपोर्ट के लिए आवेदन किया और ब्रिटिश प्रधानमंत्री को लिखा कि शांति सम्मेलन में भाग लेने के लिए एक भारतीय प्रतिनिधि दल गठित हो जिसमें भारत की विविध संस्थाओं द्वारा निर्वाचित व्यक्ति रखे जायें। ब्रिटिश सरकार को यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ और उसने तिलक को पेरिस जाने की अनुमति देने से इनकार कर दिया।

तिलक का पत्र—इसके उपरान्त तिलक ने शान्ति-सम्मेलन के अध्यक्ष के पास एक पत्र भेजने का निश्चय किया। सम्मेलन के एक नियम के अनुसार यह व्यवस्था की गयी थी कि कोई व्यक्ति या संस्था जिसको सम्मेलन में प्रतिनिधित्व नहीं मिला हो इस तरह का ज्ञापन सम्मेलन के विचारार्थ प्रस्तुत कर सकता है। अपने पत्र में तिलक ने शांति सम्मेलन का ध्यान भारतीय समस्या की ओर आकृष्ट किया और कहा कि भविष्य की शांति के लिए भारतीय समस्या का समाधान परम आवश्यक है। उन्होंने लिखा कि सभी दृष्टियों से भारत एक साधन युक्त और स्वावलम्बी देश है और संसार के किसी देश की भूमि पर उसका दावा नहीं है।

1 *Report of the Thirty-third National Congress*, 1918, Appendix A, p. VII. पेरिस के शांति सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधित्व के सबंध में 6 फरवरी 1919 को भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक सदस्य श्री ... चन्दा ने सरकार का ध्यान उन अनेक भारतीय संस्थाओं के प्रस्तावों की ओर आकृष्ट किया जिनमें यह मांग की गयी थी कि सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक गैरसरकारी (non-official) प्रतिनिधि दल जाना चाहिए। चन्दा महोदय यह जानना चाहते थे कि भारत सरकार का इन प्रस्तावों के प्रति क्या दृष्टिकोण है। इसके जवाब में वायसराय कौंसिल के सदस्य सर विलियम विन्सेंट ने कहा कि सरकार का इन प्रस्तावों को मानने का कोई इरादा नहीं है और शांति सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व एक सरकारी प्रतिनिधि दल करेगा। देखिए —*Proceedings of the Indian Legislative Council*, vol. LVII, 1919, p. 447

अपने विशाल समाग अपरिमित साधन और अपार जनसंख्या के आधार पर भारत विश्व की एक महान शक्ति बनने की आकांक्षा रखता है। इस परिस्थिति में पूर्वी गोलार्द्ध में शान्ति बनाये रखने के काम में वह महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। प्रस्तावित राष्ट्रसंघ का भारत प्रबल समर्थक हो सकता है[1] लेकिन जबतक भारत पराधीन है तबतक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह अपनी भूमिका अदा नहीं कर सकता। भारत पर ब्रिटिश शासन का कायम रहना विश्व शान्ति के लिए प्रत्यक्ष खतरा है। ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य को लेकर यूरोप का साम्राज्यवादी शक्तियों में पहले भी मनमुटाव था और इसको लेकर अब उनकी प्रतिद्वन्द्विता में और अधिक वृद्धि की सम्भावना हो गयी है। अतएव संसार में शान्ति बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि भारत को अविलम्ब स्वतन्त्र कर दिया जाय।

इस पत्र में तिलक ने विश्व राजनीति से सम्बन्धित कई अन्य प्रश्न भी उठाये। एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद की स्थिति उसकी कार्यपद्धति एशियाई देशों के शोषण के तरीकों आदि पर उन्होंने घोर आपत्ति की और यह माँग की कि पृथ्वी के इस भाग में आत्मनिर्णय का सिद्धान्त तत्काल लागू होना चाहिए। तिलक ने भारतीय शासन व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए कहा कि यह अत्यन्त असन्तोष जनक है। उन्होंने अंग्रेजों के इस कथन पर कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं है आपत्ति की और कहा कि सभ्यता की दृष्टि से भारतीय किसी से कम नहीं हैं। अन्त में तिलक ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में शान्ति सम्मेलन से अपील की कि वह इस बात को मान ले कि भारत स्वशासन के लिए भारतीय सर्वथा योग्य है और भारत के साथ आत्म निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त लागू किया जाय।[2]

पेरिस शान्ति सम्मेलन के अध्यक्ष क्लिमेन्शो (Clemenceau) के नाम तिलक का यह पत्र कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न को एक अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उठाने का यह प्रथम प्रयास था। युद्ध के बाद भारतीयों में जिस अभूतपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ उसका यह चरम बिन्दु था। विश्व राजनीति के सम्बन्ध में भारतीय कांग्रेस की यह पहली भावना थी

1 India s self contained I arbours no design upon the integrity of other states a d has no ambition out id Ind a With her vast area et ormous r sources and prodigi us population sl e may aspire to be a lead ng p wer in Asi i if r t in the world She co ild theref re asily be a po verful stewar l of the League of Nat i in the East for the m intenance of peace of the world against all aggressors or d sturb rs of peace wh ther in Asia or elsewhere —Quoted in Andr v s and Mukherjee *The Rise and Growth of Congress in India*, p 271

2 तिलक के इस पत्र के पूर्ण अंश के लिए देखिए *Indian Annual Register* part II 19 0 pp 581 90

जिसने भारतीय और ब्रिटिश दृष्टिकोणों के मौलिक अंतर को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। इसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विदेश नीति का शिलान्यास किया और बाद में इसी नींव के आधार पर कांग्रेस की विदेश नीति विकसित हुई।

वर्साय की संधि और भारत—तिलक का पत्र शान्ति सम्मेलन के निर्णयों को किसी तरह प्रभावित नहीं कर सका। भारतीयों के आत्म निर्णय के सिद्धांत की मांग की सर्वथा उपेक्षा की गयी। सरकार द्वारा भेजे गये भारतीय प्रतिनिधि दल ने सम्मेलन द्वारा तैयार किये गये वर्साय-संधि के मसविदे पर हस्ताक्षर कर दिया। ऐसा करते समय उसने भारतीय लोकमत पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। कांग्रेस ने इसका विरोध किया। वर्साय-संधि का विरोध संयुक्त राज्य अमरिका की सानेट में भी हो रहा था। वहाँ के रहनेवाले कुछ भारतीयों ने वर्साय-संधि के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। उन्होंने अमरीकी जनता से आग्रह किया कि वे वर्साय की संधि को स्वीकार नहीं करें क्योंकि इस संधि ने राष्ट्रपति विल्सन के आत्म निर्णय के सिद्धांत को भारत के सम्बन्ध में मान्यता नहीं दी है।[1] इसी बीच भारतीय कांग्रेस ने अमरीकी सीनेट में प्रस्तुत करने के लिए एक ज्ञापन पत्र तैयार किया। अगस्त 29 1919 को अमरीका सानेट के एक सदस्य डडले फिल्ड मेलोन (Dudley Field Malone) ने सीनेट की वैदेशिक मामलों की समिति (Foreign Relations Committee) के समक्ष इसे पेश किया। भारत की वकालत करते हुए उन्होंने कहा कि जबतक शान्ति संधियों द्वारा भारत के साथ न्याय नहीं होता उसे आत्म निर्णय या स्वशासन का अधिकार नहीं दिया जाता तबतक संयुक्त राज्य अमरिका को इन संधियों का अनुमोदन नहीं करना चाहिए। सीनेटर ने कहा कि भारतीयों ने इसी आश्वासन पर विश्वास करके युद्ध प्रयास में मित्रराष्ट्रों की मदद की थी। यदि उनके साथ इन दिये गये वचनों का पालन नहीं किया जाता है तो उनका दिल टूट जायगा।[2] उन्होंने कहा कि सानेट शान्ति संधियों में संशोधन करे जिससे द्वारा यह आवश्यक हो जाय कि इस पर हस्ताक्षर करनेवाले सभी राज्यों की सरकारों का स्वरूप पूर्ण प्रजातांत्रिक हो। सीनेटर मलोन ने भारत को तत्काल स्वतंत्र करने की मांगों की ओर विश्व शान्ति के लिए इसे परम आवश्यक बताया। अन्त में उन्होंने कहा कि जबतक शान्ति-संधियों के द्वारा भारतीय समस्या का समाधान नहीं हो जाता तबतक संयुक्त राज्य अमरिका को यह मान्य नहीं होना चाहिए।

संयुक्त राज्य अमरिका की सीनेट के वैदेशिक मामलों की समिति में कांग्रेस के प्रयास से भारतीय प्रश्न का उठाया जाना इस तथ्य की ओर संकेत कर रहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र में भारतीयों ने एक नया दृष्टिकोण अपनाया है। युद्ध के पहले भारतीयों ने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया था। पर अब स्थिति बिल्कुल बदल गया। ब्रिटिश भारतीय सरकार को अब एक नये क्षेत्र में भारतीयों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा।

1 *The Indian Annual Register* 1920 pt II pp 262 63

2 B Prasad *The Origins of Indian Foreign Policy* pp 63-64

राष्ट्रसंघ और भारतीय लोकमत—हम कह आये हैं कि पेरिस शान्ति-सम्मेलन मे शामिल होने और वर्साय सन्धि पर हस्ताक्षर करने के फलस्वरूप भारत राष्ट्रसंघ (League of Nations) का प्रारम्भिक सदस्य (Original member) बन गया था। जिस समय राष्ट्रसंघ की स्थापना की बात चली उसी समय भारतीयों ने इसके प्रति अपना उत्साह प्रदर्शित किया था। प्रबुद्ध भारतीय चाहते थे कि राष्ट्रसंघ की स्थापना अवश्य हो और भारत को भी उसकी सदस्यता मिले। तिलक ने क्लिमेन्शो को जो पत्र लिखा था उसमे इस बात की चर्चा की गयी थी और यह आश्वासन दिया गया था कि पूर्व में भारत राष्ट्रसंघ का प्रबल समर्थक बनने का इरादा रखता है। पेरिस के शान्ति सम्मेलन के निर्णय के अनुसार भारत राष्ट्रसंघ का सदस्य अवश्य बना लिया गया लेकिन यह सदस्यता उस भारत को नहीं मिली जिसकी कल्पना भारतीय नेताओं ने की थी। भारतीय नेताओं का ख्याल था कि युद्धोपरान्त भारत को स्वशासन का अधिकार मिलेगा और एक स्वशासी भारत राष्ट्रसंघ का सदस्य बनेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। भारत पर ब्रिटेन का शासन कायम रहा और इसलिए राष्ट्रसंघ में भारतीयों के प्रतिनिधित्व का अधिकार ब्रिटिश भारतीय सरकार को प्राप्त हुआ जो लन्दन स्थित ब्रिटिश सरकार के आदेशानुसार काम करती थी। इस कारण राष्ट्रसंघ के प्रति भारतीयों का उत्साह तुरत ही मन्द पड़ गया। एक पराधीन राष्ट्र होने के कारण राष्ट्रसंघ में भारत अन्य सदस्य राष्ट्रों के सम्बन्ध में समानता का दावा नहीं कर सकता था। वह राष्ट्रसंघ की असेम्बली का सदस्य अवश्य बना लिया गया लेकिन जब उसने कौंसिल का सदस्य बनने का प्रयास किया तो किसी राष्ट्र से उसको समर्थन नहीं मिला। विदेशी राज्य राष्ट्रसंघ का भारतीय सदस्यता को शंका की निगाह से देखते थे और असम्बली में अपने वोटों की संख्या बढ़ाने के लिए इसे ब्रिटेन की चाल समझते थे।[1] अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) के लिए भारतीय न्यायाधीश बनने के समय भी भारत को पुनः ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा था। इसके लिए दो बार भारतीय उम्मीदवार खड़े हुए (1921 में अमीर अली तथा 1938 में सुल्तान अहमद) लेकिन दोनों बार उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा।[2] इनसे सबर भारत को राष्ट्रसंघीय सदस्यता के वास्तविक स्वरूप का पता लग गया। यद्यपि राष्ट्रसंघ के विधान (Covenant) के अनुसार भारत को सभी सदस्य राष्ट्रों के साथ समान अधिकार था लेकिन उसकी राजनीतिक स्थिति अर्थात् उसकी पराधीनता ने उसके व्यक्तित्व को पनपने का मौका नहीं दिया।

एक अन्य कारण से भी भारतीय असन्तुष्ट थे। राष्ट्रसंघ की असेम्बली का अधिवेशन प्रतिवर्ष जेनेवा में होता था और इसमें भाग लेने के लिए भारत सरकार की ओर से एक प्रतिनिधि दल जाया करता था। इस प्रतिनिधि दल के सदस्यों और उनके नेता की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार किया करती थी। इसमें प्राय गण्य ही लोगों

1 D N Verma *India and the League of Nations* pp 65 5
2 Ibid pp 90-91

का नियु जाता था जो सरकार के पिट्ठू होते थे और जो भारतीय लोकमत से कभी प्रभावित होनेवाले नहीं थे। प्रतिनिधि दल का नेतृत्व केवल अंग्रेज करते थे और इस पद पर किसी भारतीय की नियुक्ति नहीं की जाती थी। सरकार की इस नीति से भारतीय लोकमत अत्यंत क्षुब्ध था। इस समय तक देश का शासन 1919 के भारत सरकार अधिनियम के द्वारा चल रहा था। इस अधिनियम ने भारत के लिए एक केंद्रीय व्यवस्थापिका (Central Legislature) की स्थापना की थी। यद्यपि इस व्यवस्थापिका का गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर नहीं हुआ था लेकिन तत्कालीन परिस्थिति में यह माना जाता था कि यह भारतीय लोकमत का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए केंद्रीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में भारतीय सदस्यों ने बार-बार यह प्रश्न उठाया कि राष्ट्रसंघ की असेम्बली के लिए भारतीय प्रतिनिधि दल का मनोनीत करने का अधिकार केन्द्रीय व्यवस्थापिका को दिया जाय। सरकार के समक्ष यह माग रखी गयी कि व्यवस्थापिका को नामों की एक सूची तैयार करने का अधिकार मिले और इसी सूची से सरकार आवश्यकतानुसार व्यक्तियों को चुन ले। इस सम्बन्ध में व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में कई बार प्रस्ताव पास किये गये।[1] लेकिन भारत सरकार पर इन प्रस्तावों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसका कहना था कि राष्ट्रसंघ में भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाले प्रतिनिधि दल के सदस्यों को चुनने का अधिकार केवल सरकार को है और इसमें व्यवस्थापिका का हस्तक्षेप अनुचित है। सरकार इस माग को पूरा करने में असमर्थ है।

भारतीय प्रतिनिधि दल के नेतृत्व को लेकर भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका में बड़ा हंगामा हुआ। प्रतिनिधि दल में राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार तीन सदस्य होते थे। 1929 तक भारतीय प्रतिनिधि दल का संगठन इस प्रकार होता रहा एक वरिष्ठ अंग्रेज राजनीतिज्ञ दल का नेता होता था दूसरा सदस्य भारतीय रियासतों का एक नरेश होता था तथा तीसरा व्यक्ति ब्रिटिश भारत का कोई प्रमुख व्यक्ति होता था। प्रतिनिधि दल के संगठन के इस तरीके पर भारतीयों ने भारी आपत्ति की। उनका कहना था कि एक अंग्रेज को प्रतिनिधि दल का नेता नियुक्त करना सरासर अन्याय है जबकि भारत में उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ उपलब्ध हैं और वायसराय की कार्यकारिणी समिति में भी भारतीय सम्मिलित किये जा रहे हैं। भारतीयों के लिए यह बड़ी ही अपमानजनक स्थिति थी क्योंकि जनता में एकत्र विदेशी प्रतिनिधि हमेशा इस पर टिप्पणी किया करते थे। अतएव केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों ने भारतीय प्रतिनिधि दल के पूर्ण भारतीयकरण की माग की और 1922 से 1928 तक लगातार इस प्रश्न पर कई प्रस्ताव रखे गये। कौंसिल आफ स्टेट के सदस्य पी० सी० सेठना ने इस प्रश्न पर बड़ा हंगामा किया। शुरू में सरकार टालमटोल की नीति से काम करती रही लेकिन अन्त में उसे झुकना पड़ा और 1929 में पहले पहल पद

[1] इन प्रस्तावों और उन पर बहस के लिए देखिये *Council of State Debates* (1922) vol II pt II pp 1132 42 and *Legislative Assembly Debates* (1922) vol II pt III pp 3626 53

भारतीय को प्रतिनिधि दल का नेतृत्व करने का मौका मिला। उस वर्ष वायसराय की कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य मुहम्मद हबीबुल्ला प्रतिनिधि दल के नेता बनाये गये और उसके बाद हर वर्ष इस पद पर भारतीयों की ही नियुक्ति होती रही।[1]

भारतीय प्रतिनिधि दल के साथ और भी कई तरह की सीमाएं थीं जिससे वे भलीभांति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर पाते थे। सर्वप्रथम उनकी नियुक्ति भारत सचिव के द्वारा होती थी और वही उनको आदेश देता था। भारतीय प्रतिनिधि दल को इन्हीं आदेशों के बन्धनों में रहकर राष्ट्रसंघ के समक्ष उपस्थित समस्याओं पर अपना दृष्टिकोण निर्धारित करना पड़ता था। इन्हीं आदेशों के अनुसार असेम्बली या उसकी समितियों में वे भाषण देते थे, प्रस्ताव पेश करते थे और मतदान करते थे। इस अवसर पर वे भारतीय लोकमत या भारत के हित अहित पर जरा भी ख्याल नहीं रखते थे उनकी आवाज भारतीय आवाज होती थी, लेकिन उनके विचार पूर्णतया विनायती होते थे। इस स्थिति को भारत के राजनीतिज्ञ बड़ा ही अपमानजनक मानते थे। लेजिस्लेटिव असेम्बली में बोलते हुए भगवानदास ने ठीक ही कहा था कि भारत को राष्ट्रसंघ का एक स्वतन्त्र सदस्य माना जाता है लेकिन यह निम्न कोटि की कूटनीति है। यह सभी जानते हैं कि भारत की ओर से राष्ट्रसंघ में जो आवाज निकलती है वह भारत की आवाज नहीं वरन इंगलैंड की आवाज है।[2] भारतीय हितों की उपेक्षा कर ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों की रक्षा करना भारतीय प्रतिनिधि दल की निश्चित नीति हो गयी थी। निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर भारत ने इसी भावना से प्रेरित होकर अपनी नीति का निर्धारण किया। राष्ट्रसंघ के विधान के अन्तर्गत राष्ट्रों के बीच हथियारबन्दी की होड़ को कम करने के लिए जेनेवा में एक ही साथ कई प्रयास हो रहे थे। उस समय भारत की जो स्थिति थी उसका ध्यान में रखते हुए इस होड़ को सीमित करने में ही भारत का हित था। सेना और हथियार पर भारत जैसा गरीब देश भी अपार खर्च कर रहा था। यदि इस धन का उपयोग उद्योग धन्धों की उन्नति पर किया जाता तो देश की आर्थिक अवस्था में पर्याप्त सुधार हो सकता था। इस दृष्टिकोण से निरस्त्रीकरण का कार्यक्रम भारत के लिए बड़ा लाभदायक था और उसे जेनेवा में ऐसे हर प्रस्ताव का समर्थन करना चाहिए था। लेकिन भारत ने ऐसा नहीं किया क्योंकि यह ब्रिटेन के विश्वव्यापी साम्राज्यवादी हितों के प्रतिकूल पड़ता था। अतएव भारतीय प्रतिनिधि दल ने हमेशा भारतीय हित और भारतीय लोकमत की उपेक्षा करते हुए निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर ब्रिटिश नीति का समर्थन किया। इस कारण भारतीय नेता बहुत असंतुष्ट थे।[3]

1 D N Verma *India and the League of Nations* pp 83 89

2 The ostentatious pretence is that India is an independent member of the League but everyone knows that this is only brazen diplomacy The representative of India on the League have always been the nominated tools and mouthpieces megaphone and microphone of the British Government — *Legislative Assembly Debates* (1937) vol III p 2597

3 D N Verma *India and the League of Nations* pp 98 105

कुछ अन्य अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर भी भारतीय प्रतिनिधि दल का दृष्टिकोण इसी तरह रहा। 1931 में जापान ने चीन पर आक्रमण किया और चीन ने इस बात की शिकायत राष्ट्रसंघ में की। उस समय चीनी और भारतीय जनता में बड़ा ही मधुर सम्बन्ध था। चीन जापान युद्ध में भारतीयों की सहानुभूति चीन के साथ थी और इसलिए भारतीय नेताओं का विचार था कि राष्ट्रसंघ में भारत चीन का समर्थन करे। लेकिन ब्रिटिश सरकार की नीति ठीक इसके विपरीत थी। वह ऊपर से तो चीन का समर्थन कर रही थी लेकिन उसकी वास्तविक सहानुभूति जापान के साथ थी। अतएव राष्ट्रसंघ में जब चीन जापान विवाद आया तो भारतीय प्रतिनिधि दल ने भारतीय जनता की इच्छा की अवहेलना करते हुए ब्रिटिश सरकार के आदेशानुसार ही अपना दृष्टिकोण निश्चित किया।[1] 1935 में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। इस अवसर पर भी भारतीय प्रतिनिधि दल का रवैया बड़ा ही निराशाजनक रहा। भारतीय जनता की सहानुभूति अबीसीनिया के साथ थी लेकिन ब्रिटिश सरकारों के आदेशों पर चलते हुए भारतीय प्रतिनिधि दल ने इटली का ही समर्थन किया।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ की सदस्यता ने भारतीय दृष्टिकोण और सरकारी दृष्टिकोण के बीच के मौलिक अन्तर को सामने ला दिया। यह जाहिर हो गया कि अंतर्राष्ट्रीय मसलों पर दोनों पक्ष एक दूसरे के विरोधी विचार धारा के पोषक हैं। राष्ट्रसंघ के प्रति भारतीय दृष्टिकोण ने यह भी सिद्ध कर दिया कि भारत में अपूर्व अंतर्राष्ट्रीय चेतना का विकास हो गया है।

तुर्की के साथ शान्ति समझौता और भारत—तुर्की का सुलतान मुस्लिम जगत का खलीफा होता था और भारतीय मुसलमान उसको अपना धर्म गुरु मानते थे। प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की ने ब्रिटेन के खिलाफ जर्मनी का साथ दिया था। अतएव तुर्की के सम्बन्ध में भारतीय मुसलमान शुरू से ही सशंकित थे। उनका ख्याल था कि जर्मनी ने तुर्की को धोखा देकर अपने पक्ष में कर लिया है। युद्ध प्रयास में भारतीय मुसलमानों ने इस उम्मीद पर अंग्रेजों की सहायता करने का निश्चय किया कि यदि युद्ध में तुर्की हार भी गया तो उनकी भावना का आदर करते हुए इंगलैंड तुर्की के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनायेगा। जनवरी 1918 में लायड जार्ज ने एक भाषण में यह संकेत भी दिया कि युद्धोपरान्त तुर्की के साथ किसी तरह का दुर्व्यवहार नहीं किया जायगा और न उसके भू-भाग को हस्तगत किया जायगा। इस आश्वासन के उपरान्त भारतीय मुसलमानों ने जी जान से युद्ध में अंग्रेजों की मदद की।

लेकिन जब युद्ध का अन्त निकट आया तो यह अफवाह जोरों से फैली कि मित्रराष्ट्रों के बीच तुर्की साम्राज्य के बटवारे के लिए गुप्त समझौता हुआ है और तुर्की के साथ जो समझौता होगा उसके अनुसार उसका एक बहुत बड़ा भू-भाग छीन लिया जायगा। एशिया माइनर और थ्रेस का छीना जाना बिल्कुल अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। यह भी बात सुनने में आयी कि तुर्की की राजधानी कुस्तुन्तुनिया

1 Ibid pp 106 7
2 Ibid p 107

नोपुल पर भी मित्रराष्ट्र अधिकार कर लेंगे या उसका अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। कुस्टुन्टिनोपुल पिछले चार सौ वर्षों से इस्लाम का केन्द्र स्थल था। यह सारा नगर मुसलमानों की धार्मिक भावना से जुडा हुआ था। इसमे कई ऐतिहासिक मस्जिदें थी और ये इस्लामी सभ्यता के मुख्य केन्द्र मानी जाती थी। ऐसी हालत में तुर्की के साथ होनेवाले व्यवहार के सम्बन्ध में अफवाहें सुनकर मुसलमान बहुत चिन्तित हुए। उनका यह क्षोभ बिल्कुल स्वाभाविक था।[1]

युद्धोपरान्त पराजित तुर्की के साथ अच्छा व्यवहार हो और उस पर कोई कडी सन्धि नही थोपी जाय इसके लिए भारतीय मुसलमानों ने आन्दोलन शुरू किया और भारतीय लोकमत को तुर्की के पक्ष मे बनाने का निश्चय किया। महात्मा गांधी ने मुसलमानों की मांग का समर्थन किया। तुरत ही एक खिलाफत कान्फ्रेन्स (Khilafat Conference) की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य ब्रिटिश भारतीय सरकार पर दबाव डालना था ताकि तुर्की के साथ न्याय हो सके। नवम्बर 1919 में खिलाफत कान्फ्रेंस का अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता महात्मा गांधी ने की। सभी जागरूक भारतीयों ने तुर्की का समर्थन किया और ब्रिटिश सरकार को यह चेतावनी दी कि यदि तुर्की के साथ अन्याय किया गया तो इसका परिणाम बडा बुरा होगा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकार कर सरकार से आग्रह किया कि वह तुर्की की समस्या का समाधान भारतीय मुसलमानों की भावना को ध्यान मे रखते हुए करे। एक खिलाफत शिष्ट मडल (Khilafat Deputation) को गठित किया गया और उसे यूरोप भेजने का निश्चय किया गया। महात्मा गांधी ने खिलाफत के पक्ष मे असहयोग आन्दोलन चलाने का निश्चय किया।[2]

इस प्रकार तुर्की के साथ होनेवाली शान्ति सन्धि ने भारतीय राजनीति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया और देश का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त उष्ण हो गया। सरकार के लिए यह चिंता का विषय था। अतएव भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार पर दबाव डालना शुरू किया कि वह भारतीय मुसलमानों की भावना को ध्यान मे रखते हुए ही तुर्की के सम्बन्ध मे नीति का निर्धारण करे। वायसराय ने अपने कई भाषणो में तुर्की की चर्चा की और भारतीयों को आश्वासन दिया कि उनकी सरकार इस दिशा में यथेष्ट रूप से सक्रिय है और तुर्की के साथ कोई अन्याय नही होने दिया जायगा।

अपने द्वारा दिये गये आश्वासनों को पूरा करने के उद्देश्य से वायसराय ने भी पेरिस शान्ति सम्मेलन मे एक खिलाफत शिष्टमडल भेजने का निश्चय किया। आगा खाँ आफताब अहमद तथा युसुफ अली को सरकार ने पेरिस भेजा। पेरिस शान्ति सम्मेलन मे भारतीय प्रतिनिधि दल के साथ मिलकर इस शिष्टमडल ने तुर्की के पक्ष में वकालत की। 17 मई 1919 को सर्वो च्च शान्ति परिषद् के कर्णधार लायड जार्ज वुडरो विल्सन क्लिमशो तथा आरलैंडो के समक्ष यह शिष्टमडल उपस्थित

1 S R Mehrotra *India and the Common ealth* p 192

2 B Prasad *The Origins of Indian Foreign Policy* pp 53 56

हुआ।[1] सर्वप्रथम भारत सचिव ई. एस. माटेग्यू का एक संक्षिप्त भाषण हुआ जिसमें उन्होंने भारत सरकार के दृष्टिकोण को समझाया। इसके बाद आगा खाँ बोले। फिर आफताब अहमद, युसुफ अली, बीकानेर के महाराजा और लार्ड एस. पी. सिन्हा ने अपने विचार व्यक्त किये।[2] सभी के भाषण का एक ही तथ्य था—तुर्की के साथ अत्याचार नहीं किया जाय, उसके साथ नरमी का बर्ताव हो, उस पर कोई ऐसा शान्ति संधि आरोपित नहीं की जाय जिससे तुर्की की क्षति हो और उसको अपना विशाल साम्राज्य गँवाना पड़े।

सम्भवतः शान्ति-सम्मेलन के उन्नायकों पर भारतीय शिष्टमण्डल के इस प्रयास का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और तुर्की के साथ एक अत्यन्त कठोर संधि की रूपरेखा तैयार की गया। यह सेव्र की संधि (Treaty of Sevres) थी। 14 मई 1920 को सेव्र की प्रस्तावित संधि का प्रारूप प्रकाशित कर दिया गया। भारत में इसके विरुद्ध बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। एक स्वर से भारतीयों ने इसका विरोध किया। 22 जून 1920 को भारत के प्रमुख नेताओं ने वायसराय को पत्र लिखा। इसमें सेव्र की संधि की आलोचना की गयी थी और इस बात पर क्षोभ प्रकट किया गया था कि तुर्की के विनाश में ब्रिटिश सरकार अपने सभी आश्वासनों से मुकर कर मित्र राष्ट्रों का साथ दे रही है। अन्त में वायसराय से अपील की गयी थी कि वे भारतीय मुसलमानों की भावना पर ध्यान रखते हुए ब्रिटिश सरकार पर संधि में संशोधन के लिए दबाव डालें। यदि भारत सरकार ऐसा नहीं करेगी तो भारतीयों के समक्ष असहयोग आन्दोलन चलाने के अतिरिक्त कोई अन्य चारा नहीं रह जायगा।

भारत सरकार परिस्थिति की गम्भीरता को समझती थी और इसलिए गोपनीय रूप से उसने इण्डिया आफिस पर दबाव डालना शुरू किया। भारत सचिव माटेग्यू का रुख भी सहानुभूतिपूर्ण था। लेकिन सेव्र की संधि का संशोधन होना आसान नहीं था। तत्काल कुछ होने वाला नहीं था। अतएव तुर्की के प्रश्न को लेकर 1 अगस्त 1920 को भारत में खिलाफत आन्दोलन प्रारम्भ हो गया।

तुर्की के प्रश्न और खिलाफत आन्दोलन के सम्बन्ध में भारतीय केन्द्रीय व्यवस्थापिका में कई बार प्रश्न उठे और उन पर काफी वाद-विवाद हुए। लेकिन सबसे तूफानी बहस कौंसिल आफ स्टेट में 21 फरवरी 1921 को हुआ। एक सदस्य ने खिलाफत आन्दोलन से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए सदन में काम स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion) रखा। बहस के दौरान ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार पर कड़े आक्षेप किये गये, उन पर वचन विमुखता के आरोप लगाये गये और पुनः इस बात की माँग की गयी कि सेव्र की संधि में आवश्यक संशोधन हो।

तुर्की और खिलाफत के प्रश्न भारत सरकार और इण्डिया आफिस के लिए

---

1 *Papers Relating to the Foreign Relations of the United States* Paris Peace Conference 1919 Vol V p 690

2 Ibid pp 690-701

लगभग तीन वर्षों तक भयकर सरन्द के विषय बने रहे। इसी प्र न पर ब्रिटिश विदेश सचिव लाड कर्जन और भारत सचिव मां ग्यू के मध्य घोर विवाद हुआ जिसके फलस्वरूप मान्टग्यू को पत्याग करना पड़ा।[1] राजनयिक न्नका म इसको लेकर महीनों तक तनातनी बनी रही। अन्त म सेव्र की सधि को ख म करना पड़ा और उसकी जगह तुर्की के साथ जुलाई 1923 मे एक नयी सधि—लूसान की सधि (Treaty of Lausanne) की गयी। लूसान की सधि ने तुर्की के साथ किये गये कई अन्य यो का अन्त कर दिया।

भारत मे अ तर्राष्टीय दष्टिकोण और चेतना क विकास में युद्धोपरात तुर्की के साथ शान्ति सधि की समस्या को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। इस ममले पर भारतीय जनमत का अन्तर्राष्टीय राजनीति से प्रथम सामना हुआ और पहले-पहल भारत ने विश्व के कूटनीतिक इतिहास को प्रभावित किया। सेव्र की सधि मे सशोधन और उसकी जगह पर लूसान की सधि को भारतीय लोकमत ने निर्णायक रूप से प्रभावित किया था।[2]

तुर्की के प्रश्न पर भारतीय रुचि का एक और परिणाम निकला। इसके कारण ससार की अन्य समस्याओ म भी भारतीयो की रुचि बढ़ी और प्र येक अ न र्राष्ट्रीय घटना पर अब व अपना विचार व्यक्त करने लगे। भारत की सहानुभूति निश्चित रूप से पराधीन राष्ट्रो के साथ थी। अत भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस न पराधीन जातियो के मुक्ति आन्दोलन के प्रति सहानुभूति व्यक्त करना शुरू किया और इस सन्दभ मे कई प्रस्ताव स्वीकार किये गये। 1923 के कांग्रेस अधिवेशन ने आयरलैन्ड के सम्बन्ध म प्रस्ताव स्वीकार करके आयरिश शहीदो के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और आयरलैंड के स्वातन्त्र्य सग्राम का समथन किया।[3] तुर्की में मुस्तफा कमाल पाशा ने कतिपय यूरोपीय राज्यो के खिलाफ युद्ध जारी कर रखा था। इस युद्ध म भारत की सहानुभूति निस्सदेह तुर्की के पक्ष म थी। अतएव युद्ध में जब मुस्तफा कमाल विजयी रहा तो भारत ने इसे यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशियाई राष्ट्रीयता की विजय के रूप म स्वीकार किया। कांग्रेस ने 1923 म तुर्की से सम्बद्ध एक प्रस्ताव स्वीकार किया तुर्क लोगो को विजय के लिए बधाई दी और तुर्की की विजय को एशियाई राष्ट्रीयता की विजय की दिशा में प्रथम कदम माना।

खिलाफत के प्रश्न म रुचि लेने के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म कांग्रेस की रुचि इतनी बढ़ गयी कि 1921 म उसने विदेश नीति पर एक वक्तव्य प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव ने कांग्रेस की विदेश नीति के मूल सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए भारत की भावी विदेश नीति का शिलान्यास किया। इस प्रस्ताव के द्वारा कांग्रेस ने विदेशी राज्यो विशेषकर भारत के पड़ोसी राज्यों को

1 *Indian Annual Register* vol 2 1922 pp 138

2 S R Mehrotra *India and the Commonwealth* p 195

3 *Report of the Twenty Fifth Indian National Congress* 1920 p 95

1 *The Indian National Congress* 1920 1933 p 305

यह आश्वासन दिया कि भारत को संसार के किसी देश से शत्रुता नहीं है और किसी भी दृष्टिकोण से भारत सरकार भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व नहीं करती। प्रस्ताव में स्पष्ट कर दिया गया कि भारत अपने पड़ोसी राष्ट्रों से स्थायी मैत्री कायम करना चाहता। भारत-सरकार ने इन राष्ट्रों पर जो सन्धियाँ आरोपित की हैं उनको भारतीय जनमत का समर्थन किसी तरह प्राप्त नहीं है। यह भारत और उसके पड़ोसियों के बीच स्थायी खाई पैदा करने की साम्राज्यवादी चाल है और भारत की जनता इसे पूर्णतया अस्वीकार करती है।[1]

(iv) एशियाई देशों का संगठन और भारत

इस प्रकार 1919 1921 के काल में विश्व राजनीति के क्षेत्र में काँग्रेस की रुचि अत्यधिक बढ़ गयी और वह साम्राज्यवाद का विरोध तथा पराधीन राष्ट्रों के राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करने लगी। इसके फलस्वरूप भारतीयों में पददलित तथा शोषित राष्ट्रों के साथ बन्धुत्व की नयी भावना जगी। इसका एक और परिणाम हुआ। भारत के राजनीतिज्ञ यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशियाई देशों को संगठित करने का प्रयास करने लगे।

एशिया की राजनीति में भारत द्वारा रुचि लिया जाना भौगोलिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक और वांछनीय था। भौगोलिक दृष्टिकोण से भारत एशिया के मध्य में स्थित है अतएव एशियाई घटनाओं का भारत पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। राजनीतिक दृष्टि से भी एशिया की राजनीति में भारत का बड़ा महत्त्व था। भारत एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद का मुख्य स्तम्भ था। भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य को कायम रखने के लिए ही एशिया के कई देशों को पराधीन बनाया गया था। पराधीन एशियाई देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों को कुचलने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत को अपना मुख्य सैनिक आधार (military base) बना रखा था। पास पड़ोस के स्वातन्त्र्य संग्राम को कुचलने के लिए भारत से ही सैनिक भेजे जाते थे। इस प्रकार भारत सम्पूर्ण एशिया की दासता का प्रतीक बन गया था। ऐसी हालत में यदि भारत अपने को साम्राज्यवादी गुलामी से मुक्त कर लेता तो सम्पूर्ण एशिया की मुक्ति का दरवाजा खुल जाता। जैसा कि गांधीजी ने कहा था "एशियाई और गैर-यूरोपीय लोगों के शोषण का मुख्य आधार भारत है। भारत को स्वाधीन कराके मैं उन सभी पददलित राष्ट्रों को मुक्ति दिलाना चाहता हूँ जो यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा शोषित हो रहे हैं।"[2]

1 Ibid pp 75-76

2 India is the key to the exploitation of the Asiatic and other non European races of the Earth. Through the deliverance of India I seek to deliver the so-called weaker races of the earth from the crushing heels of western exploitation —Quoted by U R Rao, Gandhiji and Asia *United Asia* I (1948) p 59

तुर्की के प्रश्न को लेकर भारतीय राजनीति में जो हगामा पैदा हुआ उसके फलस्वरूप भारतीय नेताओं की एशियाई देशों को संगठित करने की भावना को अत्यधिक प्रश्रय मिला और अपने राजनीतिक भाषणों में वे बराबर इस बात की चर्चा करने लगे। 1922 में खिलाफत कांफ्रेंस के गया अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए एम ए अंसारी ने एक एशियाई संघ (Asian Federation) बनाने का प्रस्ताव रखा। 1922 में कांग्रेस के अध्यक्ष सी आर दास ने एशियाई देशों को पश्चिम के विरुद्ध संगठित करने की आवश्यकता पर बल दिया। 1923 में मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से बोलते हुए कहा पराधीन और शोषित एशियाई देशों की समस्याओं के साथ भारतीय समस्या का तालमेल अत्यन्त आवश्यक है। भारत को तत्काल मिस्र सीरिया फिलिस्तीन मोरक्को आदि के राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करनी चाहिए।[1] 1926 में एक अन्य भारतीय नेता एस श्री निवास आयगर ने पुन इस तथ्य पर जोर देते हुए कहा कि अब वह समय आ गया है जब भारत सभी एशियाई देशों के कल्याण के लिए एक एशियाई संगठन कायम करने की बात सोचे।[2]

एशियाई देशों को संगठित करके एक एशियाई संघ के निर्माण की बात भारतीय राजनीति में इस प्रकार घुल गयी कि कांग्रेस ने इस काल में एशियाई देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों के समर्थन में कई प्रस्ताव पास किये। कांग्रेस के नेताओं में यह विश्वास जम गया कि एशिया की राजनीति से अलग करके भारत की समस्या को नहीं देखा जा सकता है। उनके साथ एकता कायम करके ही भारत को मुक्त किया जा सकता है तथा यूरोपीय राष्ट्रों के साथ समानता प्राप्त की जा सकती है। एशियाई राजनीति में भारतीयों की रुचि इतनी बढ़ गयी कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा कई अन्य भारतीय नेताओं ने पड़ोसी देशों का भ्रमण शुरू किया। इन यात्राओं का मुख्य उद्देश्य एशियाई देशों के साथ घनिष्ठतम सम्पर्क कायम करना था।[3] एशियाई देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध कायम करने के लिए भारत में

1 *Indian Annual Register* 1923 II, p 193

2 *Indian Quarterly Register* 1926 II 305 6

3 एशियाई देशों के साथ भारत का घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित कराने में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 1920 में रवीन्द्रनाथ ने शान्ति निकेतन में एक एशियाई शोध-संस्थान स्थापित करने की योजना बनायी और 1921 में विश्व भारती में भारत चीन अध्ययन विभाग (Department of Sino Indian Studies) खोला गया। 1923 में चीन के गणराज्य के निमंत्रण पर रवीन्द्रनाथ अपने कुछ साथियों के साथ चीन गये। 3 अक्टूबर 1924 के अपने अंक में क्रिश्चियन साइंस मोनिटर (Christian Science Monitor) ने इस यात्रा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि भारत और चीन के सम्बन्धों में यह सद्भावना-यात्रा एक नया अध्याय खोलेगी।

कवि रवीन्द्र की यात्रा के उपरान्त भारत चीन अध्ययन विभाग के प्राध्यापक डा प्रबोध चन्द्र बागची पेकिंग विश्वविद्यालय में अल्पकाल के लिए शिक्षक (Visiting Professor) होकर गये।

कई संस्थाएं कायम की गयीं। एशिया देशों की राजनीतिक संस्थाओं के नेताओं को कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में प्रेक्षक के रूप में आमंत्रित किया जाने लगा।[1]

एशियाई देशों को संगठित करने के इस मद्धासिक वाद विवाद का एशियाई देशों के सम्मेलनों में भाग लेकर भारतीय नेताओं ने एक व्यावहारिक रूप दिया। ऐसे सभी सम्मेलनों में इस बात की मान्यता मिली कि एशिया की मुक्ति में भारत को महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना है। 1920 में एशियाई देशों के एक सम्मेलन का आयोजन सोवियत संघ ने बाकू (Baku) में किया था जिसमें भारत सहित बीस एशियाई देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता शामिल हुए थे। यह पहला अवसर था जब एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए एशिया के कुछ देश एक मंच पर उपस्थित हुए थे। बाकू सम्मेलन के बाद एशियाई देशों का दूसरा सम्मेलन 1926 में नागासाकी में हुआ था। संयुक्त राज्य अमरिका ने हाल ही में एशियाई लोगों के प्रवेश को निषिद्ध कर दिया था और ब्रिटिश डामिनियन के राज्य भी इसी प्रकार विधेयक बनाने की बात सोच रहे थे। इस विधेयक का विरोध करने में जापान ने अग्रणी का काम किया। सुप्रसिद्ध जापानी नेता काउन्ट ओकुमा (Count Okuma) एशिया एशियावालों के लिए (Asia for Asiatics) *के आन्दोलन का मुख्य प्रवर्तक था। उसी ने इस कानून के विरुद्ध* नागासाकी में एक एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया और इसे एक संस्था का रूप देने का प्रयास किया। इस सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन 1927 में शंघाई में हुआ और भारत की ओर से प्रताप सिंह ने इसमें प्रमुख भाग लिया।

पददलित राष्ट्रों का ब्रूसेल्स सम्मेलन—ऐसे सम्मेलनों में साम्राज्यवाद

पश्चिमी एशिया के देशों के साथ भी रवीन्द्रनाथ ने मधुर सम्बन्ध कायम करने में मदद दी। अपनी यूरोपीय यात्रा के समय जब वे यूरोप जा रहे थे तो कुछ दिनों के लिए मिस्र में ठहरे और मिस्र के राजा फौद ने उन्हें विश्व भारती के इस्लामी विभाग के लिए कुछ अरबी पाण्डुलिपियाँ भेंट कीं। मिस्र के महान कवि बुस्तानी (Bustani) कवि रवीन्द्र के निमंत्रण पर शान्ति निकेतन आये और कुछ संस्कृत महाकाव्यों का अनुवाद उन्होंने अरबी में किया। 1923 में कवि रवीन्द्र को ईरान के शाह रेजाशाह पहलवी का व्यक्तिगत निमन्त्रण प्राप्त हुआ। उस वर्ष ईरान में ही बड़ी धूमधाम से कवि का जन्म दिन मनाया गया था। इसके उपरान्त ईरानी कवि फोर दाऊद (Foure Daoud) शान्ति निकेतन आये। ईरान की गानी पुस्तकालय से लाये गए कुछ अमूल्य पाण्डुलिपियों को उन्होंने विश्व भारती के पुस्तकालय को भेंट किया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब कवि बीमार थे उस समय जब कोई भारतीय एशियाई देशों के भ्रमण पर जाने के पहले कवि से भेंट करने जाता तो वे भावुकता से गद गद हो जाते। जवाहरलाल नेहरू की चीन यात्रा के समय कवि ने आँसुओं के साथ उन्हें विदा किया था। इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन के लिए देखिये— Tagore Pioneer in Asian Relations *Modern Review* February 1966 pp 109 112

1 D N Verma India and Asian Solidarity *Journal of the Bihar Research Society* vol XLIX 1963 p 322

विरोधी संघ (League Against Imperialism) के तत्वावधान में हुए 1927 का पददलित राष्ट्रों का ब्रुसेल्स सम्मेलन (Brussels Congress of Oppressed Nationalities) सबसे महत्वपूर्ण था। इस सम्मेलन का आयोजन कई तरह के लोगों ने किया था। सर्वप्रथम इसमें ब्रिटेन के उग्रवादी मजदूर नेताओं का प्रमुख हाथ था जिन्होंने मजदूर दल (Labour party) की नीति से असन्तुष्ट होकर अपना अलग स्वतन्त्र मजदूर दल कायम कर लिया था। ये लोग साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी थे। इनका कहना था कि इंगलैंड के मजदूरों की हालत तब तक नहीं सुधर सकती है जबतक ब्रिटेन के विशाल साम्राज्य का अंत नहीं हो जाय। उपनिवेशों में सस्ती दर पर मजदूर मिलते थे। इस कारण अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से ब्रिटेन के पूंजीपति अपनी अतिरिक्त पूंजी (surplus capital) को उपनिवेशों में ही लगाने (invest) लगे थे। इसके फलस्वरूप अंग्रेज मजदूरों की स्थिति दिनोंदिन खराब होती जा रही थी। अतएव इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी (Independent Labour Party) वालों ने एक साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा कायम किया जिसका उद्देश्य साम्राज्यवादी देशों में उपनिवेशवाद के खिलाफ आन्दोलन करना था। ब्रुसेल्स सम्मेलन के आयोजन में इनका प्रमुख हाथ था।[1]

साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे को जर्मनी की सरकार का भी समर्थन मिला। वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी के सारे उपनिवेश छीन लिये गये थे। अतएव जर्मनी अब उपनिवेशवादी राष्ट्र नहीं रह गया था। वह चाहता था कि यूरोप के अन्य राष्ट्रों के उपनिवेश समाप्त हो जायें और इसके लिए वह साम्राज्यवाद के विरोधियों को हर तरह की सहायता देने को प्रस्तुत रहता था।[2] इस समय बर्लिन में चीन की कोमिन्तांग पार्टी के प्रतिनिधि बड़े सक्रिय थे। चीन के मुक्ति आन्दोलन को व्यापक रूप देने के लिए वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काम कर रहे थे और जब इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के लोगों ने उनके समक्ष ब्रुसेल्स सम्मेलन का प्रस्ताव रखा तब उन्होंने उत्साह के साथ इसका स्वागत किया और सम्मेलन को संगठित करने का प्रबल प्रयास किया। वस्तुतः कोमिन्तांग का ही एक प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू से मिला और उनसे ब्रुसेल्स सम्मेलन में भाग लेने का आग्रह किया।[3]

लैटिन अमेरिका के देशों ने साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे का स्वागत किया। दक्षिण अमेरिका में संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवाद के प्रसार से अधिक देश काफी चिन्तित थे। अतः ब्रुसेल्स सम्मेलन के विचार को उन्होंने अपना

1 विस्तृत विवरण के लिए देखिए—
(i) Roger Baldwin The Brussels Congress 1927 *The Nation* (New York) vol 124 No 3223 p 317
(ii) R P Dutt *Crisis of Britain and the British Empire* p 59
(iii) R L Schuyler The Rise of Anti Imperialism in England *Political Science Quarterly* XXXVII pp 44 71
2 Jawaharlal Nehru *An Autobiography* p 161
3 Ibid pp 161 62

जबरदस्त समर्थन किया।[1] इसी तरह एशिया और अफ्रीका के देशों ने भी इस विचार का स्वागत बड़े उत्साह से किया।

इनके अतिरिक्त सोवियत संघ और पश्चिम यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियों ने सम्मेलन को सफल बनाने तथा साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा को सुदृढ़ करने में अपना अमूल्य योगदान दिया। सोवियत संघ ने सरकारी तौर पर सम्मेलन का समर्थन किया।

1926 में सम्मेलन के आयोजकों ने फरवरी 1927 में ब्रुसेल्स में दलित राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। उस समय जवाहरलाल नेहरू अपनी पत्नी के इलाज के सिलसिले में यूरोप में थे। वहाँ कुछ लोगों ने उनसे मुलाकात की और ब्रुसेल्स सम्मेलन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के शामिल होने की बात की। नेहरू ने इस विचार का स्वागत किया और कांग्रेस से अनुरोध किया कि इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए वह एक प्रतिनिधि भेजे।[3] कांग्रेस ने अपने गोहाटी अधिवेशन में इस प्रस्ताव पर विचार करके नेहरू को आदेश दिया कि वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की तरफ से ब्रुसेल्स सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करें ताकि हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन साम्राज्यवाद के विरोध में हो रहे विश्वव्यापी आन्दोलन के साथ जुट जाय।[4] इस प्रकार ब्रुसेल्स सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार जवाहरलाल नेहरू को प्राप्त हुआ।[5]

10 फरवरी 1926 को सम्मेलन की कार्यवाही ब्रुसेल्स में शुरू हुई। यह संसार के पददलित और शोषित राष्ट्रों का वृहत् पैमाने पर पहला सम्मेलन था जिसमें 175 प्रतिनिधि दल सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन में भारत को मुख्य स्थान दिया गया था। इग्मों भवन (जहाँ सम्मेलन हो रहा था) के हॉल की दीवारों पर भारत से सम्बन्धित अनेकानेक चित्र नक्शे और चार्ट टँगे हुए थे जो भारत के साम्राज्यवादी शोषण की गहराई बतला रहे थे। एक नक्शा था जिसमें बतलाया गया था कि कब और कहाँ भारतीय सेना को एशियाई देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन

1 Ibid p 162.

2 साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा और ब्रुसेल्स सम्मेलन पर देखिए—

(i) 203 H C Deb 55 Col 1125

(ii) A C Piquet 'The League Against Imperialism What is it' *The Indian Review* Vol XXI No II 1928 pp 746-47

(iii) Roger Baldwin op cit

3 Jawaharlal Nehru *An Autobiography* p 161

4 *Report of the Forty First Indian National Congress* 1926 p 97

5 ब्रुसेल्स सम्मेलन में भारत की ओर से केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही शामिल हुई थी। इसमें भारत [illegible] राजनीतिक [illegible] और [illegible] सम्मेलन में शामिल हुए थे। कुछ भारतीय पत्रकार भी [illegible] पर इन सभी [illegible] ने प्रतिनिधित्व नहीं माना था। देखिए—*The Searchlight* (Patna) 6 February 1927

को कुचलने के लिए बाहर भेजा गया है। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि सम्मेलन ने भारतीय स्थिति को विशेष महत्त्व दिया था।

जवाहरलाल नेहरू के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने का यह पहला अवसर था। भारत की स्वतन्त्रता की समस्या को विश्व लोकमत के समक्ष रखना तथा एशिया के पडोसी देशों के साथ सम्पर्क स्थापित करना इन्हीं दो उद्देश्यों को सामने रखकर उन्होंने सम्मेलन में काम किया। सम्मेलन के शुरू होने के एक दिन पूर्व समाचारपत्रों के प्रतिनिधियों से बातचीत करते हुए उन्होंने भारतीय समस्या और विश्व पर उसके प्रभाव का उल्लेख किया और बतलाया कि पराधीन जातियों की मुक्ति के लिए भारत की स्वतन्त्रता परम आवश्यक है। उन्होंने कहा कि भारत की समस्या कोई राष्ट्रीय समस्या नहीं है यह एक विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता के साथ कई पराधीन देशों का भाग्य जुड़ा हुआ है। संसार के नापितों का मुक्ति के लिए भारत की स्वतन्त्रता जरूरी है।

दूसरे दिन सम्मेलन में भाषण करते हुए उन्होंने इन बातों को दुहराया। इस अवसर पर उन्होंने भारतीय सेना को बाहर भेजे जाने की बात का भी उल्लेख किया और बतलाया कि किस प्रकार दूसरे देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए भारत के साधनों का प्रयोग किया जाता है। उन्होंने कहा हमारे लिए भारत की स्वतन्त्रता आवश्यक है लेकिन हमारी स्वतन्त्रता आपके लिए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमारी पराधीनता आपकी स्वतन्त्रता के लिए सबसे बड़ा बाधक है अतएव हम आपसे अनुरोध करेंगे कि आप हमारी मदद कीजिये। इसमें आपका भी कल्याण है।[1]

ब्रसेल्स सम्मेलन में चीन के प्रतिनिधिमण्डल ने नेहरू को बड़ा प्रभावित किया। सम्मेलन के सम्बन्ध में उन्होंने कांग्रेस को जो प्रतिवेदन[2] पेश किया उसमें चीनियों के उत्साह उनकी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति आदि की बड़ी प्रशंसा की गयी थी। इसमें नेहरू ने लिखा था कि इस क्षेत्र में भारत को चीनियों का अनुकरण करना चाहिये। भारत और चीन के प्राचीन सम्बन्ध नये तौर पर पुनः स्थापित करने के लिए चीन के प्रतिनिधियों के साथ उन्होंने घनिष्ठतम सम्पर्क कायम किया। 9 फरवरी के अपने संवाददाता सम्मेलन में ही उन्होंने चीन के प्रश्न को उठाया और कहा कि भारत चीनियों के संघर्ष के साथ पूर्ण सहानुभूति रखता है। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि चीन में राष्ट्रवादियों की विजय से एशिया के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू होगा। नेहरू ने कहा हमारे लिए यह बड़े ही अपमान और शर्म की बात है कि भारतीय सेना का प्रयोग चीन के राष्ट्रवादियों को कुचलने के लिए किया जा रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसका घोर विरोध किया है और भारतीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में भी यह प्रश्न कई बार उठाया गया। भारतीय पत्र पत्रिकाओं ने भी इसके विरुद्ध आवाज उठायी है लेकिन ब्रिटिश भारतीय सरकार पर इसका

1 *Indian Annual Register* vol I (1927) pp 205 7

2 प्रतिवेदन (*Report*) के पूर्ण अंश के लिए देखिए B Prasad *The Origins of Indian Foreign Policy* pp 262 80

का असर नहीं पड़ा है। फिर भी हम भारतीय इस अन्तर्राष्ट्रीय मंच से अपने को इस ब्रिटिश नीति से अलग होने की घोषणा करते हैं। भारत आज पूर्णतया चीन के साथ है—केवल इसलिए नहीं कि चीन के साथ हमारी सहानुभूति है बल्कि इस बात का अनुभव करते हैं कि चीन के राष्ट्रवादियों की विजय से साम्राज्यवाद का उन्मूलन करने में हमें पर्याप्त सहायता मिलेगा।

ब्रुसेल्स सम्मेलन में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की गति, स्वरूप और उसके महत्त्व पर पर्याप्त वाद विवाद हुआ। सम्मेलन ने यह स्वीकार किया कि पददलित राष्ट्रों की मुक्ति के लिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विशेष भूमिका अदा करता है। भारत के सम्बन्ध में सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया। प्रस्ताव में भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का समर्थन किया गया। भारत के राष्ट्रवादियों को कहा गया कि वे अपने देश के किसान और मजदूरों की स्थिति पर विशेष ध्यान दें और दूसरे देश के लोगों से कहा गया कि वे कोई ऐसा काम नहीं करें जिससे भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बाधा पड़ता हो।

सम्मेलन के अन्त में भारत और चीन के प्रतिनिधियों का एक संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित हुआ जिसको सम्मेलन ने एक प्रस्ताव के रूप में स्वीकार किया। इस विज्ञप्ति में दोनों देशों के प्राचीन सम्बन्धों का उल्लेख था और इस बात पर बल दिया गया था कि इस सम्बन्ध को फिर से कायम करना जरूरी है। इसमें कहा गया था कि दोनों देश चीन में ब्रिटिश सेना के प्रयोग का विरोध करते हैं और चाहते हैं कि दोनों देशों में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करनेवाले मिलजुल कर और निश्चित रूप से अपना राष्ट्रीय आन्दोलन को चलावें जिससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को एक ही साथ दो मोर्चों पर लड़ना पड़े।

1 *Indian Annual Register* vol 1 (1927) p 211

2 भारत के सम्बन्ध में कांग्रेस का प्रस्ताव इस प्रकार था—

The Congress (Brussel Congress) accords its warm support to the Indian National Movement for complete freedom of India and is of the opinion that liberation of India from foreign domination and all kinds of exploitation is an essential step in full emancipation of the people of the world. This Congress trusts that peoples and workers of other countries will fully co-operate in this task and will specially take efficient steps to prevent the dispatch of foreign troops to India and the retention of an army of occupation in that country. This Congress further trusts that the Indian National Movement will base its programme of the full emancipation of peasants and workers of India without which there can be no real freedom and will co-operate with movements for emancipation in other parts of the world. —*Indian Annual Register* vol I (1927) p 217

3 बाद में इंग्लैंड के प्रतिनिधि ने भी एक विज्ञप्ति पर अपना हस्ताक्षर करके यह वादा किया कि वे इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आक्रामक नीति का अन्त करने के लिए आन्दोलन शुरू करेंगे जिससे भारत और चीन दोनों के राष्ट्रीय आन्दोलनों को सहारा मिल सके।

सम्मेलन में नेहरू द्वारा चीन का पक्ष समर्थन उनकी कुशल राजनीतिज्ञता और दूरदर्शिता का परिचायक था। तत्कालीन विश्व राजनीति के विश्लेषण के उपरान्त नेहरू को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि भारत द्वारा चीन का पक्ष समर्थन भारत के हित में आवश्यक है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और चीनी राष्ट्रवाद का संघर्ष बड़ा भयंकर रूप धारण करता जा रहा था और दोनों के मध्य एक भीषण संघर्ष की सम्भावना बहुत बढ़ गयी थी। इस युद्ध का प्रभाव भारत पर अनिवार्य रूप से पड़ता क्योंकि इसका सारा भार भारत को वहन करना पड़ता। इस युद्ध में केवल भारतीय धन और जन की बर्बादी होती जिसके फलस्वरूप भारतीय जनता की आर्थिक परेशानी और बढ़ जाती। अतः भारत का कल्याण इसी में था कि वह ऐसे युद्ध को छिड़ने से रोके। यह तभी सम्भव था जब भारत में चीन के पक्ष और ब्रिटेन के विपक्ष में एक सबल आन्दोलन चलाया जाय और ब्रिटिश सरकार को बाध्य कर दिया जाय कि चीनी जनता को दबाने के लिए वह भारतीय साधनों का प्रयोग नहीं करे। ब्रसेल्स सम्मेलन से अपने प्रतिवेदन में नेहरू ने इस तथ्य को सामने रखा था और कांग्रेस को परामर्श दिया था कि वह बड़े पैमाने पर एक आन्दोलन प्रारम्भ करे और चीन में भारतीय साधनों के प्रयोग को असम्भव बना दे।

ब्रसेल्स सम्मेलन के उपरान्त नेहरू को स्वदेश लौटने पर कांग्रेस द्वारा चीन के सम्बन्ध में कई प्रस्ताव स्वीकार किये गये। 1927 में कांग्रेस ने चीन के प्रति सहानुभूति का प्रस्ताव पास किया और चीन से भारतीय सेना की वापसी की माँग की। वहाँ चिकित्सकों का एक जत्था भी भेजने का निश्चय किया गया, लेकिन भारत सरकार ने इसके लिए आवश्यक अनुमति नहीं दी। उसी वर्ष अपने वार्षिक अधिवेशन में कांग्रेस ने चीन से सम्बद्ध एक दूसरा प्रस्ताव पास किया। इसमें चीन के मामले में ब्रिटिश हस्तक्षेप की निन्दा की गयी थी। इस प्रस्ताव के द्वारा पुनः चीन में भेजे गये भारतीय सेना की वापसी की माँग की गयी। इस प्रस्ताव ने भारतीयों को परामर्श दिया कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का एजेंट बनकर चीनी जनता के दमन के लिए चीन न जायं क्योंकि चीनी और भारतीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध हो रहे संघर्ष में साथी एवं सहयोगी हैं। इस प्रकार चीन के प्रति भारत की स्वतन्त्र नीति की नींव ब्रसेल्स सम्मेलन के बाद डाली गयी।

ब्रसेल्स सम्मेलन ने नेहरू और उनके जरिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विचारधारा को अत्यन्त निर्णायक रूप में प्रभावित करके राष्ट्रवादी भारत को विदेश नीति को एक नया मोड़ दिया। नेहरू ने कांग्रेस को चेतावनी देते हुए कहा कि भारतीयों को केवल अपनी ही दुनिया में सीमित नहीं रखना चाहिए। बाह्य जगत् को प्रगति से अधिक-से-अधिक सम्पर्क बनाये रखने में ही भारत का हित है। नेहरू के इस विचार का अनुमोदन कांग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके किया। प्रस्ताव में कहा गया था कि भारतीय जनता का राष्ट्रीय संघर्ष संसार के सभी शोषित राष्ट्रों के मुक्ति संघर्ष का एक अंग है और इसलिए भारत को एशिया के सभी राष्ट्रों के साथ अपना सम्पर्क कायम करना चाहिए। इस समय कांग्रेस में अन्दर

एक विदेश विभाग (Foreign Department) खोलने का निर्णय किया गया। इसके उपरान्त कांग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशनों में प्रेक्षक के रूप में शामिल होने के लिए विदेशी प्रतिनिधि दलों को नियमित रूप से आमंत्रित करना शुरू किया। इस तरह के प्रतिनिधि दल अब निरन्तर आने लगे।

इस प्रकार संसार के अन्य पराधीन राष्ट्रों के साथ भारत का सम्पर्क बढ़ने लगा और उनकी राजनीति में कांग्रेस भी धीरे धीरे रुचि लेने लगी। 1928 के कांग्रेस अधिवेशन ने वैदेशिक मामलों पर अनेक प्रस्ताव स्वीकार किये। इन प्रस्तावों द्वारा मिस्र, सीरिया, इराक, फिलिस्तान आदि के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का समर्थन किया गया और उनके प्रति भारतीय जनता की सहानुभूति का आश्वासन दिया गया। कांग्रेस ने एशियाई संघ (Asian Federation) के निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार किया। एस० सत्यमूर्ति ने इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें कहा गया कि सम्पूर्ण एशिया के संघ निर्माण के हेतु कांग्रेस विचार करे और 1930 में इसका प्रथम अधिवेशन दिल्ली में बुलाये। कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अपनी कार्यकारिणी समिति को आदेश दिया कि वह ऐसे एशियाई संघ के संगठन के लिए यथेष्ट कदम उठाये।

कांग्रेस के प्रस्ताव और प्रयास के बावजूद एशियाई संघ का कोई अधिवेशन भारत में नहीं हो सका। इस समय तक कांग्रेस देश की प्रान्तीय राजनीति में बुरी तरह उलझ गयी थी और असहयोग आन्दोलन की तैयारी में व्यस्त थी। लेकिन ब्रुसेल्स सम्मेलन में भाग लेने के फलस्वरूप भारत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के प्रति जागरूक हो गया। इसमें उसकी रुचि इतनी बढ़ गयी कि उसने नियमित रूप से ऐसे प्रत्येक सम्मेलन में भाग लेना शुरू किया। साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा (League Against Imperialism) की विविध समितियों के अतिरिक्त इस समय भारत ने जिन जिन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिया उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—1929 के काबुल और 1930 के टोकियो का अखिल एशियाई सम्मेलन (Pan Asiatic Conference) 1928 का हॉलैण्ड का विश्व युवक शान्ति सम्मेलन (World Youth Peace Conference) 1928 का ब्रुसेल्स का श्रम और समाज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, 1934 का कोलम्बो का अखिल एशियाई श्रम सम्मेलन (Pan Asiatic Labour Conference)। इन सम्मेलनों में शामिल होकर भारत ने निश्चय ही एशियाई देशों को संगठित करके आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सहायता प्रदान किया।

भारतीय दृष्टिकोण से ब्रुसेल्स सम्मेलन का एक और महत्वपूर्ण परिणाम निकला। सम्मेलन में भाग लेने के लिए कई पराधीन राष्ट्रों के नेता आये थे। इनसे नेहरू का व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित हुआ। यह सम्पर्क बाद में वर्षों तक बना रहा और इससे भारत को और दूसरे एशियाई देशों को लाभ हुआ। 22 अगस्त 1946 को इंडिया कौंसिल आफ वर्ल्ड एफेयर्स (India Council of World Affairs) की बम्बई-शाखा के समक्ष भाषण करते हुए नेहरू ने कहा था "आपको यह जानकर खुशी होगी कि हमारे कुछ मित्र जिनसे हमारी मित्रता आज से बीस

वष पूव ब्र से स मे हुई इण्डोनिशिया म आज सरकार चला रहे हैं। इस मित्रता से आज भी हमे लाभ पहुँच रहा है क्योंकि उनके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध ने मुझे उनकी समस्याओं मे यक्तिगत चि पदा करा दी है और वे लोग भी भारत की समस्याओं में रुचि ले रहे हैं। अभी हाल म (जब भारत म खाद्यान्न की कमी थी) उन्होंने बहुत बडी मात्रा मे हमारे यहाँ चावल भेजा है। यह कुछ अर्थों मे उस व्यक्तिगत सम्पक का परिणाम था जिसको बीस वष पूव हमने ब्र से स म कायम किया था।[1]

एशियाई एकता की भावना का चरम विकास—यूरोपीय साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए एशियाई देशा को एक सूत्र में सगठित करने का उत्साह भारत म कभी मद नही पडा लकिन 1931 में मचूरिया को लकर जापान ने जब चीन पर आक्रमण कर दिया तो भारतीय नेताओ को इससे बडा सदमा पहुँचा। उन्हाने इस प्रगतिशील एशियाई एकता आदोलन पर प्रत्यक्ष आक्रमण माना। 1905 से ही भारत जापान के प्रति बडा उत्साह प्रदर्शित करता आ रहा था। उसका विश्वास था कि एशिया के मुक्ति आदोलन मे जापान सहायक होगा और वह एशियाई देशा का नेतृत्व करेगा। भारत की समस्या म भी जापान बहुत दिनों से अ यन्त सहानुभूति पूण रुचि लेता आ रहा था। जापानी नेताओ ने भारत के राष्ट्रीय आदोलन का केवल समथन ही नहीं किया था वरन इसमे सहायता देने का आश्वासन भी दिया था।[2] इस कारण भारत में जापान के प्रति बडी श्रद्धा थी लेकिन जब उसने चीन पर आक्रमण कर उसके भू भागों को हस्तगत करना शुरू किया तो भारत का सारा उत्साह समाप्त हो गया। चीन जापान युद्ध मे भारत की पूरी सहानुभूति चीन के साथ थी। भारतीयों की इस भावना की झलक हमे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उस पत्र म मिलती है जिसे उन्होने एक प्रसिद्ध जापानी कवि को लिखा था और जिसमें जापान के वास्तविक उद्देश्य का रहस्योद्घाटन किया था।[3]

भारतीय लोकमत चाहता था कि ब्रिटिश सरकार चीन का पक्ष लेकर जापान

---

1 It might nterest you to kno that some of the friends I made t enty years ago at the Conference [Brussels] are running the Indonesian republic today and those contacts have st od us well no because apart from kno ing each other dista ntly personal relati nship made me per nally more intere ted in Indonesia and to some extent made them intersted in It dia

Recently some months back they offered to send a great deal of rice here That too as partly due to certain personal contact that began nearly t enty years ago

— Jawaharlal Nehru India As an Relations *Ind an Q arterly* October D cember 1946 p 2

2 John Grette *Japan Fights For Asia* p 261

3 G S Pohekar 'Tagore and Asia *United As a* I 1948 p 53

के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करे। लेकिन उस समय भारतीय लोकमत का महत्त्व ही क्या था ? फिर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने कर्तव्य का पालन किया। इसने चीन के सम्बन्ध में पुनः कई प्रस्ताव पास किये। एक प्रस्ताव के द्वारा भारतीयों से कहा गया कि विरोध जताने के उद्देश्य से वे जापानी मालों का बहिष्कार करें। सम्पूर्ण देश में कई एक बार चीन दिवस (China Day) मनाया गया।

चीन और जापान का यह संघर्ष वर्षों तक लगातार चलता रहा और बाद में चलकर यह द्वितीय विश्व-युद्ध का भाग बन गया। लेकिन इस संघर्ष काल में भारत ने लगातार चीन का समर्थन किया। सितम्बर 1937 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष को चीनी नेता चू तेह का एक पत्र मिला। इस पत्र में उन्होंने भारत की सहानुभूति के लिए धन्यवाद दिया था और जापान के विरुद्ध संघर्ष में भारत की सहायता माँगी थी। इस पत्र को पाते ही कांग्रेस अध्यक्ष ने देशवासियों से अपील की कि वे 9 जनवरी 1938 को पुनः चीन दिवस मनाकर चीन के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करें। उस दिन सम्पूर्ण देश में सभाएं हुईं और चीन की मदद के लिए चन्दा इकट्ठा किया गया। जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि इस संकट की घड़ी में चीन की सहायता करना हर स्वतन्त्रता प्रेमी का परम पुनीत कर्त्तव्य है।[1] इसके तुरत बाद कांग्रेस ने डा० एम० अटल के नेतृत्व में पाँच डाक्टरों का एक मेडिकल मिशन संगठित किया और 1938 में इसे चीन भेजा। सुभाषचन्द्र बोस के शब्दों में यह चीन के प्रति भारत की अपार सहानुभूति का प्रतीक था। चीन की जनता और सरकार ने इस मेडिकल मिशन का अभूतपूर्व स्वागत किया। मिशन को उस सैनिक जत्था के साथ सम्मिलित किया गया जिसका नेता माओत्से तुंग था। माओ ने भारतीय मेडिकल मिशन के कार्यों की प्रशंसा करते हुए नेहरू को एक पत्र लिखा और इसके लिए भारतीय जनता को धन्यवाद दिया।[2]

चीन के प्रति भारत की प्रगाढ़ सहानुभूति प्रकट करने के लिए 1939 में स्वयं जवाहरलाल ने चीन की यात्रा की और वहाँ लगभग पन्द्रह दिनों तक ठहरे। इस यात्रा के महत्त्व का वर्णन करते हुए अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है "चीन की मेरी यह अल्पकालीन यात्रा हमारे लिए व्यक्तिगत रूप से और भारत चीन के भावी सम्बन्धों के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि चीन के नेता हमारे इस विचार से कि भारत और चीन के बीच घनिष्टतम सम्बन्ध स्थापित हो पूर्ण सहमत थे। उनके साथ मैंने चीन और भारत के भविष्य पर बातें कीं। भारत लौटने पर मैं चीन और चीनी जनता का पहले की अपेक्षा और अधिक प्रशंसक बन गया। आज मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता हूँ कि इन दो प्राचीन राष्ट्रों का सहयोग और उनकी मित्रता कभी टूट सकेगी।"[3]

---

1 *Indian Annual Register* vol I 1938 p 291

2 B Prasad *The Origins of Indian Foreign Policy* p 127

3 Jawaharlal Nehru *An Autobiography*, p 603

इसी वर्ष नेहरू ने मिस्र और लंका की भी यात्रा की। काहिरा में वफ्द पार्टी के नेताओं से उनकी मुलाकात हुई जहाँ उनके साथ उन्होंने पारस्परिक हितों की समस्याओं पर विचार विमर्श किया। लंका में उन्होंने प्रवासी भारतीयों की समस्याओं के समाधान का प्रयास किया। इन यात्राओं ने नेहरू के एशियाई संघ और एकता की भावना को सुदृढ़ किया। बाद में उन्होंने लिखा कि भविष्य के बारे में मेरी कल्पना है कि चीन, भारत, बर्मा, लंका और कुछ अन्य देशों को मिलाकर एक संघ कायम हो।

इस प्रकार एशियाई राष्ट्रों की एकता और उनके संगठन की बात भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और नेहरू के कार्यक्रम में हमेशा बनी रही। द्वितीय विश्व युद्ध ने बीच में हस्तक्षेप करके इस भावना पर जबरदस्त कुठाराघात किया। लेकिन युद्ध के समाप्त होते ही यह भावना पुनः भारतीय राजनीति में प्रविष्ट हुई। जवाहरलाल नेहरू के परामर्श पर इंडियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड एफेयर्स ने 1946 में एक एशियाई सम्मेलन बुलाने का फैसला किया और भारत की स्वतन्त्रता के पूर्व ही मार्च अप्रैल 1947 में इस सम्मेलन की बैठक नयी दिल्ली में हुई।

(v) यूरोपीय समस्याओं और द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

1931 से यूरोप का राजनीतिक और राजनयिक वातावरण अशान्त होने लगा और धीरे धीरे द्वितीय विश्व युद्ध की तैयारी होने लगी। 1933 में हिटलर ने जर्मनी के शासन पर कब्जा करके अपना अधिनायकत्व कायम किया। इसके पूर्व इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्ट प्रणाली का शासन तन्त्र स्थापित हो चुका था लेकिन 1930-1935 की यूरोपीय घटनाओं पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विशेष ध्यान नहीं दिया। उस समय भारत की आन्तरिक राजनीति बड़ी डाँवाडोल थी। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला, फिर गाँधी इरविन समझौता हुआ और लन्दन में गोलमेज सम्मेलन की धूम रही। भारतीय नेता इन्हीं घटनाओं में व्यस्त रहे, लेकिन 1935 से जब यूरोप में फासिस्टवाद और नात्सीवाद का नग्न नृत्य होने लगा तो कांग्रेस के लिए यूरोपीय घटनाओं के प्रति उदासीन रहना असम्भव हो गया। कांग्रेस ने फासिस्टवाद का घोर विरोध किया। उसकी फासिस्ट विरोधी नीति के प्रवर्तक जवाहरलाल थे। फासिस्टवाद से उनकी घृणा इतनी तीव्र थी कि जब मुसोलिनी ने उन्हें इटली आने के लिए आमन्त्रित किया तो नेहरू ने इसे तत्काल अस्वीकार कर दिया।[1]

1935 में इटली ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया। अबीसीनिया ने राष्ट्रसंघ से सहायता की अपील की लेकिन महान राष्ट्रों की दुरंगी नीति के कारण राष्ट्रसंघ ने उसकी कोई सहायता नहीं की। कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (अप्रैल 1936) में नेहरू ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इटालवी आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की और कांग्रेस ने अबीसीनिया से सम्बन्धित एक प्रस्ताव स्वीकार किया। इसमें अबीसीनिया के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गयी थी और कहा गया था कि अबीसी

1 Jawaharlal Nehru *The Discovery of India* pp 35 36

पर यदि युद्ध का उद्देश्य जनतान्त्रिक आधार पर संसार में नयी व्यवस्था कायम करना है तो कांग्रेस का इन युद्धों में बड़ी रुचि होगी। अतएव कांग्रेस ने यह माँग की कि यदि मित्रराष्ट्र संसार में जनतन्त्र की व्यवस्था चाहते हैं तो आवश्यक है कि सर्वप्रथम वे अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्र कर अपनी स्वच्छनीयती का परिचय दें। कांग्रेस का कहना था कि यदि सरकार युद्ध में भारतीय जनता का समर्थन और सहयोग चाहती है तो वह भारत को तत्काल स्वतन्त्र कर दे। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में ही भारत इस युद्ध में सम्मिलित हो सकता है।

भारत सरकार या ब्रिटिश सरकार पर कांग्रेस की इस घोषणा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे कान में तेल डालकर शान्त बैठ रहे। भारतीय राजनीति में एक तरह का गतिरोध पैदा हो गया।

1942 में युद्ध की स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गयी। संयुक्त राज्य अमरिका इसमें प्रवेश कर गया और सोवियत संघ पर जर्मन आक्रमण से युद्ध के स्वरूप में भारी परिवर्तन हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के निरन्तर दबाव से अमरिका राष्ट्रपति रूजवेल्ट और चीनी नेता च्यांग-काई-शेक ब्रिटिश सरकार पर भारतीय समस्या के समाधान के लिए दबाव डालने लगे। प्रधानमन्त्री विन्स्टन चर्चिल ने सर स्टफर्ड क्रिप्स को भारतीय गतिरोध का समाधान करने के लिए भेजा लेकिन क्रिप्स का मिशन सफल नहीं हो सका। इसके उपरान्त अगस्त 1942 में कांग्रेस ने व्यापक पैमाने पर सरकार के खिलाफ संघर्ष शुरू कर दिया। सरकार ने इस भारत छोड़ो आन्दोलन को शीघ्र ही कुचल दिया। भारतीय नेता कैद कर लिए गये। युद्ध प्रयास में भारतीय साधनों का प्रयोग होता रहा और इसका विरोध करनेवाला कोई नहीं रह गया। कांग्रेस के सभी नेता जेल में बन्द थे। युद्ध में भारत को अपार धन-जन की हानि उठानी पड़ी पर भारतीय दृष्टिकोण से युद्ध से भारत को कुछ लाभ भी हुआ। युद्ध के समय चीन, ईरान आदि देशों से भारत का सम्पर्क बना। नयी नयी सन्धियाँ बनीं। 1942 में स्याम से एक सद्भावना मिशन भारत आया। फरवरी 1942 में च्यांग काई-शेक ने भारत की यात्रा की। इससे भारत और चीन के सम्बन्ध में दृढ़ता आयी। सर जफरुल्ला खाँ चीन में भारत के एजेंट जनरल नियुक्त हुए। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विशेष राजदूत कई बार भारत आये। इससे भारत और संयुक्त राज्य अमरिका के सम्बन्ध में एक नया अध्याय शुरू हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ (U N O) की स्थापना के लिए जो वार्ताएं चलीं उसमें भारतीय प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक गतिविधि में भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले ही एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। विविध अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर तथा अपने दृष्टिकोण के सम्बन्ध में घोषणा करके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति का पृष्ठाधार तैयार कर दिया।

अध्याय 2

भारतीय विदेश-नीति के निर्धारक तत्व

(Determining Factors of Indian Foreign Policy)

आज के युग में विदेश-नीति प्रत्येक देश के प्रशासन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलता इतनी बढ़ गयी है और उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है कि हर देश को इस पहलू पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। यह अनिवार्य है। राजनीति जीवन का सूत्र बन चुकी है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रभाव से कोई मुक्त नहीं है। यह हमारे जीवन को भिन्न प्रतिभिन्न और प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। इसलिए अपने राष्ट्रीय हित का ध्यान में रखते हुए प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। इस स्थिति में जब किसी राष्ट्र की नीति की अभिव्यक्ति होती है उसको विदेश की नीति कहते हैं। इसके निर्धारण का काम कभी कभी बड़ा कठिन और दुविधाजनक स्थिति में डालनेवाला होता है।

15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत सरकार के समक्ष विदेश नीति के निर्धारण की कोई समस्या न थी। ब्रिटिश शासन काल में भारत द्वारा जो विदेश-नीति अपनायी जाती थी उसे हम शुद्ध रूप से भारतीय विदेश नीति नहीं कह सकते क्योंकि इससे सम्बन्धित सभी निर्णय ग्रेट ब्रिटेन की सरकार द्वारा लिये जाते थे और उन निर्णयों को भारत सचिव भारत सरकार तक पहुँचा देता था लेकिन 15 अगस्त 1947 को स्थिति एकदम बदल गयी और भारत सरकार को अपनी विदेश नीति के निर्धारण का पूरा अधिकार मिल गया। यह अत्यन्त कठिन उत्तरदायित्व था। विदेश नीति का निर्धारण वैसे ही कठिन होता है लेकिन सैनिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर नवोदित राष्ट्र के लिए तो यह कठिनाई कई गुना बढ़ जाती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत को ऐसी ही स्थिति का सामना करते हुए अपनी विदेश नीति का निर्धारण करना पड़ा। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत ने जिस विदेश नीति का निर्धारण किया उसके मुख्य निर्धारक तत्त्व निम्नलिखित थे

(1) देश की भौगोलिक स्थिति—किसी भी राज्य की विदेश-नीति में कोई मौलिकता नहीं होती। बहुत अर्थों में इसका निर्धारण देश की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है। के एम पणिक्कर (K M Panikkar) ने लिखा है

किसी देश की नीति उसकी भौगोलिक परिस्थितियों से निश्चित होती है जब नीतियों का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है तो उनका निर्धारण मुख्य रूप से भौगो

लिक तत्वों से हुआ करता है। भारत इसका अपवाद नहीं है। उसकी प्राकृतिक स्थिति विदेश-नीति के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण तत्व है। भारत की तीन दिशाओं में समुद्र है तथा उत्तरी दिशा में हिमालय पर्वत उसकी सीमाओं का निर्धारण करता है। इसकी सामुद्रिक सीमा साढ़े तीन हजार मील और स्थलीय सीमा बराबर सौ मील है। यह तथ्य उसकी विदेश-नीति के निर्धारण में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अपनी सामुद्रिक सीमा की अवहेलना वह किसी भी मूल्य पर नहीं कर सकता। भारतीय इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि हिंद महासागर पर प्रभुत्व रखनेवाली शक्तियाँ सरलता से भारत पर अपना अधिकार जमा सकती हैं। सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय जातियों का भारत में सामुद्रिक रास्तों से ही प्रवेश हुआ था। जब भारत के समुद्रों पर अंग्रेजों का स्वत्व कायम हो गया तो भारत में उनका साम्राज्य-स्थापना का कार्य भी सरल हो गया। अंग्रेजी राज्य की समाप्ति के बाद अपने लम्बे समुद्र तट की रक्षा के लिए भारत को एक बहुत बड़ी नौ-सेना की आवश्यकता थी और इस दृष्टि से वह पूर्णतः ब्रिटेन पर आश्रित था। स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निर्णय इस कारण से भी प्रभावित हुआ था।

विदेश व्यापार की दृष्टि से भी इन समुद्रों का महत्व है। भारत का समस्त व्यापार लगभग इन्हीं रास्तों से होता है। यदि इस समुद्र पर भारत के किसी विरोधी शक्ति का नियन्त्रण स्थापित हो जाय तो वह इन व्यापारिक रास्तों को बंद करके भारत की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को तहस-नहस कर सकता है। अतः भारत के लिए यह आवश्यक है कि हिंद महासागर पर वह किसी दूसरी शक्ति का प्रभुत्व नहीं कायम होने दे या हिंद महासागर पर प्रभुत्व रखनेवाली शक्ति के साथ उसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हो। भारत की अपनी रक्षा के लिए हिंद महासागर के तटों की रक्षा करना जरूरी है।

जहाँ तक स्थलीय सीमान्त का प्रश्न है भारत की सीमान्त अनेक पड़ोसी देशों से मिली हुई है। उसका बराबर सौ मील का स्थलीय सीमान्त एक तरफ से (बंगाल देश के अन्तर्गत से पूर्व) पाकिस्तान, चीन, नेपाल, अफगानिस्तान और बर्मा के साथ मिला हुआ है। उत्तरी कश्मीर अफगानिस्तान से जुड़ा हुआ और सोवियत संघ की सीमाओं से वह कुछ ही मील दूर है। चीन और भारत के मध्य हिमालय की पर्वत शृंखलाएँ हैं। पुराने जमाने में यह पर्वत भारत की रक्षा के लिए अजेय प्रहरी का काम करता था लेकिन वैज्ञानिक प्रगति और युद्ध-सम्बन्धी नये यंत्रों के आविष्कार से हिमालय का यह महत्व समाप्त हो गया है। उत्तर की ओर से होनेवाले आक्रमण के विरुद्ध अब भी वह प्राकृतिक सुरक्षा प्रदान करता रहेगा ऐसा सोचना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। देश के विकास के लिए भारत के लिए आवश्यक है कि वह अपने पड़ोसियों के साथ अच्छा से अच्छा सम्बन्ध कायम रखे। नव युद्ध तो भारत तथा स्वयं का विरोध हो सकता है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारत को राष्ट्रमण्डल देशों से और पश्चिमी एशिया से समान रूप से मित्रता

कायम रखनी है। असलग्नता की नीति के मूल म यह एक बडी ही महत्वपू ों बात है। किसी एक गुट म शामिल होकर भारत अपनी एक दिशा को अरक्षित करना नही चाहता। इस तथ्य का विश्लेषण करते हुए ज सा कु द्रा ने लिखा है भारत की भौगोलिक स्थिति से जो महत्वपू । तथ्य निकलता है वह यह है कि पश्चिमी गुट के मुख्य साझेदारों की अपेक्षा वह साम्यवादी ससार अथवा उसके मुख्य साझेदारों (रूस और चीन) के अधिक निकट है। परिणामस्वरूप अपने पडोसियो के साथ रहने के ठीक तरीके की खोज करना उसके लिए उनकी अपेक्षा अधिक आवश्यक है जो उससे दूरी पर स्थित हैं। यह बात अवश्य दूसरी है कि उसे यह विश्वास हो जाय कि उसके पडोसी उसपर आक्रमण करने की इच्छा रखते हैं दूसरी तरफ भारत इस तथ्य का भी अवहेलना नहीं कर सकता कि पश्चिमी गुट का नौ-सेना हिन्द महासागर एव ससार के अधिकाश समुद्रो पर हावी है। यदि भारत दोनो गुटो के बीच तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहता है तो ऐसा करने म उसकी इच्छा सम्भवत यह है कि विस्फोटकारी सम्भावना क केन्द्रों को यथा सम्भव अपनी सीमाओ से दूर रखा जाय। स्पष्टत ऐसी नीति उसके राष्ट्रीय हितों स्वाधीनता और सम्प्रभुता से तब ही मेल खा सकती है जब उसे यह विश्वास हो कि दोनों गुटो म से उसे किसी से भी खतरा नहीं है।[1]

भारतीय विदेश नीति के निर्धारण म भौगोलिक पक्ष इतना प्रबल है कि 1947 म गाई विण्ट (Guy Wint), ने लिखा था कि ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर भी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भारतीय विदेश नीति में कोई मौलिक अन्तर नहीं आयगा। भौगोलिक परिस्थितियां को यथापूर्व बने रहने के कारण भारत के वास्तविक हित वैसे ही बने रहेंगे जैसे वे ब्रिटिश काल म थे। ये हित मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—(i) भारत पर जिन समीपवर्ती अथवा अन्य देशो से आक्रमण हो सकता है उन सबके साथ तटस्थता या मित्रता। ये देश ईरान इराक अफगानिस्तान लका मलाया हिन्द चीन स्याम डच ईस्ट इडीज हैं। (ii) मध्यपूर्व बर्मा तथा डच ईस्ट इडीज से तेल की प्राप्ति। (iii) भारत के समीपवर्ती राज्यो में बसनेवाले भारतीयों का कल्याण और भारतीय व्यापार की वृद्धि (iv) हिन्द महासागर मे भारत की सुरक्षा और व्यापार के आधारभूत समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा। (v) बाह्य जगत म और सर्वोच्च सत्तासम्पन्न राष्ट्रों के मामले से अपने अतीत के इतिहास और संस्कृति के अनुरूप महत्वपूर्ण भाग लेने की आशा।[2]

इस प्रकार भारतीय विदेश नीति के निर्धारण मे देश की भौगोलिक स्थिति पर सदा ध्यान देना है। स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति के निर्माता जवाहरलाल नेहरू ने स्वय इस तथ्य का महत्व स्वीकार करते हुए कहा था कि हम एशिया के महत्वपूर्ण भाग म स्थित हैं। विदेश नीति के निर्धारण म यदि हम चाहें तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।

1 J C Kundra Indian Foreign Policy pp 11 1

2 Cited in Karunakar Gupta Indian Foreign Policy p 70

(ii) सैनिक तत्त्व—किसी भी देश की विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना होता है। इसके लिए सैनिक दृष्टि से सम्पन्न करना आवश्यक होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के समक्ष यह एक विकट प्रश्न था। भारत के दोनों छोरों पर पाकिस्तान स्थित है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच वर्षों निरन्तर खींचातानी के बाद पाकिस्तान की स्थापना हुई थी। इस कारण भारत और पाकिस्तान का सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं था। देश के बटवारे के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों का जो विस्फोट हुआ उसको लेकर दोनों देशों का सम्बन्ध और भी खराब हो गया। दोनों देश एक दूसरे से सशंकित थे। इसके अतिरिक्त भारत दक्षिण-पूर्व और दक्षिण पश्चिम में समुद्रों से घिरा हुआ है। इतने लम्बे समुद्र तट की रक्षा के लिए एक विशाल नौ सेना की आवश्यकता थी जिसका सर्वथा अभाव था। इस दृष्टि से हम दूसरे देश पर आश्रित थे। भारतीय सेना का संगठन भी पाश्चात्य ढंग पर हुआ था। देश का समूचा सैनिक प्रशिक्षण ब्रिटिश पद्धति पर आधारित था। अतः अपनी क्षमता को बनाये रखने के लिए भारत को विदेश नीति को ब्रिटेन के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता था।

राष्ट्रीय सुरक्षा के साधनों के लिए भारत पूर्णतया विदेशी सहायता विशेष तथा पश्चिमी राष्ट्रों की मर्जी पर आश्रित था। सैनिक दृष्टि से भारत की स्थिति एकदम नगण्य थी। जिस समय देश स्वतन्त्र हुआ उस समय किसी तरह की युद्धोपयोगी सामग्री भारत में तैयार नहीं होता था। जीप टैंक वायुयान, युद्धपोत जैसे साधनों के लिए हम पूर्णतया दूसरों पर आश्रित थे। इनकी प्राप्ति के लिए हमें पश्चिमी देशों और साम्यवादी राष्ट्रों का मुँह ताकना पड़ता था। आणविक आयुधों के खतरे का सामना करने में तो हम बिल्कुल असमर्थ थे। हमारी क्षीण और दुर्बल सैनिक स्थिति हमें इस बात के लिए बाध्य करती थी कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए हम विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण शक्तियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखें।

सुरक्षा की दृष्टि से भारत के समक्ष एक और समस्या थी। यद्यपि अंग्रेजों की दासता से भारत मुक्त हो चुका था लेकिन देश के अन्दर अब भी कई विदेशी बस्तियाँ थीं। पाँडिचेरी, गोआ आदि जगहों पर अब भी फ्रांस और पुर्तगाल का आधिपत्य कायम था। इन विदेशी उपनिवेशों का कायम रहना भारत की सुरक्षा के लिए बड़े खतरे की बात थी।

(iii) आर्थिक तत्त्व—आर्थिक दृष्टि से भारत एक अत्यन्त गरीब और पिछड़ा हुआ राष्ट्र था। सदियों के विदेशी शासन ने भारत को आर्थिक रीढ़ तोड़ दी थी और सम्पूर्ण देश में गरीबी एवं बीमारी का भयंकर रोग छाया हुआ था। दीर्घ काल से चली आ रही इस आर्थिक स्थिति को तत्कालीन आन्तरिक परिस्थितियों ने और भी उलझा दिया। देश के विभाजन के बाद साम्प्रदायिक दंगों के कारण देश की हालत अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। बटवारे के फलस्वरूप आर्थिक दृष्टि से भारत एक इकाई नहीं रहा था। साम्प्रदायिक दंगों के फलस्वरूप लाखों की संख्या में शरणार्थी पाकिस्तान से भागकर भारत चले आए थे। भारत सरकार के समक्ष उनके

पुनर्वास की समस्या थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ ही दिनों बाद भारत को कश्मीर को लेकर युद्ध में फंस जाना पड़ा। देश की आर्थिक स्थिति पर द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव अपना रंग जमाने लगा था। वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि तथा बेरोजगारी की समस्या भयंकर रूप से सामने आ रही थी। खाद्यान्नों की भारी कमी हो रही थी। इन सब बातों से देश का आर्थिक जीवन पूरी तरह से छिन्न भिन्न और तहस-नहस हो गया था। मजदूरों में घोर असंतोष व्याप्त था। हड़तालें मामूली बात हो गयी थी।

स्वतन्त्र भारत को इस विशाल आर्थिक समस्या की ओर तत्काल ध्यान देना था। इस समस्या के समाधान के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन में अभिवृद्धि और औद्योगिक उन्नति करना परम आवश्यक था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरत बाद हम खाद्यान्नों का अपार मात्रा में आयात करना पड़ा। यह आयात मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका से हुआ। अतः हमारी विदेश नीति उसके साथ अनुकूल सम्बन्ध बनाये रखने की थी। यह आवश्यक था कि हमारी विदेश नीति में अमेरिका के प्रति प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष सहानुभूति हो। 1950 के कोरियाई युद्ध में उत्तर कोरिया के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की जानेवाली कार्यवाही के विषय में भारत ने अमरीकी प्रस्ताव का समर्थन अमेरिका से खाद्यान्न संकट दूर करने के लिए मिलनेवाली सहायता से प्रभावित होकर किया था।

आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकांश व्यापार पाश्चात्य देशों के साथ विशेषतया ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के देशों के साथ होता था रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय और उसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भी उसका व्यापारिक सम्बन्ध बना। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत का 98% व्यापार पश्चिमी देशों के साथ होने तथा भारत के उद्योगों में ब्रिटिश पूंजी अधिक लगी होने से हमारी विदेश नीति का ब्रिटेन का अनुकूल बने रहना आवश्यक था। बाद में वित्तीय और प्राविधिक सहायता के लिए हम अनिवार्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका पर निर्भर करना पड़ा। उस समय सोवियत संघ से कोई सहायता मिलने की आशा नहीं थी। स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ लौह आवरण की नीति का अवलम्बन कर रहा था और पिछड़े हुए राष्ट्रों की सहायता करनी उसकी नीति नहीं थी। अतएव संयुक्त राज्य के साथ मधुर सम्बन्ध कायम रखना अत्यावश्यक था। स्टालिन युग के अन्त के पश्चात् जब सोवियत नीति में परिवर्तन हुआ तो भारत ने सोवियत संघ से भी सहायता प्राप्त करना प्रारम्भ किया। भारत ने सोवियत संघ द्वारा आविष्कृत नियोजित आर्थिक विकास के कार्यक्रम को लागू किया और समाजवादी ढंग के समाज स्थापित करने का निश्चय किया। फलस्वरूप समाजवादी देशों के साथ भी हमारे आर्थिक सम्बन्धों में सुधार हुआ। औद्योगिक विकास के लिए भारत दोनों गुटों से आर्थिक और प्राविधिक सहायता प्राप्त करने लगा। अतः यह बिलकुल स्वाभाविक है कि भारत गुटबन्दियों की नीति से अलग रहकर असंलग्नता की नीति का अवलम्बन करे।

देश के आर्थिक विकास के लिए भारत विश्व शान्ति को परम आवश्यक मानता था। गरीब और पिछड़े हुए देश के लिए युद्ध बड़ा ही महंगा पड़ता है।

मामूली अरब इजरायल युद्ध के फलस्वरूप स्वेज नहर के बन्द हो जाने से भारत को अपार आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ा है। स्वयं भारत को तीन युद्धों में फंसना पड़ा। चीन और पाकिस्तान से भारत की जो लड़ाई हुई उसके फलस्वरूप देश की अर्थ व्यवस्था एकदम चौपट हो गयी। इन बातों को दृष्टिगत रखते हुए भारत के लिए यह अत्यावश्यक है कि उसकी विदेश नीति शान्ति की भावना से ओत प्रोत हो। 1947 में यह बात उतनी ही सत्य था जितना आज है। भारत के लिए शान्ति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित ने ठीक ही कहा था कि "हम यह अनुभव करते हैं कि युद्ध हमारे लिए साम्यवाद की अपेक्षा अधिक बड़ा संकट है।" इस तरह स्पष्ट है कि भारत आज जो असंलग्नता और शान्तिप्रियता की विदेश नीति अपनाये हुए है उसके मूल में आर्थिक तत्त्वों ने एक विशेष भूमिका अदा की है।

(iv) ऐतिहासिक परम्पराएं—विदेश नीति के निर्धारण में देश की ऐतिहासिक परम्पराएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व होती हैं और भारतीय विदेश नीति इस तथ्य से भी प्रभावित हुई है। हमारा विदेश नीति के निर्धारण में इतिहास का महत्त्व कितना अधिक है इसका उदाहरण ब्रिटेन और भारत के घनिष्ठ सम्बन्धों में भली प्रकार स्पष्ट होता है। पिछले दो शताब्दियों से ब्रिटेन का भारत से सम्बन्ध रहा है। भले ही यह सम्बन्ध शासक और शासित का था फिर भी भारत पर ब्रिटेन का गहरा प्रभाव पड़ा है। ब्रिटेन के साथ हम अपने सम्बन्ध को सरलता से विच्छेद नहीं कर सकते हैं। यद्यपि अंग्रेज हमें सत्ता सौंप कर इस देश से चले गये किन्तु उनकी चलायी हुई संसदीय प्रणाली, उदारवाद, अंग्रेजी भाषा का प्रयोग, प्रशासनिक ढांचा, कानून, शिक्षा और चिकित्सा पद्धतियाँ, अर्थ-व्यवस्था, सैनिक एवं राजनैतिक संस्थाएँ यथापूर्व विद्यमान हैं। ब्रिटेन के साथ रहे हमारे ऐतिहासिक सम्बन्धों का ही यह परिणाम है कि स्वतन्त्रता के बाद भी हमने राष्ट्रमण्डल में बने रहना स्वीकार किया। स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान देश के नेता कहा करते थे कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत किसी भी हालत में इस संस्था के साथ सम्पर्क नहीं रखेगा। लेकिन राष्ट्र की सभी व्यवस्थाओं पर अंग्रेजीयत का रंग इस तरह चढ़ा हुआ था कि इस सम्बन्ध का विच्छेद सरल नहीं था। आज भी देश के कई हलकों से राष्ट्रमंडल से सम्बन्ध विच्छेद करने की मांग होती रहती है, लेकिन ऐतिहासिक परम्परा को दृष्टि में रखकर भारत सरकार के लिए सम्बन्ध विच्छेद का निर्णय अत्यन्त कठिन हो जाता है।

प्रारम्भिक वर्षों में चीन के प्रति भारतीय नीति का विश्लेषण भी हम ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर ही कर सकते हैं। 1962 के भारत चीन युद्ध के कुछ वर्षों पूर्व तक इन दोनों देशों के सम्बन्ध में 'भारत चीनी भाई भाई' का बोलबाला था। दो पड़ोसी देशों के मध्य इस मधुर सम्बन्ध की नींव स्वतन्त्रता संग्राम के समय ही डाली गयी थी। उस काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और विशेषकर जवाहरलाल नेहरू ने चीन के प्रति अपार सहानुभूति का प्रदर्शन किया था। संकट के दिनों में भारत ने चीन की बड़ी सहायता की थी। चीन के प्रति नेहरू का प्रगाढ़ प्रेम था। उन्हें अटूट विश्वास था कि एशिया की मुक्ति और कल्याण के लिए

भारत और चीन में घनिष्ठतम सम्बन्ध का होना परम आवश्यक है। स्वतन्त्र भारत के प्रधानमन्त्री होने के उपरान्त नेहरू इसी विश्वास के आधार पर चीन के प्रति अपनी नीति को निर्धारित करते रहे। नेहरू की इस भावना को सुदृढ़ करने के लिए पिकिंग स्थित भारतीय राजदूत सरदार के एम पणिक्कर से बड़ी मदद मिली। इतिहास के महान विद्वान के नाते भारत और चीन के सम्बन्ध पर पणिक्कर की कुछ अपनी धारणाएं थीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था *भारत और चीन के हजारों वर्षों का सम्पर्क एशिया के इतिहास के प्रमुख दृश्य में एक है। गैर इस्लामी एशिया को आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता भारत और चीन के इसी पुराने सम्पर्क द्वारा प्राप्त हुई थी। लगभग एक हजार वर्ष तक किसी भी प्रकार के सम्बन्धों के न होने के बावजूद भी वह एशिया के इतिहास का एक मुख्य तत्व है। यह इतिहास की विडम्बना है कि इधर हाल के वर्षों में भारत और चीन के सम्बन्ध अत्यन्त बिगड़ गये हैं* लेकिन चीन के प्रति प्रारम्भिक भारतीय नीति का मुख्य स्रोत स्वतन्त्रता संग्राम के समय चीन के प्रति हमारा दृष्टिकोण था।

पाकिस्तान के साथ भारत के शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध का भी एक ऐतिहासिक पृष्ठाधार है। स्वतन्त्रता संग्राम के समय मुस्लिम लीग साम्प्रदायिकता के आधार पर देश के विभाजन की माग करती थी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसका विरोध किया था। फलत दोनों में सम्बन्ध अत्यन्त कटु बने रहे। देश के विभाजन के उपरान्त दोनों डोमिनियनों का शासन प्रबन्ध इन्हीं पार्टियों के हाथ में आया। उनकी पुरानी शत्रुता जारी रहा। जिन परिस्थितियों के बीच देश का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण हुआ था उसको भुलाया नहीं जा सकता था। पाकिस्तान के प्रति भारतीय नीति के निर्धारण में इस तथ्य ने प्रमुख भूमिका अदा की।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के जमाने में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का प्रबल विरोध किया। वस्तुत कांग्रेस की मुख्य लड़ाई इसी के विरुद्ध थी। कांग्रेस ने कई बार प्रस्ताव स्वीकार करके यूरोपीय साम्राज्यवाद का विरोध किया था। अत जब वह स्वतन्त्र हुआ तो उपनिवेशवाद का विरोध *उसकी विदेश नीति का एक मुख्य तत्व बन गया।* भारत ने इण्डोनेशिया अल्जीरिया मोरक्को ट्यूनिशिया लीबिया साइप्रस आदि पराधीन उपनिवेशों की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया। उपनिवेशवाद का यह विरोध ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज है।

साम्राज्यवाद के उन्मूलन के लिए भारत ने एशियाई देशों को संगठित करने का भी प्रयास किया था। इसी उद्देश्य से वह शोषित एवं पराधीन जातियों के कई सम्मेलनों में सम्मिलित हुआ था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत ने इस आन्दोलन को संगठित करने का बड़ा प्रबल प्रयास किया। 1947 के प्रारम्भ में *अन्तर एशियाई सम्मेलन का आयोजन कर उसने इस आन्दोलन में एक नयी जान* डाली और इस परम्परा को जीवित रखने के लिए बराबर हमेशा सक्रिय रहा। एशियाई एकता को स्थापित करने की भारतीय नीति की जड़ को भी हम अपने इतिहास में ही खोज सकते हैं।

शुरू से ही भारत की नीति शान्तिवादी रही है। भारत के अतीतकालीन *इतिहास का अध्ययन करने से इस बात का भली प्रकार पता लग जाता है कि*

भारत ने किसी भी देश को पराजित करने और उस पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से कभी आक्रमण नहीं किया। राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त में उसका अटूट विश्वास रहा है। भारत की संस्कृति और परम्परा सदैव ही शान्ति की समर्थक रही है। स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में भी यह परम्परा कायम रही। उसने राष्ट्रों की आक्रमक कार्यवाहियों का सदा विरोध किया। 1938 में चीन पर जापान का आक्रमण, 1935 में अबीसीनिया पर इटली का आक्रमण तथा 1938 में चेकोस्लोवाकिया पर जर्मन आक्रमण की निन्दा कठोरतम शब्दों में की। 1935 में लाहौर में वह युद्ध विरोधी प्रस्ताव स्वीकार किया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विश्व शान्ति आन्दोलन का अपना प्रबल समर्थन दिया। इसी उद्देश्य से उसने राष्ट्रसंघ का भी समर्थन किया यद्यपि राष्ट्रसंघ के गठन या उसकी कार्य-पद्धति से वह बहुत असन्तुष्ट था। कांग्रेस का विश्वास था कि सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त विश्व में शान्ति बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक है। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र भारत ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ का जोरदार समर्थन किया और उसकी सफलता के लिए भरपूर योगदान किया। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को समझने के लिए हम इस तथ्य को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते।

पड़ोसी देशों के साथ भारतीय सम्बन्ध के निर्धारण में भी हमें प्राचीन इतिहास से प्रेरणा मिली है। लंका, बर्मा, नेपाल, इण्डोनेशिया आदि के साथ प्राचीन काल से ही हमारे आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। इसलिए इनके प्रति आज भी भारत के हृदय में अपार सहानुभूति और सद्भावना है।

(६) वैचारिक तत्त्व—भारतीय विदेश-नीति का एक बड़ा आधार वह प्रचलित विचारधारा है। प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीय विदेश नीति के निर्धारण में भारत के परम्परागत दर्शन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। भारत की तटस्थता और शान्तिवाद की नीति का मूल आधार भारत की परम्परागत सहिष्णुता और उदारता की भावना तथा बुद्ध और महात्मा गांधी की अहिंसा है। भगवान बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी तक सभी भारतीय दर्शन ने अतियों (Extremism) से बचकर मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने की शिक्षा दी है। इसी दर्शन के अनुरूप भारत ने आज के विश्व की दो अतियों से अलग रहकर गुट निरपेक्षता की नीति का अवलम्बन किया। सहिष्णुता की प्राचीन परम्परा के कारण भारत का कहना था कि साम्यवादी और गैर-साम्यवादी मिलकर शान्तिपूर्वक रहें। इन दोनों में न तो कोई एकदम बुरा है और न कोई एकदम अच्छा। दोनों को एक-दूसरे का अनुचित मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के आधार पर ही राष्ट्रों के सम्बन्धों का निर्धारण किया जा सकता है। इसी प्राचीन परम्परा के अनुकूल आधुनिक भारत ने अपनी विदेश-नीति का निर्धारण किया। पंचशील और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात को इसी दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।[1]

1 Krishnalal Sridharani, 'The Philosophical Bases of Indian Foreign Policy', India Quarterly, April-June 1958, pp. 196-200

भारतीय विदेश नीति पर गांधीवादी दर्शन का प्रभाव एक बड़ा ही विवादास्पद विषय बन गया है। यह कहा जाता है कि भारत की विदेश नीति पर महात्मा गांधी के अहिंसा और शान्तिवाद के दर्शन का बड़ा प्रभाव है जैसा कि जी एफ हडसन (G F Hudson) ने लिखा है — गांधी के शान्तिवाद ने देश को यह विश्वास दिलाया कि विश्व में शान्ति सम्मेलनों द्वारा ही स्थापित हो सकती है न कि सैनिक संगठन बनाने से। भारत ने इसे अपना कर्तव्य माना कि वह दो विरोधी गुटों से अलग रहे और उनमें मध्यस्थ का कार्य करे।

गांधीजी ने यह भी कहा था कि किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए हम साधनों (means) पर भी ख्याल रखना होगा। यदि आप कोई बड़ा या अच्छा काम करना चाहते है तो उसके लिए नैतिक और श्रेष्ठ साधनों को ही अपनाना चाहिए। दूसरे शब्दों में गांधीजी के दर्शन ने साधनों को भी उतना ही महत्व दिया जितना साध्यों को। अतएव कहा जाता है कि स्वतन्त्र भारत ने अपनी विदेश नीति के निर्धारण में इस तत्व का समावेश कराया। हमारे नीति निर्धारकों ने अच्छे लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अच्छे साधन अपनाने की बात को स्वीकार कर लिया। उन्होंने अपना कार्य इस विश्वास के आधार पर किया कि विश्व शान्ति के लक्ष्य को हिंसात्मक साधनों द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। 20 नवम्बर 1955 को बुल्गानिन तथा ख्रुश्चेव के सम्मान में दी गयी राजकीय दावत के अवसर पर बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था। हम इस बात में विश्वास करते हैं कि जो लक्ष्य प्राप्त किया जाय वह अच्छा होना चाहिए। साथ ही इस बात में भी विश्वास करते हैं कि साधन भी अच्छे ही अपनाये जाने चाहिए। ऐसा न किये जाने पर नयी नयी समस्याएं उठ खड़ी होती हैं तथा स्वयं मन्तव्य भी बदल जाता है। एक दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा था कि हमें बुराई का विरोध करना चाहिए किन्तु किसी बड़ी बुराई द्वारा नहीं। हिंसा और घृणा का अधिकाधिक हिंसा और घृणा द्वारा दमन नहीं किया जा सकता। अपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर भारत ने अपनी विदेश नीति में निम्न साधनों को अपनाया। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को दूर करने में बातचीत, पंच फैसले एवं मध्यस्थता का प्रयोग करना शक्ति के प्रयोग अथवा प्रयोग की धमकी से दूर रहना आदि।

इस आधार पर अनेकानेक लेखकों ने कहा है कि भारत की विदेश नीति बहुत अंशों में गांधीवादी दर्शन से प्रभावित है। परन्तु यदि गहराई से उतरकर देखा जाय तो यह पता चलेगा कि भारतीय विदेश नीति के सदर्भ में गांधीवाद के प्रभाव को बहुत बढ़ा चढ़ाकर बताया जाता है। स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने इस तथ्य को स्वीकार किया था। 22 जून 1950 को रंगून में बोलते हुए उन्होंने कहा था गांधी का शिष्य बनना मैं बहुत पसन्द करता लेकिन ऐसा मैं नहीं हूँ। सत्य और अहिंसा का मर्म को न समझनेवाले मानवीय साधनों के जरिये काम करने वाले राजनेता को कभी कभी समझौता करना पड़ता है।[1] इस प्रकार भारतीय विदेश नीति के मुख्य निर्माता

1 I wish I were a disciple of Gandhi but I am not Statesmen who have to work through human agencies which have not a perfect preception of truth and non violence must always compromise —Nehru *The News Chronicle* June 23 1950

जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं कहा था कि भारत की विदेश-नीति और गांधीवादी दर्शन के बीच कोई सद्धान्तिक लगाव नहीं है। इस सम्बन्ध में करुणाकर गुप्त ने लिखा है। "यह बात सन्देहास्पद है कि सत्य और अहिंसा के गांधीवादी सिद्धान्तों का भारत की गृह अथवा विदेश-नीति पर किसी बड़ी सीमा तक प्रभाव पड़ा है। गांधी हिन्द की भांति मृत्यु के बाद पूरी तरह सम्मानित हुए किन्तु उनका कोई ऐसा शिष्य नहीं था जो उनके सिद्धान्तों को क्रिया रूप में परिणत करता। उनकी मृत्यु के तुरंत बाद नवीन भारत ने साम्यवादी और सम्प्रदायवादी विरोध का दमन करने के लिए सर्वाधिकारवादी उपायों का प्रयोग किया काश्मीर और हैदराबाद में सशस्त्र हिंसा का प्रयोग किया गया तो नेपाल के आतरिक संघर्ष में भी हिंसा-नीति का अवलम्बन हुआ। बजट का यह स्वरूप जिसमें कि सैनिक व्यय के लिए पचास प्रतिशत से अधिक की व्यवस्था की जाती है यह प्रकट करता है कि भारत का प्रान्त-न्याय नीति में पुलिस उपयोगों पर बल दिया जाता है। इन परिस्थितियों में यह बात विश्वसनीय नहीं कि भारत की विदेश नीति पर गांधीवादी अहिंसा के सिद्धान्त का बाद निर्णायक प्रभाव पड़ा है।"[1]

भारतीय विदेश-नीति के निर्धारण में वचारिक तत्व (ideological factors) को हम अधिक महत्व नहीं दे सकते। केवल प्रचार की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है नीति निर्धारण के वास्तविक क्रम की ओर इन पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। यह बात केवल भारत के साथ ही नहीं वरन सभी देशों के साथ समान रूप से लागू होती है। विदेश नीति के निर्धारक सभी तत्वों में सर्वोपरि स्थान तो राष्ट्रीय हित (national interest) का होता है।

(vi) राष्ट्रीय हित—मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की भांति राष्ट्रीय जीवन में भी व्यवहार के दो पक्ष होते हैं। पहला स्वार्थ पक्ष और दूसरा परमार्थ पक्ष। पहले पक्ष के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के प्रत्येक कार्य का प्रमुख लक्ष्य उसके स्वयं के स्वार्थों की पूर्ति करना होता है। इस दृष्टि से एक राष्ट्र का न तो कोई स्थायी मित्र होता है और न कोई स्थायी दुश्मन। केवल स्थायी स्वार्थ होते हैं। अन्य देश यदि उस राष्ट्र के इस स्वार्थ की पूर्ति में एक सहायता का कार्य करेंगे तो अवश्य ही गहरे मित्र बन जायेंगे किन्तु यह मित्रता केवल तभी तक स्थिर रहेगी जब तक इसका आधार स्वार्थ पूर्ति कायम करना रहता है। इस आधार के समाप्त होते ही मित्रता का महत्व भी धराशायी हो जायगा। यह भी सम्भव है कि वे देश परस्पर उतने ही शत्रु बन जायेंगे जितने कि पहले वे मित्र थे। विश्व का इतिहास एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का क्रम इस कथन की पुष्टि के लिए इतने प्रमाण दे सकते हैं कि यह कथन आजकल स्वयं सिद्ध सत्य सा बनता जा रहा है। वस्तुतः राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति की सच्ची आधारशिला होती है। विदेश-नीति का निर्धारण सिद्धान्तों के आधार पर होना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि राष्ट्रीय हितों के आधार पर। राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर कई बार सिद्धान्तों की तिलाञ्जलि देनी पड़ती

1 Karunakar Gupta *Indian Foreign Policy* pp 13 14

है। विदेश नीतियों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता किन्तु यह राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होता है। भारतीय विदेश नीति के सम्बन्ध में भी यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से लागू होता है। स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने इस बात को स्वीकार करते हुए कहा था कि किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा होती है और भारत की विदेश नीति का भी ध्येय यही है।

राष्ट्रीय हित के स्वरूप को निर्धारित करना बड़ा कठिन काम होता है। यह कोई स्थिर या शाश्वत वस्तु नहीं है यह तो एक परिवर्तनशील तत्व है जिसे गत्यात्मक (dynamic) कहा गया है। असल में राष्ट्रीय हित गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है क्योंकि परिस्थितियों एवं समय की आवश्यकताएं उसे जैसा चाहती हैं मोड़ देती है। स्थान और काल के परिवर्तन के साथ यह अपना स्वरूप बदलता रहता है। एक राष्ट्र के एक ही समय में अनेक हित हो सकते हैं। इन हितों के बीच परस्पर विरोधाभास भी रह सकता है। भारत की विदेश नीति की भी ऐसी ही स्थिति में है।

भारत की विदेश नीति में राष्ट्रीय हित के तत्व का कितना महत्वपूर्ण स्थान है इसको दो तीन उदाहरणों को प्रस्तुत करके समझा जा सकता है। भारत प्रारम्भ से ही उपनिवेशवाद का विरोध करता आ रहा है। 18 मार्च 1946 को सिंगापुर में भाषण देते हुए नेहरू ने कहा था। भारत केवल अपने लिए ही स्वतन्त्रता नहीं चाहता। आज आधी दुनिया को स्वतन्त्र और आधी को परतन्त्र नहीं रख सकते। भारत स्वतन्त्र जगत् में स्वाधीनता चाहता है। जब वह स्वतन्त्र होगा तो उसकी सारी शक्ति सभी पराधीन देशों की स्वतन्त्रता के लिए लगायी जायगी। यह बात इंडोनेशिया मलाया तथा सभी देशों के लिए समान रूप से लागू होती है। सात वर्ष बाद अर्थात 1953 में मलाया की जनता ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपना व्यापक संघर्ष शुरू किया। इस संघर्ष को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने नेपाली गुरखों की भर्ती करना शुरू किया और इन नेपालियों को भारत सरकार ने मलाया पहुँचने के लिए भारत के भू भाग से होकर जाने का मार्ग दिया। उपनिवेशवाद के विरोध के उदात्त आदर्श का गला घोंटने का इसमें अच्छा उदाहरण दूसरा नहीं मिल सकता है। लेकिन इस महान सिद्धान्त के साथ भारत ने समझौता क्यों किया? इसका एक ही उत्तर है। भारत ने ब्रिटिश सरकार के दबाव से नहीं प्रत्युत राष्ट्रीय हित की दृष्टि से प्रेरित होकर ऐसा किया और साम्राज्यवाद से विरोध के उच्च आदर्श पर डटे रहने की अपेक्षा वास्तविक राजनीति की ठोस परिस्थितियों को देखते हुए ब्रिटिश सेना को अपने भू भाग से गुजरने दिया। नेपाल भारत की उत्तरी सीमा से लगा हुआ एक सीमान्त राज्य है जिसकी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार इसकी जनता का सेना में भर्ती होना है। यदि इसमें बाधा डाली जाय तो नेपाल की पूरी अर्थ व्यवस्था छिन्न भिन्न हो सकती है वहाँ व्यापक असन्तोष और विद्रोह उत्पन्न हो सकता है। इससे भारत की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। अतएव आत्मरक्षा के राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर भारत ने ऐसा किया।

स्वतन्त्रता के बाद भारत द्वारा राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का निश्चय भी बहुत अंशों में राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर ही किया गया था। स्मरणीय है कि स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और विशेषकर नेहरू ने स्पष्ट कह दिया था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत राष्ट्रमण्डल से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखेगा। लेकिन जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब राष्ट्रीय हित का ध्यान में रखते हुए उसे राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का फैसला करना पड़ा। सामुद्रिक सीमा की सुरक्षा के लिए भारत पूरी तरह ब्रिटिश नौ-सेना पर आश्रित था। भारत के साथ वैदेशिक व्यापार में भी इंगलैण्ड अन्य देशों से आगे बढ़ा हुआ था। भारत के व्यापारिक जीवन में ब्रिटिश विनियोग मुद्रा, सुरक्षा बीमा, जहाजरानी आदि बड़े शक्तिशाली तत्त्व थे। इन बातों की किसी भी हालत में उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

इसी तरह की बात निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भारत के बदलते हुए दृष्टिकोण में देखी जा सकती है। भारत शुरू से ही निरस्त्रीकरण का बहुत बड़ा समर्थक रहा है तथा विश्व शान्ति के लिए निरस्त्रीकरण को परम आवश्यक मानता आ रहा है। इसीलिए उसने अगस्त 1963 की आंशिक परमाणविक परीक्षण सन्धि का स्वागत किया और भारी उत्साह के साथ सन्धि पर हस्ताक्षर करके उसका अनुमोदन किया। चीन ने सन्धि में सम्मिलित होने से इन्कार किया तो भारत में इसका बुरा समझा गया।

ठीक इसके विपरीत 1968 में जब परमाणु शक्ति प्रसार निरोध सम्बन्धी सन्धि (nuclear non proliferation treaty) की बात आयी तो भारत ने इसके प्रति उदासीनता ही नहीं प्रदर्शित किया वरन् इसका विरोध भी किया। निरस्त्रीकरण के सारे सिद्धान्त समाप्त हो गए। भारत की अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने की मजबूरी मूलतः चीन की परमाणविक नीति के कारण हुई। 1962 के अपने कटु अनुभव के बाद भारत चीन से कुछ अतिरिक्त सतर्कता बरतते हुए अपने को इस स्थिति में नहीं पा रहा था कि वह उपरोक्त सन्धि आँख मूँद कर मान ले। इस बीच में चीन बहुत अधिक परमाणु शक्ति सम्पन्न बन चुका था और चीन की परमाणविक शक्ति के रूप में देखकर भारत का भयभीत होना स्वाभाविक था। यह भी आवश्यक था कि भारत स्वयं परमाणविक शक्ति बनने की चेष्टा करे। निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण के परिवर्तन के मूल में राष्ट्रीय हित के अतिरिक्त और दूसरा कोई तत्त्व नहीं था।

व्यापक दृष्टिकोण से भारत के राष्ट्रीय हित को परिभाषित करना या उसका निर्धारण करना एक बड़ा ही कठिन काम है। फिर भी देश की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के विश्लेषण करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखकर भारतीय विदेश नीति का निर्धारण होना चाहिए। भारत की भौगोलिक स्थिति, उसकी स्थलीय सीमा का चीन और पाकिस्तान से सटा होना, विस्तृत समुद्र तट की रक्षा, सामुद्रिक व्यापार की सुरक्षा के लिए ग्रेटब्रिटेन पर निर्भरता, आर्थिक विकास और

द्योगों की दृष्टि से पिछड़ा होना सनिक निबलता देश में खाद्यान्न की कमी विदेशी पूजी की आवश्यकता ब्रिटेन और अमेरिका के साथ सुदृढ़ आर्थिक सम्बन्ध शान्ति की आवश्यकता और एशिया के राष्ट्रों में अपने सामर्थ्य के अनुसार महत्त्वपूर्ण स्थान पाने की आकांक्षा। भारतीय विदेश नीति के समय इन तत्त्वों को किसी भी मूल्य पर आँखो से ओझल नहीं किया जा सकता।

(vii) वयक्तिक तत्त्व—विदेश नीति के स्वरूप निर्धारण में वयक्तिक तत्त्वों को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति के प्रमुख निर्माता 1917 से 1964 तक अपनी मृत्युपय त भारत के विदेश एव प्रधानम त्री जवाहरलाल नेहरू थे। उनके जीवन दर्शन विचारधारा और दृष्टिकोण से हमारी विदेश नीति को नेहरू नीति भी कहा जाता था।

राजनीतिक क्षेत्र में नेहरू पर ब्रिटिश विचारक हैरोल्ड लास्की के दर्शन का प्रभाव था। लास्की की विचारधारा पाश्चात्य उदारवाद और मार्क्सवाद के सम वय वाद पर आधारित थी। असंलग्नता की नीति का उद्भव और विकास लास्की की इस विचारधारा से प्रभावित हुआ था।[1]

नेहरू पर पाश्चात्य लोकतन्त्रवाद अथवा समाजवाद या अन्य किसी भी विचारधारा का कुछ भी प्रभाव रहा हो लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारत की विदेश नीति की आधारशिला रखने में और उसको विकसित करने में उनका सबसे निर्णायक हाथ रहा था। सतरह वर्षों तक लगातार वे भारत के विदेश मन्त्री रहे। इससे पूर्व लगभग पचीस वर्षों तक वे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के विदेशी मामलों के प्रमुख प्रवक्ता भी रह चुके थे। 1927 के बाद शायद विदेशी मामलों से सम्बन्धित काँग्रेस का कोई ऐसा प्रस्ताव न होगा जिसको तैयार करने में नेहरू का हाथ न रहा हो। इस बात में विश्व राजनीति के सम्बन्ध में उनकी सभी धारणाएं बनी। सवप्रथम वे अन्तर्राष्ट्रीयता और अखिल एशियावाद के समथक थे। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को उन्होंने कभी भी पृथक रूप से नहीं देखा। उनकी दृष्टि में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन ससार की समस्त पददलित जातियों के संघर्ष का एक अंग था। द्वितीयत वे साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के कट्टर विरोधी थे। उनका अटूट विश्वास था कि जबतक इस तरह की शक्तियाँ संसार में कायम रहेंगी मानव मात्र का कल्याण नहीं होगा। तीसरे सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के वे समथक थे किन्तु साम्राज्यवादी आक्रमण के प्रतिरोध के लिए वे शक्ति के प्रयोग को अनुचित नहीं समझते थे। चौथे सोवियत संघ और चीन के प्रति उनकी विशेष सहानुभूति थी। सोवियत संघ के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि उसके नेता पाखंडी नहीं हैं और साम्राज्यवाद के प्रबल शत्रु हैं। चीन के प्रति उनका अनुराग बहुत ही बढ़ गया था। 1927 के बाद से ही वे

1 Krishnalal Sridharn The Philosophical Bases of India's Foreign Policy *Indian Quarterly* April June 1958 p 199

चीन की राजनीति में रुचि लेते आ रहे थे। पददलित राष्ट्रों के ब्रुसेल्स सम्मेलन से लौटने के उपरान्त उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को चीन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने को कहा और नेहरू के निर्देशन पर कांग्रेस ने चीन की मदद के लिए यथासम्भव प्रयास किये। भारत की सेवा और उसके प्रति दासभक्ति के बाद यदि नेहरू ने किसी बात पर उस समय ध्यान दिया तो वह चीन के प्रति उनका अनुराग था। इस तथ्य को महात्मा गांधी ने भी स्वीकार किया था।[1] पाचवें जवाहरलाल महाशक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए असंलग्नता की नीति के सर्वोत्तम समर्थक थे। उनके इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश-नीति को ढाला और आज भारत की विदेश-नीति का जो भी रूप हमारे सामने है वह नेहरू के उपरोक्त विचारों का ही प्रतिरूप है।

भारत की प्रारम्भिक विदेश नीति के निर्धारण में सर्वाधिक प्रभाव के रूप में नेहरू आते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वे इसके सर्वेसर्वा थे। इसमें मात्र नेहरू से सम्बन्धित कुछ अन्य व्यक्ति भी आते हैं जिनके प्रभाव को कम नहीं किया जा सकता। सरदार वल्लभ भाई पटेल, गोविन्द वल्लभ पन्त और बाद में वी० के० कृष्णमेनन नेहरू मन्त्रिमण्डल के ऐसे सदस्य थे जिन्होंने नीति निर्धारण में प्रमुख भाग लिया था। पाकिस्तान के प्रति भारतीय नीति के निर्धारण में इन व्यक्तियों का काफी असर बताया जाता है। मेनन जवाहरलाल के विश्वस्त मित्र थे। अतः कोरिया, मिस्र और चीन के सम्बन्ध में वे नेहरू की नीति को प्रभावित करते रहे। कृष्णमेनन ने संयुक्त राष्ट्र संघ में और विश्व के प्रमुख देशों में भारत की विदेश नीति के एक प्रवक्ता राजदूत के रूप में सराहनीय कार्य किया। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के अतिरिक्त वैदेशिक मामलों से सम्बन्धित समिति का विदेश-नीति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रहा है।

भारतीय विदेश मन्त्रालय के विशिष्ट अधिकारी और भारतीय राजदूतों ने भी हमारी विदेश नीति का रूप निर्धारित करने में कम हाथ नहीं बँटाया है। विदेश मन्त्रालय का अन्य देशों की तरह यहाँ भी विदेश-नीति का निश्चय करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग होता है इसके वरिष्ठ अधिकारी सामान्यतः इस नीति का सञ्चालन करते हैं। भारतीय राजदूतों में सर्वपल्ली राधाकृष्णन तथा सरदार के० एम० पाणिक्कर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राधाकृष्णन को इस बात का श्रेय है कि सोवियत संघ में भारतीय राजदूत के रूप में उन्होंने स्टालिन को प्रभावित कर भारत और रूस के सम्बन्धों में एक नया अध्याय खोला। भारतीय विदेश नीति के निर्धारण पर पाणिक्कर के प्रभाव को लेकर पर्याप्त वाद विवाद हुआ है। चीन के प्रति भारत की प्रारम्भिक नीति को उन्होंने बहुत हद तक

1 Jawaharlal has conceived a love for China only excelled if at all by his love of his own country —Mahatma Gandhi quoted in Warner Levi *Free India in Asia* p 20

प्रभावित किया था। भारत के स्वतन्त्र होने के समय और चीन में जनवादी गणराज्य की स्थापना के समय तथा उसके बाद के वर्षों में वे पिकिंग में भारतीय राजदूत थे। चीन के प्रति भारतीय नीति का निर्धारण उन्हीं के द्वारा भेजी गयी रिपोर्टों के आधार पर हुआ था। अनेक विदेशी और भारतीय प्रेक्षकों का कहना है कि पाणिक्कर भारतीय राजदूत के रूप में चीन के इरादों को भलीभाँति समझने में पूर्णतया असफल रहे और चीन के बारे में भ्रान्तिपूर्ण सूचना देकर भारत सरकार को गुमराह करते रहे। फलतः आगे चलकर चीन के प्रति भारतीय नीति बिल्कुल असफल हो गयी। जैसा कि जार्ज पेटर्सन ने लिखा है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाणिक्कर व्यक्तिगत रूप में चीन की क्रान्ति के प्रति सहानुभूति रखता था। लेकिन वह भारत के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला राजदूत था और इसलिए यह उसका अक्षम्य अपराध था कि वह पिकिंग सरकार द्वारा कही जानेवाली बातों को आँख मूँदकर स्वीकार करता चला गया। इस बात ने भारत को इस समय तथा उसके बाद अत्यधिक हानि पहुँचायी।[1]

(viii) **राजनीतिक तत्व**—भारत की विदेश नीति के निर्धारण में भारतीय संसद की भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि संसद में एक ही दल का विशाल बहुमत अभी तक रहा है। जवाहरलाल नेहरू इस दल के सर्वमान्य नेता थे और उनके व्यक्तित्व की तूती सम्पूर्ण दल पर हमेशा छायी रहती थी। विदेश नीति के सम्बन्ध में वे जो भी कहते थे संसद् उस पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा देती थी। लोकसभा के अन्तर्गत वैदेशिक विषयों की परामर्श समिति अवश्य गठित हुई है। और इसमें सभी राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व होता है। पर विदेश नीति के निर्धारण में इसका वह महत्व नहीं है जो अमरीकी सीनेट की वैदेशिक सम्बन्ध समिति को प्राप्त है। फिर भी विदेश नीति में संसद् ने पर्याप्त रुचि लिया है और वैदेशिक मामलों पर उसमें कई उल्लेखनीय बहसों का नीतिनिर्धारण पर कोई प्रभाव पड़ा है या नहीं यह कहना कठिन है लेकिन जनमत तैयार करने में इससे बड़ी सहूलियत मिली है। चीन के विरुद्ध देश में उन्माद पैदा कराने में इन बहसों का प्रमुख हाथ रहा है।

विदेश नीति के निर्धारण में भारतीय जनता का भाग नगण्य रहा है लेकिन भारतीय समाचारपत्रों तथा पत्र पत्रिकाओं ने इसमें प्रमुख भाग लिया है। लेकिन समाचारपत्रों की भूमिका बड़ी ही पक्षपातपूर्ण रही है। भारत को विदेशी समाचार देनेवाली एजेंसियाँ मुख्यतया पश्चिमी देशों की हैं। रायटर्स (Reuters) या एसोसिएटेड प्रेस (Associated Press) आदि से जो समाचार पत्र प्राप्त किये जाते हैं उनमें पश्चिमी जगत् को स्वभावतः प्रधानता मिलती है। भारतीय समाचार एजेंसी जैसे—प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया (Press Trust of India) का रवैया भी बहुत राष्ट्रीय नहीं माना जा सकता। इन्हीं समाचार एजेंसियों द्वारा दी गयी खबरों के आधार पर

1 G N Peterson *Peking Versus Delhi* p 74

देशों के समक्ष एक अति विकट समस्या उत्पन्न हो गयी थी। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में भारत के समक्ष यह मांग उपस्थित था कि या तो वह दो विरोधी गुटों में से किसी एक गुट में शामिल होकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सम्भावना को और कम कर दे। शक्ति सन्तुलन के घिसे पिटे सिद्धान्त के आधार पर अपनी विदेश नीति का निर्धारण कर एशिया में भी इस विषाक्त सिद्धान्त का प्रचार करे और शस्त्रास्त्रों तथा सैनिक गुटबन्दियों को प्रोत्साहन दे अथवा गुटों से अलग रहते हुए प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के गुण अवगुणों का मूल्यांकन कर स्वतन्त्र रूप से और बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपनी विदेश नीति का निर्धारण करे। लेकिन इस प्रकार की स्वतन्त्र विदेश नीति के अनुसरण के लिए यह परम आवश्यक था कि देश आर्थिक राजनीतिक औद्योगिक तथा खाद्य उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो ताकि परीक्षा काल अथवा अग्नि परीक्षा के अवसर उपस्थित होने पर उनमें से किसी भी कमजोरी के कारण राष्ट्र को अपनी विदेश नीति में परिवर्तन करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़े। दूसरे शब्दों में तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के पर्याधार में विदेश नीति को एक सुदृढ़ आधार भी प्रदान करना था। 1947 में भारतीय विदेश नीति का जो निर्धारण हुआ और इसे जो आधार प्रदान किया गया उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण और निर्णायक तत्व संसार का दो खेमों में बंट जाना और उनके मध्य शीत युद्ध का प्रारम्भ था।

भारत की विदेश नीति के उपरोक्त निर्धारक तत्वों पर विचार करने के उपरान्त निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि इस नीति को निश्चित रूप से जवाहर लाल नेहरू का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। लेकिन भौगोलिक स्थिति ऐतिहासिक परम्परा आर्थिक और सैनिक आवश्यकताएं तथा सबसे ऊपर राष्ट्रीय हित ने इस नीति को एक निश्चित दिशा प्रदान की है। इस सम्बन्ध में हम एशिया के जागरण और विश्व की महाशक्तियों की शक्ति-कूटनीति की उपेक्षा भी नहीं कर सकते।[1] इन सब तत्वों ने पृथक पृथक रूप में और कभी कभी मिल जुलकर भारत की विदेश नीति के निर्धारण को प्रभावित किया है। इस सम्बन्ध में नेहरू का यह कथन सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है कि "भारत की विदेश नीति को मेरी व्यक्तिगत नीति कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। यह इसलिए गलत है कि मैंने केवल उस नीति को शब्दों में प्रतिपादन किया है, आविष्कार नहीं किया है। यह नीति मूलतः हमारी परिस्थितियों की उपज है। व्यक्तिगत रूप से मेरा विश्वास है कि भारत के वैदेशिक मामलों की बागडोर यदि किसी अन्य व्यक्ति या दल के हाथ में होती तो भी हमारी विदेश नीति वर्तमान नीति से भिन्न नहीं होती।

1 Indian foreign policy like all policy is a mirror of competing purposes and pressures generated in a semi colonial economy with a class as well a caste hierarchy at the same time conditioned by the fixed facts of geography as well as the fluid facts of power relationship in the changing context of the world balance of power —Karunakar Gupta *Indian Foreign Policy* p 11

विदेश नीति की घोषणा और विशेषताएँ

जब भारत स्वतन्त्र हुआ और अपनी विदेश-नीति को निर्धारित करने का उसे अधिकार प्राप्त हुआ तो उसमें उपरोक्त सभी तत्वों का समावेश अनिवार्य रूप से होना था। अन्तरिम सरकार की स्थापना के तुरन्त बाद 7 सितम्बर 1946 को जवाहरलाल नेहरू ने प्रेस सम्मेलन में भारत की भावी विदेश नीति की एक रूपरेखा प्रस्तुत की। सरकारी तौर पर भारत की विदेश-नीति से सम्बन्धित यह पहली महत्वपूर्ण घोषणा थी। नेहरू ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत एक स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन करेगा और किसी भी गुट में शामिल नहीं होगा। गुटों की खींचतानी से दूर रहकर संसार के समस्त पराधीन देशों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिलाना तथा प्रजातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन करना इसकी निश्चित नीति होगी। साथ ही वह संसार के अन्य स्वतन्त्रता प्रेमी और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के प्रसार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा। नेहरू ने भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ से पूर्ण सहयोग करने का आश्वासन दिया और अपनी स्थिति तथा हैसियत के अनुसार विश्व शान्ति के लिए सक्रिय रूप से कार्य करने के लिए भारत की सेवाएँ अर्पित कीं। उन्होंने भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढ़ाने पर भी बल दिया और कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थान प्राप्त करने के बाद यह आवश्यक हो गया है कि भारत संसार के सभी देशों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करे।

स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति की यह रूपरेखा वस्तुतः एक सुनिश्चिततम् और स्पष्टतम् व्याख्या थी। इसी आधार पर भारत की विदेश नीति विकसित हुई। यदि 1947 से अभी तक की भारतीय विदेश नीति के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जा सकती हैं :

(i) गुटबन्दियों से अलग रहकर विश्व राजनीति में तटस्थता की नीति का अवलम्बन करना।

(ii) शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्त में विश्वास करते हुए तथा समस्त देशों से मित्रता का सम्बन्ध कायम करते हुए विश्व शान्ति की स्थापना में यथासम्भव सहयोग देना।

(iii) परस्पर विरोधी शक्तियों में सेतुबन्ध का काम करना ताकि राष्ट्रों की आपसी तनाव विस्फोटक रूप न धारण कर ले।

(iv) उपनिवेशवाद और प्रजातीय विभेद का विरोध करते हुए पराधीन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास में सहायता देना।

(v) पारस्परिक आर्थिक तथा अन्य हितों के रक्षार्थ एशियाई अफ्रीकी देशों को संगठित करना। तथा

(vi) संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उससे सम्बद्ध उसकी अन्य संस्थाओं का समर्थन करते हुए उनके साथ सहयोग करना।

आगे के पृष्ठों में हम इन्हीं विशेषताओं का वर्णन करते हुए उनकी [illegible] करने का प्रयास करेंगे।

असलग्नता की नीति

(Policy of Non alignment)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल की विश्व राजनीति में असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता (non alignment) का सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया था। इस शब्द का प्रयोग प्राय: उन राज्यों की विदेश नीति की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा जो कि साम्यवादी और पश्चिमी गुट के साथ किसी सैनिक संधि में बद्ध नहीं थे। युद्धोत्तर काल में इस सिद्धांत का प्रतिपादन भारत ने किया बस इस सिद्धांत का अस्तित्व भारत द्वारा इसे अपनाये जाने के पहले भी था एवं इसके संबंध में पर्याप्त साहित्य की रचना हो चुकी थी। स्वतन्त्रता के बाद भारत ने अपनी विदेश नीति का मुख्य आधार असंलग्नता की विचारधारा को बनाया। तत्कालीन भारतीय प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू को इस नीति का जनक माना जाता है क्योंकि उन्होंने सबसे पहले इसको अपनाया इसे स्पष्ट किया इसकी सैद्धान्तिक विवेचना का काम किया तथा नवोदित राष्ट्रों में इसका प्रचार किया।

नेहरू द्वारा असंलग्नता की नीति को अपनाये जाने का एक ऐतिहासिक पृष्ठाधार था। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने स्वतन्त्रता से बहुत पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया और इसके परिणामस्वरूप ही बाद की हमारी विदेश नीति का रूप निर्धारित हुआ। दो विश्व युद्धों के बीच के काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विश्व राजनीति के सम्बन्ध में समय समय पर प्रस्ताव स्वीकार किये। इनमें एक ने इस बात पर बल दिया था कि भारत को अन्य राज्यों द्वारा की जानेवाली गुटबन्दी या झगड़ों में अपने आपको सम्मिलित नहीं करना चाहिए।[1] हमारा स्वतन्त्रता संघर्ष केवल स्वतंत्र राष्ट्रीय स्थिति प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं था वह क्रमश: ब्रिटेन तथा अन्य विदेशी शक्तियों के साथ भावी सम्बन्ध विषयक सिद्धान्त भी निर्धारित कर रहा था और इस प्रक्रिया में वह न केवल ब्रिटेन से दूर जा रहा था अपितु उन देशों से भी दूर जा रहा था जिनके उद्देश्य तथा सिद्धान्त भिन्न थे। प्रत्येक दृष्टि से यह एक स्वतंत्र या असंलग्न नीति की प्रारम्भिक अवस्था थी जो कतिपय ऐसे हितों और आदर्शों पर आधारित थी जिसे भारत पकड़े रहना चाहता था। स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति में असंलग्नता का सिद्धान्त भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की इस स्वतंत्र नीति का स्वाभाविक विकास है।

1 The nationalist movement instilled a yearing for a decisive voice in world affairs At the same time however there also grew a desire to save India from involvement in the power politics of Great Power —B Prasad *The origins of Indian Foreign Policy* p 253

इन आरोपों और प्रत्यारोपों से युद्धोत्तर विश्व की सारी समस्याएं महत्वहीन हो गयी और इसके साथ साथ तीसरे महासमर की तयारी होने लगी। एक से एक भयानक शस्त्रास्त्र बनने लगे। सनिक सगठनों का निर्माण शुरू हुआ। कुछ ही दिनों मे ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनों गुटों के मध्य अतिम प्रभुता के लिए युद्ध का होना अनिवार्य है।

1947 के आते आते शीत युद्ध का क्षेत्र बढकर बहुत व्यापक हो गया। यूरोप और एशिया के अधिकांश देश इन गुटबन्दियों के जाल मे फस गये और वे खुले तौर पर एक दूसरे का समर्थन करने लगे। इनमे से प्रत्येक गुट नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों को अपने पक्ष मे मिलाने के लिए उत्सुक था। वे अपने समर्थकों की सख्या बढाना चाहते थे। विश्व राजनीति की इस विकट परिस्थिति मे ही स्वतंत्र राष्ट्र के रूप मे भारत का जन्म हुआ था।

असंलग्नता की नीति का जन्म—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ मे भारतीय विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों का निर्धारण एक बडा ही कठिन प्रश्न बन गया। गुटबन्दियों की विकट स्थिति मे भारत क्या करे? क्या ससार के अन्य देशों की तरह वह भी किसी एक गुट मे शामिल हो जाय? तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों मे भारत के समक्ष दो विकल्प स्पष्ट दिखाई देते थे। या तो वह शक्तिसतुलन के घिसे पिटे सिद्धान्त के आधार पर दो विरोधी गुटों मे से किसी एक गुट मे शामिल होकर अपनी विदेश नीति का सचालन करे, एशिया मे भी इस विवादग्रस्त सिद्धान्त का प्रचार करे और सघर्ष की नीति एव सनिक गुटबन्दियों को प्रोत्साहन दे अथवा [illegible] अलग रहकर प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के गुणावगुणों का मूल्याकन कर स्वतंत्र रूप से और बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपनी निजी विदेश नीति का निर्धारण करे। दूसरा विकल्प [illegible] मकता था क्योंकि स्वतंत्र विदेश नीति के अनुसरण के लिए [illegible] परम आवश्यक था कि देश राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक और खाद्य उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर [illegible] ताकि परीक्षा के अवसर उपस्थित होने पर देश मे किसी भी कमजोरी के कारण राष्ट्र को अपनी विदेश नीति मे परिवर्तन करने के लिए बाध्य नहीं होना पडे। पर्याप्त विचार विमर्श के बाद यह निश्चय किया गया कि सभी कठिनाइयों के बावजूद भारत के राष्ट्रीय हित (national interest) मे [illegible] यही है [illegible] और [illegible] के अनुसार [illegible] मे भारतीय नेताओं का यही [illegible] हुआ कि [illegible] के सिद्धान्तों [illegible] विदेश नीति का अनुसरण किया जाय और विरोधी [illegible] सम्पर्क एव सद्भाव [illegible] स्थापित करने की कोशिश की जाय ताकि [illegible] और [illegible] हो और विश्व शान्ति [illegible] की सम्भावनाएं उत्पन्न [illegible]। [illegible] भी भारत के नीति निर्धारण [illegible] किसी गुट मे [illegible]। [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सभी प्रश्नों पर [illegible] स्वतंत्रता की नीति का [illegible] करेंगे और उनकी वास्तविकता पर ध्यान रखते हुए स्वतन्त्र [illegible] सभी प्रश्नों [illegible] दृष्टिकोण अपनाकर एव अपना निर्णय करेंगे।

असंलग्नता की नीति का औचित्य
(Justification of Non alignment)

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से विवश होकर और अन्तर्राष्ट्रीय हित का ध्यान में रख कर भारत ने यह निश्चय तो कर लिया लेकिन इस नीति के अवलम्बन में अनेक कठिनाइयाँ थीं। शीत युद्ध के महारथियों को यह बात समझ में नहीं आती थी कि कोई पिछड़ा हुआ नवोदित राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कैसे और क्यों स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन कर सकता है? जैसे जैसे शीतयुद्ध तेज तथा गुटों की आपसी मतभेद गहरा होता गया वैसे वैसे उनके (विशेषकर अमरिका गुट) द्वारा यह प्रयास होने लगा कि किसी भी तरह संसार के उन देशों को जो अपने को तटस्थ मानते हैं अपने गुट में शामिल कर लिया जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सभी तरह के उपायों का अवलम्बन किया जाने लगा। एशिया और यूरोप के नवोदित राष्ट्र पहले पश्चिमी गुट के देशों के उपनिवेश थे और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी सभी दृष्टियों से उन पर आश्रित थे। सदियों के शोषण के कारण आर्थिक दृष्टि से एकदम पिछड़े हुए राष्ट्र थे और देश के नवनिर्माण के लिए विदेशी सहायता की आशा करते थे। उस समय संसार में संयुक्त राज्य अमरिका ही एक ऐसा देश था जो इनको विनाश से प्राविधिक सहायता दे सकता था। अतएव इसी स्थिति से लाभ उठाकर अमरिका गुट ने कूटनीतिक धमकियाँ देकर आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में उदासीनता का प्रदर्शन कर तथा अन्य तरीकों से दबाव डालना शुरू किया ताकि विवश होकर ये राष्ट्र उस गुट में शामिल हो जायें। सोवियत संघ की ओर से भी इस तरह का कोई दबाव तो नहीं डाला गया लेकिन तटस्थ राष्ट्रों के सम्बन्ध में उसका विचार भी उदार बढ़कर न था। 4 दिसम्बर 1947 को भारतीय संविधान सभा में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "हम लोगों ने दोनों में से किसी भी गुट में शामिल न होकर विदेशी सम्बन्धों में अलग रहने का निश्चय किया है। लेकिन इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ है। दोनों में से कोई भी गुट हम लोगों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता।"[1] फिर भी नेहरू ने इसी उत्तर के दौरान में यह स्पष्ट कर दिया कि इसका परिणाम चाहे जो भी हो भारत अपनी तटस्थ और स्वतन्त्र नीति का परित्याग नहीं करेगा क्योंकि इसी नीति का अवलम्बन करने में भारत का हित और कल्याण निहित है। वस्तुतः इस नीति के अवलम्बन का निर्णय कोई क्षणिक आवेश या आदर्शवादिता का परिणाम न था, यह एक गम्भीर चिन्तन का परिणाम था जिसके मूल में निम्नलिखित बातें थीं

दोनों गुटों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की कामना—स्वतन्त्रता के समय जब नव भारत का जन्म हुआ तब दोनों ही गुट के देशों ने सहानुभूति प्रदर्शित की और भारत ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने की इच्छा व्यक्त की। भारत का मुख्य विरोध ब्रिटिश सरकार के प्रति था। उसके हट जाने से वह विरोध भी समाप्त हो गया और सभी से

1 Jawaharlal Nehru *Independence and After* (A collection of Speeches 1946-1949) p 201

भारत की सद्भावना को प्राप्त करने की चेष्टा की। इस पृष्ठभूमि में यदि हम एक गुट में सम्मिलित हो जाते तो यह एक भयंकर भूल होती। हम बिना कारण एक को मित्र बनाकर दूसरे की दुश्मनी मोल लेते। अतएव अप्रतग्नता की नीति अपनाकर दोनों गुटों की मित्रता कायम रखनी थी। जब दोनों ही हमारी मित्रता चाहते थे तो हम एक को मित्र और एक को शत्रु क्यों बनाते।

इस सम्बन्ध में एक बात और है। अप्रतग्नता की नीति के निर्धारण में यूरोप और एशिया के राजनयिक इतिहास ने निर्णायक भूमिका अदा की है। यूरोप में राष्ट्रों के बीच कटुता और मनमुटाव की एक लम्बी परम्परा है। नया इतिहास ही गुटबन्दियों का इतिहास है। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों के पूर्व यूरोप में हमेशा दो या दो से अधिक गुट रहे। किन्तु एशिया के देशों के साथ ऐसी बात नहीं थी। एशिया को अपना राजनयिक जीवन एक स्वच्छ स्लेट पर प्रारम्भ करना था। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में जब भारत का प्रादुर्भाव हुआ तब तो उस समय दुनिया के किसी भी देश के साथ उसकी शत्रुता न थी और न संसार के किसी भाग में उसका अप्रत्यक्ष स्वार्थ ही निहित था। इस पृष्ठाधार में वह संसार के प्रत्येक देश का मित्र बन सकता था और विश्व शान्ति की मंजिल तक पहुँचने में सबके साथ सहयोग कर सकता था। यह अप्रतग्नता की नीति का अनुसरण करके ही सम्भव था।

आर्थिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता – वर्षों के साम्राज्यवादी शोषण के उपरांत भारत अभी अभी स्वतन्त्र हुआ था और उसके समक्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न देश के आर्थिक पुनर्निर्माण का था। इस कार्य के लिए संसार में शांति का कायम रहना परम आवश्यक था। गुटों में शामिल हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में और वृद्धि होती और युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती जो निश्चय ही भारत के राष्ट्रीय निर्माण के लिए अहितकर होती। भारत यह नहीं चाहता था कि स्वयं उसकी सीमाओं में शांति रहे बल्कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए अधिक उत्सुक था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय शांति के अभाव में आर्थिक विकास और प्रगति के उसके सभी सपने अधूरे रह जाते। अतः आवश्यक यह था कि वह न केवल तटस्थ और स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करे बल्कि ऐसी सक्रिय और रचनात्मक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा का सृजन और विकास करने में सहयोग दे जिससे विरोधी विचारधारा वाले दो शक्तिशाली गुटों के मध्य बढ़ता हुआ तनाव और वैमनस्य कम हो। इसके अतिरिक्त यदि भारत किसी शक्ति गुट में शामिल हो जाता तो इसका मतलब था कि वह विरोधी गुट द्वारा शत्रु की श्रेणी में मान लिया जाता। शीत युद्ध हमारी सीमाओं में प्रविष्ट कर जाता और सीमित साधन स्रोतों का उपयोग आर्थिक विकास के कार्यों के लिए न होकर सैनिक शक्ति का निर्माण करने के लिए होता। विदेशी सैनिक सहायता और आर्थिक सहायता पर निर्भर होने के कारण देश की अर्थव्यवस्था का स्वाभाविक विकास भी नहीं होता और विकासोन्मुख और आत्म निर्भर बनाने के बजाय वह सैनिक व्यय कृत्रिम आर्थिक समृद्धि और मुद्रा स्फीति के भार से चरमरा कर टूट जाता। भारत का कल्याण इसी में था कि वह गुटों से

नीति निर्धारण में स्वच्छन्दता की इच्छा—स्वतन्त्र रूप में नीति निर्धारित करने की कामना ने भारत को असंलग्नता की नीति की ओर प्रेरित किया था। न्याय भी यही कहता है कि हम अपना निर्णय स्वयं लें। भारतीय राष्ट्रीयता का गौरव और प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र रहने की उत्कट अभिलाषा तटस्थ और स्वतन्त्र विदेश नीति के अवलम्बन में दूसरा प्रेरक तत्त्व था। वर्षों के प्रयास और सहस्रों देश प्रेमियों के बलिदान के बाद भारत स्वतन्त्र हुआ था। ऐसी स्थिति में भारतीयों के लिए स्वतन्त्रता से बढ़कर मूल्यवान कोई दूसरी वस्तु न थी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी गुट में सम्मिलित होने का अर्थ इस मूल्यवान स्वतन्त्रता को खो बैठना था। भारत यह अनुभव करता था कि विश्व राजनीति में बिल्कुल स्वतन्त्र रूप में भाग लेने का उसे पूर्ण अधिकार है। अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत अपना कोई निर्णय इसलिए नहीं ले सकता कि यह गुट अथवा वह गुट ऐसा चाहता है बल्कि उसके निर्णयों का आधार वही होगा जिसको वह ठीक समझता है और जो उसके राष्ट्रीय हित में है। गुटबन्दी में शामिल होने का अर्थ होता था कि पहले से ही कुछ मान्यताओं के आधार पर निर्णय लेना। गुटबन्दी की राजनीति में निर्णय गुट की नीति के आधार पर होते थे व्यक्तिगत राष्ट्रों के नहीं। यदि भारत किसी गुट में शामिल हो जाता तो उसकी सारी स्वतन्त्रता खत्म हो जाती। भारतीय संसद में जब किसी सदस्य ने यह सुझाव पेश किया कि भारत को अपनी असंलग्नता की नीति का परित्याग कर देना चाहिए तो नेहरू ने जवाब देते हुए कहा "किसी गुट में सम्मिलित होने का अर्थ क्या है? इसका केवल एक ही अर्थ है—किसी एक खास प्रश्न पर अपने विचार का परित्याग कर दें और दूसरे को खुश करने तथा उसकी सन्निष्ठा प्राप्त करने के लिए उसके विचारों को मान लें।" भारत के लिए ऐसी स्थिति असह्य थी। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र रहना चाहता था और किसी गुट में शामिल होकर इस स्वतन्त्रता को कायम नहीं रखा जा सकता था। राष्ट्रीय स्वाभिमान का तकाजा था कि भारत जैसा प्राचीन एवं सम्माननीय देश किसी भी गुट विशेष के साथ अपने को न बाँधकर स्वतन्त्र रहे। कुछ समय में भारत अपने आर्थिक विस्तार और भौतिक प्रगति से संसार के शक्तिशाली देशों की श्रेणी में पहुँच जाने की सम्भावना थी। अतएव यह जरूरी था कि वह किसी के साथ जुड़कर अपने व्यक्तित्व को समाप्त न कर दे। इस अवसर पर नेहरू ने ठीक ही कहा था "किसी गुट के साथ सैनिक संधियों में बंध जाने के कारण सदा उसके इशारे पर नाचना पड़ता है और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। अतः चाहे कुछ भी हो जाय हम किसी देश के साथ सैनिक संधि नहीं करेंगे। जब हम असंलग्नता का विचार छोड़ते हैं तो हम अपना लंगर छोड़कर बहने लगते हैं। किसी देश से बंधना आत्म-सम्मान खोना है, यह बहुमूल्य निधि का विनाश है।"

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की कामना—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रतिष्ठा पाने की कामना ने भी भारत को असंलग्नता की नीति को अपनाने के लिए बाध्य किया। जवाहरलाल नेहरू का विश्वास था कि यदि भारत स्वतन्त्र विदेश नीति का अवलम्बन करते हुए सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से अपना निर्णय रखेगा तो दोनों

गुट नये विचारों का आदर करेंगे और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी होगी तथा भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ेगी। संसार के दो गुटों में बट जाने के कारण विश्व राजनीति में कभी-कभी गतिरोध उत्पन्न होते रहते थे। ऐसे गतिरोधों को दूर करने के लिए कुछ ऐसे राष्ट्रों की भी आवश्यकता थी जो कि बीच की राह निकालकर दोनों पक्षों के बीच समझौता करा सकें। गुटों में शामिल राष्ट्र इस तरह की भूमिका नहीं निभा सकते थे क्योंकि उनकी तरफ से कोई उचित प्रस्ताव भी आता तो विरोधी गुट उसको शक की निगाह से देखता। उसका प्रतिपक्ष भी प्रश्न बनाकर नामंजूर कर देता। अन्तर्राष्ट्रीय गतिरोधों को मिटाने तथा विश्व शान्ति को सुरक्षित करने के उद्देश्य से ही भारत ने असंलग्नता की नीति को अपनाना उचित समझा। बाद की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने इस अनुमान को बहुत अंशों में ठीक साबित किया। कोरिया और कांगो में भारत के प्रयास से कई अन्तर्राष्ट्रीय गतिरोध सुलझाए गए। यदि भारत किसी गुट में शामिल हो गया होता तो इसे यह गौरव नहीं प्राप्त होता।

वैचारिक मतभेद—वैचारिक मतभेदों के कारण चाहकर भी भारत किसी एक गुट के साथ नहीं रह सकता था। पश्चिमी गुट में जो राष्ट्र सम्मिलित थे वे सब के सब साम्राज्यवादी रह चुके थे और अभी भी उनमें कई उपनिवेश कायम थे जो वे पराधीन जातियों के स्वातन्त्र्य संग्राम को कुचलने में व्यस्त थे। वे जातिगत शोषण की नीति बरतते थे और रंगभेद की नीति के समर्थक थे। ये ऐसे पाप थे जिनसे भारत को अत्यधिक घृणा थी और इन पापों के पोषकों से भारत में कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता था। इसी प्रकार साम्यवादी रूस के साथ सम्मिलित होना भी भारत के लिए असह्य था। वे साम्यवादी विचारधारा और रक्तक्रान्ति की नीति के हिमायती थे परन्तु उनकी राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं था। स्वतन्त्रता के समय भारत का शासन जिन लोगों के हाथ में था वे राजनैतिक व्यवस्था पर [illegible] और [illegible] थे तथा इस पक्ष आदर्श मानते थे। अतएव साम्यवादी रूस की ओर भी भारत का झुकाव नहीं हो सकता था। इस स्थिति में असंलग्नता की नीति के अतिरिक्त भारत के समक्ष और दूसरा विकल्प नहीं था।

एशियाई देशों के समक्ष उदाहरण—यदि भारत पश्चिमी गुट में शामिल हो जाता तो सम्पूर्ण एशिया पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता। एशिया के नवोदित राष्ट्र पश्चिम को शंका की दृष्टि से देखते थे और यह आशा रखते थे कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध मोर्चा तैयार करने में भारत अगुआ का काम करेगा। उदाहरणार्थ में उनकी बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं क्योंकि स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में उन्होंने भारत की स्वाधीनता के प्रश्न को एशिया के प्रश्न से पृथक् करके नहीं देखा था। ऐसी दशा में यदि वे भारत को किसी गुट में सम्मिलित देख लेते तो वे उन्हें गद्दार या पश्चिमी साम्राज्यवाद का पिट्ठू कह सकते थे। अतः गुटों से स्वतन्त्र रहकर इन्होंने

भारत का सिर ऊँचा किया और अपने विरोधियों को भर्त्सना करने का अवसर नहीं दिया।[1]

नैतिक दृष्टिकोण—नैतिक दृष्टिकोण से भी यह मानना पड़ेगा कि इन दो गुटों में से किसी का पक्ष पूर्ण न्यायसंगत नहीं था या कोई पूर्णतया निर्दोष नहीं था। एक शैतान है और दूसरा देवता इस प्रकार निर्णय करना अत्यन्त कठिन था क्योंकि यह सत्य और असत्य का संघर्ष नहीं था। दोनों ही सत्य और असत्य का मिश्रण था। मध्य युग में ईसाइयों के दो दलों—प्रोटेस्टेण्ट्स और कैथोलिकों—में संघर्ष चला यद्यपि प्रत्येक अपने आपको सत्य का ठेकेदार मानता था लेकिन अन्त में दोनों को ही सहिष्णुता और सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ना पड़ा। इसी तरह का रवैया समसामयिक राजनीति में नेहरूजी के नायकत्व का रहना था जिसका कि इसी में गर्भित था। असंलग्नता की विचारधारा इसी स्थिति से उत्पन्न करने में सहायक हुई। इस धारणा ने भी भारत को असंलग्नता की नीति को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

असंलग्नता की नीति की विशेषताएँ—असंलग्नता की नीति का विवेचन करते हुए प्रोफेसर पोपर ने लिखा है, "शीत युद्ध में अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ द्वारा प्रेरित बड़ी शक्तियों के दो समूहों के मध्य चल रही राजनीतिक या राजनयिक प्रतिद्वन्द्विता में किसी भी पक्ष का समर्थन करने से इन्कार। इसमें असंलग्नता का विचार अन्तर्निहित है।" भारत के सम्बन्ध में असंलग्नता का अभिप्राय यह था कि भारत विश्व राजनीति के दोनों गुटों में से किसी एक में भी सम्मिलित होने के लिए तैयार नहीं था अपितु उनसे पृथक रहते हुए भी उनसे मैत्री सम्बन्ध कायम रखने और उनकी सहायता से अपनी उन्नति करने का इच्छुक था। भारत को विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान तभी हो सकता है जबकि वह अपने विचार की स्वतन्त्रता नहीं खो बैठे। किन्तु यदि वह किसी गुट विशेष के साथ बंध जाय अथवा उसके साथ स्थायी सम्बन्ध कायम कर ले तो वह ऐसा नहीं कर सकता था।

गत वर्षों में असंलग्नता की गुट निरपेक्षता की भारतीय नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक अत्यन्त विवादास्पद विषय बन गयी। इसका एक मुख्य कारण यह था कि कभी कभी स्वयं इसके निर्धारक भी इसकी व्याख्या स्पष्ट शब्दों में नहीं कर पाते थे। इस नीति को विविध नामों से पुकारा जाता है जैसे—तटस्थ, विरक्त

---

1 If Nehru becomes a formal ally of the west in cold war he would be going against the whole grain of Asian anti colonial sentiment. He would be under constant and effective attack as a stooge of western imperialism. By his independence of either bloc he is able to draw on all the pride of Indian nationalism and to charge convincingly that it is the Asian communists who are the foreign stooge. —Chester Bowles, *Ambassador's Report*, P. 143

ऐसी बात के लिए आत्मसमर्पण जिसे वे गलत समझते थे। द्वितीय यह किसी अन्तर्राष्ट्रीय विषय पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार व्यक्त करने में आनाकानी भी नहीं करता था। तृतीय भारतीय नेताओं ने ऐसी किसी भी स्थिति में जिसे वे सही समझते थे अपने आपको आबद्ध करने में आनाकानी नहीं की और न उस पर आरोपित किसी भी उत्तरदायित्व को वहन करने में कभी टालमटोल की। तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में भारतीयों ने सदैव यह महसूस किया कि वे अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का वहन करने से कतरा नहीं सकते।

असलग्नता की नीति और तृतीय गुट की धारणा

(Non alignment and Concept of Third Bloc)

युद्धोत्तर काल में असलग्नता की नीति अपनानेवाला पहला देश भारत था। इसके बाद एक एक करके एशिया और अफ्रिका के नवोदित राष्ट्र इस नीति को अपनाते गये। भारतीय नीति का सबसे अधिक प्रभाव उसके पड़ोसी देशों पर पड़ा। बर्मा अनेक विषयों में भारत तथा नेहरू को आदर्श मानता रहा। बर्मा के एक प्रधान मंत्री कोतेलावाला ने एक बार कहा था "हम पूर्व या पश्चिम के या किसी अन्य गुट के शीत युद्ध में पक्षकार नहीं बनेंगे।" इण्डोनेशिया भी लगभग नेहरू के मार्ग का ही अनुगमन करता रहा। इसके एक नेता ने कहा था "इण्डोनेशिया दोनों विरोधी गुटों के मध्य किसी भी गुट का पक्षपाती नहीं है और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में अपना मार्ग स्वयं बनाता है।" बर्मा भी इसी नीति को अपना कर अपने को सुरक्षित समझता रहा। कम्बोडिया और लाओस दृढ़तापूर्वक इस नीति के पक्ष में रहे। अफ्रिका में संयुक्त अरब गणराज्य और घाना में युगोस्लाविया इस नीति के प्रधान प्रवक्ता थे। संयुक्त राष्ट्र संघ में और विशेषतः के सदस्य राज्यों का छोड़कर एशिया और अफ्रिका के लगभग सभी देश असलग्नता की नीति मानने लगे। भारतीय विदेश नीति की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

गुट निरपेक्षता के सिद्धान्त के इस विस्तार को देखकर असलग्नता की भारतीय नीति के सम्बन्ध में पश्चिमी देशों की एक सामान्य धारणा यह हो गयी कि यह एक नेहरू की भय है जो नेहरू को समान विचारवाले तटस्थ देशों के गुट का निर्माण करने को प्रेरित करती थी। उनकी असलग्नता का उद्देश्य अपने चारों ओर अपने नेतृत्व में छोटे राष्ट्रों का एक गुट खड़ा कर लेना था जिसमें शक्ति सन्तुलन कायम रखा जा सके और इसके द्वारा समान शक्तिवाले गुटों पर हावी हुआ जा सके। पश्चिमी आलोचकों द्वारा बराबर यह बात कही जाती थी कि भारत किसी गुट में इसलिए सम्मिलित नहीं होना चाहता कि वह अपने नेतृत्व में एक तीसरा गुट बनाना चाहता था। भारतीय नेता इस बात को मानने से इनकार करते रहे। इस सम्बन्ध में नेहरू ने कहा था "इस देश या उस देश के नेतृत्व में तीसरे गुट का निर्माण हमारा अभीष्ट नहीं है हमारा उद्देश्य तो दोनों गुटों को मिलाकर एक सहकारी विश्व का निर्माण करना है।"

वस्तुत असंलग्नता की नीति के जरिए तृतीय गुट के निर्माण की आकांक्षा भारत ने कभी नहीं पाली। एक शक्तिशाली तृतीय गुट का निर्माण तटस्थ राष्ट्रों की सैनिक शक्ति के आधार पर ही किया जा सकता था और सत्य तो यह है कि समस्त एशियाई राष्ट्रों को मिलाकर भी एक ऐसे शक्तिशाली तृतीय गुट का निर्माण संभव नहीं था। जैसा कि नेहरू ने कहा था पृथक-पृथक रूप में या संयुक्त रूप में एशियाई देशों के पास जो सैनिक शक्ति है वह नगण्य है। चूंकि इन बड़ी शक्तियों के मुकाबले में बैठा सकने वाली शक्ति छोटी है अत अपेक्षाकृत कमजोर राष्ट्रों की सामरिक शक्ति अमरिका या सोवियत संघ की सैनिक शक्ति का मुकाबला कर नहीं सकती। तटस्थ राज्य नहीं चाहते थे कि विश्व को और अधिक गुटों में विभाजित करें और इस उद्देश्य की पूर्ति किसी नये गुट का निर्माण करके नहीं की जा सकती थी। नेहरू ने एक तटस्थ तीसरी शक्ति के विचार को हवाई बात कहकर रद्द किया था और अन्यत्र भी इस बात का खण्डन किया था कि भारत अपना तृतीय प्रतिनिधि नेतृत्व या किसी अन्य कारण से विश्व को और अधिक गुटों में विभाजित करने की परिकल्पना करता है। यदि अन्य एशियाई देशों में असंलग्नता की विचारधारा का प्रसार हुआ तो इसका एकमात्र कारण यह था कि वे तटस्थता की नीति का अनुसरण करने में अपना कल्याण मानते थे।

असंलग्नता की नीति का प्रयोग

असंलग्नता की भारतीय नीति के इस संक्षिप्त विश्लेषण के उपरान्त अब हम यह देखना है कि भारत ने इस नीति का प्रयोग कब-कब और कैसे-कैसे किया है। इस नीति के इतिहास को मुख्यत चार भागों में बांटा जा सकता है

(i) 1947 से 1950 के कोरिया युद्ध तक

(ii) कोरिया युद्ध से 1957 के द्वितीय भारतीय आम चुनाव तक

(iii) 1957 से 1962 के भारत-चीन युद्ध के पूर्व तक

(iv) 1962 से भारत-सोवियत सन्धि तक।

(i) 1947 से 1950 के कोरिया युद्ध तक—स्वतन्त्रता के शुरू के दौर में असंलग्नता की नीति कुछ हद तक अस्पष्ट थी और कुछ कारणों से विशुद्ध नहीं थी। इन दिनों भारत की नीति अमरीकी या पश्चिमी गुट की तरफ थोड़ी झुकी हुई थी अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हम पश्चिमी गुट का समर्थन अधिक करते थे। इसके कई कारण थे सर्वप्रथम सुरक्षा के मामले में हम पश्चिमी देशों पर पूर्णतया आश्रित थे। भारतीय सेना का संगठन ब्रिटिश पद्धति के आधार पर हुआ था। इसलिए हम ब्रिटेन के साथ इस मामले में बंधे हुए से थे। इसके अतिरिक्त भारत के समुद्र-तटीय सीमा की रक्षा के लिए भी हम ब्रिटेन पर ही आश्रित थे। द्वितीय भारत के शिक्षित वर्ग पर पश्चिमी देशों का अत्यधिक प्रभाव था। हमारी शिक्षा-पद्धति पश्चिमी नींव पर खड़ी की गयी थी और इस पद्धति में शिक्षित लोगों की सहानुभूति स्वभावत ब्रिटेन और पश्चिमी गुट के साथ थी। लेकिन सबसे प्रमुख

कारण आर्थिक था। पहले से ही हमारा व्यापारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी राष्ट्रों से था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हम आर्थिक दृष्टि से पश्चिमी गुट पर और अधिक आश्रित हो गये। आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए भारत को विदेशी सहायता की आवश्यकता थी। यह सहायता मुख्यतः ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरिका से प्राप्त हो सकती थी। उस समय सोवियत संघ आर्थिक और सैनिक दृष्टिकोण से स्वयं एक शक्तिहीन राज्य था। अतएव इन परिस्थितियों में भारत की असंलग्नता की नीति निष्पक्ष नहीं रह सकी और पश्चिमी गुट की ओर उसका अधिक झुकाव रहा। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

भारतीय असंलग्नता की नीति निष्पक्ष नहीं थी यह पूर्वी जर्मनी के प्रति भारतीय नीति से स्पष्ट हो जाता है। विभाजित जर्मनी में एक को (पश्चिमी जर्मनी) जो पश्चिमी गुट से सम्बद्ध था उसको राजनयिक मान्यता प्रदान करना और दूसरे (पूर्वी जर्मनी) को नहीं। मानना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। पूर्वी जर्मनी को यह कहकर भारत ने मान्यता नहीं दी कि ऐसा करना जर्मनी के विभाजन को मान लेना होगा जबकि भारत का ऐसा इरादा नहीं था।

कोरिया युद्ध के प्रारम्भ में भारत का रुख कुछ इसी तरह पक्षपातपूर्ण रहा। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरिका और अन्य पश्चिमी देशों की तरह भारत ने भी उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित किया था यद्यपि पश्चिमी देशों ने आज तक अपने कथन के समर्थन में विश्वसनीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं। यह बहुत सम्भव है कि दक्षिण कोरिया ने ही उत्तर कोरिया पर आक्रमण किया हो जैसा कि करुणाकर गुप्त ने लिखा है— भारत का निर्णय श्री को डापी की रिपोर्ट पर आधारित था और यह रिपोर्ट उनके व्यक्तिगत विचारों से अत्यधिक प्रभावित थी।[1] इस तरह की अन्य कई अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में भी भारत पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सम्बद्ध रहा।

(ii) 1950 से 1957 का काल—इस काल में सोवियत संघ के प्रति भारतीय रुख में कुछ परिवर्तन हुआ। इसके कई कारण थे। 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत व्यवस्था में कुछ उदार तत्वों का समावेश हुआ। इसके पश्चात् सामरिक दृष्टिकोण से भी सोवियत संघ कुछ शक्तिशाली हुआ। इस समय तक अणु बम का आविष्कार सोवियत संघ में हो चुका था। स्टालिन के मरणोपरान्त सोवियत नीति में परिवर्तन का सबसे सुन्दर उदाहरण युगोस्लाविया के प्रति सोवियत दृष्टिकोण में

1 Th Indian Cabinet dec sion on the matter was made after the receipt of a report from Mr Kondapi the Indian d egate to the United Nations Commiss on on Korea Th conduct of the Indian members in th U N Commission on Korea should be a matter of p blic scrutiny as th re is amp e e idence to indicate that they we e guided more by personal prejudices than facts In sending ad ice about the origin of the Korean war on June 25 1953

—Karunakar Gupta *Indian Foreign Policy* p 11

में भारत ने इस मामले में सोवियत संघ का समर्थन किया था लेकिन बाद में भारत सोवियत संघ का विरोध करने लगा। इसके अतिरिक्त पश्चिमी देशों के साथ मेल बढ़ाने का एक और परिणाम यह हुआ कि उपनिवेशवाद के विरोध में भारत का उत्साह मन्द पड़ने लगा। इसलिए पश्चिमी एशिया और पूर्वी एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध अब भारत बहुत ही दबे हुए जबान में करने लगा। वियतनाम संकट के सम्बन्ध में भारत की प्रारम्भिक अस्पष्ट एवं ढुलमुल नीति [illegible] परिस्थितियों का परिणाम था।

(iv) भारत-चीन युद्ध से लेकर भारत-सोवियत सन्धि तक—नवम्बर 1962 के भारत-चीन युद्ध से लेकर आजतक का काल असंलग्नता की नीति के विकास में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस काल में हम इस नीति की अग्नि-परीक्षा का काल कह सकते हैं। भारत-चीन युद्ध के समय और उसके बाद अनेक विपक्षी और राजनीतिज्ञों ने असंलग्नता की नीति की कड़ी आलोचना की और कई क्षेत्रों में इस बात की माँग की गयी कि चूँकि यह नीति पूर्णतया असफल रही है इसलिए यथाशीघ्र इसका परित्याग कर देना चाहिए। इस तरह की माँग जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी और [illegible] की तरह विचार रखने वाले प्रतिगामी दलों से ही नहीं हुई वरन् कुछ निष्पक्ष और जिम्मेदार नागरिकों ने भी की। उनका कहना था कि विदेश नीति का लक्ष्य देश की सीमाओं को सुरक्षित करना और बचाना होता है। राष्ट्र की अखण्डता सबसे बड़ी बात है। अब हमारी नीति विफल सिद्ध हुई है। चीन ने हमारे विशाल भू-भाग पर अधिकार कर लिया है। भारी सैनिक सहायता से ही उसे जीता जा सकता है।

---

1 Nehru projected the policy of non alignment not merely because he believed that international peace could best be preserved by keeping India out of any military entanglement with either bloc because he was drawn both to the political principles of Western democracy and to the economic principles of Soviet socialism but also because he wanted a free hand in furthering the escape of captive peoples from the custody of any great power Gradually however as India became more absorbed by her own vast economic problems and with mounting anxiety sought substantial aid from the West the Nehru Government grew less concerned about colonial liberation and not without a measure of self importance concentrated its efforts upon securing international peace by attempting to mediate in the quarrels of the Great Powers —Ronald Segal *Crisis in India* P 267

Since 1957 India has tended to be content with a rather quieter role in international matters than hitherto by contrast with either Egypt or Yugoslavia to be more moderate less stridently radical and revisionist even on anti colonial issues —Peter Lyons *Neutralism* p 127

सकेत किया है और शायद भारत नयी परिस्थिति म इस नीति का परित्याग कर द। पाना ा सयुक्त अरब गणराज्य आदि तटस्थ राज्यो स यह उम्मीद की जा रही थी कि इस विवाद म वे समान विचार वाले असलग्न भारत का पक्ष ग्रहण समथन करेंगे लेकिन इन साथी दशो ने मध्यस्थ के रूप म काय करना ही उचित समझा। उनके दृष्टिकोण से भारतीय जनता और सरकार को बड़ा सदमा पहुँचा। ऐसा प्रतीत हुआ कि असलग्नता की नीति बिल्कुल खोखली है और इसस देश का हित सधन सकता नहीं है।

लेकिन जवाहरलाल नेहरू को अपने दशन और अपनी नीति म अटूट विश्वास था। अपने इस विश्वास म कभी नहीं डिग और बराबर कहत रहे कि असलग्नता की नीति ही इस युद्ध म सर्वोत्तम है और वे सदा अनुसरण करते रहेंगे। एक अमरीकी पत्र फॉरेन एफेयर्स (*Foreign Affairs*) म असलग्नता की नीति की प्रामाणिक व्याख्या करते हुए उन्होंने इसका जबरदस्त समथन किया। उन्होंने लिखा कि चीन का मुकाबला करन के लिए भारत ने ठीक ही पश्चिमी देशो स सनिक सहायता प्राप्त की है लेकिन इस स उनके साथ किसी प्रकार की राजनीतिक गठबन्धन नहीं थी। किसी सहायता को जो बिना शत प्राप्त की जाय असलग्नता की नीति स दूर हटना नहीं कहा जा सकता।[1]

भारत चीन युद्ध के प्रसंग म असलग्नता की नीति की जो आलोचना हुई उसका उत्तर देना भी आवश्यक है। यह भी समझ लेना चाहिए कि इस नीति का परित्याग कर जिस गुट म भारत को शामिल कराना चाहते थ उसके विदेश सचिव डीन रस्क (Dean Rusk) ने स्वय कहा था कि तत्कालीन परिस्थिति म भारत के लिए असलग्नता की नीति ही बेहतर थी। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकमिलन ने भी इस बात की पुष्टि की थी। दूसरी बात यह है कि असलग्नता की नीति का त्याग कर अमरीकी गुट म शामिल हो जाने से चीन का युद्ध भारत और चीन सीमा सघष न रहकर युद्ध का एक अग हो जाता और तब भारत चीन विवाद कभी भी हल नहीं हो पाता। अमरीकी गुट म शामिल हो जाने स ही भारत अपने खोय हुए भू भाग को प्राप्त कर लेता या इन शक्तियो का त्याग भी इस नीति का समथन करने को तैयार हो जाता था। लेकिन यह अलग बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म बताना है कि अमरीका के समथन के बावजूद न तो कोरिया और इसी का एकीकरण हो सका और न पाकिस्तान को कश्मीर मिल सका और न जनवादी चीन का अन्त ही हो सका। इस पृष्ठभूमि म भारत चीन सीमा सघष या शीत युद्ध का अन्त होने स भारत को क्या लाभ होता? इसलिए यह आशा करना निरा मूखता होगी कि यदि भारत पाश्चात्य राष्ट्रो के गुट या साम्यवादी गुट म मिल गया होता तो चीन द्वारा अधिकृत अपने भू भाग वापस मिल गए होते। इन सभी परिस्थितियो पर ध्यान रखते हुए नेहरू ने स्पष्ट कर दिया था कि भारत अपनी रक्षा के लिए सभी

[1] *Foreign Affairs* April 1963 pp 456-57

असंलग्नता की नीति सर्वोत्तम है और वह उसी नीति के आधार पर अपनी विदेश नीति का निर्धारण करता रहेगा। बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि शास्त्री का यह निश्चय हर दृष्टिकोण से उचित था। यही कारण है कि ताशकन्द में शास्त्री की मृत्यु (जनवरी 1966) के बाद जब श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रधान मन्त्री बनी तो उन्होंने भी यह घोषणा की कि भारत हर हालत में असंलग्नता की नीति का अनुसरण करेगा। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि असंलग्नता की नीति के परित्याग के लाभ और स्पष्ट कारण अभी सामने नहीं हुए हैं।

सदा एक और भी कारण था। असंलग्नता एक ऐसी नीति थी जिसको भारत के प्राय सभी राजनीतिक दलों ने स्वीकार कर लिया था। देश में पश्चिमी गुट के समर्थक भी थे और विरोधी भी। इसी प्रकार साम्यवादी गुट के समर्थक और विरोधी भी थे। वे सब भारत की विदेश नीति की आलोचना करते थे, किन्तु साफ साफ शब्दों में कोई दूसरा विकल्प नहीं बतलाते थे। उनमें से कोई यह नहीं कहता था कि अमुक गुट में भारत को शामिल हो जाना चाहिए। वे लोग असंलग्नता की नीति को न चाहते हुए भी उसका समर्थन करते थे। अधिक से अधिक उनका विरोध इसी बात पर केन्द्रित होता था कि अमुक घटना या संकट के सम्बन्ध में असंलग्नता की नीति का पालन उचित रूप से नहीं हुआ।

इस स्थिति में यदि असंलग्नता की नीति का परित्याग कर दिया जाता तो देश में राजनीतिक मतभेद पैदा हो जाने का खतरा पैदा हो जाता। हमारे समक्ष पहले से ही देश की राष्ट्रीय एकता को क्षीण करने वाली अनेकानेक समस्याएँ थीं। असंलग्नता की नीति छोड़ देने से उन समस्याओं में एक और की वृद्धि हो जाती। इससे देश की कमजोरी बढ़ती और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारे सम्मान को धक्का लगता। किसी भी देश की विदेश नीति के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय जगत में तब सम्मान प्राप्त होता है जब उसका समर्थन उस देश की पूरी जनता करती है। वर्तमान देश की विदेश नीति की सफलता इसी तथ्य में निहित है। देश की जनता का जितना अधिक समर्थन होगा उतनी ही शक्तिशाली वह विदेश नीति होगी। इस दृष्टि से भारत की असंलग्नता की विदेश नीति राष्ट्रीय मानी जाती रही। इस समय इसका परित्याग करने से राष्ट्र कमजोर हो जाता। गठबन्धन में सम्मिलित होने से हमारी विदेश नीति राष्ट्रीय न रहकर दलगत बन जाती। एक समय में जब भारतीय राजनीति में विचारधाराओं का ध्रुवीकरण (polarisation) हो रहा था, असंलग्नता की नीति का परित्याग करना एक भयंकर स्थिति को उत्पन्न करना होता जो राष्ट्र को कमजोर बनाने के सिवा कुछ और नहीं कर सकता था।

असंलग्नता की नीति का मूल्यांकन

भारतीय विदेश नीति का मुख्य सिद्धान्त असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता की नीति प्रारम्भ से ही प्रशंसा और निन्दा दोनों का पात्र रही है। इसके प्रशंसकों का कहना था कि सैनिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

उनके साथ सम्पर्क में योग कायम करना तथा विश्व शांति कायम रखने में सक्रिय योग देना था। ये तथ्य इस काल में भी उतने ही महत्त्वपूर्ण थे जितने आठ दस वर्ष पहले थे। बदली हुई परिस्थिति में भी इनका महत्त्व किसी तरह कम नहीं हुआ था। यद्यपि पश्चिमी एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया की स्थिति अत्यन्त नाजुक थी जिसका प्रभाव भारत पर भी अनिवार्य रूप से पड़ा फिर भी भारत ने इन क्षेत्रों में स्थायी शांति की स्थापना या इन समस्याओं के राजनीतिक समाधान के लिए कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के बेलग्रेड सम्मेलन (1961) में पण्डित नेहरू ने कहा था 'विश्व में जब कोई संकट पैदा हो जिसके कारण शांति खतरे में पड़ जाय उस समय केवल यही स्थिति कि हम गुट निरपेक्ष हैं हमें सक्रिय होने को प्रेरित करेगी। यह स्थिति ही हमें बाध्य करेगी कि हम शांति के साथ खड़े रहना है क्योंकि युद्ध छिड़ जाने पर उसके प्रभाव से हम बच नहीं सकते।'

भारत की विदेश नीति में इस तरह की विभाजनकारी स्थिति आने का एक कारण था। इसमें शुरू से ही स्पष्टता और तर्क का अभाव रहा और यह विशेषकर एक व्यक्ति के आदर्शों और विचारों से अधिक प्रभावित रही। फलतः इसमें वास्तविकता की उपेक्षा की गयी। असंलग्नता तथा उपनिवेशवाद का विरोध करना भारतीय विदेश नीति के दो प्रमुख मौलिक तत्त्व थे और इन्हीं तत्त्वों को विश्व की विभिन्न घटनाओं के सम्बन्ध में विविध स्तर पर लागू किया जाता था। भारतीय विदेश नीति की यह एक बहुत बड़ी कमजोरी थी और इस कारण ने इस विदेश नीति के प्रति [illegible] दृष्टिकोण [illegible] था।

किसी भी देश की विदेश नीति की सफलता अंतिम विश्लेषण में उस देश की आर्थिक और सैनिक स्थिति पर निर्भर करती है।[1] इस तथ्य को स्वयं पण्डित नेहरू ने स्वीकार किया था। यद्यपि आर्थिक और सैनिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी भारत ने पर्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति हासिल की लेकिन विश्व राजनीति को निर्णायक रूप से प्रभावित करने और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य तत्त्व बनाने के लिए आर्थिक और सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली होना आवश्यक है। भारत के नीति निर्धारक इस तथ्य से अपनी आँख नहीं चुरा सकते थे। यह तथ्य था अन्न और आर्थिक मामले में देश की असमर्थता। जब तक यह असमर्थता बनी रही तब तक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मसले पर हम अपने उन दाताओं की बात चाहकर या अनचाहे मानना ही पड़ी जो जरूरत के समय भिक्षापात्र में थोड़ा बहुत दान और [illegible] डालते रहते थे।

1 Ultimately foreign policy is the outcome of economic policy and until India has properly evolved her economic policy her foreign policy will be rather vague incoherent and will be groping It is well for us to say that we stand for peace and freedom and yet that does not convey much to anybody except a pious hope —Nehru in Constituent Assembly (Dec 4 1947) Quoted in Ronald Segal *The Crisis of India* p 272

असंलग्नता की नीति का अन्त
(End of Non alignment)

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति—जब से भारत स्वतंत्र हुआ तब से उसकी विदेश-नीति का मूल आधार गुट निरपेक्षता या असंलग्नता का सिद्धान्त रहा। भारत पर कई तरह के दबाव समय-समय पर पड़े ताकि वह इस नीति का परित्याग कर दे लेकिन अत्यन्त मुसीबत की घड़ी में भी भारत ने इस नीति का परित्याग नहीं किया। देश के अन्दर कुछ दिनों से यह माँग की जा रही थी कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत अकेला पड़ता जा रहा है और इस अकेलेपन को दूर करने के लिए असंलग्नता की नीति का परित्याग होना चाहिए। यह भी कहा जाता रहा कि समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता की नीति का कोई औचित्य नहीं रह गया है। इस नीति का निर्धारण उस समय में किया गया था जब दुनिया स्पष्टतया दो गुटों में बंटी हुई थी। लेकिन 1960 के बाद से गुटबन्दियों की विभाजन रेखा मिटती गयी है और संसार के प्रमुख देश नये किस्म की गुटबन्दी में संलग्न हैं। ऐसी स्थिति में 1946-47 में निर्धारित की गयी नीति का परित्याग होना चाहिए। लेकिन इन माँगों तथा अनेकानेक राजनयिक दबावों के बावजूद भारत सरकार अपने सिद्धान्त पर डटी रही और उसने असंलग्नता की नीति को नहीं छोड़ा।

लेकिन 1965 के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जैसे-जैसे दुनिया में इण्डिया का महत्त्व घटता गया वैसे-वैसे इस बदली हुई नवीन परिस्थिति में असंलग्नता की नीति को कायम रखने के औचित्य पर सन्देह किया जाता रहा। 1971 के मध्य में दो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं। चीन के साथ अमरीकी सम्बन्ध कायम करने के लिए राष्ट्रपति निक्सन की चीन-यात्रा की घोषणा हुई। उसी समय पूर्वी पाकिस्तान में बंगलादेश की स्थापना को लेकर स्वतंत्रता संघर्ष शुरू हुआ। इन दोनों घटनाओं ने भारतीय विदेश-नीति को बहुत अधिक प्रभावित किया। इधर कुछ दिनों से भारत की विदेश नीति चीन की कमजोर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर आश्रित थी। अतः चीन अमरिका के मिलाप से चीन की स्थिति बहुत ऊँचा उठने की सम्भावना हो गयी। इसलिए भारत को अपनी नीति पर पुनर्विचार करना था। इसी बीच पूर्व पाकिस्तान में गृह-युद्ध छिड़ा और स्वतंत्र बंगलादेश की स्थापना हुई। भारत की सहानुभूति बंगालियों के साथ थी। पश्चिम पाकिस्तान की सेना ने बंगला देश के निवासियों पर घोर अत्याचार किये और वहाँ भयानक नरसंहार हुआ। लाखों-लाख विस्थापित भाग कर भारत आए। भारत ने प्रयास किया कि संसार के अन्य देश इस का पक्ष लेकर पश्चिम पाकिस्तान के शासकों पर दबाव डालकर बंगला देश की समस्या के समाधान में सहायता करें। लेकिन किसी सूत्र से भारत को सहयोग नहीं मिला। उल्टे पाकिस्तान ने धमकी दी कि वह भारत के विरुद्ध युद्ध छेड़ देगा। पाकिस्तान को चीन तथा अमरिका के समर्थन का आश्वासन भी था।

भारत-सोवियत संधि के बाद अधिकतर सार्वजनिक वाद-विवाद इसी प्रश्न पर केन्द्रित हो गया। क्या यह संधि भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति से मेल खाती है? क्या इसके द्वारा इस नीति पर अतिक्रमण हुआ है? इसका एक कारण यह था कि गुटनिरपेक्षता के सम्बन्ध में हमारी यह धारणा हो गयी थी कि यह एक नीति नहीं वरन् एक सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में भारतीय अधिकारियों के लिए इस स्थिति का खण्डन करना कठिन हो गया। वे इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे कि संधि से इस नीति पर किसी तरह का आघात पहुँचा है। इसलिए वे निरन्तर यह [illegible] रहे कि संधि उस तटस्थता की नीति के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। लेकिन सत्य तो यह है कि भारत-सोवियत संधि ने पहले-पहल ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिसमें भारत यह नहीं कह सकता कि वह महाशक्तियों के दाँवपेंच से अलग है। वस्तुतः इस वक्त इस दाँवपेंच में सक्रिय भाग लेता है।

अध्याय 4

भारत और विश्व-शान्ति

(India and World Peace)

भारत के लिए शांति की आवश्यकता—स्वतन्त्र होने के बाद भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता विश्व शांति की थी। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण था। सदियों के साम्राज्यवादी शोषण के परिणामस्वरूप भारत की आर्थिक दशा अत्यन्त खराब हो चली थी। सम्पूर्ण देश में गरीबी भुखमरी और बीमारी का राज्य था। इस अवस्था को दूर करने के लिए बृहत पमाने पर भारत को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य करना था। 15 अगस्त 1947 को भारत केवल राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हुआ था आर्थिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्रता प्राप्ति का महान कार्य अब उसके सामने आया था। फिर आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता भी व्यर्थ थी। विश्व राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए भी देश को आर्थिक दृष्टिकोण से आत्म निर्भर बनाना था। यह सारा उद्देश्य आर्थिक पिछड़ेपन का अन्त तथा देश के आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य करके ही पूरा हो सकता था।

भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य शांति के वातावरण में ही संभव था। किसी भी पिछड़े देश के लिए विश्व में शांति का कायम रहना आवश्यक है। अतएव विश्व शान्ति के मार्ग से सभी विघ्न बाधाओं को हटाना भारतीय विदेश नीति का एक मुख्य लक्ष्य हो गया। विश्व शांति भारत के लिए न केवल अपेक्षित आशा था वरन् एक गम्भीर आवश्यकता भी थी। के० एम० पाणिक्कर ने ठीक ही कहा था यदि समय मिले तो भारत के लिए स्वयमेव अपने ढंग से विश्व शक्ति बनने का पूरा अवसर है। भारत को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव जाति की उन्नति को संकट में डालने वाला कोई युद्ध न हो।

गरीबी और विकासशील राष्ट्र पर युद्ध का कितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है इसका अनुभव भारत को कई अवसरों पर हुआ। 1956 में स्वेज नहर का संकट जो युद्ध हुआ वह अल्पकालीन हो था लेकिन उसने भारत की पंचवर्षीय योजना पर गहरा असर डाला। 1962 के भारत चीन और 1965 के भारत-पाकिस्तान संघर्षों ने भारतीय आर्थिक व्यवस्था को झकझोर दिया। फिर 1967 के अरब इजरायल युद्ध के कारण स्वेज नहर के बन्द हो जाने से एक बार फिर भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इन सारी बातों ने स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के परिणामों से चाहे वह युद्ध कहीं हुआ हो कोई देश बच नहीं सकता। अतएव भारत के लिए केवल यही आवश्यक नहीं था कि वह स्वयं युद्ध से बचने का

यथासम्भव प्रयास करे उसको ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सृजन में भी योगदान देना था ताकि विश्व के किसी कोने में युद्ध की नौबत नहीं आये। इन सारी बातों पर ख्याल करते हुए 12 जून 1945 को श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसी भीषण आपत्ति (तृतीय महायुद्ध जैसी) को घटित होने से रोकें दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति ऐसी स्थिति बनाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो हम इसे रोकने में समर्थ हो सकें। मैं यह चाहता हूँ कि एशिया में ऐसे देशों का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाए निश्चय करें कि चाहे युद्ध भी हो जाय वे युद्ध में सम्मिलित नहीं होंगे। मैं चाहता हूँ कि ये देश युद्ध भी घटित होने पर शान्ति रखें रण क्षेत्र में प्रवेश न करें अन्य प्रदेशों में होने वाले युद्ध के क्षेत्र को सीमित करें अपने प्रदेश की रक्षा करें और दूसरों के प्रदेश को सुरक्षित बनाने का प्रयत्न करें।

ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता के बाद विश्व शान्ति की स्थापना के लिए सदैव तत्पर रहना और इस महान कार्य में योगदान करना भारतीय विदेश नीति का एक मूल तत्त्व हो गया। अपनी विदेश नीति का निर्धारण भारत ने इस तरह करना शुरू किया ताकि विश्व की शान्ति भंग न हो। इसलिए भारतीय विदेश नीति को कभी कभी शान्ति की नीति भी कहा गया है।

शीत युद्ध के प्रति भारतीय दृष्टिकोण:—द्वितीय विश्व युद्ध के तुरत बाद और भारतीय स्वतन्त्रता के पहले संसार दो परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त हो चुका था तथा अमेरिकी गुट एवं सोवियत गुट के मध्य शीत युद्ध हो चुका था। दोनों गुट एक-दूसरे की जान के प्यासे हो गये थे। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि इनके बीच किसी भी क्षण युद्ध छिड़ सकता है। दोनों गुट अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए हर सम्भव उपाय का अवलम्बन कर रहे थे। उनका ध्यान विशेषकर एशिया के नवोदित राष्ट्रों पर था जिनको अपने गुट में मिलाने के लिए वे तरह तरह से दबाव डाल रहे थे। यह समस्या भारत के समक्ष भी उपस्थित हुआ। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भारत क्या करे यह एक गम्भीर प्रश्न था लेकिन विश्व शान्ति को ध्यान में रखते हुए भारत ने अपना जो दृष्टिकोण निश्चित किया वह इस प्रकार था—यदि भारत किसी गुट में शामिल होकर शीत-युद्ध में साझेदार बन जाता है तो इसका परिणाम एशिया की स्थिति को विषम और तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना को और मजबूत करना होगा। अतः एव भारत ने गुटों से अलग रहने की नीति का अवलम्बन करने का निश्चय किया। उसका विचार था कि भारत गुटों से अलग रहकर शीत-युद्ध के दायरे को सीमित करेगा और ऐसी स्थिति का सृजन करेगा जो शान्ति के लिए अनुकूल हो। गुटों से पृथक रहने की असंलग्नता की भारतीय नीति मुख्य रूप से शान्ति को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से अपनाया गया था। भारत के राष्ट्रीय हित में यह अनिवार्य था।

परस्पर विरोधी शक्तियों के मध्य सेतुबन्ध का काम—केवल गुटों से पृथक रहने की नीति से ही शान्ति सुरक्षित नहीं रह सकता है। भारत इस बात का

भलीभाँति जानता था और इसलिए शांति के रक्षार्थ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका भी अदा की। वस्तुत भारत की विदेश-नीति ने विश्व में परस्पर विरोधी गुटों के मध्य सेतु का काम (Maintenance of balance between power blocs) किया है। असंलग्नता की नीति और शांतिपूर्ण तथा मैत्री का लक्ष्य होने के कारण भारत को इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता रहा है। सैनिक और आर्थिक दृष्टि से भारत विश्व का एक कमजोर राष्ट्र है। फिर भी वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में दोनों गुटों की शक्ति का लगभग सन्तुलन होने के कारण विविध अंतर्राष्ट्रीय विवादों में मध्यस्थता का काम करने की दृष्टि से भारत की स्थिति अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। कोरिया हिन्दचीन आदि की समस्याओं को सुलझाने में भारत ने शांति-दूत का काम जिस सफलता के साथ किया उसकी प्रशंसा दोनों ही गुटों द्वारा की गयी है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में और उसके बाहर स्वतंत्र अपनी विवेक बुद्धि के आधार पर एक स्वतंत्र नीति का अनुसरण किया है। इसीलिए जहाँ भारत ने पाश्चात्य राष्ट्रों की नीतियों का उचित होने पर समर्थन प्रदान किया है वहाँ अनुचित होने पर उनका विरोध भी किया। उसका यही दृष्टिकोण साम्यवादी राष्ट्रों के प्रति भी रहा है। जहाँ स्वेज पर ब्रिटेन फ्रांस और इजरायल का आक्रमण भारत की निंदा का विषय रहा है वहाँ हंगरी में सोवियत रूस के हस्तक्षेप को भी भारत ने अनुचित बताया है। कोरिया में आक्रमण की स्थिति पैदा होने पर भारत ने उसकी निंदा की थी लेकिन साथ ही यह भी चेतावनी दी थी कि दक्षिण कोरिया की सहायता करनेवाली संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजों को 38 अक्षांश रेखा के उत्तर में नहीं बढ़ना चाहिए। कोरिया के मामले में भारत की स्वतन्त्र नीति ने जान फास्टर डलेस जैसे मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को भी चक्कर में डाल दिया था क्योंकि इसमें भारत ने पहले उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कार्यवाही में संयुक्त राज्य अमरिका का साथ दिया बाद में चीन को आक्रामक घोषित करने के प्रस्ताव पर अमेरिका का समर्थन नहीं किया और मई 1951 में चीन को सामरिक सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगानेवाले प्रस्ताव पर भारत तटस्थ रहा।

समस्त देशों के साथ मैत्री का सम्बन्ध—विश्व में शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए भारत इस बात को आवश्यक समझता है कि संसार के सभी देशों के बीच मैत्री भाव रहे। यदि सभी देश आपस में मैत्री की भावना से आबद्ध रहेंगे तो युद्ध की स्थिति आने की सम्भावना नहीं रहेगा। इसी भावना से प्रेरित होकर भारत ने अधिक से अधिक देशों के साथ मित्रता की संधियाँ की हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय संधियाँ निम्नलिखित हैं 14 अगस्त 1948 को भारत स्विट्जरलैंड मैत्री संधि 4 जनवरी 1950 का भारत अफगानिस्तान शांति-संधि 31 जुलाई 1950 का भारत नेपाल मैत्री संधि 5 दिसम्बर 1950 को भारत सिक्किम मैत्री संधि 3 मार्च 1951 को भारत इंडोनेशिया मैत्री-संधि 5 मार्च 1951 को भारत बरमा मित्रता संधि, 14 दिसम्बर 1951 को भारत-तुर्की मित्रता संधि 9 जून 1952 को भारत-जापान

शान्ति-सन्धि 11 जुलाई 1952 की भारत-फिलीपाइन्स मित्रता सन्धि 10 नवम्बर, 1952 की भारत-इराकी मित्रता सन्धि 15 मार्च 1953 की भारत नेपाल मित्रता सन्धि तथा 6 अप्रैल 1955 की भारत मिस्र मित्रता सन्धि। इस सम्बन्ध में जवाहर लाल नेहरू ने एक बार ठीक ही कहा था "मेरा यह विचार है कि इस विशाल विश्व में कोई ऐसा देश नहीं है जिसके साथ हमारे सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण हों। हम अपने आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्धों के कारण कुछ देशों की ओर विशेष रूप से अवश्य आकृष्ट हैं लेकिन मौलिक रूप से हम सबके मित्र हैं।" वस्तुतः पाकिस्तान, रंगभेदी चीन, पुर्तगाल और दक्षिण अफ्रिका को छोड़कर भारत का विश्व के सभी देशों के साथ अत्यन्त मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा है।

सैन्य संगठनों के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

सैन्य संगठनों की उत्पत्ति—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर बना तो उसकी 52वीं धारा में प्रादेशिक सैन्य-संगठनों (Regional military alliances) को मान्यता दी गयी। इसमें कहा गया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को स्थापित रखने के लिए ऐसे प्रादेशिक संगठनों और अभिकरणों की स्थापना की जा सकती है जो चार्टर में सन्निहित उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों से मेल खाते हों।

चार्टर की यह व्यवस्था किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं प्रतीत होती। इसके कई कारण थे। एक तो ये शीत-युद्ध के परिणाम थे और फिर कई तरह से इन्होंने शीत युद्ध को प्रभावित करके अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ाया था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्त्व को कम कर दिया था। उसके बाद इन्होंने अनेक रूप से मातृ-संस्था पर आक्रमण कर दिया था और अनेक ऐसे कार्य इन्होंने स्वयं किये जो कि मूलतः संयुक्त राष्ट्रसंघ को सौंपे गये थे। विश्व शान्ति कायम रखने के लिए 1919 में ही शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया गया था लेकिन इन सैन्य-संगठनों ने शक्ति-सन्तुलन के इस पुराने और असफल सिद्धान्त को फिर से एक नया जीवन प्रदान कर दिया।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सैन्य संगठनों की स्थापना के आन्दोलन का सूत्रपात करने का श्रेय ब्रिटिश राजनीतिज्ञ विंस्टन चर्चिल को दिया जाता है। 1946 में अमरिका के फुल्टन नामक नगर में इस वयोवृद्ध राजनेता का एक ऐतिहासिक भाषण हुआ जिसमें उसने लौह आवरण (Iron curtain) को सीमित करने तथा कम्युनिज्म के प्रसार को रोकने के लिए हर सम्भव उपायों का अवलम्बन करने का आग्रह किया। अमरिका में शीत-युद्ध के महारथियों ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया। 11 जून 1948 को अमरिका के सीनेट ने वैंडनबर्ग का एक प्रस्ताव चौंसठ के विरुद्ध चार मतों से स्वीकार कर लिया जिसमें कहा गया था कि संयुक्त राज्य "निरन्तर एवं प्रभावपूर्ण आत्मनिर्भरता एवं पारस्परिक सहायता के आधार पर व्यक्तिगत एवं सामूहिक आत्मरक्षा के लिए प्रादेशिक और सामूहिक संगठनों" को क्रमिक रूप से विकसित करने का प्रयास करे। फलस्वरूप पिछले वर्षों में इस प्रकार के संगठनों और समझौतों की बाढ़ आ गयी है। सर्वप्रथम 4 अप्रैल 1949 को संयुक्त राज्य अमरिका, कनाडा और

पश्चिमी यूरोप के दस राज्यों (बेल्जियम डेनमार्क फ्रांस आयरलैंड इटली लक्जमबर्ग हॉलैंड पुर्तगाल ग्रेटब्रिटेन और नार्वे) ने एक बीस वर्षीय संधि पर हस्ताक्षर करके उत्तर एटलांटिक संघ संगठन (North Atlantic Treaty Organisation NATO) को जन्म दिया। (फरवरी 1952 में यूनान और तुर्की और मई, 1955 में पश्चिमी जर्मनी भी इस संगठन में शामिल हो गये) इस संगठन का उद्देश्य पश्चिम यूरोप में सोवियत संघ के तथाकथित विस्तार को रोकना है और इस क्रम में सामरिक कार्रवाई करने की भी व्यवस्था है। 1 सितम्बर 1951 को आस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड तथा संयुक्त राज्य अमरिका को मिलाकर एक दूसरी सुरक्षा संधि कायम हुई जिसको आन्जस पैक्ट (Anzus Pact) कहते हैं। नाटो के विरोध में पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों को मिलाकर सोवियत संघ ने जो संगठन कायम किया उसको वारसा पैक्ट (Warsaw Pact) या पूर्वी यूरोपीय संधि संगठन कहते हैं। 1953 में चर्चिल ने कम्युनिस्ट चीन के विरुद्ध दक्षिण पूर्व एशिया के लिए नाटो जैसा एक संगठन का प्रस्ताव रखा। हिन्द-चीन को जनता के अन्त होने तथा 1954 के जेनेवा समझौते के उपरान्त संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस क्षेत्र के लिए भी एक संगठन का निर्माण कर डाला जिसको मनीला पैक्ट या दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन (South East Asia Treaty Organisation SEATO) कहा गया। इस संगठन में आस्ट्रेलिया फ्रांस ब्रिटेन न्यूजीलैंड पाकिस्तान फिलिपाइन्स थाईलैंड और संयुक्त राज्य अमरिका शामिल हुए। अमरिका और ब्रिटेन की प्रेरणा और निर्देशन से पश्चिम एशिया के कुछ राज्यों को मिलाकर 1955 में बगदाद संधि की स्थापना की गयी। 1958 में बगदाद संधि के केन्द्र इराक में सैनिक क्रान्ति के कारण इस संधि की अकाल मृत्यु हो गयी। अतएव बाद में उसकी जगह पर 1959 में केन्द्रीय संधि संगठन (Central Treaty Organisation CENTO) की स्थापना हुई।

विश्व राजनीति पर सैन्य संगठनों का प्रभाव—इस प्रकार युद्धोत्तर विश्व में सैन्य संगठनों की एक बाढ़-सी आ गयी। आश्चर्य तो यह है कि सारी संधियाँ तथा और संयुक्त राष्ट्र चार्टर के नाम पर की गयी हैं। इनके औचित्य को स्थापित करने के लिए हमेशा चार्टर की 51वीं और 52वीं धारा का हवाला दिया जाता है लेकिन वास्तव में यह चार्टर के सिद्धान्तों के विपरीत है और शक्ति-संतुलन के प्राचीन और व्यर्थ सिद्धान्त को पुनः एक नया जीवन मिला है। चार्टर ने तो अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् पर सौंपा था और सुरक्षा परिषद् कायम है। फिर उसके ऊपर दर्जनों सुरक्षा परिषदों का निर्माण करने की क्या आवश्यकता है? इन संगठनों का अस्तित्व संयुक्त राष्ट्रसंघ की शक्ति को क्षीण करता है। ये शान्ति का सुदृढ़ करने वाले नहीं वरन् युद्ध को निमन्त्रण देनेवाले होते हैं। इससे संयुक्त राष्ट्रसंघ के विराम की समस्त सम्भावनाओं को नष्ट कर दिया है।

इसके अतिरिक्त सैनिक गुटबन्दियाँ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान नहीं है। उनकी उपस्थिति ही युद्ध के दूषित वातावरण को तैयार करती और समस्याओं को

एक ऐसी चाल है जो किसी न किसी रूप में बड़ी शक्तियों का प्रभाव क्षेत्र की पुरानी विचारधारा के निकट है। श्री कृष्णमेनन के मतानुसार यह सुरक्षा का क्षेत्रीय संगठन नहीं है वरन ऐसे विदेशी लोगों का संगठन है जिन्हें इस क्षेत्र में अपने हितों की सुरक्षा करनी है। जवाहरलाल नेहरू ने इसे एक प्रकार का मुनरो सिद्धान्त (Munroe Doctrine) माना जिसको दक्षिण-पूर्वी देशों पर जबरदस्ती थोपा गया है। भारतीय दृष्टि में यह पुराने उपनिवेशवाद का आधुनिक संस्करण है।

सिआटो संधि के प्रति भारत के विरोधी रुख का एक कारण यह भी है कि मार्च 1956 में कराँची में आयोजित सिआटो परिषद की बैठक में पाकिस्तान की प्रेरणा से परिषद् ने अपनी विज्ञप्ति में कश्मीर समस्या का उल्लेख करते हुए उसके शीघ्र निपटारे की आकांक्षा प्रकट की थी। यह भारत और उसकी कश्मीर-नीति की निन्दा थी। भारत ने इस बात की कड़ी आलोचना की। इस सम्बन्ध में आपत्तिजनक बात यह थी कि सिआटो ने एक गैर सदस्य देश के झगड़े के बारे में उल्लेख किया है और वह भी ऐसे समय में जब दूसरे पक्ष को समस्या पर अपना दृष्टि बिन्दु रखने का मौका नहीं दिया गया था।

सेंटो का विरोध—सिआटो की तरह भारत ने सेंटो संधि का भी विरोध किया। इस विरोध के भी कई कारण थे। सर्वप्रथम इससे अरब राष्ट्रों की एकता पर आघात पहुँचता था। दूसरे यह पश्चिम एशिया के मध्यकालीन सामन्तवादी राज्यों के संगठनों का मजबूत बना रहा था लेकिन भारतीय दृष्टिकोण से इस संगठन का सबसे कड़ा विरोध इसलिए हुआ कि इसने पश्चिम एशिया के लिए अवांछनीय स्थिति पैदा कर दी जिसका भारत पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। सेंटो या बगदाद संधि में शामिल होनेवाले राज्यों का उद्देश्य एक नहीं था। इसके तीन सदस्य ब्रिटेन, तुर्की और संयुक्त राज्य अमेरिका इसे सोवियत आक्रमण के विरुद्ध एक आधार मानते थे। इसके दो अन्य सदस्य इराक और पाकिस्तान इजरायल और भारत के विरुद्ध अपनी मनोकामना की पूर्ति का साधन मानते थे। भारतीय नेताओं का कहना था कि पाकिस्तान सेंटो में सोवियत संघ का विरोध करने के लिए नहीं शामिल हुआ। वह कश्मीर के प्रश्न पर सबल आधार पर भारत के साथ बातचीत करने के उद्देश्य से ही इसमें शामिल हुआ है। भारतीय दृष्टिकोण से पाकिस्तान का सिआटो या सेंटो में शामिल होना भारत के लिए उतनी ही चिन्ता का विषय था जितना कि ग्वाटेमाला का वारसा संधि में सम्मिलित होना अमेरिका के लिए हो सकता था।

भारतीय विरोध के अन्य कारण—सैन्य संगठनों को भारतीय नेता एशिया की पूर्ण मुक्ति की दिशा में एक मुख्य बाधक तत्त्व मानते रहे। इससे एशियाई देशों को संगठित करने के प्रयास को धक्का लगा। उनका कहना था कि सैन्य संगठनों का सदस्य होने के नाते सहायता प्राप्त करनेवाले राष्ट्र में हीन भावना और सहायता देने वाले राष्ट्र में अहम्मन्यता तथा अधिकार की भावना पैदा होती है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भारतीयों का विश्वास था कि बड़े तथा राष्ट्रों और उनके संपूर्ण पिछलग्गुओं के

बीच सैनिक गठबन्धन का कोई अर्थ नहीं है। किसी भी हालत में यह समानता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं हो सकता।[1] लेकिन भारत द्वारा सैन्य सन्धियों के विरोध का सर्वोपरि कारण यह था कि वह इन्हें विश्व शान्ति के लिए खतरनाक मानता था। शान्ति की आवश्यकता ने भारत को इन सन्धियों का विरोध करने के लिए बाध्य किया।

निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर भारतीय दृष्टिकोण

राष्ट्रों के बीच हथियारबन्दी की होड़ विश्व शान्ति के लिए बड़ा खतरनाक होता है। दो विश्व युद्धों का यह मुख्य कारण था। अतएव द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हथियारबन्दी (Armament race) को रोकने या सीमित करने का निश्चय किया गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यह समस्या पहले की अपेक्षा अधिक गम्भीर बन गयी थी। इस युद्ध के पूर्व हथियारबन्दी की समस्या परम्परागत शस्त्रास्त्रों (Conventional weapons) तक ही सीमित थी लेकिन युद्ध के बाद राष्ट्रों के शस्त्रागार में एक नये भयानक अस्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। परमाणु बम के आविष्कार ने समस्या को अत्यन्त जटिल बना दिया। अतएव निरस्त्रीकरण की समस्या पर तत्काल ध्यान देना आवश्यक था। युद्ध के बाद यह काम संयुक्त राष्ट्रसंघ के जिम्मे सौंपा गया और निरस्त्रीकरण के लिए बहुमुखी प्रयास किये जाने लगे।

विश्व शान्ति की दृष्टि से भारत निरस्त्रीकरण को परम आवश्यक मानता था। अतएव निरस्त्रीकरण के लिए किये जानेवाले प्रयासों में उसने अपना सक्रिय योगदान देने का निश्चय किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर भारत ने समय समय पर महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे। 1958 की साधारण सभा के तेरहवें अधिवेशन में भारत ने दो प्रस्तावों पर बल दिया (1) समझौता होने की अवधि तक परमाणविक आयुधों के परीक्षण तुरत बन्द किये जाय और (2) आकस्मिक आक्रमणों को बन्द करने की सम्भावना के प्रश्न पर विचार किया जाय। भारत के निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में समझौता होने तक परमाणविक विस्फोट बन्द रखने का सुझाव साधारण सभा द्वारा भारी बहुमत से स्वीकार किया गया और अमरिका सोवियत संघ तथा ब्रिटेन द्वारा काफी समय तक इसका पालन भी किया गया। 1961 में ग्यारह राष्ट्रों का एक

---

1 इस बात को स्पष्ट करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा। मान लीजिए कि किसी एक देश का किसी दूसरे देश के साथ सैनिक गठबन्धन है तो वह उस सीमा तक आबद्ध होता है कि यदि असहमत भी हो तो उसे तथाकथित सामान्य हितों के कारण वरिष्ठ भागीदार की नीति का अनुसरण करना पड़ता है। गठबन्धन से न केवल भारतीय स्वतन्त्रता नियन्त्रित हो जायगी वरन ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें भारतीय हितों की उपेक्षा की जाने लगेगी। भारतीयों का यह विचार है कि किसी गुट में सम्मिलित होने का यह अर्थ है कि किसी गुट की नीति पर चलना न कि किसी मुक्त या स्वतन्त्र देश की नीति पर। भारतीयों के अनुसार गठबन्धन की स्थिति में कमजोर राष्ट्र को कहना पड़ता कि मेरा मित्र ही सब कुछ है चाहे वह सही हो या गलत।

निरस्त्रीकरण आयोग (Disarmament Commission) की स्थापना हुई। भारत को भी इसका एक सदस्य बनाया गया। जनेवा में होनेवाले इस आयोग के सम्मेलनों में आज भी भारत प्रमुख रूप से भाग ले रहा है।

आंशिक परमाणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि और भारत—1963 में परमाणविक निरस्त्रीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण घटना घटी जब 25 जुलाई को ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ ने इस सम्बन्ध पर एक समझौता कर लिया। आंशिक परमाणविक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (Partial Nuclear Test Ban Treaty) के द्वारा बाह्य आकाश वायुमण्डल तथा जल के भीतर सब परमाणविक परीक्षण बन्द करने का निश्चय किया गया। भू-गर्भ परीक्षण पर रोक लगाने के सम्बन्ध में समझौता नहीं हो सका। यद्यपि भारत स्वयं एक परमाणविक शक्ति नहीं था लेकिन शान्ति के दृष्टिकोण से उसने इस सन्धि का स्वागत किया तथा इसके प्रति आभार उत्साह का प्रदर्शन करते हुए इस पर हस्ताक्षर कर दिया। चीन और फ्रांस ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया तो भारतीय नेताओं ने उनकी बड़ी आलोचना की।

1968 का परमाणु शक्ति निरोध सन्धि और भारत—शुरू में केवल अमरिका को ही परमाणविक आयुधों पर एकाधिकार था। बाद में ब्रिटेन और सोवियत संघ ने भी इन आयुधों को तैयार कर लिया। फिर फ्रांस की बारी आयी और 1964 में चीन ने भी अपने प्रथम अणुबम का विस्फोट किया। इस प्रकार 1964 के अन्त होते होते परमाणविक सम्पन्न देशों की संख्या पाँच हो गयी। अतएव परमाणविक आयुधों के प्रसार पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए साधारण सभा में विचार हुआ और जब संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ में इस बात पर समझौता हो गया तो एक परमाणविक आयुध प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि (Nuclear Non-Proliferation Treaty) का एक मसविदा तैयार हुआ। 1968 ई० में कई देशों ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि निरस्त्रीकरण की दिशा में यह परमाणविक आयुध प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। अगस्त 1963 के परमाणविक प्रतिबन्ध विषयक सन्धि के बाद निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में यह एक दूसरा ऐतिहासिक कदम था जिसके फलस्वरूप निरस्त्रीकरण की अन्य गुत्थियों के समाधान की सम्भावना बढ़ गयी थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से भी इस सन्धि का महत्व कम नहीं था। यह सन्धि इसलिए सम्भव हो सकी कि इसके लिए सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों ने मिल जुलकर प्रयास किया। इस बात से तथ्य की पुष्टि होती थी कि यदि दो महान् शक्तियाँ आपस में मिल जुलकर काम करें तो विश्व की सारी कठिन समस्याएँ सुलझायी जा सकती हैं। वस्तुतः ऐसा ही देखा गया। यह भली भाँति समझा जाने लगा था कि परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की संख्या जितनी अधिक होती जायगी परमाणु अस्त्रों द्वारा संसार को विनाश के कगार तक पहुँचाने

की सम्भावना उतनी ही बढ़ती जायगी। इस स्थिति में परमाणु अस्त्रों के प्रसार को रोकना आवश्यक माना जाने लगा। 1945 में अमरिका का महान परमाणु शक्ति से अपने बचाव का केवल एक रास्ता सोवियत संघ को दिखाया पड़ा था। वह रास्ता था स्वयं परमाणु शक्ति-सम्पन्न हो जाने का। अब स्थिति यह थी कि वह अमरिका के साथ कदम से कदम मिलाकर दुनिया के दूसरे परमाणु शक्ति-सम्पन्न अथवा परमाणु शक्ति विहीन देशों को घर घार कर परमाणु-शक्ति सर्वथा एक सन्धि पर दस्तखत कर देने को बाध्य कर रहा था। इसका कारण था कि अब स्थिति बदल चुकी थी। परमाणु अस्त्रों का आगार केवल अमरिका और सोवियत संघ के पास नहीं रह गया था। दूसरे देश भी इस शक्ति से धनी हो चुके थे। यही वजह थी कि सोवियत संघ और अमरिका दोनों परमाणु अस्त्रों के उत्पादन और प्रसार पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रबल समर्थक हो गये।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सन्धि त्रुटिरहित था। इस सन्धि में तो एक ओर यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि जो राष्ट्र अबतक परमाणु बम नहीं बना पाये थे वे भविष्य में भी कभी नहीं बनायेंगे और दूसरी ओर अणु आयुध के आक्रमण से उन्हें बचाने के लिए जो आश्वासन दिया गया वह यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से आक्रान्त देशों को अणु-आयुध से सहायता की जायगी और इसका निर्णय सुरक्षा-परिषद् करेगी। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 'आक्रमण' शब्द की व्याख्या नहीं की है जिससे यह भ्रम बना रहेगा कि सुरक्षा परिषद् किस हालत में किसको आक्रमणकारी समझेगी। दूसरी बात यह थी कि यदि सुरक्षा परिषद में किसी स्थायी सदस्य ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर किसी आक्रान्त देश को सुरक्षा के आश्वासन से वंचित कर दिया तो फिर आश्वासन का क्या महत्त्व रह जायगा ? इस प्रकार सन्धि में और भी कई बातें हैं जो त्रुटिपूर्ण थीं।

सन्धि पर सबसे ज्यादा आपत्ति पश्चिम जर्मनी इटली और भारत को थी। पश्चिम जर्मनी और इटली यह महसूस करते थे कि परमाणु-अस्त्र सम्पन्न सोवियत संघ फ्रांस और ब्रिटेन के सामने वे यूरोप में नगण्य होकर रह जायेंगे। भारत को परमाणु अस्त्र-सम्पन्न चीन से जबरदस्त खतरा था और सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती थी।

भारत का दृष्टिकोण—1962 के अपने कटु अनुभव के बाद भारत चीन से कुछ अतिरिक्त सतर्कता बरतते हुए अपने को इस स्थिति में नहीं पा रहा था कि वह इस सन्धि पर आँख मूँदकर हस्ताक्षर कर दे क्योंकि इस दौरान चीन बहुत अधिक परमाणु शक्ति सम्पन्न बन चुका था और कोई ताज्जुब नहीं कि अगर कुछ वर्षों के भीतर उसके पास अमरिका और सोवियत संघ की सम्मिलित परमाणु शक्ति का मुकाबला करने लायक शक्ति हो जाय। अतएव जब जून 1968 में संयुक्त राष्ट्र संघ में समझौते का प्रस्ताव रखा गया तो भारत ने बहुत जोरदार शब्दों में कहा कि जो भी प्रस्ताव पास किये जायें उनके अन्दर निश्चित रूप से निम्न बातों की व्यवस्था होनी चाहिए

(1) जो राष्ट्र परमाणु अस्त्रों से सम्पन्न हैं वे उसके निर्माण का नहीं बढ़ाव (2) जिन राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र नहीं है या जिनमें क्षमता नहीं है उन्हें किसी भी तरह का भय परमाणु-सम्पन्न देशों से नहीं होना चाहिए और (3) परमाणु शक्ति से सम्पन्न बड़ी शक्तियों को यह घोषणा करनी चाहिए कि वे इस तरह के अस्त्रों को एकत्र न करके उसे कम करेंगे। चूँकि इस प्रस्ताव को सोवियत संघ और अमेरिकी प्रतिनिधियों ने सम्मिलित रूप से प्रस्तुत किया था इसलिए दोनों को भारत का रवैया बड़ा बुरा लगा और इसके लिए उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की लेकिन भारत अपने निश्चय पर डटा रहा। जेनेवा सम्मेलन में भी उसने ऐसा ही तर्क रखा था और अमेरिका तथा सोवियत संघ दोनों से अलग अलग गारन्टी चाही थी कि यदि चीन भारत पर परमाणु आक्रमण करे तो ये देश उसकी रक्षा करने को प्रस्तुत हो जायेंगे। कहा गया कि सन्धिपत्र पर दस्तखत करने के लिए भारत की यह एक अनिवार्य शर्त है। बाद में जेनेवा से लौटने पर भारतीय विदेश मंत्री ने और शर्तें जोड़ दी। पत्रकारों से वार्ता करते हुए भारतीय विदेश मंत्री एम० सी० छागला ने कहा कि यदि सोवियत रूस और अमेरिका भारत पर चीन के आक्रमण के विरुद्ध गारंटी दे भी देंगे तो भी भारत सन्धि-पत्र पर दस्तखत तबतक नहीं करेगा जबतक परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोगों के बारे में कोई निर्णय नहीं होगा और परमाणु निरस्त्रीकरण के मसले पर कोई फैसला नहीं हो जायगा।

भारत को अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करने की मजबूरी मूलतः चीन की परमाणविक नीति के कारण हुई। चीन की परमाणविक शक्ति के प्रसार और विकास से भयभीत होकर वह परमाणु छतरी (Nuclear umbrella) चाहता था। इसलिए जब उपर्युक्त सन्धि का मसविदा 12 जून 1968 में साधारण सभा में पेश हुआ तो भारत ने इससे सम्बन्धित मतदान में भाग नहीं लिया। उसने इस सन्धि का विरोध इसके त्रुटिपूर्ण होने के कारण किया लेकिन निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में भारत की बदली हुई नीति के मूल में एक दूसरी बात भी थी जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी। चीन को परमाणविक शक्ति के रूप में देखकर भारत का भयभीत होना स्वाभाविक था।

अन्तरिक्ष में चीन का प्रवेश—24 अप्रिल 1970 को चीन ने अपना प्रथम भू उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ा। इस घटना ने निरस्त्रीकरण पर भारतीय दृष्टिकोण को निर्णायक रूप से प्रभावित किया। चीन द्वारा उपग्रह छोड़े जाने से फलतः प्रक्षेपास्त्र तथा परमाणु विकास में एक कड़ी और जुड़ गयी और यह चीन की एक महत्त्वपूर्ण तकनीकी उपलब्धि बतायी गयी। अन्तरिक्ष में कदम रखकर चीन ने उन चार देशों (अमरिका, सोवियत संघ, फ्रांस और जापान) की पंक्ति में पहुँच गया जो कि उसके पूर्व भू उपग्रह छोड़ चुके थे बल्कि उसने विश्व के शक्ति सन्तुलन को भी प्रभावित किया। चीन ने जिस राकेट की मदद से भू उपग्रह छोड़ा था वह काफी शक्तिशाली था। चीन की इस सफलता से भारत का शंकित होना स्वाभाविक था। निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण निर्धारित करते समय भारत के लिए इन सभी तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक था।

भारत का परमाणविक परीक्षण—18 मई 1974 को पश्चिमी राजस्थान में एक पूर्व निश्चित स्थान पर परमाणु ऊर्जा आयोग के वैज्ञानिकों का दल रूप में पहला नाभिकीय विस्फोट करके भारत विश्व के उन इने गिने राष्ट्रों की पंक्ति में आ गया जिन्हें इस अत्याधुनिक और महत्त्वपूर्ण ऊर्जा स्रोत के क्षेत्र में विकास और अनुसंधान करने का अवसर प्राप्त हुआ है। भूमि के अन्दर एक सौ मीटर गहराई में किया गया यह पूर्व नियन्त्रित विस्फोट अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना थी क्योंकि किसी भी नाभिकीय देश ने अभी तक पहला परमाणु विस्फोट भूमि के अन्दर नहीं किया था। अमरिका सोवियत संघ ब्रिटेन फ्रांस और चीन सभी ने पहले विस्फोट पृथ्वी के ऊपर वायु में किये। भूगर्भ विस्फोट करने में इन देशों को काफी समय लगा। इसलिए तकनीकी दृष्टि से इसे भारत की एक बड़ी उपलब्धि मानी जायेगी। वायु या समुद्र में पहला विस्फोट करने की सुविधा भारत को नहीं थी क्योंकि 1964 में भारत ने परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध समझौते को स्वीकार कर लिया था।

छठे परमाणु शक्ति सम्पन्न देश के रूप में भारत के प्रादुर्भाव की विश्वव्यापी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। भारत के परमाणु विस्फोट पर सबसे तीखी प्रतिक्रिया अमरिकी हलकों में हुई। अमरिका ने न केवल अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की बल्कि यह भी कहा कि भारत के परमाणु विस्फोट से विश्व में स्थायित्व को धक्का पहुँचा अर्थात् विश्व के शक्ति-सन्तुलन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस विस्फोट और बाद के विस्फोटों के फलस्वरूप भारत एक महाशक्ति के रूप में उभर सकता है। सम्भवतः यह स्थिति संयुक्त राज्य अमरिका को पसन्द नहीं है। अतः अमेरिकी हलकों में भारतीय परमाणविक विस्फोट को अत्यन्त खतरनाक बताया गया। न्यूयार्क टाइम्स ने घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा था— एक ओर तो भारत खाद्य और जनसंख्या जैसी विकट समस्याओं का कोई समाधान नहीं ढूँढ सका है और दूसरी ओर परमाणु परीक्षण में लगा है। चाहे जो भी हो भारत के करोड़ों लोगों की आर्थिक समस्याओं को एक तरफ रखकर भारत ने वैज्ञानिक साधनों का उपयोग परमाणु शक्ति-सम्पन्न होने में किया है जो उसकी बड़ी शक्ति बनने की आकांक्षा का प्रतीक है। परमाणु शक्ति-सम्पन्न देशों में छठे नम्बर पर आने वाला भारत अभी पिछले वर्ष तक अपनी खाद्य समस्या तथा अन्य आर्थिक समस्याओं पर काबू पाने के लिए दूसरे देशों से सहायता का इच्छुक था लेकिन आज भारत के वैज्ञानिक परमाणु परीक्षण के लिए अपनी प्रतिभा का उपयोग कर रहे हैं और खाद्य तथा जनसंख्या की समस्या की ओर से आँखें बन्द किये बैठे हैं। अभाव की संकटपूर्ण स्थिति में भारत का परमाणु परीक्षण के लिए अपने वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किसी भी हालत में सराहनीय नहीं कहा जा सकता।

अमरिका की चिन्ता का एक और भी कारण है कि अब उसके कुछ मित्र देश उस पर यह दबाव डाल सकते हैं कि वह उन्हें भी परमाणु अस्त्र के लिए सहायता दे।

पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री भुट्टो ने परमाणु बम बनाने के लिए जो उत्सुकता दिखायी है और अमेरिका तथा संयुक्त राष्ट्र संघ से हवाईजहाज़ों प्राप्त करने का जो संकेत दिया है उसे देखते हुए यदि पाकिस्तान को परमाणु विस्फोट करने के लिए अमेरिका से सहायता मिले तो वह कोई अप्रत्याशित घटना नहीं होगी। इस तरह ऐसा प्रतीत होता है भारत के सफल परमाणविक विस्फोट से एक नया सिलसिला शुरू हो गया है जो निरस्त्रीकरण आन्दोलन के लिए बड़ा घातक सिद्ध हो सकता है।

अमरिका के अलावा जिन अन्य देशों ने भारत के परमाणु विस्फोट का मुखर विरोध किया वे थे—कनाडा जापान चीन और पाकिस्तान। भारत के इस आश्वासन का उसने परमाणु शक्ति के शान्तिमय प्रयोग के लिए यह परीक्षण किया है किसी ने विश्वास नहीं किया। इस कथन पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता था क्योंकि परीक्षण के सामरिक महत्त्व की उपेक्षा किसी भी हालत में नहीं की जा सकती थी। इसकी क्या गारंटी है कि सैनिक कार्य के लिए परमाणु शक्ति का उपयोग नहीं होगा। परमाणु परीक्षण परमाणु अस्त्र बनाने की दिशा में ही एक कदम होता है। भारतीय नेता भले ही शान्तिपूर्ण उपयोगों के लिए प्रतिबद्ध हों मगर क्योंकि परमाणु बम बनाने का रास्ता खुल जाता है इसलिए भारत का परमाणविक परीक्षण अन्य देशों को भी ऐसा ही करने के लिए उत्तेजित कर सकता है।

पचशील

पचशील का उद्भव—पचशील के पाँच सिद्धांतों का प्रतिपादन भी भारत की शान्तिप्रियता का द्योतक है। 1954 से कुछ वर्षों तक भारत की विदेश नीति को पचशील के सिद्धान्तों ने एक नयी दिशा प्रदान की थी। इस काल में यह भारतीय विदेश नीति का एक मुख्य आधार स्तम्भ रहा।

पचशील कोई नया शब्द नहीं है। इस शब्द का प्रयोग पहले-पहल महात्मा बुद्ध ने किया था। यह बौद्ध धर्म का एक पारिभाषिक शब्द था। बौद्ध धर्म स्वीकार करके जो व्यक्ति भिक्षु बनता था उसको पाँच व्रतों को धारण करना पड़ता था जिसे पचशील कहा जाता था। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच सिद्धान्त आते थे—अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य सत्य भाषण और मद्य पान निषेध। ये बौद्ध धर्म के आचरण के पाँच सिद्धान्त थे। आधुनिक युग में भारतीय विदेश नीति के सम्बन्ध में इसका प्रयोग दूसरे अर्थ में किया गया। जहाँ बौद्ध पचशील व्यक्ति के आचरण के नियमों का सिद्धान्त था वहाँ भारतीय पचशील अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभुसत्ता युक्त राज्यों के आचरण से सम्बन्धित नियम की संहिता बनी। भारत के पचशील में जिन पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था वे इस प्रकार हैं।

(1) सभी राष्ट्र एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता का सम्मान करें।

(2) कोई राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण नहीं करे और दूसरों की राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण न करे। किसी राज्य की सीमा को कोई दूसरा राज्य भंग नहीं करे।

(3) कोई भी राष्ट्र एक दूसरे के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करे।

(4) प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करे तथा पारस्परिक हित में सहयोग प्रदान करे क्योंकि सभी राष्ट्र समान हैं कोई न बड़ा है और न कोई छोटा। सबको इसी सिद्धान्त के आधार पर आचरण करना चाहिए।

(5) सभी राष्ट्र शान्तिपूर्ण सहजीवन (Peaceful co-existence) के सिद्धान्त में विश्वास करें तथा सिद्धान्त के आधार पर एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रहें तथा अपनी अलग-अलग सत्ता एवं स्वतन्त्रता कायम रखें।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पंचशील के इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन सर्वप्रथम 29 अप्रैल 1954 को तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के बीच हुए एक समझौता द्वारा किया गया था। बाद में चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई जब जून 1954 को दिल्ली आये तो दोनों देशों के प्रधान मन्त्री नेहरू के साथ वार्तालाप करने के बाद 28 जून 1954 को दोनों प्रधान मन्त्रियों का एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें पंचशील के सिद्धान्तों में उनके विश्वास को दुहराया गया। इस वक्तव्य में कहा गया था चीन और भारत ने दोनों के सम्बन्धों के संचालन के लिए इन पाँच सिद्धान्तों के पालन का निश्चय किया है। वे एशिया तथा विश्व के अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों में भी इनका अनुकरण करेंगे। यदि इनका प्रयोग केवल विभिन्न देशों में ही नहीं अपितु सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी किया जाय तो इससे शान्ति और सुरक्षा का एक सुदृढ़ आधार बनेगा और आशंकाओं के स्थान पर विश्वास उत्पन्न होगा।

इस समय एशिया के साथ साथ संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक तथा राजनीतिक पद्धतियाँ विद्यमान हैं। यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाय और इनका पालन किया जाय तथा दूसरे के काम में कोई हस्तक्षेप न हो तो ये विभिन्नताएं शान्ति भंग करके संघर्ष उत्पन्न नहीं करेंगी। प्रत्येक देश की प्रादेशिक अखण्डता, सर्वोच्च सत्ता और अनाक्रमण का आश्वासन मिल जाने पर विभिन्न देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व रहेगा और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ेंगे। इससे विश्व में विद्यमान वर्तमान तनाव कम होगा और शान्ति का वातावरण उत्पन्न होने में सहायता मिलेगा।

10 अप्रैल 1955 को नयी दिल्ली में एशिया और अफ्रीका के चौदह राष्ट्रों से आये हुए दो सौ प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में यह मान लिया गया कि संसार के राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित होने चाहिए। अप्रैल 1955 को बाण्डुंग में एशिया और अफ्रीका के उनतीस राष्ट्रों के सम्मेलन में पंचशील के पाँच सिद्धान्तों का विस्तृत रूप प्रस्तुत किया गया और इसमें पाँच सिद्धान्तों के स्थान पर दस सिद्धान्तों का समावेश कर दिया गया। दूसरे शब्दों में पंचशील को दसशील का रूप दिया गया। ये दस सिद्धान्त इस प्रकार थे (1) मौलिक मानवीय अधिकार (2) संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में सन्निहित सिद्धान्तों के प्रति सम्मान

की भावना (3) सभी प्रजातियों तथा छोटे बड़े राष्ट्रों की समानता (4) दूसरे देशों के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना (5) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार प्रत्येक देश का आत्मरक्षा करने का अधिकार (6) किन्हीं महाशक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्य को पूरा करने के प्रयोजन से बनायी गयी व्यवस्थाओं से अलग रहना तथा दूसरे देशों पर दबाव डालने से बचना (7) आक्रमण के कार्यों को न करना तथा हमले की धमकियाँ न देना (8) सभी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों—सन्धिवार्ता, समझौता, मध्यस्थता आदि से निबटारा करना (9) पारस्परिक सहयोग और हितों की वृद्धि करना तथा (10) न्याय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के प्रति सम्मान रखना।

दो वर्षों के अन्दर पंचशील के सिद्धान्तों को दुनिया के कई देशों ने स्वीकार कर लिया। इसके सिद्धान्तों को भारत की यात्रा करनेवाले विदेशों के अनेक प्रधान मन्त्रियों और शासनाध्यक्षों ने अपने वक्तव्यों में स्वीकार किया। फिर जब भारत के प्रधान मन्त्री विदेश भ्रमण पर गये तो वहाँ भी कई देशों के साथ पंचशील के सिद्धान्त के आधार पर संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किये गये। इसके उपरान्त, 14 सितम्बर 1959 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने भी भारत द्वारा प्रस्तुत पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। इस तरह पंचशील के सिद्धान्तों को विश्व में मान्यता मिलने लगी। यद्यपि अमरिका और ब्रिटेन आदि नाटो के देशों ने इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया फिर भी उन्होंने इसका खुला विरोध भी नहीं किया। भारत में एक अमरीकी राजदूत श्री शर्मन कूपर ने अपने एक भाषण में कहा था कि अमरिका पंचशील के सिद्धान्तों से पूर्णतया सहमत है।

सिद्धान्त की व्याख्या—पंचशील के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। अतएव इनका कुछ और अधिक विवेचन आवश्यक है। इसका पहला सिद्धान्त यह आदेश देता था कि संसार के सभी राष्ट्रों का एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सम्प्रभुता का सम्मान करना चाहिए। इस तरह यह साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की जड़ पर कुठाराघात करता था। इसके द्वारा यह अर्थ स्पष्ट होता था कि किसी भी राज्य को अपने से कम शक्तिशाली राज्यों पर राजनीतिक या सैनिक शासन नहीं लादनी चाहिए तथा प्रादेशिक और आर्थिक साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों का परित्याग कर देना चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि दूसरे देशों में विशेष आर्थिक अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त करना, विद्रोहात्मक कार्यवाहियों को प्रोत्साहन देना, कुचक्र कठपुतली सरकारों की स्थापना करना तथा किसी भी राज्य में किसी दल विशेष को आर्थिक सहायता देना—ये सारे कार्य राज्यों की सम्प्रभुता तथा हस्तक्षेप के सिद्धान्तों का उल्लंघन हैं। इसलिए यदि सभी देशों के सर्वोच्च सत्ता के प्रति सम्मान रखें तब तो साम्राज्यवाद का स्वयमेव अन्त हो जायगा। अनाक्रमण और दूसरे देश के मामले में हस्तक्षेप की नीति संसार में संघर्ष के क्षेत्र को सीमित करनेवाले हैं। पंचशील के चौथे सिद्धान्त के द्वारा समानता और पारस्परिक लाभ पर बल दिया गया था। यदि इस सिद्धान्त का

अनुकरण किया गया तो कोई भी राज्य चाहे छोटा हो या बड़ा एक दूसरे के साथ समानता के सिद्धान्त के आधार पर अपने सम्बन्धों का निर्माण कर सकता है और एक दूसरे के हित को आगे बढ़ा सकता था। यदि सभी राष्ट्र एक-दूसरे के साथ सहयोग करें तो पिछड़े हुए देशों की दरिद्रता और इस प्रकार के अभावों को दूर किया जा सकता था।

शान्तिपूर्ण सहजीवन का सिद्धान्त—पचशील का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त शान्तिपूर्ण सह जीवन (*Peaceful co existence*) का था। अतएव इसका विशद विवेचन वांछनीय है। आज संसार में तरह-तरह की राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक पद्धतियाँ कायम हैं जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समाजवाद और पूँजीवाद है। इन्हीं के नाम संसार विरोधी गुटों में बँट गया था और इस अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी इतनी बढ़ गयी थी कि आणविक आयुधों के इस युग में तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना प्रतीत हो रही थी। पूँजीवादी देश समाजवाद को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना चाहते थे और समाजवादी देश पूँजीवाद को खत्म करने पर उतारू थे। ऐसी स्थिति में संसार को युद्ध से बचाने का एकमात्र उपाय शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्त में विश्वास करना था। यदि यह मान लिया जाय कि पूँजीवाद और समाजवाद दोनों किसी-न-किसी रूप में रहेंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल हो जाएगा। यदि हम ऐसा नहीं मानते तो यह वास्तविकता से मुँह मोड़ना होगा। पूँजीवादी देश साम्यवादी देशों के इस अधिकार को मान लें कि उन्हें अपने देश में किसी तरह रहने का अधिकार है। इसी तरह यह बात समाजवादी लोग भी मान लें। यद्यपि समाजवादी और पूँजीवादी गुटों की प्रणालियों विचारधाराओं तथा आर्थिक राजनीतिक एवं सामाजिक संगठनों में जमीन आसमान का भेद है तो भी वे विश्व शान्ति के हित में परस्पर मिलकर शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। यदि ऐसा हो गया तो संसार में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं रहेगा और सब अपने इच्छानुसार अपने देश में शान्तिपूर्वक रहेंगे शान्तिपूर्वक सह जीवन का यही तात्पर्य था। पंचशील का पाँचवाँ सिद्धान्त इस बात पर बल देता था कि विभिन्न देशों के सामने यदि मौलिक मतभेद होने पर भी उन्हें एक-दूसरे के उन्मूलन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए किन्तु एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्ण रहने की नीति ग्रहण करना चाहिए।

<u>शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धान्त पर भारतीय दृष्टिकोण</u>—पश्चिम के कतिपय उग्रपन्थियों का यह मत था कि साम्यवादी देशों के साथ सहजीवन असम्भव है, क्योंकि दोनों की विचारधाराओं में जमीन आसमान का अन्तर है और दोनों में संघर्ष अनिवार्य है। <u>उनका कहना था—मक्खी और मकड़ी का सह-अस्तित्व सम्भव हो सकता है शेर तथा बकरियाँ एक घाट पर पानी पी सकते हैं किन्तु यह नहीं हो सकता कि साम्यवाद और पूँजीवाद एक-दूसरे के बगल में शान्तिपूर्वक रह सकें</u>। उनका कहना था कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के दर्शन में पूँजीवाद तथा साम्यवाद के बीच सह अस्तित्व को बात कभी नहीं स्वीकार की गयी है। उनके मत में कम्युनिस्ट शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व

का सारा श्रेय देते हैं जब उनकी नीति से यह मेल खाती है। अपने मत के समर्थन में वे युद्ध-पूर्व के मार्क्सवादी और पाश्चात्य साम्राज्य के बीच सतत संघर्ष की बात दोहराते थे जो युद्ध में प्रतिफलित हुआ और जिसका परिणाम एक पक्ष के उत्कर्ष और दूसरे पक्ष के जीवन में निकला। साम्यवाद और पूंजीवाद के अनिवार्य संघर्ष के सिद्धांत के समर्थन में वे 1919 में लेनिन द्वारा दिये गये उस भाषण का हवाला देते थे जिसमें उसने कहा था : "हम केवल राज्य में ही नहीं रह रहे हैं अपितु राज्यों की एक प्रणाली में रह रहे हैं और सोवियत गणराज्य के साथ साम्राज्यवादी राज्यों की लंबी सामान्य काल के लिए साथ साथ अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्त में किसी एक की विजय अनिवार्य है। इससे पहले कि अन्त आवे सोवियत गणराज्य और पूंजीवादी राज्यों के बीच बहुत से संघर्षों का होना अवश्यम्भावी है।"

इस संबंध में भारतीय दृष्टिकोण यह था कि वर्तमान परिस्थितियों में यह पुरानी बात हो गयी है जिसका स्वयं साम्यवादी नेताओं ने प्रतिवाद किया है। बाद में स्वयं लेनिन ने कहा था कि सभी राष्ट्र समाजवाद तक पहुंचेंगे क्योंकि यह अपरिहार्य है किन्तु सभी राष्ट्र समाजवाद तक एक ही रास्ते से नहीं पहुंचेंगे। इसी प्रकार स्तालिन ने कहा था कि यदि पूंजीवाद अपने उत्पादन को अधिकतमीकृत कर सके अर्थात् अधिकतम लाभ न लेकर उसे मजदूरों के लाभ के लिए वितरित करे तो कोई संकट खड़ा नहीं होगा। 1952 में उसने पुनः कहा था : "मैं अब भी यह विश्वास करता हूं कि संयुक्त राज्य अमरिका और सोवियत संघ के बीच युद्ध अवश्यम्भावी नहीं माना जा सकता है और ये दोनों देश भविष्य में एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक रह सकते हैं।" ख्रुश्चेव ने इस भावना को और अधिक बल प्रदान किया। शान्तिपूर्ण सहजीवन के सिद्धांत पर बोलते हुए उसने कहा था : "हमारे लिए इसका अर्थ केवल शान्तिपूर्वक दूसरे के साथ रहना मात्र नहीं है किन्तु उनके विचारों के प्रति सहिष्णु रहना है और उन्हें अंगीकार भी करना है यदि वे अधिक युक्तियुक्त हों। ऐसे लोग भी देखे गये हैं जो प्रेम तो नहीं करते किन्तु विवाह सूत्र में बंध जाने के बाद प्रेम पूर्ण नहीं तो पारस्परिक रूप से समाधानकारक अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं।"

भारतीय नेताओं ने साम्यवादी नेताओं की इन उक्तियों का समर्थन करते हुए कहा कि दोनों विचारधाराओं में सह-अस्तित्व संभव है। अतएव भारतीय आन्दोलन के इस विचार से सहमत थे कि अमेरिका और सोवियत संघ के बीच वर्तमान तनाव मुख्यतः व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण नहीं है। यह ऐसे मूल्यों का संघर्ष नहीं है जिसका समाधान नहीं हो सके। वस्तुस्थिति यह है कि इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। जो संघर्ष किसी समय यहूदियों और गैर यहूदियों के बीच, मुसलमानों और गैर मुसलमानों के बीच, इसाइयों और गैर इसाइयों के बीच तथा प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों के बीच चल रहा था आज एक बार पुनः साम्यवादी और गैर साम्यवादी शक्तियों के बीच चल पड़ा है। इसी शैली में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने एक बार

रहा था। हमारी अधिकांश विचारधाराएं साम्यवाद और साम्यवाद विरोधी विचारों द्वारा विकृत हैं। यदि रूस साम्यवादी शक्ति हुए बिना एक महान शक्ति होता जैसा कि वह आजकल है तो भी वही संघर्ष और भी गहनता के साथ विद्यमान रहता। नेहरू के इस विचार का समर्थन हैरोल्ड लास्की ने भी किया था। लास्की ने कहा था "मैं इस सम्बन्ध में बिल्कुल विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि अमरिका और सोवियत संघ दोनों ही पूंजीवादी या साम्यवादी या समाजवादी देश होते, तो उनकी प्रतिस्पर्धा परस्पर विरोधी हित तथा विद्वेष उतने ही तनाव में प्रतिफलित होते जो कि आजकल दोनों देशों के बीच विद्यमान हैं।

भारतीयों की ओर से यह भी तर्क दिया जाता रहा कि यदि पश्चिमी देशों और सोवियत संघ के बीच संघर्ष में पश्चिमी देश विजयी भी हो जाय तो इस बात की क्या गारन्टी है कि मानव समुदाय उसी विषमावस्था में पुनः अमन-आस्था नहीं पायगा। वे प्रोफेसर एच. बटरफील्ड के उस विचार का अनुमोदन करते हैं जब उन्होंने कहा था "हम यह भी कह सकते हैं कि यदि सम्पूर्ण सोवियत संघ और उसके सम्पूर्ण मित्रराष्ट्र इसी क्षण समुद्र में डुबा दिए जाएं तो भी वैसा ही दुर्भाग्य कल से हमारे साथ फिर होगा।"

इन सारी बातों का ध्यान में रखकर भारतीय विदेश नीति में शान्तिपूर्ण सह जीवन के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया था।

पंचशील का मूल्यांकन

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पंचशील के सिद्धान्त बड़े ही प्रशंसनीय आदर्श थे। जिस प्रकार गांधीजी ने सत्याग्रह के रूप में विश्व को अहिंसात्मक उत्तर दिया था उसी प्रकार नेहरू ने पंचशील के रूप में शक्ति गुटों को उदात्त उत्तर दिया। यह एक विशिष्ट पत्र का विचार था जो उसने शान्ति के लिए भारतीय योगदान का प्रशंसा करते हुए व्यक्त किया था। फिर भी इसके सिद्धान्तों पर अनेक आपत्तियाँ की गयीं। इसको केवल ऊँचे आदर्शों की कोरी घोषणा मात्र कहा गया और इसकी तुलना 1815 में पवित्र संघ (Holy Alliance) तथा 1927 के केलाग ब्रियाँ पैक्ट (Kellog Briand Pact) से की गयी। कहा जाता था कि पंचशील एक ऐसी घोषणा है जिसको पालन कराने के लिए न तो कोई व्यवस्था है और न कोई व्यवस्था। अतएव इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है। फिर पंचशील को व्यर्थ भी माना जाता रहा क्योंकि इसके सारे सिद्धांत संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में सन्निहित थे और इसलिये पृथक रूप से इनकी पुनरावृत्ति निरर्थक था। पंचशील का कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं था जो चार्टर में न हो। इसके अतिरिक्त पंचशील के सिद्धान्त पर और भी कई आपत्तियाँ की गयीं जैसे—इसकी प्रेरणा कम्युनिस्टों के द्वारा हुई थी यह यथास्थिति का पोषक था आदि। इन आपत्तियों का बचाव करते हुए जवाब के तौर पर 9 दिसम्बर 1954 को पंडित नेहरू ने भारतीय लोक सभा में कहा था। लोगों ने पंचशील का विरोध किया है, किस आधार पर? वे कहते हैं आप यह

कसे विश्वास करते हैं कि इन सिद्धान्तों का पालन भी किया जायगा ? निस्सन्देह यदि आप किसी बात पर विश्वास नहीं करते तो इसकी चर्चा करने और इसके बारे में लिखने से कोई लाभ नहीं है और फिर आप के लिए कोई दूसरी बात शेष नहीं रह जाती सिवाय इसके कि आप अकेले रहें और लड़कर एक दूसरे पक्ष को परास्त करें—इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। यह दूसरे पक्ष के वचन पर विश्वास करने का प्रश्न नहीं है किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का प्रश्न है जिसमें दूसरा पक्ष अपने वचन को भंग न कर सके। यह सम्भव है कि वह अपने को अधिक विषम परिस्थितियों में पावे। यदि विश्व के विभिन्न देश पारस्परिक मतभेदों के लिए इन पाँच सिद्धान्तों को बार बार दुहराते हैं तो इसके लिए एक वातावरण उपस्थित करते हैं।

भारतीय राजनीतिज्ञ इस बात को भलीभाँति महसूस करते हैं कि पंचशील कोई जादू की छड़ी नहीं है जिसके उल्लेख मात्र से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का लोप हो जायगा परन्तु यदि इन पर अमल किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय तनावों में निश्चय ही कमी होगी और संघर्ष के कारणों का उन्मूलन किया जा सकता है। जवाहरलाल ने एक बार कहा था कि यदि सोमाओं से पार न सारे देश सह अस्तित्व के इन पाँच सिद्धान्तों को स्वीकार कर न लें तो भी सम्पूर्ण विश्व शान्त नहीं हो सकेगा। उनसे अधिक से अधिक जो आशा की जा सकती है वह यह है कि उनके प्रभाव और कार्य के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सबध का प्रभाव क्रमश: सुधर जायगा। नेहरू का मत है कि ऐसे करारों से ऐसा विश्वमत तैयार करने में मदद मिलती है जो क्रमश: दुष्ट शक्तियों को भी प्रभावित करता है और उसके लिए दुर्व्यवहार करना मुश्किल बना देता है। वस्तुत: वे किसी विशिष्ट विचारधारा को मान प्रदान करने के साधन नहीं हैं क्योंकि उनका किसी विचारधारा से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका अंगीकरण तनाव को कम करने के लिए तथा प्रतिस्पर्धी गुटों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्रमश: मार्ग प्रशस्त करने के लिए किया जा सकता था।

जहाँ तक सिद्धान्त के रूप में पंचशील का प्रश्न है इस पर कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से और विशेषकर भारत चीन सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में पंचशील एक अत्यन्त असफल सिद्धान्त साबित हुआ। इसके आलोचकों की एक प्रमुख आपत्ति यह भी थी कि इस सिद्धान्त का जन्म ही अशुद्ध वातावरण में नहीं हुआ था। यह एक अपवित्र माता की पवित्र सन्तान (Holy daughter of an unholy mother) है क्योंकि इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन भारत और चीन का तिब्बत के सम्बन्ध में हुए समझौते के समय हुआ था। इसके द्वारा भारत ने तिब्बत में चीन की सर्वोच्चसत्ता को स्वीकार करके तिब्बत की स्वायत्तता के अपहरण में चीन का समर्थन किया था। इस कारण भारत में शुरू से ही कुछ लोगों के द्वारा इसकी कटु आलोचना होती रही। उदाहरणार्थ, पंचशील के जन्म के समय आचार्य कृपलानी ने कहा था यह महान सिद्धान्त पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज है क्योंकि यह आध्यात्मिक और राष्ट्रीय रूप से हमारे

साथ सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रतिपादित किया गया था।[1] आचार्य कृपलानी की यह उक्ति शायद सत्य न हो क्योंकि तिब्बत के प्रति भारत की यह नीति अनुचित नहीं था लेकिन 1962 के अक्टूबर में भारत चीन युद्ध के समय चीन ने जिस प्रकार का व्यवहार किया उसके परिणामस्वरूप पंचशील का नामोनिशान मिट गया। इसके इन सिद्धांतों का उल्लंघन इसके आदि प्रवर्तक एक राष्ट्र के द्वारा हुआ और इस कारण पंचशील में लोगों की आस्था नहीं रह गयी। यह भारतीय विदेश नीति की एक बहुत बड़ी असफलता मानी जायगी।

भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ
(India and U N O)

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत की आस्था —द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संसार को भावी विश्व युद्ध की विभीषिका से बचाने तथा संसार में शान्ति के प्रहरी के रूप में काम करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी थी। भारत जिसने विश्व शान्ति को अपनी विदेश नीति का मूलमन्त्र बना लिया था के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि वह इस विश्व संस्था को अपना पूरा समर्थन दे। अतएव भारतीय नेताओं ने प्रारम्भ से ही संघ के प्रति अटूट श्रद्धा तथा भक्ति का प्रदर्शन किया और इसको दुःखी एवं संतप्त मानवता के परित्राण का एकमात्र साधन बताया। यदि वास्तव में देखा जाय तो भारत सरीखे देश से संयुक्त राष्ट्रसंघ को किसी भी क्षेत्र में योगदान मिलने की उम्मीद नहीं थी क्योंकि किसी भी क्षेत्र में उसकी शक्ति महान न था। फिर भी भारत ने अपनी जिम्मेवारियों से मुँह नहीं मोड़ा तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता के लिए जो भी सम्भव सहयोग था दिया। जवाहरलाल नेहरू ने इस संस्था के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए कहा था। संयुक्त राष्ट्रसंघ आज हमारे जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है कि उसके रहित विश्व की हम आज कल्पना भी नहीं कर सकते। वस्तुतः वे जीवनपर्यन्त संघ के प्रबल समर्थक रहे। सुरक्षा परिषद् में मलयेशिया के चुने जाने मात्र से ही इन्डोनेशिया ने संघ को छोड़ दिया और कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान ने भी एक बार संघ छोड़ने की धमकी दी लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ में जवाहरलाल की कितनी अधिक निष्ठा थी यह इस बात से भली प्रकार प्रमाणित है कि कश्मीर और गोआ के मामले में संघ से निराश होने के बावजूद उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपनी निष्ठा नहीं खोयी और अपने देशवासियों को निरन्तर समझाते रहे कि समस्त त्रुटियों और खामियों के बावजूद संयुक्त राष्ट्रसंघ मानव जाति की सबसे बड़ी आशा है। अपने जीवनपर्यन्त उन्होंने इस विश्व संस्था के

---

1 The great doctrine was born in sin because it was enunciated to put the seal of our approval upon the destruction of an ancient nation which was associated with us spiritually and culturally

प्रति अपनी अगाध निष्ठा कायम रखी तथा असलग्नता की नीति का दृढ़तापूर्वक अवलम्बन करते हुए उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली और सक्रिय बनाने के हर प्रयास में भरसक योगदान प्रदान किया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत का अटूट विश्वास है और उसकी यह नीति है कि दुनिया के अंतर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में इस विश्व-संस्था का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति भारत के अटूट विश्वास का प्रबल प्रमाण भारत पाकिस्तान युद्ध के समय सुरक्षा परिषद् के युद्ध विराम प्रस्तावों का भारत द्वारा तत्काल स्वीकृति है। इस बात में एक महीने के अन्दर सुरक्षा परिषद् की तीन बैठकें हुईं और प्रस्ताव पास हुए। भारत ने इन सभी प्रस्तावों को तुरत मान लिया। जहाँ पाकिस्तान ने इन प्रस्तावों को मानने में आनाकानी की वहाँ भारत युद्ध में विजयी होते हुए भी सुरक्षा परिषद् के आदेशों को सहर्ष स्वीकार करने में जरा भी संकोच का प्रदर्शन नहीं किया।

भारत की सदस्यता।—स्मरणीय है कि कई परिस्थितियों के संयोग से भारत पराधीन होते हुए भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की पूर्ववर्ती संस्था राष्ट्रसंघ (League of Nations) का सदस्य था और कुछ सीमाओं के अंदर रहते हुए भी उसने इस पुरानी विश्वसंस्था में महत्वपूर्ण भाग लिया था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उस राष्ट्रसंघ का विघटन कर दिया गया और संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए जून 1945 में सानफ्रांसिस्को में सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत को भी आमन्त्रित किया गया तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करनेवालों में वह भी एक प्रारम्भिक सदस्य था। भारतीय दल जो इस सम्मेलन में भाग लेने गया था उसका नेतृत्व रामास्वामी मुदलियार ने किया। जिस समय भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य हुआ उस समय वह स्वतन्त्र नहीं हुआ था लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के द्वारा उसके पूर्व निश्चय के अनुसार सब बात राष्ट्रसंघ से अपना सम्बन्ध स्थापित रखा और पूर्ववत् सदस्य बना रहा और उसकी कार्यवाहियों में सक्रिय रूप से भाग एवं रुचि लेता रहा।

भारतीय संविधान और संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदर्श —संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत की आस्था दिनोंदिन बढ़ती गयी। ब्रिटिश दासता से मुक्त होने के उपरान्त स्वतन्त्र भारत के लिए नया संविधान बनाया गया और उसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि भारत अन्य राज्यों के मध्य सद्भाव बढ़ाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहेगा सभी राज्यों के साथ सम्मानपूर्ण न्यायोचित और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखेगा तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए सदैव प्रयत्न देने के लिए सदैव तत्पर रहेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की यही सबसे प्रमुख बात है और उसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र से सबसे पहले मान्यता के अनुसार आचरण करने की आशा की जाती है।

संघ के महत्त्व का समर्थक —भारत ने उन सारे प्रयासों का निरन्तर विरोध किया है जिनका उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्त्व को कम करना था। प्रादेशिक संघ संगठनों का विरोध उसने इसी आधार पर किया है। चार्टर की धारा 52 में प्रादेशिक संगठनों की स्थापना का प्रावधान है। इस धारा की आड़ में जो प्रादेशिक संघ संगठन बने भारत ने उनका सर्वदा विरोध किया। भारत का कथन है कि इन संगठनों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्त्व को कम किया है। 9 सितम्बर 1954 को जवाहरलाल नेहरू ने सिआटो सन्धि की निन्दा करते हुए कहा था कि यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की भावना के प्रतिकूल है। संयुक्त राष्ट्रसंघ को सफल बनाने के उद्देश्य से ही भारत इन संगठनों में शामिल नहीं हुआ और असंलग्नता की नीति का अवलम्बन करता रहा। यदि वास्तव में देखा जाय तो भारत की असंलग्नता की नीति चार्टर में निहित भावना का पूरा पूरा आदर करती है और वह इसके सर्वथा अनुकूल है।

संघ को व्यापक रूप देने का प्रयास —भारत का दृष्टिकोण है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ वास्तविक रूप से एक सीमित और संकुचित संस्था न रहकर व्यापक और विस्तृत हो तभी विश्व का कल्याण होगा और चार्टर में निहित बातों का परिपालन हो सकेगा। इसलिए उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक विश्व व्यापक संस्था बनाने में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कोरिया युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये राज्यों को संघ की सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर गतिरोध पैदा हो गया था। सोवियत और अमरिकी गुट दोनों नये सदस्य बनाने का विरोध कर रहे थे। इस कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये स्वतन्त्र देशों का प्रवेश असम्भव हो गया था। भारत ने इस गतिरोध को दूर करने का यत्न किया। नवम्बर 1955 में जब मार्शल बुल्गानिन और ख्रुश्चेव भारत आये तो पण्डित नेहरू ने उनसे इस समस्या पर बातचीत की और अन्त में यह तय हुआ कि अमरिका सोवियत संघ द्वारा समर्थित देशों का विरोध न करे और इसी प्रकार सोवियत रूस भी पश्चिमी गुट द्वारा समर्थित देशों का विरोध नहीं करे। कोरिया और वियतनाम के संघ की सदस्यता का प्रश्न अभी छोड़ दिया जाय। इस समझौते के अनुसार 8 सितम्बर 1955 को संघ की एक साधारण सभा ने प्रस्ताव पास करके अठारह नये देशों को संघ का सदस्य बनाने की सिफारिश की पर जब यह प्रश्न सुरक्षा परिषद में आया तो राष्ट्रवादी चीन ने बीच का प्रस्ताव करके सारे समझौते को ही रद्द कर दिया। इसके बाद सोवियत रूस ने भी वीटो का प्रयोग शुरू किया। फिर एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। इसके समाधान में भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन ने बड़े प्रयास किये और उनके परिश्रम के फलस्वरूप नये राज्यों की सदस्यता का प्रश्न बहुत कुछ हल हो गया। दिसम्बर 1955 में सोलह नये राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक ही साथ सदस्य बने। इस प्रकार भारत ने इस कठिन अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का हल करने में अपना सहयोग दिया।

सुरक्षा परिषद के संगठन के बारे में भारत ने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि इसमें एशिया और अफ्रीका के देशों की जनसंख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व मिलना

चाहिए। इसलिए जब 1960 में चार्टर का संशोधन करके सुरक्षा परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ायी गयी तो भारत ने उसका स्वागत किया। उसने कई बार अपने इस माँग को भी दुहराया है कि चीन के अलावा भी किसी एक देश को सुरक्षा परिषद् में स्थायी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार का प्रश्न और भारत।—सुरक्षा परिषद् की मतदान प्रणाली अर्थात् वीटो की व्यवस्था से भारत सन्तुष्ट नहीं है तथापि उसने कई कारणों से इसका समर्थन किया है। भारत इस बात को भली भाँति समझता है कि सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के निषेधाधिकार ने कभी कभी संयुक्त राष्ट्र संघ को एकदम पंगु बना दिया है लेकिन केवल इसी आधार पर वह इसके अन्त का समर्थक नहीं है। उसका कहना है कि अ[illegible] पर ब[illegible] को लादकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता है। वीटो का प्रावधान अपने आप में बुरा नहीं है इसका दुरुपयोग तो शीत युद्ध के कारण होता है। इसलिए यह अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का द्योतक बन गया है। यदि इस तनाव को दूर कर दिया जाय तो निषेधाधिकार के दुरुपयोग की समस्या अपने आप विलीन हो जायगी।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में सक्रिय सहयोग—सैनिक और औद्योगिक दृष्टिकोण से दुर्बल होने पर भी भारत ने प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में और संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों में प्रशंसनीय भूमिका का निर्वाह किया है। अनेक अवसरों पर भारत ने संघ के मंच पर से पूर्व और पश्चिम के मतभेदों की चौड़ी खाई को कम करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है। दो तीन अवसरों पर तो उसने निश्चित रूप से अपनी रचनात्मक भूमिका द्वारा तृतीय महायुद्ध के दावानल को प्रज्वलित होने से रोका है। विश्व की प्रमुख राजनीतिक समस्याओं के समाधान तथा शान्ति स्थापना के हेतु भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ में किये गये कार्यों का वर्णन हम इस पुस्तक के छठे अध्याय में करेंगे।

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में सहयोग—भारत ने केवल शान्तिस्थापना के कार्य में ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ सहयोग नहीं किया है बल्कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में भी उसने प्रशंसनीय कदम उठाया है। पिछले वर्षों में भारत के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की विभिन्न शाखाओं उसकी सम्बद्ध संस्थाओं तथा विविध आयोगों और समितियों में उत्साहपूर्वक भाग लेकर अच्छी ख्याति प्राप्त की है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I L O) संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (U N E S C O) के कार्यों में उसकी विशेष रुचि रही है। यूनिसेफ एवं

---

1 One of the asp cts of India forei n policy wl ich l s puzzled m ny foreig ers s Indi s refusal t upp rt att mpts mad to r str ct the area of veto As was often stated by India s spokesman tl e con tant exerc e of the power of veto by the Soviet Uni n was only a sympt m of tl e tension in th *internat onal fi ll us bol tion th r fo e o ll not cure th* basic dis a e Tl e In l an Cov r m nt considered the voting p ivil ge e jo) d by tl e perman nt members th Security Council to be tl e reflecti n of th po r ituati n in th world—K P Karunakaran *Ind a in World Affa r* (1950 1953) pp 147-48

ए ओ० और डब्ल्यू एच० ओ के प्रादेशिक कार्यालय भारत में स्थित हैं। इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र संघीय टेक्निकल सहायता बोर्ड विश्वकोष सूचना सेवा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ यूनेस्को और विश्व बैंक के कार्यालय भी भारत में खुले हुए हैं। 1954 और 1964 के बीच भारत को संयुक्त राष्ट्र संघीय टेक्निकल सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत 1567 टेक्निकल विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त हुईं तथा 1464 भारतीय टेक्निकल विशेषज्ञ प्रशिक्षण के लिए विदेशों को भेजे गये। 1963 तक भारत को कुल मिलाकर 109 करोड़ रुपये की संयुक्त राष्ट्र संघीय सहायता प्राप्त हुई।

राजनीतिक क्षेत्र में भारत का स्थान।—संयुक्त राष्ट्रसंघ के राजनीतिक क्षेत्रों में भारत का महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है। 1950 51 में वह पहली बार सुरक्षा परिषद का सदस्य चुना गया था। 1966 में वह दुबारा सुरक्षा परिषद का सदस्य चुना गया। 1946 1949 1951 1953 1955 1962 64 में वह आर्थिक और सामाजिक परिषद का भी सदस्य रह चुका है। भारत उस विशिष्ट समिति का सदस्य है जिसकी स्थापना साधारण सभा द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ की शांति रक्षा सम्बन्धी कार्यवाहियों के अध्ययन के लिए की गयी। वह संयुक्त राष्ट्र संघीय अठारह सदस्यीय निरस्त्रीकरण आयोग का भी सदस्य है। अनेक भारतीय संयुक्त राष्ट्र संघ में महत्वपूर्ण पदों पर आसीन रह चुके हैं। इनमें विजया लक्ष्मी पण्डित (साधारण सभा की अध्यक्षा) रामास्वामी मुदालियर वी आर सेन, डा होमी भाभा जे भाभा डा पी एस लोकनाथन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्री बी एन राव अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न्यायाधीश और डा० राधाकृष्णन यूनेस्को के सर्वोच्च पद पर आसीन रह चुके हैं। लगभग एक सौ पन्द्रह भारतीय संघ के सचिवालय के विभिन्न भागों में काम करते हैं तथा इसकी विशिष्ट एजेन्सियों में लगभग तीन सौ भारतीय विशेषज्ञ हैं।

भारत प्रति वर्ष एक बहुत बड़ी रकम संघ के वार्षिक खर्चे के लिए देता है। 1964 में यह धनराशि अट्ठासी लाख रुपये की थी। इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र सहायता कार्यक्रमों को भारत ने 1965 में 1 02 करोड़ रुपया देने का वचन दिया। उसी वर्ष संघ को द्वितीय बजट का मुकाबला करने के लिए बयालीस लाख रुपया दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत की आस्था पर कोई विवाद नहीं उठ सकता। विश्व की राजनीति में वह इसको अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिवेशनों में भारत अपने उच्च कोटि के राजनेताओं को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजता है जो इसके वाद विवादों में प्रमुख भाग लेते हैं। पंडित नेहरू के जीवनकाल में साधारण सभा का शायद ही कोई अधिवेशन ऐसा हो जिसमें भारत ने कोई प्रस्ताव नहीं पेश किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी भारत में हो चुके हैं। जब भी संयुक्त राष्ट्र संघ को शान्ति स्थापना के काम के लिए सेना की आवश्यकता पड़ी है भारत ने इसमें उसकी मदद करके अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। शांति के रक्षार्थ संघ के आदेश पर भारतीय सैनिक कोरिया, गाजा, हिन्द चीन, कांगो और साइप्रस आदि देशों में भेजे गये।

अध्याय 5

अफ्रो-एशियाई समस्याएँ और भारत

(Afro Asian Problems & India)

एशिया और अफ्रिका की समस्या में गहरी रुचि रखना भारत के लिए बिलकुल स्वाभाविक है। इन दो महाद्वीपों पर उसका भविष्य भी निर्भर करता है और उनकी राजनीति का प्रभाव उस पर (भारत पर) पड़ना अनिवार्य और अवश्यम्भावी है। अतएव स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से भारत ने अफ्रिका और एशिया की विविध समस्याओं में गहरी रुचि लेना शुरू किया। उस समय इन महाद्वीपों के समक्ष दो प्रमुख समस्याएं थीं। उपनिवेशवाद का उन्मूलन तथा रंग भेद की नीति पर आधारित प्रजातिवाद का विरोध। इसके अतिरिक्त एशियाई देशों के नवजागरण के फलस्वरूप एक एशियाई भावना का विकास हो रहा था। इस भावना ने एक एशियाई समुदाय (Asian Solidarity) आन्दोलन को जन्म दिया। भारत को इस आन्दोलन में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करना था।

एशिया और अफ्रिका में यूरोपीय उपनिवेशवाद और भारत

(Attitude Towards Colonialism)

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में हम यूरोपीय साम्राज्यवादी प्रणाली में भारत के विशिष्ट स्थान और उसके महत्व की चर्चा कर चुके हैं। वहाँ हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि एशिया और बहुत अंशों में अफ्रिका में यूरोपीय साम्राज्यवाद का मुख्य आधार भारत था। भारतीय साम्राज्य की रक्षा के लिए ब्रिटेन ने कई देशों की स्वाधीनता पर अतिक्रमण करके उनपर अपना अधिकार जमाया था। पुनः यदि इन देशों में कभी स्वातन्त्र्य संग्राम छिड़ता तो उनको कुचलने के लिए भारतीय साधनों का प्रयोग किया जाता था। ब्रिटिश शासन काल में भारत यूरोपीय साम्राज्यवाद रूपी मेहराब की आधारशिला (keystone of the arch of imperialism) था। 15 अगस्त 1947 को जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो आधारशिला के टूट जाने से साम्राज्यवाद के सम्पूर्ण भवन का धराशायी हो जाना अब सम्भावी हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया के देशों में जो राष्ट्रवाद का प्रचण्ड तूफान आया उसको भारत की स्वतन्त्रता से बड़ी प्रेरणा मिली और महाद्वीप के देश एक एक करके स्वतन्त्र होने लगे। जहाँ इस तूफान को रोकने का प्रयास हुआ वहाँ एशियाई राष्ट्रवाद और यूरोपीय उपनिवेशवाद का नाटिका में भीषण संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में भारत की सहानुभूति निश्चय रूप से एशियाई राष्ट्रवाद के प्रति थी जिसको उसने अपना पूर्ण समर्थन दिया। 18 मार्च 1946 को सिंगापुर में भाषण देते हुए पंडित नेहरू ने कहा था भारत केवल अपने लिए ही स्वतन्त्रता नहीं चाहता। वह आधी दुनिया को स्वतन्त्र

थी उसको भारतीय नेताओं ने साम्राज्यवाद का परिवर्तित रूप माना था। वस्तुतः राष्ट्रसंघ के समूचे ढाँचे को उन्होंने एक साम्राज्यवादी यन्त्र के रूप में देखा और इसलिए उसका विरोध किया। लाजपत राय ने कहा था। "इस राष्ट्रसंघ कहना जब कि यह लुटेरों का एक संगठन है सत्य का गला घोंटना है।"[1] इस प्रकार अपने साम्राज्यवादी स्वरूप के कारण राष्ट्रसंघ भारत में कभी लोकप्रिय नहीं हो सका।

दो विश्व युद्ध के काल में पराधीन राज्यों के कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए जिनका उद्देश्य विश्व व्यापी यूरोपीय साम्राज्यवाद का विरोध करना तथा शोषित जातियों को संगठित करना था। भारत ऐसे प्रत्येक सम्मेलन में भाग लेता रहा और इन सम्मेलनों के मंच से भारतीय प्रतिनिधियों ने कई बार कहा कि वे केवल भारत में ही नहीं वरन सम्पूर्ण विश्व में उपनिवेशवाद का विरोध करते हैं और उसके उन्मूलन में किसी भी तरह का बलिदान करने को तैयार हैं। अतएव जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उसको अपने नेताओं की इन घोषणाओं का आदर करना था और इसके अनुरूप विदेश नीति का निर्धारण करना था। भारतीय विदेश नीति में उपनिवेशवाद के विरोध का तत्व ऐतिहासिक परम्परा का परिणाम था।

तृतीय समकालीन विश्व राजनीति के संदर्भ में उपनिवेशवाद का विरोध करना भारत के लिए परम आवश्यक था। पिछले अध्याय में हम कह आये हैं कि स्वतंत्र भारत ने अपनी विदेश नीति में विश्व शान्ति को सर्वोपरि स्थान दिया क्योंकि राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए वह इसे बड़ा आवश्यक मानता था लेकिन उपनिवेशवाद के अस्तित्व मात्र से विश्व शान्ति पर हमेशा खतरा बना रहता है। इसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष की संभावना बहुत बढ़ जाती है। जब 1948 में हालैंड ने इण्डोनेशिया पर अपना उपनिवेश कायम रखने का प्रयास किया तो यह विश्व शान्ति और विश्व-युद्ध का प्रश्न बन गया। कम-से कम राष्ट्रों के मध्य घोर मनमुटाव तो इसने पैदा कर ही दिया। इसी तरह स्वेज नहर पर अपना नियन्त्रण कायम रखने के लिए 1956 में इंगलैंड और फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण उनके औपनिवेशिक मनोवृत्ति का परिणाम था और इसका नेवता तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावना बढ़ गयी। उपनिवेशवाद की वजह से शीत युद्ध में भी उग्रता आयी। सोवियत संघ ने पश्चिमी राष्ट्रों की उपनिवेशवादी नीति पर कड़े आक्षेप किये और पश्चिम ने भी उसका जवाब उसी तरह दिया। इस तरह उपनिवेशवाद अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक मुख्य कारण बन गया जो निश्चय ही शान्ति की सुरक्षा के लिए खतरनाक थी। अतएव विश्व शान्ति के रक्षार्थ भारत उपनिवेशवाद के उन्मूलन को आवश्यक मानता था और इसके लिए वह सतत प्रयत्नशील रहने का इरादा रखता था।

चौथे हम यह भी कह आये हैं कि विश्व शान्ति की सुरक्षा की दृष्टि से भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक प्रभावशाली संस्था बनाना चाहता था। इसके लिए इसको

1 D N Verma *India and th League of Nat ons* pp 273 75

एक व्यापक संगठन का रूप देना जरूरी था। भारत का कहना था कि संघ की सदस्यता सभी राष्ट्रों को प्राप्त होना चाहिए, लेकिन इसके लिए राष्ट्रों की स्वाधीनता और उनकी सार्वभौमिकता आवश्यक थी। इसके अभाव में किसी देश को संघ की सदस्यता नहीं मिल सकती थी। उपनिवेशवाद स्वाधीन राष्ट्रों के पनपने के मार्ग में बहुत बड़ा बाधक था। इस कारण भारत उपनिवेशवाद के उन्मूलन का समर्थन कर रहा था।

इसके अतिरिक्त उपनिवेशों में निवास करनेवाले लोगों की राजनीतिक आकांक्षा के दमन से मानव के मौलिक अधिकार का भी उल्लंघन हो रहा था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्देश पर जो मानव के मौलिक अधिकार (Fundamental Human Rights) की घोषणा हुई उसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि शांति के पक्ष में स्वस्थ वातावरण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सभी मनुष्यों के मूलभूत राजनीतिक अधिकारों को मान्यता मिले। इसमें आत्मनिर्णय का सिद्धांत स्वाभाविक रूप से सम्मिलित था। इस दृष्टिकोण से भी उपनिवेशवाद का विरोध करना जरूरी था। अप्रिल 1947 में दिल्ली के एशियाई सम्मेलन में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा था। एशिया के देश चिरकाल तक पश्चिम देशों के दरबारों में प्रार्थी और भिक्षुक बने रहे हैं। यह अतीत की कथा हो जानी चाहिए। हम चाहते हैं कि हम अपने पैरों पर खड़े हों जो हमारे साथ सहयोग करें हम उनके साथ सहयोग करने को तैयार हैं। हम दूसरे के हाथों का खिलौना नहीं बनना चाहते यह हमारा मौलिक अधिकार है।

पाँचवें आज के युग में प्रत्येक देश यह चाहता है कि उसके सिद्धान्तों और विचारों का अधिक-से-अधिक अनुकरण दूसरे देश करें। यह आकांक्षा भारत की भी थी। भारत चाहता था कि एशिया के नवस्वतन्त्र राज्यों में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर आर्थिक व्यवस्था कायम हो लेकिन उपनिवेशवाद इस तरह की राजनीतिक और आर्थिक विचारों के पनपने में बाधक सिद्ध होने लगा। पुराने पराधीन उपनिवेशों में उपनिवेशवादियों को ऐसे भाड़े के टट्टू मिल गये जो प्रतिक्रियावादी तथा सामन्तवादी व्यवस्था को कायम रखने में अपने मालिकों के साथ सहयोग करने के लिए तैयार थे। साम्राज्यवादी देश अपने स्वार्थ साधन के लिए तथा परोक्ष रूप से आर्थिक शोषण करने के लिए ऐसे तत्वों का पूरा समर्थन करते रहे। इस दिशा में एशिया के विकास के लिए यह बहुत बड़ा बाधा थी और इस कारण भी भारत उपनिवेशवाद का विरोध करने को बाध्य हुआ।[1]

उपनिवेशवाद विरोधी नीति का स्वरूप :—भारत मुख्यतः पश्चिमी यूरोप के देशों के उपनिवेशवाद का विरोधी रहा है। इसने ब्रिटेन, फ्रांस, हालैंड, पुर्तगाल, बेल्जियम तथा संयुक्त राज्य अमरिका के राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद का विरोध किया है। इसके लिए भारतीय नीति पर पक्षपात का आरोप लगाया जाता

1 M S Rajan *India in World Affairs* 1954 56 P 42.

2. जहाँ तक ब्रिटेन के उपनिवेशवाद का प्रश्न है, कई कारणों से भारतीय रुख की तुला में पक्षपात का पासंग है जिसका विवरण हम आगे करेंगे।

है। पश्चिम तथा भारत में कुछ विद्वान और राजनीतिज्ञ यह कहते हैं कि भारत केवल पश्चिमी साम्राज्यवाद का ही विरोध करता है तथा सोवियत उपनिवेशवाद पर मौन रहता है। द्वितीय विश्व-युद्ध जब खत्म हो रहा था तब सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों (हंगरी पोलैंड चेकोस्लोवाकिया यूगोस्लाविया पूर्वी जर्मनी अल्बानिया और रूमानिया) को नात्सी (Nazi) दासता से मुक्त किया और उन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों का समर्थन करके उन्हें वहाँ साम्यवादी व्यवस्था कायम करने में मदद की। अपनी सुरक्षा के लिए उसने कई उपाय किये। इन बातों को देखकर यह कहा जाने लगा कि पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देश स्वतन्त्र नहीं वरन् वे सोवियत संघ के उपनिवेश बन गये हैं। इस आधार पर सोवियत संघ को भी साम्राज्यवादी देश कहा जाने लगा। आलोचकों का कहना था कि एक तरफ तो भारत पश्चिमी साम्राज्यवाद का तो घोर विरोध करता है लेकिन सोवियत संघ के इस नवीन साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में वह कुछ भी नहीं बोलता। लेकिन इस प्रश्न पर भारत को अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का कोई औचित्य नहीं था क्योंकि पूर्वी यूरोप के राज्यों को उसने कभी सोवियत उपनिवेश नहीं माना। सोवियत संघ का इन देशों के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं था जो पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों और उनके उपनिवेशों में पाये जाते हैं। साम्राज्यवादी देश अपने लाभ के लिए उपनिवेशों का शोषण करते हैं। उपनिवेशों से वे कच्चा माल ले जाते हैं और अपने बने हुए सामानों को उनके बाजारों में बेचते हैं लेकिन सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों के साथ इस तरह का कोई व्यवहार नहीं किया। 1945 के पूर्व इनमें भ्रष्ट जमींदारों और पूँजीपतियों का शासन कायम था। सोवियत संघ ने इस पुरातन व्यवस्था के उन्मूलन में इन राज्यों की सहायता करके उनके आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि साम्यवादी व्यवस्था कायम होने के बाद से पूर्वी यूरोप के देशों की जनता के रहन-सहन का स्तर यथेष्ट रूप में ऊँचा उठा है। पूर्वी यूरोप में सोवियत उपनिवेशवाद की बात शीत युद्ध की भाषा में उपयुक्त थी लेकिन भारत की नीति शीत-युद्ध के पचड़े में पड़ने की नहीं थी। अतएव उसने तथाकथित सोवियत उपनिवेशवाद का कभी विरोध नहीं किया। फिर भी जब युगोस्लाविया पर जब भी सोवियत संघ ने किसी प्रकार का दबाव डाला भारत ने उसका विरोध किया और मार्शल टीटो का समर्थन किया। इसी तरह भारत ने हंगरी में सोवियत कार्रवाई की निन्दा की।

शीत युद्ध के शुरू होने पर पश्चिमी देशों ने यह कहना शुरू किया कि उपनिवेशवाद का दिन अब समाप्त हो गया है और वर्तमान विश्व की सबसे मुख्य समस्या साम्यवाद का है लेकिन भारतीय जनता और सरकार इस विचारधारा को स्वीकार करने को तैयार नहीं हुई। 26 अगस्त 1954 को भारतीय संसद में बोलते हुए पंडित नेहरू ने कहा कि एशिया के लोगों के समक्ष मुख्य प्रश्न उपनिवेशों के उन्मूलन का है। स्वतन्त्रता के नाम पर बोलनेवाले शीत-युद्ध के महारथियों की निन्दा करते

हुए उन्होंने कहा कि वे एशियावासियों की भावना का आदर करने को तैयार नहीं हैं। एक दूसरे अवसर पर बोलते हुए उन्होंने पुनः इस बात को दुहराया और कहा। यह सत्य है कि उपनिवेशवाद का युग अब समाप्त हो चला है लेकिन आज भी संसार के कई भागों में किसी न किसी रूप में वह अपना सर उठाने का प्रयास कर रहा है। पश्चिमी देशों के नेताओं ने यह भी कहा कि साम्यवाद उपनिवेशवाद से अधिक खतरनाक है और इसलिए कुछ समय के लिए उसकी उपेक्षा की जा सकती है ताकि साम्यवाद को खत्म किया जा सके। भारत इस विचारधारा से भी सहमत नहीं हुआ। उनका कहना था कि उपनिवेशवाद साम्यवाद के प्रसार का एक कारण हो सकता है। पराधीन राष्ट्र अपनी मुक्ति के लिए साम्यवाद का सहारा लेने लगते हैं। अतएव यदि पश्चिमी राष्ट्र साम्यवाद का विनाश चाहते हैं तो उन्हें सर्वप्रथम उपनिवेशवाद का उन्मूलन करना चाहिए।[1]

इण्डोनेशिया में डच साम्राज्यवाद का विरोध —भारत ने शुरू से ही पश्चिमी उपनिवेशवाद का विरोध किया है। भारत की उपनिवेशवाद विरोधी नीति का एक बड़ा प्रमाण यह है कि 1946 में लार्ड माउण्टबेटन की अध्यक्षता में बनायी गयी जवाहरलाल नेहरू की अंतरिम सरकार का एक पहला कार्य यह था कि उसने ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया के फ्रांसीसी और डच उपनिवेशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन दबाने के लिए भेजी गयी भारतीय फौजों को वापस बुला लिया। यह निर्णय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उन घोषणाओं के अनुरूप था जिन्हें समय समय पर उसने किया था।

उपनिवेशवाद के विरुद्ध सक्रिय कदम उठाने का पहला अवसर भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पहले ही मिला। 17 अगस्त 1945 को जापान के आत्म-समर्पण के दो दिन बाद डा. सुकर्णो ने इण्डोनेशिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और इण्डोनेशिया गणराज्य के नाम से नये स्वाधीन इण्डोनेशिया गणराज्य की स्थापना की। यह काम डचों के इण्डोनेशिया में पुनः प्रवेश करने के पहले ही सम्पन्न हो गया। हालैंड (जिसका इण्डोनेशिया उपनिवेश था) इस स्थिति को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसने इण्डोनेशिया गणराज्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही शुरू कर दी। 20-21 जुलाई 1947 को डच सेनाओं ने इण्डोनेशिया पर पुनः अधिकार स्थापित करने के लिए जावा और सुमात्रा पर हमला कर दिया।

---

1. Both are equally bad and are detested in a way. If colonialism is not abolished soon it might encourage Communism among the colonial peoples. Colonialism represents the biggest threat to Asia and Africa and leads to Communism and both of them were of European origin. Both represent physical and intellectual aggression of the West against Asia and Africa. —Nehru quoted in Roeslan Abdulgani, The Asian-African Conference in Retrospect, *Foreign Affairs Report*, Vol 4 (1955) p 98

2. Karunakar Gupta, *Indian Foreign Policy*, p 75

भारत में डचों की इस कारवाई की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। 28 जुलाई को अंतरिम सरकार के प्रधान मन्त्री के रूप में जवाहरलाल नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र संघ से इन्डोनीशिया के मामले में अविलम्ब हस्तक्षेप करने की अपील की। आस्ट्रेलिया और भारत ने मिलकर सुरक्षा परिषद् में इस प्रश्न को उठाया और परिषद को इस सम्बन्ध में कार्यवाही करने पर प्रेरित किया। भारत ने हालैंड की सरकार के विरुद्ध बहिष्कार का भी संयोजन किया। उसने उनके विमानों को उस समय भारतीय भूमि पर उतरने की सुविधा प्रदान करने से इनकार कर दिया जबकि वे शान्ति का दमन करने के लिए इन्डोनीशिया की ओर अग्रसर थे। उपनिवेशवाद के विरुद्ध यह भारत का एक प्रबल प्रयास था।

संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के बीच बचाव से हालैंड और इन्डोनीशिया गणराज्य में कुछ दिनों के लिए युद्ध बन्द हो गया और इस बीच वार्ता के जरिये समस्या का समाधान का यत्न किया गया लेकिन 19 दिसम्बर 1948 को युद्ध विराम संधि पुनः भंग कर दी गयी और दोनों पक्षों में युद्ध छिड़ गया। भारत ने तत्काल इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाया। इसी बीच 20 जनवरी से 23 जनवरी 1949 तक नयी दिल्ली में इन्डोनेशिया की समस्या पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन का आयोजन हुआ। यह भारत की प्रेरणा पर हुआ था जिसमें एशिया के पन्द्रह राज्य तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड शामिल हुए थे। सम्मेलन ने इन्डोनीशिया में डच कार्यवाही की जोरदार निन्दा की और एक ऐसा लोकमत का निर्माण किया कि इन्डोनीशिया में डच साम्राज्यवाद की पुनर्स्थापना असम्भव हो गयी। सचमुच इन्डोनीशिया की स्वतन्त्रता के लिए भारत के प्रयास बड़े ही स्तुत्य थे। इसलिए इन्डोनीशियावाले जवाहरलाल नेहरू को डॉ० सुकर्ण के बाद अपनी स्वतन्त्रता का दूसरा जनक मानते थे।

मलाया और हिन्दचीन : स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में मलाया और हिन्दचीन में भी राष्ट्रवादी आन्दोलनों ने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया। मलाया जो कि ब्रिटिश उपनिवेश था में राष्ट्रवादी आन्दोलन का नेतृत्व वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी कर रही थी जिसने पूरे जोर शोर से पुनः और छापामार युद्ध शुरू कर दिया। मलाया के इस साम्यवादी आन्दोलन को ब्रिटिश सरकार कुचलती रही। भारत ने मलाया के राष्ट्रवादी आन्दोलन का समर्थन किया। उसका कहना था कि मलाया को साम्यवाद के प्रभाव से बचाने के लिए उसको तत्काल स्वतन्त्र कर देना आवश्यक है। ब्रिटिश सरकार ने भी परिस्थिति का अनुभव किया और मलाया को क्रमशः स्वतन्त्र करने की नीति को अपनाया और 1957 में मलाया की स्वाधीनता मान ली गयी।

दक्षिण पूर्व एशिया में स्थित फ्रांस के उपनिवेश हिन्दचीन में भी इसी तरह का राष्ट्रीय संघर्ष वहाँ के कम्युनिस्टों के नेतृत्व में शुरू हुआ। फ्रांस इस संघर्ष को कुचलने के लिए दृढ़ संकल्प था। भारत ने पुनः इस संघर्ष का समर्थन किया। इसी तरह

पश्चिम, इरियन (West Irian) के प्रश्न पर भी भारत ने इण्डोनेशिया का समर्थन किया।[1] पश्चिम इरियन को इण्डोनेशिया को वापस दिलाने के लिए भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ में निरन्तर प्रयास करता रहा।

अफ्रीकी राष्ट्रवाद का समर्थन —द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अफ्रीका में राष्ट्रीयता का अपूर्व जागरण हुआ और सारा महाद्वीप स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उतावला हो उठा। भारत ने लीबिया, ट्यूनिशिया, मोरक्को, अल्जीरिया, गोल्ड कोस्ट (घाना) साइप्रस आदि देशों के स्वातन्त्र्य संग्राम का पूरा-पूरा समर्थन किया। मोरक्को, ट्यूनिशिया तथा साइप्रस के मामलों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उठाने में भारत ने प्रमुख भाग लिया।

अफ्रीकी देशों के स्वाधीनता संग्राम में भारत ने अल्जीरिया के प्रश्न पर गहरी रुचि का प्रदर्शन किया, क्योंकि वहाँ दोनों ओर से (राष्ट्रवादी अल्जीरियावासी तथा फ्रांसीसी साम्राज्यवादी शासक) बहुत बड़े पैमाने पर हिंसात्मक कार्य हो रहे थे और हजारों-हजार की संख्या में अल्जीरियाई लोग गाजर-मूली की तरह प्रतिदिन मारे जा रहे थे। भारत सरकार ने सार्वजनिक रूप से इस प्रश्न पर अपनी चिन्ता व्यक्त की और फ्रांस की सरकार पर दबाव डाला कि वह अल्जीरिया की समस्या का शान्तिपूर्ण शीघ्र समाधान करे। 1955 में एशिया और अफ्रीका के तेरह राष्ट्रों के साथ मिलकर भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अल्जीरिया के प्रश्न को उठाया। अगले वर्ष (1956) में भी संघ में इस प्रश्न को उठाने में भारत आगे रहा। उसी वर्ष अल्जीरिया के राष्ट्रवादी नेताओं का एक प्रतिनिधि दल भारत आया। इस दल ने भारत से सक्रिय सहयोग के लिए अनुरोध किया। इस पृष्ठभूमि में 22 मई 1956 को अल्जीरियाई समस्या के समाधान के लिए जवाहरलाल नेहरू ने एक पाँच-सूत्री प्रस्ताव रखा। अल्जीरिया के राष्ट्रवादियों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया लेकिन फ्रांस की सरकार इससे सहमत नहीं हुई। 1962 में अल्जीरिया पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हुआ। इस अवधि में सामान्य रूप से भारत सरकार अल्जीरियाई संघर्ष का समर्थन करती रही।

मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन तथा उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष को भी भारत का पूर्ण समर्थन मिलता रहा। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय इंग्लैण्ड ने 1936 के आंग्ल-मिस्री सन्धि (Anglo-Egyptian Treaty) के अन्तर्गत स्वेज नहर क्षेत्र और मिस्र के अन्य भू-भागों में ब्रिटिश सेना रख दिया। युद्धोपरान्त मिस्र की सरकार ने इन सैनिकों को वापस बुलाने की माँग की। जब ब्रिटेन ने ऐसा करने में आनाकानी की तो

1 इण्डोनेशिया ने तो इण्डोनेशिया को स्वतन्त्र कर दिया लेकिन पश्चिम इरियन पर उसने अपना आधिपत्य कायम रखा। यह स्वाभाविक था कि इण्डोनेशिया डच उपनिवेशवाद के इस अवशेष को अपनी भूमि से मिटाने का प्रयास करे। इस भू-भाग को पाने के लिए इण्डोनेशिया को वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा और 1964 में डचों ने इसे वापस किया।

मिस्र के राष्ट्रवादी तत्त्व सक्रिय हो उठे और अंगरेजी सेना के खिलाफ छिटपुट विद्रोह होने लगे। मिस्र में ब्रिटेन विरोधी भावना तीव्र हो गयी। इस समग्र संघर्ष के दौरान भारत ने मिस्र का समर्थन किया और कूटनीतिक सूत्रों के जरिये ब्रिटेन पर दबाव डाला कि वह मिस्र से अपनी सेना हटा ले। 1954 में ब्रिटेन और मिस्र में एक समझौता हुआ और मिस्र के भू भाग से ब्रिटिश सेना हटा ली गयी।

पुनः 1956 में स्वेज नहर राष्ट्रीयकरण के बाद ब्रिटेन और फ्रांसीसी सरकारों ने मिलकर मिस्र पर हमला कर दिया। भारत ने इसका प्रबल विरोध किया। भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में इसे साम्राज्यवाद का नवजागरण कहा गया। इस अवसर पर मिस्र को भारत से वैसी सहायता मिली जैसी सहायता किसी अन्य देशों से नहीं मिली।

साइप्रस के सम्बन्ध में भारत ने तुर्कों तथा यूनानियों में विभाजन का विरोध करते हुए इसका शासन द्वीपवासियों को सौंपने पर बल दिया। भारत ने क्यूबा पर अधिकार जमाने के अमरीकी प्रयास का भी विरोध किया। इस प्रकार विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने के लिए विश्व में जहाँ कहीं भी राष्ट्रवादी आन्दोलन हुआ भारत ने उसका समर्थन किया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षित प्रदेश और भारत।—भारत ने शुरू से ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यास (Trust) में रखे हुए संरक्षित प्रदेशों के भविष्य में रुचि ली है। लिबिया एक ऐसा ही प्रदेश था जिसको पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाने में भारत का प्रयत्न बड़ा ही सक्रिय रहा है। भारत ने संरक्षित प्रदेशों (Trust territories) के प्रशासन के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के पूरे नियन्त्रण और निरीक्षण का समर्थन किया है। इस बात पर भी बल दिया है कि स्वशासन न करनेवाले प्रदेशों (Non self governing Territories) का शासन चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए इन पर शासन करनेवाली साम्राज्यवादी शक्तियां को संघ के प्रति उसी प्रकार उत्तरदायी होना चाहिए जैसे संरक्षित प्रदेशोंवाली शक्तियाँ अपने संरक्षित प्रदेशों के लिए हैं। भारत अस्वशासी प्रदेशों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करनेवाली संयुक्त राष्ट्रसंघ की समिति (U N Committee on Information from Non self Governing Territories) का 1958 से 1961 तक के लिए सदस्य चुना गया। 1958 में भारत को पश्चिमी समोआ भेजे जानेवाले निरीक्षक मण्डल का प्रधान तथा पश्चिमी अफ्रिका जानेवाले निरीक्षक मण्डल का सदस्य चुना गया।

1957 से उपनिवेशवाद के प्रति भारतीय नीति।—इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की प्रारम्भिक नीति उग्र रूप से उपनिवेशवाद विरोधी थी। कुछ लेखकों का विचार है कि 1957 के बाद से भारत का उपनिवेशवाद विरोधी जोश बहुत ठंडा पड़ गया। प्रोफेसर नॉर्मन पामर ने इसे mellowing of Indian attitude कहा

है[1] और उपनिवेशवाद की आलोचना वह अत्यन्त सावधानी से करने लगा। इस तथ्य के समर्थन में कई उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। मलाया में वहाँ की जनता के स्वाधीनता आन्दोलन को कुचलने के लिए जब ब्रिटिश सरकार ने नेपाल से फौज मँगाया तो भारत सरकार ने उन फौजों को अपने देश से गुजरने दिया। वही भारत सरकार जो इण्डोनेशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए जाने वाले जहाजों को अपने देश से वायुमार्ग नहीं दिया था) यह वस्तुतः भारत की उपनिवेशवाद विरोधी नीति में एक स्पष्ट विरोधाभास था। भारत के इस निर्णय की बड़ी कड़ी आलोचना हुई और सामान्य रूप से उसको उचित ठहराना बड़ा कठिन था। मलाया के स्वाधीनता संघर्ष में कम्युनिस्ट अगुआ थे और इस कारण भी सम्भवतः भारत सरकार ने ऐसा निर्णय लिया हो। राष्ट्रमण्डल के अवांछनीय सदस्यता ने भी सम्भवतः भारत को ऐसा करने को विवश किया हो। यह हमारे समय का एक बहुत बड़ा विरोधाभास है कि मलाया में ब्रिटिश हितों को भारत से जितना समर्थन मिला उतना ब्रिटेन को अमरीकी सैनिक गुट में सम्मिलित होने से भी नहीं मिला।

एक दूसरा उदाहरण अल्जीरिया है। जिस समय अल्जीरिया के राष्ट्रवादी फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के खिलाफ अपना राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष चला रहे थे उस समय उन्होंने एक अन्तरिम अल्जीरियाई सरकार की स्थापना कर ली थी। इस सरकार ने एशिया के देशों से मान्यता प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। इस तरह का अनुरोध उन्होंने भारत सरकार के समक्ष भी रखा। उनका विश्वास था कि यदि भारत सरकार इस अल्जीरियाई सरकार को मान्यता प्रदान कर देता तो उनके राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम को और अधिक बल मिलता। लेकिन भारत सरकार ने इस सरकार को अपनी मान्यता नहीं दी। (चीन, मिस्र आदि देशों ने तत्काल इस सरकार को अपनी मान्यता दे दी थी।) भारत सरकार कई कारणों से फ्रांस की सरकार को नाराज करना नहीं चाहता था और इस कारण वह अल्जीरिया के लोगों को पूर्ण समर्थन देने में हिचकिचा रहा थी। भारत के हक में इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। अफ्रीका के देशों में उसकी लोकप्रियता बहुत घट गयी और चीन ने इस स्थिति से पूरा लाभ उठाया।

1961 से भारत का उपनिवेशवाद विरोधी नारा और भी तेज पड़ गया। पहले भारत उपनिवेशवाद को विश्व की सभी समस्याओं की जड़ मानता था और

---

1 On the one hand 'extreme doctrinaire anti-colonialism continues to shape the attitude of the Indian Government and the Indian people and on the other hand India had also supported a policy of gradualism belatedly and shown a sense of sober responsibility on the question of colonialism.'—Norman D. Palmer, Indian Attitude to Colonialism, *Orbis*, Vol. I, 1957, pp. 234-35

2 Roland Segal, *Crisis of India*, pp. 267-68

किसी भी मूल्य पर इसके साथ समझौता करने को तैयार नहीं था। जब सी मौका आया उसने डटकर दृढ़तापूर्वक उपनिवेशवाद का विरोध किया किन्तु 1961 म भारतीय विदेशनीति ने इस दृढ़ता का परित्याग कर दिया। इसका सबूत सितम्बर 1961 म हुए तटस्थ राष्ट्रों के बेलग्रेड सम्मेलन में मिला। सम्मेलन म बोलते हुए चीन के समर्थक इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने कहा। विश्व का वर्तमान जनमत हमसे यह अपेक्षा करता है कि हम युद्ध विश्वास कर कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष का वास्तविक स्रोत महाशक्तियों का द्वन्द्व मात्र है। मैं इसे गलत मानता हूँ। वर्तमान में यदि कोई संघर्ष है तो वह स्वतन्त्रता और न्याय की नवीन शक्ति तथा उपनिवेश का की पुराना शक्ति म है।

स्पष्ट है कि डॉ सुकर्ण ने तनाव और संघर्ष का उद्गम सद्धान्तिक मतभेद या शीत युद्ध को न मानकर उपनिवेशवाद को माना। इसके विपरीत उसी सम्मेलन म पण्डित नेहरू न उपनिवेशवाद के विरोध को प्राथमिकता न देकर शान्ति की समस्या को महत्त्व दिया। उन्होंने कहा कि साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद प्रजातीय विभेद और इस तरह की समस्त अन्य बातें अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समक्ष नगण्य हैं क्योंकि यदि युद्ध छिड़ जाता है तो ये सब व्यर्थ हो जाते हैं।[1] अफ्रिका के प्रतिनिधियों और उसकी जनता को सम्भवतः नेहरू के विचार पसन्द नहीं आये होंगे क्योंकि पराधीन व्यक्ति के लिए शान्तिपूर्ण सुखमय संसार का कोई महत्त्व नहीं है। इसके लिए स्वतन्त्रता का प्रश्न ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकालना कि भारत ने उपनिवेशवाद का विरोध करना छोड़ दिया है गलत होगा। सिद्धान्त के रूप म उपनिवेशवाद का विरोध भारतीय विदेश नीति का मुख्य तत्त्व बना हुआ है यद्यपि इस पर पहले की अपेक्षा जोर अब कम हुआ है।

उपनिवेशवाद के प्रति भारतीय नीति में इस परिवर्तन के कई कारण बतलाये गये हैं। एक बात यह कही जाती है कि पिछले दशक में साम्राज्यवादी राष्ट्रों की हठवादिता म बहुत कमी हुई है। एशिया और अफ्रीका के अनेक उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये हैं और जो बच रहे हैं उन्हें भी स्वतन्त्र करने के लिए कदम उठाये जा रहे हैं। साम्राज्यवादी देश अब सिद्धान्त के रूप में यह मान चुके हैं कि उपनिवेशवासियों को आत्म निर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। द्वितीयतः भारत किसी भी समस्या को शान्ति

1 Imperialism colonialism racialism and the rest—things which are vitally important—a e som what overshadowed by the crisis For if war comes all els for the mom nt goes

—Pandit Nehru *Hindustan Times* September 4 1961

2 Even if the alleged mellowing of th Indian attitude (towards colonialism) is true could it not be largely a reaction to the mellowing of the once adamant attitude of the colonial powers towards demands for s lf determination

—M S Rajan *India in World Affairs* 1951 56 p 43

पूर्ण रूप से सुपक्षान का समर्थक है और वह चाहता है कि उपनिवेशवाद की समस्या का समाधान भी इसी तरह हो। एक समस्या का किसी तरह और किसी उपाय से समाधान करके भारत और समस्याएँ उत्पन्न करना नहीं चाहता। जैसा कि नेहरू ने कहा था : अपने तरीके से हम समस्या (उपनिवेशवाद) का उन्मूलन करना चाहते हैं, लेकिन इस प्रक्रिया को उग्र तरीकों से पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए हम आज के उपनिवेशवाद के विविध पहलुओं की आलोचना नहीं करते चलते ताकि दुनिया में मनमुटाव तनाव और संघर्ष में वृद्धि हो। मैं समझता हूँ कि यह सही तरीका है। हमलोगों को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को व्यापक रूप को समझना होगा और ऐसे काम से बचना होगा जिससे एक समस्या के समाधान के बाद उससे आधे दर्जन से भी अधिक समस्याएं प्रकट हो जाय।'[1]

भारत मे फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली उपनिवेशो की समस्या

शान्तिपूर्ण ढंग से उपनिवेशवाद की समस्या के समाधान के सिद्धान्त में भारत का विश्वास इतना प्रबल था कि उसको अपनी भूमि पर से उपनिवेशवाद के अवशेषों को मिटाने में लगभग चौदह वर्ष का समय लग गया। अगस्त 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ और अंगरेज हमारे देश से चले गये, लेकिन भारत के भू भाग पर उसके बाद भी कुछ फ्रांसीसी और पुर्तगाली उपनिवेश रह गये थे। फ्रांस के अधीन पाण्डिचेरी कारीकल चन्द्रनगर यनाम और माही तथा पुर्तगाल के अधीन गोआ दमन और ड्यू के क्षेत्र बच रहे थे। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन मुख्यतः ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति के लिए चलाया गया था फिर भी यह उम्मीद की जाती थी कि जब अंगरेज भारत से चले जायेंगे तो फ्रांसीसी और पुर्तगाली भी उनका अनुकरण करते हुए उपरोक्त बस्तियों पर से अपना आधिपत्य समाप्त कर देंगे लेकिन ऐसा नहीं हुआ और तब भारत इन्हें मुक्त करने की बात सोचने लगा। ऐतिहासिक भौगोलिक और सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से ये प्रदेश भारत के अंग थे और यह विचित्र लग रहा था कि भारत का मुख्य भाग उपनिवेशवाद से मुक्त हो जाय और कुछ भाग पर विदेशी शासन बना रहे। सामरिक दृष्टिकोण से भी इन प्रदेशों का भारत के लिए महत्त्व था। फ्रांस और

---

1 In our own way we are trying to put an end to it (clonia lism) But we realise that this process will not be helped by adven turist tactics We do not therefore go about merely condemning this or that aspect of present day colonialism and thereby increa sing the ill will and conflicts of the world .. I am sure that this was the right approach We have to take a larger view of international problems and not try to solve one problem at the expense of creating half a dozen more difficult ones

—Jawaharlal Nehru *Congress Bulletin* Quoted in M S Rajan op cit

पुर्तगाल इन जगहों में अपना अपना सैनिक अड्डा बना रहे थे जो भारत की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा कर सकते थे। पुन ये बस्तियाँ तस्करी (Smuggling) का अड्डा बन गया थी जिनका प्रभाव भारत की अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा था। इन परिस्थितियों में भारत के लिए इन बस्तियों को मुक्त करने की बात सोचना बिल्कुल स्वाभाविक था।

फ्रांसीसी बस्तियाँ और भारत—भारत सरकार ने फ्रांस और पुर्तगाल की सरकारों से इन बस्तियों के सम्बन्ध में वार्ताएँ करने का आग्रह किया। पुर्तगाल ने किसी तरह की वार्ता प्रारम्भ करने से इन्कार कर दिया लेकिन फ्रांस ने काफी संयम और समझदारी से काम लिया। चन्द्रनगर में 1949 ई० में जनमत संग्रह हुआ और उसके परिणामों के आधार पर जून 1952 ई० में यह क्षेत्र पूरी तरह भारतीय संघ में मिला लिया गया। नवम्बर 1954 ई० में पाण्डिचेरी कारीकल माही तथा यनाम को भी फ्रांस की सरकार ने भारत को सुपुर्द कर दिया। इस तरह भारत में फ्रांसीसी बस्तियों की समस्या का समाधान सन्तोषजनक तौर पर हो गया।

गोआ की समस्या।—लेकिन पुर्तगाली बस्तियों के साथ ऐसी बात नहीं हुई और इनके लिए भारत को चौदह वर्षों तक धैर्य के साथ इन्तजार करना पड़ा।

सोलहवीं शताब्दी में ही गोआ दामन और द्यू पर पुर्तगाल ने अधिकार कायम कर लिया था। जब भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से इन बस्तियों की जनता भी प्रभावित होने लगी और उन्होंने भी अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष शुरू किया तो पुर्तगाली शासन ने उसका बड़ा क्रूरता से दमन शुरू किया। 1949 ई० में भारत सरकार ने लिस्बन में अपना दूतावास खोला और 1950 ई० में उसने गोआ आदि के हस्तान्तरण की वार्ता पुर्तगाली अधिकारियों से चलायी लेकिन सालाजार के शासन ने गोआ की स्वतन्त्रता और भारत के साथ उसकी एकता को आधार मानकर वार्ता करने से इन्कार कर दिया। अतएव क्षुब्ध होकर जुलाई 1953 ई० में भारत ने पुर्तगाल के साथ अपना कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। 1955 के लगभग गोआ और भारत का जनमत क्षुब्ध हो उठा। गोआ के साथ भारत की एकता की भावना ने देश के जनमत को इतना उद्वेलित पहले भी नहीं किया था। इसके फलस्वरूप 1955 में भारत की सभी राजनीतिक पार्टियों ने एक सत्याग्रह आन्दोलन का आयोजन किया और हजारों स्वयंसेवकों ने गोआ में शान्तिपूर्ण प्रवेश करने के लिए अपनी जान की बाजी लगा दी लेकिन पुर्तगाली अधिकारियों ने घृणित तरीकों से इन सत्याग्रहियों के विरुद्ध अपना दमनात्मक कार्रवाइयाँ शुरू कर दीं। इस सत्याग्रह में कुलीन भारतीयों के प्राण गये सो से भी अधिक घायल हुए और हजारों लोग गिरफ्तार कर पुर्तगाली जेलों में ठूँस दिये गये। पुर्तगाल द्वारा इस तरह की उत्तेजनात्मक कार्रवाइयाँ की जा रही थीं और भारत सरकार कोई विरोधात्मक कदम नहीं उठा रही थी। इस कारण उसकी नीति की निन्दा होने लगी। स्वतन्त्र भारत में गोआ जैसे विदेशी अड्डे की उपस्थिति न केवल देश की सार्वभौम सत्ता का भयंकरतम अपमान था वरन् इससे देश की सुरक्षा के लिए भी गम्भीर खतरा उत्पन्न हो रहा था। यह भी सत्य

अफ्रिका एवं दक्षिणरोडेशिया में प्रजातीय विभेद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। वहाँ की गोरी सरकार काले चमड़ेवाले अफ्रिकावासियों और प्रवासी भारतीयों पर प्रजाति एवं रंगभेद के नाम पर घोर अत्याचार करती रही हैं। भारत ने इस नीति का जोरदार विरोध किया है। यह विरोध केवल मानवता के सिद्धान्त पर ही आधारित नहीं है। भारत का कहना है कि रंगभेद की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता है और यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा साबित हो सकता है।

दक्षिण अफ्रिका में प्रजातीय विभेद—इस क्षेत्र में भारत की रुचि विशेषतया दक्षिण अफ्रिका में है जहाँ हजारों हजार की संख्या में भारतीय निवास करते हैं और उनके साथ प्रजातीय विभेद के आधार पर घोर अत्याचार होता है। दक्षिण अफ्रिका में प्रवासी भारतीयों की समस्या बहुत पुरानी है। इस समस्या की उत्पत्ति का वर्णन हम इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। प्रवासी भारतीयों ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रिका सरकार के विरुद्ध एक जबरदस्त आन्दोलन चलाया था जिसका अन्त 1911 के गांधी स्मट्स समझौता (Gandhi Smuts Agreement) से हुआ था। इस समझौते से इस समस्या का एक अध्याय समाप्त हुआ।

1919 से 1945 तक के काल में भारतीय समस्या—प्रथम विश्व-युद्ध के काल में दक्षिण अफ्रिका के प्रवासी भारतीयों की समस्या से सम्बन्धित ऐसी कोई विशेष घटना नहीं घटी जिसका उल्लेख यहाँ किया जाय। लेकिन युद्ध के खत्म होते ही दक्षिण अफ्रिका की सरकार ने पुनः प्रवासी भारतीय विरोधी नीति का अवलम्बन शुरू किया और कई एक कानून बने जिसके कारण भारतीयों का जीवन कष्टमय हो गया। जीवन के हर क्षेत्र में रंगभेद और पृथक्करण (Aparthied) के सिद्धान्त को लागू किया गया।

स्मरणीय है कि इस समय भारत राष्ट्रसंघ का एक सदस्य बन चुका था। राष्ट्रसंघ असेम्बली के द्वितीय अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि श्रीनिवास शास्त्री ने इस प्रश्न को उठाया। अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर सरकारी तौर पर दक्षिण अफ्रिका का प्रश्न उठाने का यह पहला मौका था। इसके बाद लगातार कई वर्षों तक यह प्रश्न उठता रहा और भारतीय प्रतिनिधि ने असेम्बली के मंच पर दक्षिण अफ्रिका के विरुद्ध भारतीयों पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाता रहा।[1]

इसी तरह यह प्रश्न समय समय पर होनेवाले इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भी उठते रहे। दक्षिण अफ्रिकी सरकार की नीति से भारतीय लोकमत बड़ा क्षुब्ध था और इस कारण ब्रिटिश भारतीय सरकार बहुत चिन्तित थी। अतएव इम्पीरियल कान्फ्रेंस में जानेवाले प्रतिनिधियों को यह कहा जाता था कि वे प्रवासी भारतीयों की समस्या को सम्मेलन में विशेष रूप से उठावें। भारत सरकार ने स्वयं दक्षिण अफ्रिका सरकार पर दबाव डालना शुरू किया। अन्त में समस्या के समाधान के लिए दक्षिण अफ्रि

1 D N Verma *India and the League of Nations* pp 142-44

संयुक्त राष्ट्रसंघ में दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों का प्रश्न —दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति की भारत में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। भारत ने इसे गांधी स्मट्स समझौता तथा कपटाउन समझौता दोनों का उल्लंघन माना और दक्षिण अफ्रीकी सरकार से इस नीति का परित्याग करने को कहा लेकिन दक्षिण अफ्रीका ने इस पर ध्यान नहीं दिया और अपनी पूर्ववत् नीति पर चलता रहा। फलतः 1946 के प्रारम्भ में भारत ने उसके साथ अपने सारे व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये तथा भारतीय उच्चायुक्त (High Commissioner) को वापस बुला लिया। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के दो सदस्य राज्यों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अतएव संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की 10वीं तथा 14वीं धाराओं के अन्तर्गत 22 जून 1946 को भारत ने इस सम्पूर्ण विवाद को संघ की साधारण सभा में पेश कर दिया। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या में एक नया अध्याय शुरू हुआ।

1946 की साधारण सभा के अधिवेशन में भारत ने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें कहा था कि दक्षिण अफ्रीकी सरकार की रंगभेद की नीति मानव के मौलिक अधिकारों का हनन है और इसलिए यह चार्टर का भी उल्लंघन करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की सम्भावना भी है। अतएव दक्षिण अफ्रीका की सरकार इस नीति का परित्याग करके चार्टर की भावनाओं का आदर करे। दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधियों ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। उसका कहना था कि दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की समस्या या रंगभेद की नीति उसका आन्तरिक मामला है जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। चूंकि दक्षिण अफ्रीका को संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त था इसलिए यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो सका।

1957 तक संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा के सभी अधिवेशनों में दक्षिण अफ्रीका से सम्बन्धित प्रस्ताव भारत और अन्य अफ्रो एशियाई देशों के समर्थन से पेश किया जाता रहा लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला। दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने इस विषय पर वार्ता करने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। 1956 में दक्षिण अफ्रीकी सरकार के प्रतिनिधि ने यह कह दिया कि अगले वर्ष से वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ किसी क्षेत्र में सहयोग नहीं करेगा। भारत ने दक्षिण अफ्रीकी सरकार से अपना राजनयिक सम्बन्ध तोड़ लिया और दक्षिण अफ्रीका ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को छोड़ दिया। इसके उपरान्त यह सारा प्रश्न खटाई में डाल दिया गया। फिलहाल भारत में दक्षिण अफ्रीका सरकार की रंगभेद तथा प्रजातीय पृथक्करण की नीति की कोई चर्चा नहीं होती। यह भारतीय विदेश नीति की एक घोर असफलता मानी जायगी।

भारत और एशिया अफ्रीकी देशों का संगठन

(India and Afro Asian Solidarity)

अन्तर एशियाई सम्मेलन (1947)।—एशियाई देशों को संगठित करने में भारत की रुचि बहुत पुरानी है। स्वतन्त्रता संग्राम के समय से ही जैसा कि हम इस

दिया कि एशिया के देशों पर यूरोपीय उपनिवेशवाद को लादे रहना अब असम्भव है।

बाडुंग सम्मेलन —इण्डोनेशिया की समस्या पर विचार करनेवाला दिल्ली का एशियाई सम्मेलन एशिया के इति हास में एक वजन बिंदु माना जा सकता है। इससे स्पष्टता न इस बात को सिद्ध कर दिया कि यदि एशिया के राज्य एक दूसरे के साथ सहयोग करते रहें तो उनकी अधि क समस्याओं का समाधान हो सकता है। अतएव उसी समय से एक दूसरे सम्मेलन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इसी समय जनवरी 1954 में लंका के प्रधान मन्त्री सर जान कोटेलवाला भारत आये और उनके सुझाव पर बर्मा लंका भारत इण्डोनेशिया तथा पाकिस्तान के प्रधान मन्त्रियों का एक सम्मेलन 28 अप्रैल 1954 को कोलम्बो में हुआ। यहाँ पर अनेक प्रश्नों पर विचार हुआ और यह तय किया गया कि एशिया और अफ्रिका के देशों का एक वृहत् सम्मेलन बुलाने का आयोजन किया जाय। इस सम्मेलन के स्वरूप पर विचार करने के लिए इन पाँचों राष्ट्रों के प्रधान मन्त्रियों का एक और सम्मेलन 28 दिसम्बर 1954 को बोगोर में हुआ। यहाँ एशिया और अफ्रिका के महाद्वीपों के राष्ट्रों में सद्भावना और सहयोग विकसित करने के लिए और पारस्परिक आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं एवं विश्व शान्ति और सहयोग में अपना योग दान पर विचार करने के लिए एशियाई और अफ्रिकी राष्ट्रों का एक सम्मेलन आयोजित करने का निश्चय किया गया।

इस निश्चय के अनुसार 1955 में 18 अप्रैल से 24 अप्रैल तक इण्डोनेशिया के नगर बांडुंग में एशिया और अफ्रिका के उनतीस राष्ट्रों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में शामिल हुए। ये राष्ट्र थे—भारत पाकिस्तान बरमा लंका इण्डोनेशिया मिस्र सूडान गोल्डकोस्ट साइबेरिया इराक लिबिया फारस सीरिया लेबनान जार्डन मध्य अफ्रिका संघ सऊदी अरब यमन और नेपाल। थाइलैंड और फिलीपाइन्स ने निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया था।

सम्मेलन का उद्घाटन इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने किया। अपने स्वागत भाषण में इन्होंने कहा कि मुझे आशा है यह सम्मेलन मानव समाज का मार्ग निर्देशन करेगा। मुझे आशा है कि यह इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करेगा कि एशिया और अफ्रिका का पुनर्जन्म हो गया है।

सम्मेलन की वास्तविक उपलब्धियों का सबसे अच्छा तथा विस्तारपूर्वक उल्लेख अन्तिम दिन प्रकाशित एक विज्ञप्ति में किया गया। इसमें कमेटी की आवश्यकता एवं राष्ट्रसंघीय फंड (U N Fund) तकनीकी ज्ञान तथा बहुपक्षीय व्यापार के आदान प्रदान एवं भिन्न भिन्न प्रकार के विचारों द्वारा विकास के एशियाई एवं अफ्रिका क्षेत्र के आर्थिक विकास की आवश्यकता पर जोर दिया। इसने एशिया और अफ्रिका के देशों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व से एक अन्तरराष्ट्रीय अणुशक्ति संस्था (International Atomic Energy Agency) की स्थापना की माँग की। प्रजाति भेद वाद तथा उपनिवेशवाद के प्रत्येक स्वरूप—विशेषकर उत्तरी तथा दक्षिण अफ्रिका के

राष्ट्र रूप से स्वीकार किया गया और यह भी माना कि उन्हें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा करने का संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार का अधिकार है पर इसके साथ ही यह चेतावनी भी दी गयी कि इस प्रकार का सामूहिक सुरक्षा प्रबन्ध किसी बड़े राष्ट्र के स्वार्थ साधन के उपकरणों के रूप में परिणत न होने दिया जाय।[1]

बांडुंग सम्मेलन के परिणामस्वरूप साम्यवादी चीन को एशिया के देशों के मध्य अपनी स्थिति को स्पष्ट करने का मौका मिला। अभी तक चीन के सम्बन्ध में संसार में कई तरह की भ्रान्तियाँ थीं लेकिन बांडुंग सम्मेलन में चीन के प्रधान मंत्री चाऊ एन लाई ने एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जिसके फलस्वरूप चीन की नयी सरकार एशियाई देशों में लोकप्रियता हासिल करने लगी। चाऊ एन-लाई ने सम्मेलन में लाये गये प्रस्तावों का जोरदार समर्थन किया और बारबार कहा कि हम एशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारा लक्ष्य भी एक है। हम एशिया और अफ्रिकावासी सदैव ही एक दूसरे के प्रति सहानुभूति और प्रेम रखते रहे हैं। एशिया और अफ्रिका के हमलोग उपनिवेशवाद की लूट और अत्याचारों के शिकार हुए हैं और इस प्रकार गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति में रहने के लिए मजबूर किये गये हैं। हमारी आवाज दबायी गई है। हमारी महत्वाकांक्षाओं को कुचला गया है और हमारा भाग्य दूसरों की दया पर निर्भर रहा है। अतएव हम दासता के विरुद्ध विरोध करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं है।

चीन के प्रधान मंत्री ने एशिया और अफ्रिका के राष्ट्रीय आन्दोलनों का जोरदार समर्थन किया। एशियाई तथा अफ्रिकी देशों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। चीन जो अभी तक अज्ञात देश था एशियाई देशों की नजरों में प्रवेश पा गया यद्यपि बाद में जाकर यह प्रकट हो गया कि चाऊ एन लाई के इस नम्र और अत्यधिक विनयशील एवं सहयोगात्मक रुख का शीघ्र वास्तविक रहस्य क्या था। बाद में चीन की नीति ने स्पष्ट कर दिया कि उसने बांडुंग के प्लेटफार्म को केवल प्रचार के लिए प्रयोग किया था।

बांडुंग सम्मेलन प्रारम्भ होने के पूर्व पश्चिमी देशों को उसके उद्देश्यों और लक्ष्यों के सम्बन्ध में बहुत सन्देह था। उन्हें भय था कि पश्चिम के विरोधी तत्व सम्मेलन का उपयोग एशिया और अफ्रिका में पश्चिम विरोधी भावना को और अधिक उग्र बनाने और समस्त पश्चिमी देशों की कटु आलोचना करने के लिए करेंगे पर बांडुंग सम्मेलन की कार्यवाही जिस ढंग पर हुई और जिस तरह धैर्य विवेक और दूरदर्शिता का परिचय बाकी एशियाई देशों के नेताओं ने सम्मेलन के मंच पर दिया उससे इस

1 M S Rajan *India in World Affairs* (1954 56) pp 201 240

स्रोत भारतवर्ष है। इसी कारण भारत बाडुंग सम्मेलन के बाद भी अफ्रो एशियाई देशों के साथ सम्मेलनों में प्रमुख भाग लेता रहा है।

अफ्रिका एशिया समन्वय सम्मेलन

अफ्रीका एशिया समन्वय सम्मेलन (Afro-Asian Solidarity Conference) का अधिवेशन अराजकीय स्तर पर काहिरा (मिस्र) में 19 7 के 26 दिसम्बर से 19 8 की 1 जनवरी तक हुआ। सम्मेलन में लगभग चालीस देशों व अनेक देशों एवं औपनिवेशिक क्षेत्रों से पाँच सौ प्रतिनिधि आये थे। कुछ राष्ट्रों ने इनको इतर साम्यवादी समझकर इसमें अपना प्रतिनिधि भेजना अस्वीकार कर दिया। ये राष्ट्र थे सऊदी अरेबिया पाकिस्तान फिलीपाइन्स दक्षिण वियतनाम मोरक्को मलाया कम्बोडिया और लाओस। सोवियत संघ से यहाँ एक पर्यवेक्षक के रूप में एक प्रतिनिधि मण्डल आया था। इस सम्मेलन में कई प्रस्ताव किये गये। साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद और प्रजाति भेद भाव आदि की निन्दा की गयी। इन सभी प्रस्तावों में भारत का मुख्य हाथ था। केनिया कमरून युगाण्डा मैडागास्कर सोमालीलैंड आदि देशों की स्वतन्त्रता एवं *साइप्रस व आत्मनिर्णय की माँग की गयी* उत्तर दक्षिण कोरिया एवं उत्तर और दक्षिण वियतनाम मिला देने का समर्थन किया गया बगदाद सन्धि और आइजनहावर सिद्धान्त को अरब राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का बाधक तथा इजरायल को साम्राज्यवाद का एक अड्डा कहा गया एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ में साम्यवादी चीन और मंगोलिया की सदस्यता पर जोर दिया गया। काहिरा में इस संगठन को एक स्थायी संस्था कायम करने का भी निश्चय हुआ। इस सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन अप्रिल 1960 में कोनाक्री में हुआ।

अफ्रिका एशिया आर्थिक सम्मेलन

यह सम्मेलन 19 8 के 8 से 11 दिसम्बर तक काहिरा (मिस्र) में हुआ जिसमें अफ्रिका और एशिया के बीस देशों से व्यवसाय मण्डल के प्रतिनिधि आये थे। भारत भी इसमें सम्मिलित था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता मिस्र के म म्मद रशीद ने की। सम्मेलन ने दोनों महाद्वीपों के आर्थिक सहयोग के लिए एक संस्था—अफ्रीका एशिया आर्थिक सहयोग संगठन (Afro Asian Economic Co-operation Organisation) की स्थापना की जिसका तात्कालिक कार्यालय काहिरा में रखा गया। संगठन की परामर्शदात्री समिति बनायी गयी जिसमें घाना इथियोपिया घाना इण्डोनेशिया भारत इराक जिबूती लिबिया पाकिस्तान सूडान और संयुक्त अरब गणराज्य के प्रतिनिधि रखे गये। संगठन की रूपरेखा तैयार करने का भार इसी समिति पर छोड़ा गया। सम्मेलन में दोनों महाद्वीपों के उद्योग धन्धों और वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति के सम्बन्ध में कई दूसरे प्रस्ताव भी पास किये गये। इस सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन 30 अप्रिल 1960 को काहिरा में हुआ।

बेलग्रेड सम्मेलन

एशियाई और अफ्रीका महाद्वीपों के तटस्थ राष्ट्रों का पहला सम्मेलन सितम्बर 1961 में यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में हुआ। इसको तटस्थ राष्ट्रों का सम्मेलन कहना अधिक उचित है क्योंकि इसमें एशिया अफ्रीका महाद्वीपों के केवल तटस्थ देश ही शामिल हुए थे। बेलग्रेड सम्मेलन के पहले राष्ट्रपति सुकर्ण ने एक दूसरा बाण्डुंग सम्मेलन को बुलाने का प्रस्ताव रखा। कम्युनिस्ट चीन ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और इस कारण द्वितीय बाण्डुंग सम्मेलन की योजना सफल नहीं हो सकी क्योंकि यूगोस्लाविया, संयुक्त अरब गणराज्य तथा भारत तीनों चीन के विरोधी हो गये थे। इसी बीच अप्रैल 1961 में राष्ट्रपति टीटो संयुक्त अरब गणराज्य गये और वहीं बेलग्रेड सम्मेलन का निश्चय किया गया। 26 अप्रैल 1961 को राष्ट्रपति नासिर और टीटो ने पच्चीस तटस्थ राष्ट्रों को पत्र भेजा और उन्हें एक सम्मेलन में शामिल होने के लिए निमन्त्रित किया। सम्मेलन की तैयारी करने के लिए पहले काहिरा में तटस्थ राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ (5-12 जून) तदुपरान्त 1 सितम्बर 1961 को बेलग्रेड में पच्चीस तटस्थ राष्ट्रों के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन शुरू हुआ। सम्मेलन को बुलाने के निम्नलिखित उद्देश्य थे —

इस समय जर्मनी की समस्या को लेकर शीत-युद्ध बहुत उग्र हो गया था और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निरन्तर खराब हो रहा था। संसार की शान्ति के लिए बहुत ही खतरनाक वातावरण उत्पन्न हो गया था। सम्मेलन ने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ से अनुरोध किया कि वे शीत-युद्ध को ज्यादा कम करें और जर्मनी की समस्या का समाधान ढूँढ निकालें। हथियारबन्दी की होड़ और परमाणविक परीक्षा भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। सम्मेलन ने इस ओर भी सम्बद्ध राष्ट्रों का ध्यान आकृष्ट कराया। लेकिन सम्मेलन का यह दुर्भाग्य था कि जिस दिन उसकी कार्यवाही शुरू हुई उसी दिन सोवियत संघ ने पुनः परमाणविक परीक्षण शुरू कर दिया। फिर भी सम्मेलन ने निश्चय किया कि तटस्थ राष्ट्रों की ओर से एक प्रतिनिधिमण्डल संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ भेजा जाय और राष्ट्रपति कैनेडी तथा प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव से अनुरोध किया जाय कि प्रत्यक्ष वार्ता करके वे निरस्त्रीकरण, परीक्षण तथा शीत-युद्ध की समस्याओं का समाधान करें। सम्मेलन ने *इन्हीं समस्याओं पर विशेष जोर दिया यद्यपि उपनिवेशवाद का विरोध भी इसकी* कार्यवाही का मुख्य विषय रहा। सम्मेलन ने यह विचार व्यक्त किया कि हर तरह का उपनिवेशवाद तथा प्रजातीय विभेदवाद संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के सिद्धान्तों का उल्लंघन है और संसार के पराधीन देशों को तुरत ही मुक्त किया जाय।

बेलग्रेड सम्मेलन में एशियाई देशों के बीच मतभेद भी स्पष्ट हुआ। इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने उपनिवेशवाद को समकालीन विश्व की सभी बुराइयों की जड़ बताया। उनका कहना था कि विश्व की एकमात्र समस्या उपनिवेशवाद है और संसार के तटस्थ राष्ट्रों को उपनिवेशवाद के अन्त के लिए प्रयास करना चाहिए। इसके

विपरीत भारत के प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने विश्व शांति की स्थापना को मुख्य स्थान दिया और इस बात पर उन्हें राष्ट्रपति टीटो तथा कर्नल नासिर का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। इस प्रकार सम्मेलन में दो दृष्टिकोणों में परस्पर टक्कर हो गयी और सम्मेलन विफल होते होते बचा। अन्त में निश्चय हुआ कि सम्मेलन के प्रस्ताव को लेकर राष्ट्रपति सुकर्ण तथा टीटो अमेरिका जायें और वहाँ राष्ट्रपति कैनेडी से मिलकर उन्हें सम्मेलन के निर्णयों से अवगत करायें। इस तरह का दायित्व पंडित नेहरू और इनक्रुमा को दिया गया जो इस उद्देश्य से मिल कर मास्को गये। वाशिंगटन और मास्को में शांति के इन दूतों का यथोचित सत्कार हुआ लेकिन वास्तविक राजनीति पर उनका कोई प्रभाव भी पड़ा यह एक संदिग्ध बात थी।

पश्चिमी राष्ट्र बेलग्रेड सम्मेलन से बहुत नाराज थे क्योंकि इसके द्वारा सोवियत संघ की नीति पर उतना जोरदार प्रहार नहीं किया गया था जितना अमरीकी गुट की नीति पर। सम्मेलन के महत्त्व को संसार के हर देश में समझा गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि दुनिया में एक नयी शक्ति का आविर्भाव हो रहा है। लेकिन सम्मेलन की कार्यवाही ने एशियाई देशों के आपसी मतभेद और फूट को भी स्पष्ट कर दिया। उसी समय यह स्पष्ट हो गया कि एशियाई अफ्रीकी देशों को एक शक्तिशाली गुट में संगठित करने का प्रयास अनेक कठिनाइयों से भरा पड़ा है और उनके बीच जो दरार है उसको भरा नहीं जा सकता है। कम्युनिस्ट चीन की नीति ने इस मतभेद को और भी गहरा कर दिया। यद्यपि चीन को इस सम्मेलन में प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हुआ था (क्योंकि वह तटस्थ राज्य नहीं था) फिर भी इण्डोनेशिया के जरिये चीन का प्रभाव सम्मेलन में काम करता रहा। चीन की विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा ने एशियाई अफ्रीकी संगठन और एकता की आशा पर पानी फेर दिया।

काहिरा सम्मेलन

तटस्थ राज्यों का दूसरा सम्मेलन और एशियाई अफ्रीकी राज्यों का पाँचवाँ सम्मेलन 5 अक्टूबर 1964 को काहिरा में शुरू हुआ और 11 अक्टूबर को यह खत्म हुआ। इस सम्मेलन का उद्देश्य तटस्थतावादी क्षेत्र को विस्तृत करना तथा इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव खत्म करना था। इस सम्मेलन में भी पुनः दो विचारधाराओं के बीच संघर्ष उत्पन्न हो गया और सम्मेलन विफल होते होते बचा। सम्मेलन के अन्त में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई जिसमें उपनिवेशवाद के पूर्ण अन्त की बात कही गयी। विज्ञप्ति में हर तरह के उपनिवेशवाद की निन्दा की गयी। यह कहा गया कि स्वाधीन होना प्रत्येक राष्ट्र का अधिकार है और पराधीन देश अपनी स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए उपनिवेशवाद राज्यों के खिलाफ शस्त्र प्रयोग कर सकते हैं। सम्मेलन ने संसार की मुख्य-मुख्य समस्याओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं

1 राष्ट्रों को अपने आपसी झगड़े शांतिपूर्ण ढंग से तय करना चाहिए और उन्हें शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांत में पूरी आस्था रखनी चाहिए।

कर दिया जाय। साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि सम्मेलन होने की पूर्व स्थिति पर विचार करने के लिए 18 अक्टूबर को विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हो। इस निश्चय के अनुसार अल्जीयर्स में विदेश मंत्रियों का पुनः सम्मेलन शुरू हुआ और अल्जीरिया की असाधारण स्थिति को ध्यान में रखते हुए 1 नवम्बर 1965 को यह निश्चय किया गया कि अफ्रीकी एशियाई देशों का सम्मेलन फिलहाल अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया जाय।

अल्जीयर्स में विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन के इस निर्णय से एशियाई-अफ्रीकी संगठन की भावना को गहरी ठेस पहुँची। इस निश्चय के बाद अब इस बात पर भी संदेह होने लगा कि एशियाई अफ्रीकी संगठन की भावना नामक कोई चीज है भी या नहीं। सम्मेलन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर देने से यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अब एशियाई अफ्रीकी देशों का कोई सम्मेलन कभी होगा। इसकी सारी जिम्मेवारी चीन पर है। शुरू में जब जून 1955 में यही सम्मेलन शुरू होनेवाला था और अल्जीरिया के विरोध से उत्पन्न परिस्थिति के कारण इसे स्थगित करना आवश्यक था तो चीन ने इस बात का जी-तोड़ प्रयास किया कि सम्मेलन पूर्व निश्चित योजना के अनुसार अवश्य हो लेकिन जब नवम्बर में सम्मेलन शुरू करने की बात आयी तो उसने इसका बड़ा कड़ा विरोध किया और यह धमकी दी कि वह सम्मेलन का बहिष्कार करेगा। इस बार निश्चित था कि सम्मेलन में चीन की नीति का भण्डाफोड़ होता और एशियाई अफ्रीकी देशों के बीच वह बड़ा बदनाम होता। इसके अतिरिक्त चीन के गुट में इस समय शान्ति नहीं थी। भारत के साथ युद्ध में हारकर पाकिस्तान पस्त हुआ था। इण्डोनेशिया में आन्तरिक उपद्रव हो रहे थे। चीन को अपने इन दो सहयोगी राष्ट्रों के सहयोग मिलने की कोई आशा नहीं थी। अतएव उसने सम्मेलन को अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित करने की नीति का अवलम्बन किया और इसमें उसको सफलता भी प्राप्त हुई। एशियाई अफ्रीकी गुट में फूट पैदा करनेवाली चीन की नीति सफल हो गयी और इस प्रकार बाण्डुंग की भावना का अन्त हो गया। पुनः यह भावना पनप सकेगी यह एक संदिग्ध विषय है।

1966 का तीन तटस्थ राष्ट्रों का दिल्ली सम्मेलन

चीन की हरकतों से अल्जीयर्स सम्मेलन की असफलता के बाद एशियाई देशों के संगठन के आन्दोलन को जबर्दस्त धक्का लगा। अतएव एशियाई देशों को संगठित करने की आवश्यकता फिर से महसूस की जाने लगी। भारत ने पुनः इस दिशा में कदम उठाया और तीन तटस्थ देशों—भारत, संयुक्त अरब गणराज्य तथा युगोस्लाविया के राज्याध्यक्षों का एक सम्मेलन नयी दिल्ली में आयोजित किया। 21 अक्टूबर 1966 को प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी, राष्ट्रपति नासिर और राष्ट्रपति टीटो का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। दिल्ली के घाते में कथ... इन तीनों देशों के राज्याध्यक्षों का सम्मेलन इसके पूर्व 1961 में हुआ था। सम्मेलन में य विचार

वियतनाम से बाहरी सेनाओं का हटना बिलकुल जरूरी हो गया है। प्रेसिडेंट नासिर ने स्पष्ट किया कि बाहरी फौजों से उनका मतलब अमरीकी सेना से है क्योंकि यह नहीं लगता कि दक्षिण वियतनाम में उत्तर वियतनाम की सेनाएँ हैं। जहाँ तक वियतकांग का ताल्लुक है वह दक्षिण वियतनाम का ही एक टुकड़ा है और दक्षिण वियतनाम का गृहयुद्ध पूरी तौर पर युद्ध है जिसमें दखल देने का कोई अधिकार अमरीका को नहीं है।

सम्मेलन में तटस्थता की अनिवार्यता का सवाल भी उठा। यह बात जोर देकर कही गयी कि बदली हुई परिस्थिति में भी तटस्थता का महत्व खोया नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि उसे किस तरह अधिक सक्रिय और प्रभावशाली बनाया जाय। तीनों नेताओं का मत था पिछले कुछ वर्षों में तटस्थता में यकीन रखने वाले देशों की संख्या घटी नहीं बढ़ी ही है। तीनों नेताओं ने यह भी स्वीकार किया कि शांति के प्रयत्नों में भी वृद्धि हुई है। यह सही है कि तटस्थ देशों के अपने खतरे बढ़ गये हैं मगर इसके बावजूद तटस्थता आज भी अपनी आजादी को सुरक्षित रखने का एकमात्र तरीका है। इसके अलावा इन तीनों देशों के आपसी हितों की समस्याओं पर भी चर्चा हुई और यह पाया गया कि जहाँ तक आर्थिक [illegible] का ताल्लुक है तीनों में और अधिक सहयोग होना चाहिए। तीनों नेताओं ने सुझाव दिया है कि इन देशों के अर्थ मन्त्रियों का एक सम्मेलन हो जो इस बात पर विचार कर कि अपने आर्थिक स्रोतों का किस तरह विकास किया जाय जिससे परनिर्भरता का संकट कम हो। इस सम्मेलन के अर्थव्यवस्था सम्बन्धी नतीजे छोटे देशों के लिए मार्गदर्शक साबित हुए। अबतक साम्राज्यवाद से केवल राजनीतिक स्तर पर लड़ाई लड़ी जाती रही है लेकिन अब उसके विरुद्ध आर्थिक मोर्चा खोलने की जो इच्छा तीन देशों ने जाहिर की वह साम्राज्यवाद को सच्चे अर्थों में कमजोर और निष्प्रभ करनेवाली थी।

सितम्बर 1970 में एशियाई अफ्रीकी देशों के संगठन आन्दोलन और तटस्थतावाद को एक और धक्का लगा जब संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति अब्दुल नासिर की एकाएक मृत्यु हो गयी। राष्ट्रपति नासिर तटस्थ राष्ट्रों की शक्ति बढ़ाने का प्रयास करते रहे थे। कहना न होगा कि उनके निधन से पंडित नेहरू के बाद तटस्थता का एक और मशाल बुझ गया।

1970 का लुसाका सम्मेलन और भारत

बेलग्रेड सम्मेलन—गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का पिछला सम्मेलन 1964 में हुआ था। तबतक संसार की राजनीतिक मंडी में निरपेक्ष राष्ट्रों का भाव बढ़ा चढ़ा बना हुआ था लेकिन उसके उपरान्त पाँच-छह वर्षों के भीतर अनेक गुट निरपेक्ष देशों का राजनीतिक और सामरिक पराभव हुआ और वे अपनी भीतरी समस्याओं में उलझ गये। अनेक छोटे छोटे राष्ट्रों ने अपने पड़ोसी देशों से समर और शत्रुता में स्वयं को जिस तरह उलझा लिया उससे सिद्धान्तों और से[illegible] सी अनेक सम्पियों से

संकेत कर दिया गया था कि अगर वह सम्मेलन में शामिल होना चाहता है तो उसका स्वागत है लेकिन इसके पहले उसे सिआटो और सेंटो सैनिक संधियों से अलग होना पड़ेगा। पाकिस्तान की ओर से यह तर्क दिया गया कि सैनिक संधि में उसकी उपस्थिति महज प्रतीकात्मक है। अगर सचमुच ही ऐसा है तो पाकिस्तान के लिए इन संधियों से अलग होना और भी आसान होना चाहिए। जिन आधारों पर पाकिस्तान को अब शामिल नहीं किया गया है उन्हीं आधारों पर सोवियत संघ और चीन को भी निरपेक्ष राष्ट्र नहीं माना गया।

सम्मेलन में कुछ राष्ट्र चेकोस्लोवाकिया का मामला भी उठाने की इच्छा रखते थे। अपनी ओर से युगोस्लाविया को इस पर कोई आपत्ति नहीं होती विशेष रूप से इसलिए कि चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप पर सबसे पहले युगोस्लाविया ने ही प्रतिक्रिया की थी लेकिन युगोस्लाविया निरपेक्ष सम्मेलन की मेजबानी कर रहा था और वह चेकोस्लोवाकिया पर बहस को प्रोत्साहन देकर कुछ अन्य निरपेक्ष राष्ट्रों को जिनका कि सोवियत संघ से अंतरंग संबंध था उलझन में नहीं डालना चाहता था।

सम्मेलन में पारित प्रस्तावों को भारत, अल्जीरिया, युगोस्लाविया, नाइजीरिया, जाम्बिया, केन्या और संयुक्त अरब गणराज्य ने बहुत ध्यानपूर्वक जाँच पड़ताल के बाद प्रकाशनार्थ भेज दिया। प्रस्ताव में इजरायल, दक्षिण अफ्रीका, पुर्तगाल और रोडेशिया की कार्रवाइयों की निन्दा की गयी और उसके साथ ही साथ वियतनामी जनता का समर्थन भी किया गया। एशिया महाद्वीप में चल रहे विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय विवादों में बड़ी शक्तियों के काम की भी दबे दाँतों में निन्दा की गयी। वियतनाम के मामले में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के हस्तक्षेप को सम्मेलन ने बड़ी नजर से देखा। अधिकांश सदस्यों को इस बात का एहसास हो गया कि बड़ी बड़ी अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं की अपेक्षा तटस्थ राष्ट्रों की अपनी समस्याएं ही इतनी जटिल हैं कि सभी का ध्यान पहले वहीं की ओर जाना चाहिए। भारतीय प्रतिनिधि श्री कौल के अनुसार हम यहाँ दूसरे प्रतिनिधियों के साथ बैठकर विश्व की वर्तमान स्थिति पर विचार विमर्श करने आये थे किन्तु हमें मालूम हुआ है कि विश्व की अपेक्षा तटस्थ राष्ट्रों का वर्तमान स्थिति और उनके भविष्य की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

दारेस्सलाम की तैयारी सम्मेलन—गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का एक दूसरा सम्मेलन अप्रिल 1970 में दारेस्सलाम में हुआ जिसका उद्देश्य एक वृहत् शिखर सम्मेलन की तैयारी करना था। इसमें बावन राष्ट्र सम्मिलित हुए।

सम्मेलन शुरू होने के बहुत पहले से ही यह स्पष्ट था कि कम्बोडिया के प्रतिनिधिमण्डल के सवाल को लेकर गतिरोध उत्पन्न होगा क्योंकि कम्बोडिया के दो प्रतिनिधिमण्डल इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए पहुँच चुके थे। इधर तो राजकुमार सिहानुक के समर्थक सम्मेलन में स्थान लेने को उत्सुक थे और उधर कम्बोडिया की नयी सरकार का प्रतिनिधिमण्डल उस स्थान पर अधिकार चाहते थे। आखिर दोनों में

से कोई भी यह स्थान न ले सका। इस प्रकार सम्मेलन की शुरुआत गतिरोध से ही हुई। बाद सम्मेलन की कार्यवाही से लग रहा था कि भाग लेनेवाले सभी देश पूर्ण रूप से उद्देश्य और शांति की भावना को व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। कम्बोडिया को भारत ने तटस्थता के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और गुट निरपेक्षता की आज की स्थिति के सन्दर्भ में उचित ठहराने की भी कोशिश की लेकिन उपस्थित प्रतिनिधि इस बार गुट निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के लिए अधिक उत्साहित दिखायी नहीं पड़े। भारत शायद अपनी इस सफलता पर खुशी का एहसास कर सकता था कि गुट निरपेक्ष देशों में स्थान पाने के पाकिस्तान के प्रयत्नों को उसने असफल कर दिया। इन प्रयत्नों का असफल होना कुछ इसलिए स्वाभाविक भी था कि जोर्डन पाकिस्तान को प्रवेश कराने का मामला बहुत अच्छी तरह सम्मेलन के सामने पेश नहीं कर सका। तंजानिया और युगोस्लाविया दोनों ने भारत का ही पक्ष लिया। वैसे पाकिस्तान गुट निरपेक्षता की कोई शर्त भी पूरी नहीं करता था। इस प्रश्न पर भारत को गुट निरपेक्ष देशों में से प्रमुख का समर्थन मिलना अपने आप में एक बहुत बड़ी सफलता थी।

सम्मेलन में कई बार तो कुछ प्रश्नों पर ऐसा गतिरोध दिखायी पड़ने लगा मानो सम्मेलन असफलता की ओर बढ़ रहा हो परन्तु किसी न किसी तरह गतिरोध को दूर कर सम्मेलन ने अपना रास्ता साफ कर लिया और आखिर 1970 में ही गुट निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के आयोजन की घोषणा कर इस सम्मेलन ने अपनी सार्थकता सिद्ध कर दी। अन्तिम दिन के विचार विमर्श में फिर मतभेद पैदा हुआ और भारत, संयुक्त अरब गणराज्य और युगोस्लाविया जैसे देशों के लिए मध्यस्थता करने का काम भी बहुत कठिन दिखायी पड़ा। जब संयुक्त विज्ञप्ति का मसविदा तैयार हो गया तो पश्चिमी एशिया संकट में निहित कई पेचीदे प्रश्नों पर मतभेद की छाया पड़ रही थी।

पश्चिम एशिया की स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करने के साथ साथ दक्षिण-पूर्व एशिया में विदेशी हस्तक्षेप की निन्दा की गयी। सम्मेलन में एक सप्ताह की बहस सुनने के बाद आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि गुट निरपेक्ष देशों के अपने मतभेद —नीति और उद्देश्यों के बारे में—काफी गहरे थे। इथियोपिया के विदेश मन्त्री के भाषण में यह बात स्पष्ट नजर आ रही थी। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया कि सैनिक गठबन्धनों का विरोध करने के लिए गुट निरपेक्ष देशों के पास कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं है जिस पर वे स्वयं सहमत हों। 1961 और 1964 के सम्मेलनों में इन देशों के जो मतभेद सामने आये थे वे अभी यथावत बने हुए थे। तंजानिया के राष्ट्रपति ने अपने भाषण में गुट निरपेक्ष देशों का अन्तर विकसित देशों का मात्र प्रवक्ता बनाने अथवा इस सम्मेलन को इन देशों के एक संगठित आन्दोलन का रूप देने की जो बात कही उसे भी बहुत अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। आर्थिक प्रश्नों पर विचार के समय भी राजनीति ही सम्मेलन पर छायी रही और गुट निरपेक्ष देशों में

उद्देश्य की जा एकता स्थापित होनी चाहिए थी वह नहीं हो सकी। गैर राजनीतिक प्रश्नों पर विचार विमर्श का सिलसिला कुछ आगे बढ़ता ही था कि कोई न कोई राजनीतिक प्रश्न इस सिलसिले में बाधक बन जाता था। स्पष्ट है कि गुट निरपेक्ष देश अपनी तटस्थता को कायम रखने के साथ साथ अन्य विकसित देशों के लिए कार्य करने की जो भूमिका निभा सकते थे वह भी वे नहीं निभा पा रहे थे।

अनेक विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार विमर्श के बाद मुख्य गतिरोध उस समय उत्पन्न हुआ जब गुट निरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन के लिए जाविया की राजधानी लुसाका को चुना गया। शिखर सम्मेलन के स्थान के बारे में इधर तो अल्जीरिया और उधर जाविया का निमंत्रण अफ्रीकी राष्ट्रों और काले अफ्रीका के बीच प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया। इस प्रश्न पर विचार विनिमय के दौरान वातावरण में कुछ तनाव भी दिखायी पड़ा लेकिन अंत में अगला शिखर सम्मेलन लुसाका में होने का निश्चय हुआ। ऐसा ख्याल था कि दक्षिण अफ्रीका के बिलकुल निकट होने के कारण लुसाका सम्मेलन संसार का ध्यान दक्षिण अफ्रीका जैसे औपनिवेशिक देशों और उनकी दकियानूसी नीतियों पर दिला सकेगा और यह गुट निरपेक्ष देशों के अनेक उद्देश्यों में से एक था।

लुसाका सम्मेलन—तटस्थ राष्ट्रों का तीसरा शिखर सम्मेलन अफ्रीकी देश जाम्बिया की राजधानी लुसाका में 8 सितम्बर 1970 को प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में 63 राष्ट्रों ने भाग लिया। सम्मेलन के आरम्भ होने के पूर्व कई तरह की आशंकाएँ व्यक्त की गयी थीं। कुछ प्रेक्षकों का कहना था कि 1970 की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में विश्व तटस्थ राष्ट्रों के इस सम्मेलन की ओर अधिक ध्यान नहीं देगा और न सम्मेलन के निर्णयों को अधिक समय तक ध्यान रखा जायगा। इस तीसरी दुनिया का आज इतना प्रभाव नहीं है जितना पहले था। तटस्थता आन्दोलन की प्रतिष्ठा को सबसे अधिक धक्का तो इस बात से लगा है कि बड़े राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध बदलने लगे हैं और तीसरी दुनिया पर प्रभाव जमाने की बजाय अपने क्षेत्र से बाहर की अनेक बातों पर वे एक दूसरे से सहमत होने लगे हैं। ऐसी स्थिति में तटस्थता की भावना का अब कोई महत्त्व नहीं रहा।

इन आशंकाओं के बावजूद लुसाका सम्मेलन हुआ और कई दृष्टियों से यह सफल भी रहा। 63 राष्ट्रों के इस सम्मेलन में कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये और पिछले दो सम्मेलनों (बेलग्रेड 1961 तथा काहिरा 1964) की अपेक्षा इस बार का विचार विमर्श और वक्तव्य अधिक स्पष्ट था।

तटस्थ राष्ट्रों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाला सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पश्चिम एशिया का था जिस पर सम्मेलन ने स्पष्ट और निश्चित निर्णय लिया। पश्चिम एशिया के बारे में प्रस्ताव में केवल अरबों के पक्ष का समर्थन ही नहीं हुआ वरन् इजरायल को आवश्यकता पड़ने पर बाध्य करने तथा नाकेबन्दी तक करने की बात थी। इजरायल से उन क्षेत्रों से तुरंत अपनी फौज हटा लेने का आग्रह किया गया

जिस पर इसने 1967 के युद्ध के दौरान कब्जा किया था। पश्चिम एशिया में शांति प्रयत्नों का स्वागत करते हुए सम्मेलन ने प्रयत्नों को जारी रखने का अनुरोध किया और साथ ही हिन्द चीन में भी ऐसे ही प्रयत्न करने की सिफारिश की। भले ही संघर्ष और विवादों में फंसे हुए राष्ट्र सम्मेलन की सिफारिशों पर ध्यान न दें पर विचार विमर्श और इन प्रश्नों पर तटस्थ राष्ट्रों की प्रतिक्रिया की अनदेखी नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार वियतनाम के बारे में लुसाका सम्मेलन एक कदम पहले से आगे बढ़ा। वियतनाम से अमरिकी फौजों तथा अन्य सभी देशों की फौजें हटाने की माग की गयी। इस मामले पर हुई बहस में यह स्पष्ट हो गया कि गुट निरपेक्ष देशों में आम राय यह है कि अमरिकी फौजों ने वहाँ जाकर स्थिति बिगाड़ दी है। अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की परराष्ट्र मन्त्री श्रीमती बिन्ह को सम्मेलन में प्रमुख बनाकर यह भी सिद्ध कर दिया गया कि गुट निरपेक्ष देश राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य मार्च के साथ हैं।

कम्बोडिया के बारे में सम्मेलन में भारी बहुमत राजकुमार सिंहनुक के पक्ष में था। फिर भी व्यावहारिकता को ध्यान में रख कर राजकुमार की सरकार और लोन नोल की सरकार में से किसी को भी सम्मेलन में शामिल नहीं किया गया। वक्ताओं ने यह साफ कह दिया था कि जनरल लोन की सरकार ने राजकुमार सिंहनुक को अपदस्थ करके विदेशी हस्तक्षेप के लिए माग खोल दिया।

उपनिवेशवाद और आर्थिक प्रश्नों पर तटस्थ राष्ट्रों के परस्पर सहयोग के प्रश्न पर अधिकांश सहमति थी और ये दोनों बातें सम्मेलन की सफलता का आधार बनीं। उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में दक्षिण अफ्रिका की चर्चा स्वाभाविक थी और इस सम्बन्ध में सम्मेलन ने सदस्य देशों से स्पष्ट शब्दों में अनुरोध किया कि दक्षिण अफ्रिका की हवाई कम्पनी के विमानों को वह अपने ऊपर से होकर जाने की अनुमति न दें। यह अफ्रिका में स्वाधीनता के लिए संघर्ष करनेवाली जनता को एक प्रकार का नैतिक समर्थन देने के समान है। निस्संदेह तटस्थ राष्ट्रों द्वारा इस तरह की कार्रवाई से दक्षिण अफ्रिका पर दबाव जरूर पड़ेगा परन्तु यह कारवाई कहाँ तक कारगर होगी यह तो अन्य बहुत सी बातों पर निर्भर करेगा परन्तु औपनिवेशिक दासता में जकड़े अफ्रिकी लोगों के लिए मात्र नैतिक समर्थन देना ही काफी नहीं था। सम्मेलन ने अफ्रिकी जनता के स्वाधीनता संघर्ष के लिए धनराशि एकत्र करने का प्रस्ताव भी रखा परन्तु इसकी कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की गयी जिससे कि इस तरह की कारवाई का लाभ सीधे संघर्षरत अफ्रिकी जनता को पहुँच सके।

तटस्थ राष्ट्रों को एक सूत्र में रखनेवाले आर्थिक सहयोग के प्रश्न पर भारत ने हमेशा से ही जोर दिया है। इस बार भी आर्थिक सहयोग पर भारत की ओर से ही जोर दिया गया। विकास तथा आर्थिक उन्नति के कार्यों में सदस्य देशों द्वारा आर्थिक सहयोग की बात अल्जीयर्स के तृतीय सम्मेलन से भी बहुत पहले निश्चित की

गयी थी। इस सम्बन्ध में मंत्रियों की बैठक में कुछ निर्णय लिये गये जिन पर अमल करते रहने का अनुरोध लुसाका सम्मेलन में भी किया गया।

गुट निरपेक्ष देश गुटबन्दी के खिलाफ बने थे और यदि वे स्वयं ही अपना संगठन बना लें तो वह भी एक गुट का रूप ले लेगा। इसीलिए लुसाका में स्थायी संगठन बनाने और उसका कार्यालय स्थापित करने के प्रस्ताव को अस्वीकार किया गया। इस मामले में कुछ अफ्रीकी देश आगे थे और वे चाहते थे कि लुसाका में ही संगठन का स्थायी कार्यालय खोल दिया जाय। भारत ने कड़ा विरोध किया और संगठन नहीं बन पाया।

सम्मेलन की समाप्ति पर प्रतिनिधि दल अपने अपने देशों को लौटते समय उपलब्धि का एहसास हो रहा था और सभी की यह धारणा थी कि तीसरा तटस्थ राष्ट्र सम्मेलन केवल सफल ही नहीं रहा बल्कि उसका संचालन भी पिछले सभी सम्मेलनों की अपेक्षा कुशल और निर्बाध था। सबसे बड़ी बात तो सम्मेलन में भाग लेनेवाले प्रतिनिधियों का यह विश्वास था कि तटस्थता आज भी उनके लिए सार्थक है और आज की बाकी दुनिया के लिए भी तटस्थता ने अपना अर्थ खोया नहीं है। भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी का विचार था कि इस सम्मेलन में सहयोग की जो भावना देखी गयी उसका पूरा पूरा लाभ उठाया जाना चाहिए। प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी और युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो दोनों ने ही सम्मेलन को सफल माना है और उसकी उपलब्धियों पर हर्ष व्यक्त किया। स्वदेश रवाना होने से पहले श्रीमती इंदिरा गांधी ने भारतीय संवाददाताओं से बातचीत करते हुए सम्मेलन की सफलता पर संतोष व्यक्त किया पर उनका कहना था कि सम्मेलन के बाद की गतिविधियों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। पुर्तगाल और दक्षिण अफ्रीका से उनकी औपनिवेशिक नीतियों के कारण सम्मेलन के सदस्य देशों ने राजनैतिक सम्बन्ध विच्छेद करने का जो फैसला किया वह एक ठोस निर्णय था।

लुसाका सम्मेलन और भारत:—भारत सरकार शुरू से ही गुट निरपेक्ष देशों के इस शिखर सम्मेलन बुलाने के खिलाफ रही थी। पहले तो भारत ने कई साल तक टालमटोल की फिर जब देखा कि अधिकांश गुट निरपेक्ष देश यह चाहते हैं कि सम्मेलन हो तो भारत भी अनमने मन से राजी हुआ। जब अधिकांश देशों ने इस बात पर जोर दिया कि तीसरा शिखर सम्मेलन दिल्ली में हो तो भारत ने इन्कार कर दिया। असल गुट निरपेक्षता के स्तम्भ तीन देश रहे हैं: *भारत, युगोस्लाविया और संयुक्त अरब गणराज्य*। पहला शिखर सम्मेलन युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में हुआ था, दूसरा संयुक्त अरब गणराज्य की राजधानी काहिरा में। इसलिए तीसरा शिखर सम्मेलन भारत की राजधानी दिल्ली में होना चाहिए था और इस बात पर अनेक देशों की ओर से जोर भी दिया गया था लेकिन भारत की ओर से यह बात नहीं मानी गयी। इसका कारण यह नहीं था कि दिल्ली में ऐसे बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की सुविधा नहीं है बल्कि इसलिए कि भारत सम्मेलन को ही टालना चाहता था। फिर भारत को यह भी भय था कि कहीं पाकिस्तान इस में भाग लेने के लिए न आ टपके। पाकिस्तान को

सम्बन्धों की स्थापना के स[म्बन्ध] में गुट निरपेक्षता की नय[ी] गुट निरपेक्ष देशों को अब नये सिरे से निर्धारित करना चाहिए और अमरिका जैसे ब[ड़े] देशों के प्रभाव क्षेत्र में आये बिना उन[का] सहयोग लिया जाय। अल्जीरियाई सम्मेलन में यह सुझाव [आया] भी। [इसी प्रकार यू]गोस्लाविया ने सम्मेलन की राजनीतिक समिति में यह प्रस्ताव रखा कि [गुट निरपेक्षता] की नयी परिभाषा की जाय और गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के लिए एक नया विधान [तैयार] किया जाय। सम्मेलन के लिए एक स्थायी सचिवालय की स्थापना के लिए भी प्रस्[ताव] आया और अफ्रिका मुक्ति आन्दोलनों का सहयोग किये जाने की बात भी सम्मेलन में कई बार उठायी गयी।

गुट निरपेक्ष देशों के इस अल्जायर्स सम्मेलन में भारत ने [एक] महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। सम्मेलन के सबसे प्रमुख राजनीतिक समिति का संचालन भारत ने किया और कई प्रस्ताव भारत की इच्छानुसार पास हो गए। सभा ओर से यह माना गया कि सम्मेलन में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के व्यक्तित्व की धाक जम गयी थी और शायद ही कभी ऐसा हुआ हो जो भारतीय प्रधानमंत्री को [ऐसा] स्थान [मिला] न हुआ हो। भारत की सफलता को इस प्रकार गिना जा सकता है

1 अंतिम घोषणा पत्र में सिफारिश की गयी है कि बंगला देश को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया जाय। भारत के यत्न से कुछ अरब देशों का यह यत्न सफल नहीं हो सका कि घोषणा पत्र में यह बात न लिखी जाय।

2 घोषणा पत्र में लिखा गया कि हाल के भारत पाकिस्तान समझौते से इस उप महाद्वीप में स्थायी शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

3 भारत और युगोस्लाविया का यह आग्रह स्वीकार कर लिया गया कि गुट निरपेक्ष देशों का स्थायी कार्यालय अभी स्थापित न किया जाय।

4 भारत के आग्रह पर सम्मेलन ने प्रस्ताव पास करके निश्चय किया है कि पाँचवाँ गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन 1976 में श्रीलंका में हो। भारत की यह बात सभा ओर से स्वीकार की गयी कि अगला शिखर सम्मेलन एशिया में हो क्योंकि पहला सम्मेलन यूरोप (बेलग्रेड) में दूसरा तीसरा और चौथा अफ्रिका में हुआ था।

5 हालांकि भारत आर्थिक समिति का अध्यक्ष नहीं था। फिर भी यह स्पष्ट है कि जो आर्थिक प्रस्ताव सम्मेलन में पास किया उसका मसविदा तैयार करने में भारत का सबसे बड़ा हाथ था। आर्थिक क्षेत्र में गुट निरपेक्ष देशों का आपसी सहयोग विदेशी कम्पनियों आदि का राष्ट्रीयकरण तथा आर्थिक आजादी पर जोर देने की बात भारत लगातार कहता रहा और चौथे शिखर सम्मेलन ने थोड़े संशोधन के साथ भारत का ही मसविदा स्वीकार किया।

6 अरब इजरायल विवाद और हिन्द चीन के देशों के बारे में भारत ने मध्यस्थता करके प्रस्ताव नरम बनवा दिये और इसलिए सर्वसम्मति से उन्हें पास करने में कठिनाई नहीं हुई।

7 सम्मेलन के दौरान श्रीमती गांधी विभिन्न देशों के नेताओं से मिली। इससे कई लाभ हुए—जैसे युगांडा के राष्ट्रपति जनरल अमीन से सीधा बातचीत करने से यह लाभ हुआ कि वे युगांडा से निकाले गए भारतीयों को हर्जाना देने को

राजा हो गये। यह निश्चय किया गया कि इसके लिए एक भारतीय प्रतिनिधिमंडल बनाया जायगा और विस्तार से बातचीत करेगा। श्रीमती गांधी ने अल्जीरिया के राष्ट्रपति बूम दीएन को भी 1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध के बाद में बताकर उनकी भ्रांतियों को दूर करने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार गुट निरपेक्ष जगत में भारत ने पुनः अगुवा का स्थान प्राप्त कर लिया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारत चीन युद्ध के समय अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर भारत ने जो खोया था वह फिर प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार भारत ने एशिया और अफ्रिका के देशों को संगठित करने और उनमें सहयोग की भावना उत्पन्न करने का प्रबल प्रयास किया है। यह उसकी विदेश नीति का एक मुख्य लक्ष्य रहा है लेकिन यह आन्दोलन अब लुप्त सा होता जा रहा है और इसको जीवित रखने के लिए भारतीय कूटनीति फिलहाल बिलकुल निष्क्रिय है। एशिया और अफ्रिका के देशों के संगठन का मुख्य आधार पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध था और जसे-जसे उपनिवेशवाद का अन्त होता गया है वसे-वसे संगठन की भावना भी कमजोर होती गयी है। एशिया और अफ्रिका के विविध देशों के अपने अलग-अलग हित और स्वार्थ हैं और इन हितों के बीच परस्पर संघर्ष का हो जाना स्वाभाविक है। एशिया के महान देश भारत और चीन अपनी बांसुरी अलग अलग बजा रहे हैं। इसके कारण इस आन्दोलन को गहरा धक्का लगा है। इसके अतिरिक्त एशियाई अफ्रिकी देशों के संगठन की भावना कभी सुनिश्चित और स्पष्ट नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यह एक स्यामी और क्षणभंगुर आन्दोलन था जिसका प्रयोग कुछ अंशों में उपनिवेशवाद के विरोध में किया गया। एशियाई एकता और संगठन के आन्दोलन को इससे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता है।

फिर भी इसी सीमित दायरे में एशियाई देशों को संगठित करने में भारत की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। भारत का मत है कि औद्योगिक क्षेत्र एवं जनसंख्या की दृष्टि से एशिया और अफ्रिका का पर्याप्त महत्त्व होना चाहिए और उनकी आवाज को प्रभावपूर्ण माना जाना चाहिए। भारत ने इन महाद्वीपों के देशों की मंत्री अर्जित करने के लिए इनके आर्थिक विकास में यथासम्भव सहयोग दिया है और उनके हित एवं प्रभाव को बढ़ाने के प्रत्येक अवसर का लाभ उठाया है। जब कभी भी एशिया के लोगों के हितों को ठेस पहुँचायी जाती रही है अथवा उनकी आवाज को दबाया गया है तो भारत ने अपनी पूरी शक्ति से उसका विरोध किया है। यह भारत के लिए स्वाभाविक है क्योंकि भारत एशिया में है और यहाँ के निवासी दुनिया की आधी एशिया के केन्द्र में हैं। अतीत काल में भी भारतीय संस्कृति ने इन देशों को प्रभावित किया और स्वयं भी वह इन देशों से प्रभावित हुआ था।

भारत एशिया महाद्वीप के देशों को उनका यथोचित सम्मान एवं महत्त्व दिलाने में सदैव प्रयत्नशील रहा है, लेकिन उसने कभी भी इस महाद्वीप को अन्य महाद्वीपों के लोगों से पूरी तरह अलग रखना चाहा और न दूसरों की तुलना में अनावश्यक सर्वोच्चता प्रदान करने का पक्ष पोषण किया है। भारत एशिया के लोगों को दूसरे महाद्वीपों के लोगों के समान वह महत्त्व एवं गौरव दिलाना चाहता था जिससे कि अन्यायपूर्ण तरीके से वे एक लम्बे समय से वंचित रह गये।

अध्याय 6

महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संकटे और भारत

(Important International Crisis and India)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत का कोई महत्त्व नहीं था। वह एक गुलाम देश था और दुनिया के किसी कोने में उसकी आवाज नहीं सुनी जाती थी। दो विश्व युद्धों के बीच के काल में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़ी-बड़ी घटनाएं घटीं लेकिन भारत अपने राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से स्वयं से किसी भी घटना को निर्णायक रूप से प्रभावित नहीं कर सका। ऐसे ब्रिटिश भारतीय सरकार ब्रिटेन के विश्व व्यापी साम्राज्यवादी हितों को ध्यान में रखकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की स्थिति का प्रयोग करती रही और भारत चाहे अनचाहे अपनी स्थिति के अनुरूप विश्व राजनीति में अपनी भूमिका निभाता रहा लेकिन भारत के राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इसका कोई महत्त्व नहीं था।

अगस्त 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की इस स्थिति में एकाएक परिवर्तन आया और वह उन सारी महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में प्रत्यक्ष रूप से रुचि लेने लगा। दुनिया की प्रत्येक घटनाओं पर भारत के अपने दृष्टिकोण का विकास होने लगा। यह आवश्यक और वांछनीय था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घटनाएँ द्रुतगति से घटने लगीं। गुटों के प्रादुर्भाव और शीत-युद्ध के प्रारम्भ से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषम हो गयी और यह युद्ध तथा शान्ति का प्रश्न बन गयी। ऐसी गम्भीर परिस्थिति में भारत चुपचाप नहीं बैठ सकता था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की आवश्यकता उसके लिए सर्वोपरि थी। सारे राष्ट्र का भविष्य इसी पर निर्भर करता था। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति किसी भी हालत में भारत उदासीन नहीं रह सकता था उनमें अपनी सक्रिय भूमिका निभाना वह अपना अधिकार और कर्त्तव्य दोनों मानता था। अतएव सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से क्षीण होने पर भी वह प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय एवं प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह करने लगा। इस रूप में भारत के कार्यों ने इस बात को प्रमाणित किया कि दो प्रबल शक्तिशाली गुटों में विभाजित आधुनिक संसार की स्थिति में एक स्वतन्त्र किन्तु रचनात्मक असंलग्नता की नीति महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावकारी सिद्ध हो सकती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की भारतीय विदेश नीति का इतिहास बताता है कि अनेक संकटपूर्ण अवसरों पर भारत ने पूर्व और पश्चिम के मतभेदों की चौड़ी खाई को कम करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है। दो-तीन अवसरों पर तो उसने अपनी रचनात्मक भूमिका द्वारा तृतीय महायुद्ध के दावानल को प्रज्वलित होने से रोका है और दोनों पक्षों के मध्य शान्ति के दूत का काम किया है। युद्धोत्तर काल की कुछ

निश्चय किया गया कि कोरिया में स्वतन्त्र निर्वाचन द्वारा एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना के काम में योग प्रदान करे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कोरिया पर अस्थायी आयोग (U N Temporary Commission on Korea) को दक्षिण कोरिया में आने पर जाँच पड़ताल करने की सभी सुविधाएँ सुलभ की गयी। भारत भी इस आयोग का एक सदस्य था। आयोग को सोवियत अधिकृत उत्तरी कोरिया में प्रवेश नहीं करने दिया गया। अतः इसने विवश होकर अपनी देख रेख में दक्षिण कोरिया में 10 मई 1948 को चुनाव करा दिये जिसके फलस्वरूप 25 अगस्त 1948 को दक्षिण कोरिया में एक गणतांत्रिक सरकार की स्थापना हो गयी। सिंगमन री (Sygman Rhee) को इस गणराज्य का राष्ट्रपति चुना गया। सत्रह दिनों के बाद अमरिका ने गणराज्य का अधिकार दक्षिण कोरिया की सरकार को सौंप दिया। इसी बीच जनरल किम इल सुंग की अध्यक्षता में आम चुनाव के बाद लोकतन्त्रीय गणराज्य की स्थापना हो गयी।

12 दिसम्बर 1948 को साधारण सभा ने सिंगमनरी की सरकार को ही पूरे कोरिया की एक मात्र वैध सरकार घोषित किया तथा उत्तरी कोरिया का लोकतन्त्रीय जनगणराज्य को उपेक्षित कर दिया गया। इसके उपरान्त साधारण सभा ने अपने एक प्रस्ताव के द्वारा अमेरिका और सोवियत संघ से यह सिफारिश की कि वे अपनी सेनाएँ कोरिया से वापस बुला लें। साथ ही संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा कोरिया के एकीकरण हेतु शान्ति स्थापना का एक आयोग बनाया गया (भारत इस आयोग का सदस्य था) जिसके कार्य में साम्यवादी और सिंगमनरी दोनों ही अड़गेबाजी लगाने लगे। सोवियत संघ ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि साधारण सभा कोरिया के सम्बन्ध में कोई पग नहीं उठा सकती क्योंकि यह प्रश्न शान्ति समझौते के अधीन और उस पर विचार सम्बन्धित मित्र राष्ट्रों द्वारा किया जाना चाहिए। 25 दिसम्बर 1948 का रूस ने उत्तरी कोरिया से अपनी सेनाओं की वापसी की घोषणा की। दक्षिण में अमरीकी सैनिकों को 29 जून 1949 को वापस बुला लिया गया जिसकी पुष्टि संयुक्त राष्ट्रीय कोरियाई आयोग द्वारा की गयी। इस समय तक दक्षिणी कोरिया की सरकार को अमरिका के सभी पिछलग्गू देश और उत्तर कोरिया को सभी साम्यवादी देशों की मान्यता मिल गयी। इस हालत में एकीकरण का कार्य बड़ा कठिन हो गया। कोरिया शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया और दोनों पक्षों के बीच संघर्ष अनिवार्य प्रतीत होने लगा। सीमान्तों पर दो पक्षों के बीच दिन प्रतिदिन मुठभेड़ होती रही। ऐसी स्थिति में कोरिया की स्थिति गम्भीरतर बनती गयी।

युद्ध का प्रारम्भ।—25 जून 1950 को कोरिया में लड़ाई छिड़ गया। उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर युद्ध प्रारम्भ करने का दोषारोपण किया और दक्षिण कोरिया ने उत्तर कोरिया को आक्रामक बतलाया। संयुक्त राष्ट्रसंघ का आयोग जो इस समय कोरिया में उपस्थित था और जिसकी अध्यक्षता भारत के के पी एस मेनन (K P S Menon) कर रहे थे यह स्पष्ट किया कि यह आक्रमण उत्तर कोरिया द्वारा पूर्व आयोजित सम्पूर्ण तैयारी के साथ हुआ है।

कोरिया के संयुक्त राष्ट्र आयोग की इस सूचना पर सुरक्षा परिषद् की आवश्यक बैठक बुलायी गयी। परिषद् ने दोनों पक्षों को तुरन्त युद्ध बन्द करने तथा सेनाओं को 38 अक्षांश रेखा तक लौट जाने को कहा लेकिन दोनों पक्षों ने सुरक्षा परिषद् के इस कथन की सर्वथा अवहेलना की। अतः अमरिका के निर्देश पर सुरक्षा परिषद् ने कोरियाई युद्ध में उत्तर कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय किया। उन दिनों सोवियत रूस संघ द्वारा कम्युनिस्ट चीन को मान्यता न देने के प्रतिवादस्वरूप संघ की सभा बैठकों का बहिष्कार कर रहा था। अतः सुरक्षा परिषद् में संयुक्त राज्य अमरिका का कोरिया में सैनिक कार्यवाही का प्रस्ताव 27 जून 1950 को बड़ी सुगमता से पास हो गया। सुरक्षा परिषद् में इसके पक्ष में नौ वोट आये यूगोस्लाविया ने वोट नहीं दिया रूस अनुपस्थित था। इस प्रस्ताव में उत्तर कोरिया की सेना के कार्यों को शान्ति भंग करनेवाला घोषित करते हुए युद्ध बन्द कर देने को उत्तरी कोरिया की फौजों को 38 अक्षांश रेखा के उत्तर में लौट जाने को तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को इस प्रस्ताव के क्रियान्वित करने में सहायता देने को कहा गया था। एक दूसरे प्रस्ताव में यह सिफारिश की गयी थी कि 'संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य कोरिया के गणराज्य को ऐसी आवश्यक सहायता दें जो सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध कर सके तथा उस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रख सके।' यह प्रस्ताव सात वोटों से पास हुआ। यूगोस्लाविया तटस्थ रहा मिस्र और भारत ने वोट में भाग नहीं लिया सोवियत संघ अनुपस्थित था। 7 जुलाई 1950 को एक तीसरे प्रस्ताव में युद्ध का संयुक्त कमान बनाते हुए अमरिका को इसका सेनापति निश्चित करने को कहा।

कोरिया की समस्या पर भारतीय दृष्टिकोण—कोरिया की समस्या में भारत प्रारम्भ से ही रुचि रखता आ रहा था। इसलिए जब इस समस्या के समाधान हेतु संघ की साधारण सभा ने एक अस्थायी कोरियाई आयोग की स्थापना की तो भारत को भी इसका सदस्य बनाया गया। आयोग के भारतीय सदस्य के० पी० एस० मेनन ने समस्या में इतनी अधिक रुचि का प्रदर्शन किया कि उन्हें शीघ्र ही इसका प्रधान बना दिया गया। मेनन ने कोरिया के एकीकरण पर बड़ा जोर दिया। उन्होंने आरम्भ से ही इस बात पर बल दिया कि कोरिया की समस्या पर विचार सम्पूर्ण कोरिया को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। फरवरी 1948 में भारत ने साधारण सभा में कोरिया के चुनाव करनेवाले प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तरिम समिति का यह प्रस्ताव मान लिया कि आयोग कोरिया के जिन हिस्सों में सम्भव हो वहाँ चुनाव कराये। यह बाद में स्वरूप दिया गया था। कोरिया की आगे की सारी समस्याओं का सूत्रपात इसी प्रस्ताव ने कराया क्योंकि इसी कारण कोरिया उत्तर और दक्षिण के दो परस्पर विरोधी हिस्सों में विभक्त हो गया। कोरिया के विभाजन का उत्कट विरोधी होते हुए भी भारत ने इस प्रस्ताव का इसलिए

लिया कि इस समय तक भारत सरकार का रुख पूर्णतया कम्युनिस्ट विरोधी हो गया था।[1]

इसी बीच जून 1950 में कोरिया में युद्ध शुरू हो गया। युद्ध छिड़ने पर भारत ने निश्चित रूप से पश्चिमी गुट का समर्थन किया। भारत ने इस बात को मान लिया कि उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण किया है। यह इसलिए जान पड़ता था कि भारत स्वयं उस संयुक्त राष्ट्रीय आयोग का सदस्य था जिसने इस बात की सूचना दी थी कि उत्तर कोरिया ने ही दक्षिण कोरिया पर आक्रमण किया है। करुणाकर गुप्त का कहना है कि आयोग के दो भारतीय प्रतिनिधि थी जो इराव और डा अनूप सिंह निरपेक्ष नहीं थे। वे कम्युनिस्ट विरोधी थे और इसलिए उन्होंने भारत सरकार को गलत सूचना दी और इसी सूचना के आधार पर भारत सरकार ने अपना दृष्टिकोण निश्चित किया। 7 जुलाई को जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि जब उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया के विरुद्ध आक्रमण किया तो बिना किसी विशेष जाँच के यह स्पष्ट था कि यह एक अच्छी तरह आयोजित और बड़े पैमाने पर किया गया आक्रमण था। इस अवस्था में भारत सरकार की स्वाभाविक नीति इस आक्रमण को रोकनेवाले सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव का समर्थन करने की थी। इसलिए भारत ने सुरक्षा परिषद के प्रथम प्रस्ताव का पूरा-पूरा समर्थन किया। दूसरे प्रस्ताव पर सुरक्षा परिषद् में भारतीय प्रतिनिधि ने अनुदेशों के अभाव (lack of instruction) में मतदान नहीं किया लेकिन बाद में भारत सरकार ने सूचित किया कि वह दूसरे प्रस्ताव से भी सहमत है।

एक बार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सैनिक कार्यवाही का समर्थन करने के बाद भारत ने इस युद्ध को सीमित और बन्द करने का पूरा यत्न किया। उसने इस युद्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सहायता के लिए एक भी सैनिक दस्ता नहीं भेजा क्योंकि वह इस युद्ध के दावानल को भड़काने की सामग्री देने में सहायता नहीं करना चाहता था। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात नेहरू द्वारा समर्थित पिकिंग में भारतीय राजदूत पणिक्कर की प्रेरणा से इस युद्ध को रोकने के लिए माओ और वाशिंगटन में स्टालिन और अचेसन को लिखे गये पत्र थे। यदि वाशिंगटन नेहरू के शान्ति प्रस्तावों का उतने ही उत्साह से स्वागत करता जितने उत्साह से मास्को ने किया था तो कोरियायुद्ध बहुत जल्द समाप्त हो जाता।

युद्ध का विस्तार :—दो ही दिन के भीतर सुरक्षा परिषद् ने अमेरिका के निदेश पर तीन प्रस्ताव स्वीकार कर लिये थे। सोवियत संघ इसका विरोध किया और परिषद् की कार्यवाही में भाग लेने के लिए उसका प्रतिनिधि फिर वापस आ गया।

इसी बीच संयुक्त राष्ट्र की सेना में सोलह राष्ट्र सम्मिलित हो गये। इसका प्रधान सेनापति जनरल मैकार्थर बनाया गया। युद्ध बड़ी तेजी से चलने लगा पर

1 Karunakar Gupta *Indian Foreign Policy* p 10

2 Ibid pp 11 12

प्रारम्भ में उत्तर कोरिया को ही विजय मिलता रहा। थोड़े ही दिनों में उसने दक्षिण कोरिया की राजधानी सियोल पर कब्जा कर लिया। जब अमेरिका युद्ध में बुरी तरह हारने लगा तो उसने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कीटाणु युद्ध (Bacteriological warfare) शुरू कर दिया। यह अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन था, परन्तु युद्ध में नियम की परवाह नहीं की जाती। कीटाणु युद्ध शुरू करने से अमेरिका की स्थिति कुछ सम्हली और वह उत्तर कोरिया की सेना को पीछे की ओर हटाना शुरू किया। जब संयुक्त राष्ट्रसंघ (अर्थात अमेरिका) की सेना उत्तर में बढ़ने लगी तब भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल ने 38 अक्षांश रेखा से आगे न बढ़ने की अपील की। कोरिया के युद्ध में भारत की प्रभावकारी भूमिका का प्रारम्भ यहीं से होता है। इस समय तक भारत के दृष्टिकोण से कोरिया युद्ध के दो प्रमुख पहलू थे: (1) उत्तर कोरिया इस युद्ध में आक्रमक है और आक्रमक के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई होना चाहिए। (2) कोरिया युद्ध को विश्व युद्ध में परिणत होने की सम्भावना थी। इसलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्रवाई का समर्थन करने के बाद भारत ने इस युद्ध को सीमित और अन्त करने का पूरा यत्न किया।[1]

अब भारत का एक शान्ति प्रयास आरम्भ हुआ। इसके बाद उसने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाएं उत्तरी कोरिया की सेना को दक्षिण कोरिया से भगाकर दोनों की सीमा 38 अक्षांश पर रुक जाय तथा उससे आगे न बढ़ें। पं० नेहरू को उनके पेकिंग स्थित राजदूत से यह सूचना मिल चुकी थी कि यदि 38° अक्षांश से उत्तर में संयुक्त राष्ट्र की सेना बढ़ेगी तो चीन इसमें अवश्य हस्तक्षेप करेगा। इससे कोरिया युद्ध की जटिलता अधिक बढ़ जाएगी। अतएव भारत ने बराबर यह चाहा कि संयुक्त राष्ट्र की सेना किसी तरह 38 अक्षांश से आगे न बढ़े। यदि यह बात मान ली जाती तो कोरिया का युद्ध वहीं समाप्त हो गया होता और इतना जनधन का संहार न हुआ होता।[2]

लेकिन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने भारत की विवेकपूर्ण सलाह का आदर नहीं किया। उसकी सेना उत्तरी कोरिया में आगे बढ़ने लगी। इस पर चीन ने हस्तक्षेप किया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में चीन को आक्रामक घोषित करने का एक प्रस्ताव रखा गया। भारत ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। इसके बावजूद

---

1. In fact India's whole outlook and actions in the Korean War can only be understood from the point of view of her desire that Korean War should remain localised and that in case of extension she should not be obliged to be involved in it. That was her right position from the beginning and it was maintained all along.
—J. C. Kundra, *Indian Foreign Policy*, pp. 125-28

2. J. C. Kundra, *Indian Foreign Policy*, p. 133

प्रस्ताव पास हो गया। इसके बाद राष्ट्रपति ट्रूमन ने कोरिया में अणुबम प्रयोग करने की धमकी दी। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ गया। 5 दिसम्बर 1950 को भारत ने अरब एशियाई देशों के साथ मिलकर शान्ति के लिए अपील की। फिर जून 1950 में भारत ने युद्ध बन्द करने तथा समझौता करने का एक प्रस्ताव रखा। पर यह भी स्वीकार नहीं हुआ।[1] इस प्रकार यद्यपि भारत को कूटनीति को कोई आशातीत सफलता नहीं मिली फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे कोरिया का युद्ध विश्व युद्ध का रूप धारण करने से बच गया।

जब दोनों पक्ष युद्ध से तंग आ गये तो पानमुन जान में विराम सन्धि के लिए वार्ता चलने लगी लेकिन पानमुन जोन की सन्धि वार्ता ने एक विकट रूप धारण कर लिया। 575 बैठकों के बाद विराम सन्धि हो गयी लेकिन वास्तविक संघर्ष समाप्त न हुआ। इसमें युद्धबन्दियों के प्रत्यावर्तन का प्रश्न सबसे कठिन था। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा युद्ध में बन्दी बनाये गये कुछ सैनिक चीन और उत्तर कोरिया वापस जाना चाहते थे लेकिन रूस और चीन इन्हें वापस लौटाने पर तुले हुए थे। इस प्रश्न को हल करने के लिए भारत ने कई प्रस्ताव रखे किन्तु उन्हें सोवियत संघ ने स्वीकार नहीं किया। अन्त में मार्च 1953 में दोनों पक्षों ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जो भारतीय प्रस्ताव से बहुत मिलता जुलता था।

इस प्रस्ताव के अनुसार स्वदेश वापस नहीं जाने के इच्छुक बन्दियों को समस्या हल करने के लिए पाँच तटस्थ राष्ट्रों—भारत स्विट्जरलैण्ड स्वेडन पोलैण्ड चेकोस्लोवाकिया—का एक आयोग (Neutral Nations Repatriation Commission) नियुक्त किया गया। भारत इस आयोग का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। जेनरल थिमैया की अध्यक्षता में भारतीय सैनिकों ने बन्दियों को स्वदेश लौटाने का काम बड़ी ही सावधानी के साथ किया। इस काम को पूरा करने में भारतीय सैनिकों ने अपूर्व सहनशीलता का परिचय दिया। पूछताछ के काम में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन कठिनाइयों के बावजूद आयोग ने जनवरी 1954 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की कमान को उत्तर कोरिया के बाईस हजार युद्धबन्दी सौंपे जो चीन या उत्तर कोरिया वापस जाना नहीं चाहते थे।

कोरिया के सम्पूर्ण संकट में भारतीय नीति अत्यन्त सराहनीय रही और दोनों पक्षों ने इसकी प्रशंसा की। इस सम्बन्ध में चेस्टर बाउल्स ने लिखा है "नयी दिल्ली 38वीं अक्षांश रेखा पर युद्ध बन्द करने के लिए कह दिया। इस चेतावनी की परवाह न करते हुए हम उत्तर में बढ़े। चीन की लाल सेना ने तत्काल यालू नदी पार की। तीन वर्ष बाद अन्त में हमने उसी 38वीं अक्षांश रेखा विराम सन्धि करना स्वीकार किया। ... हजार ... अमरीकी और पता नहीं कितने चीनी और कोरियाई मारे गये तथा घायल हुए। कोरिया में शान्ति स्थापना के कार्य में भारत द्वारा किये गये योगदान की सराहना और भी अनेक स्थानों पर विभिन्न देशों में की

1 Ibid p 136

2 Karunakar Gupta *India's Foreign Policy* pp XIV XV

गया। संयुक्त राज्य अमरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने कोरिया में भारतीय संरक्षक सेना के कार्य की सराहना करते हुए कहा था विगत वर्षों में किसी अन्य सेना ने कोरिया में भारतीय सेना से अच्छा अधिक नाजुक और कठिन कार्य नहीं किया है। इन अफसरों तथा सैनिकों का कार्य भारतीय सेना की उच्चतम ख्याति के सर्वथा अनुरूप था। वे उच्चतम प्रशंसा के पात्र हैं। जुलाई 1950 में स्टालिन ने भी नेहरू की शान्ति स्थापना के कार्य की प्रशंसा की थी।

हिन्द चीन की समस्या और भारत

दक्षिण-पूर्व एशिया के हिन्द चीन पर फ्रांस का आधिपत्य 1884 में कायम हुआ था। अपने इस उपनिवेश को फ्रांस ने कई भागों में बाँट दिया था। कोचीन चीन पर उसका प्रत्यक्ष शासन था लेकिन अनाम टांगकिंग कम्बोडिया तथा लाओस फ्रांस के संरक्षित राज्य थे। 1940 में जापान के द्वितीय विश्व युद्ध में प्रवेश करने पर दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों के समान हिन्द चीन भी जापान के आधिपत्य में जाना पड़ा। युद्ध के खत्म होते ही यहाँ की स्थिति पूर्णतया बदल गया। लाओस एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्र बन गया। सम्राट सिसावाग के शासन के अन्तर्गत 11 मई 1947 को यहाँ एक संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। जुलाई 1949 को लाओस फ्रांसीसी संघ के अन्तर्गत कानूनी रूप से स्वतन्त्र देश बन गया। 15 मार्च 1945 को कम्बोडिया के प्रधान मन्त्री ने अपने देश की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। 1947 में यहाँ एक राष्ट्रीय संविधान बनाया गया और 8 नवम्बर 1949 को यहाँ की अवैम्बली ने फ्रेंच यूनियन के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में स्वीकार कर लिया।

युद्धोपरान्त वियतनाम का इतिहास लाओस और कम्बोडिया से सर्वथा भिन्न रहा। जापान के शासनकाल में ही वियतनाम में राष्ट्रवादियों का जोर बढ़ने लगा था और जापान का हटते समय इन राष्ट्रवादियों को अस्त्रशस्त्र और युद्ध-सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो गया कि दीर्घकाल तक छापामार युद्ध चला सकें। अतएव जापान की सेनाओं के हटते ही राष्ट्रवादियों ने मिलकर वियतमिन्ह लीग (स्वतन्त्रता लीग) नाम के एक क्रांतिकारी दल का संगठन कर लिया। इसका नेतृत्व साम्यवादी छापामार नेता हो-ची मिन्ह कर रहे थे। अगस्त 1945 में वियतमिन्ह लीग ने जापान द्वारा लाये गये शासक बाओ दाई को जो पहले अनाम का शासक था हटने के लिए बाध्य कर दिया। युद्ध के बाद जब यह क्षेत्र पुनः कानूनन फ्रांस को प्राप्त हुआ तो उसने बदली हुई परिस्थिति को मानने से इन्कार कर दिया। राष्ट्रवादियों से किसी प्रकार का समझौता करने के बजाय उसने उनका दमन करने का निश्चय कर लिया। इधर साम्यवादी नेता हो-ची मिन्ह को साम्यवादी चीन से पूरी सहायता मिलने लगी। 1945 से लेकर 1954 तक सम्पूर्ण वियतनाम में फ्रांस की सेनाओं और हो ची मिन्ह की सेनाओं के मध्य अनेक खूनी लड़ाइयाँ हुई जिनमें फ्रांस को अपरिमित क्षति उठानी पड़ी।

लाओस में भी फ्रांस को इसी तरह के विरोध का सामना करना पड़ा। 1949 में लाओस फ्रांसीसी संघ के अन्तर्गत स्वतन्त्र देश बना था लेकिन वहाँ के साम्यवादियों ने इस व्यवस्था को मानने से इन्कार कर दिया और इसके विरुद्ध पाथेट लाओ या लाओ भूमि नामक आन्दोलन संगठित किया और उत्तरी वियतनाम साम्यवादियों के साथ मिलकर कार्यवाही करने लगा। उनकी सेनाओं ने 1953 और 1954 के आरम्भ में अनेक सशस्त्र आक्रमण किये।

वियतनाम में साम्यवादियों और फ्रांसीसियों के बीच लगातार भीषण संघर्ष चलता रहा और इसमें साम्यवादियों का पलड़ा दिनोंदिन भारी पड़ता गया। अन्त में मई 1954 में दीन बिन फू में फ्रांस की सबसे बड़ी और निर्णायक पराजय ने फ्रांस की कमर तोड़ दी। फ्रांस को साम्यवादियों के साथ समझौता करने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह बात संयुक्त राज्य अमरिका को मंजूर नहीं थी। वह फ्रांस पर दबाव डालने लगा कि फ्रांस अमरिका से मुँहमाँगी अधिक सहायता प्राप्त करके युद्ध को जारी रखे। जब फ्रांस इसके लिए राजी नहीं हुआ तो वह स्वयं हिन्द-चीन के युद्ध में प्रत्यक्ष कूद पड़ने का प्रयास करने लगा। अमरिका के इस निश्चय ने हिन्द-चीन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक विकटतम प्रश्न बना दिया। इसके कारण तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना बहुत बढ़ गयी क्योंकि युद्ध में अमरिकी हस्तक्षेप की स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्वरूप चीन वियतनामी कम्युनिस्टों की मदद करता और रूस चीन संधि के अनुसार सोवियत संघ चीन का साथ देता।

भारत का दृष्टिकोण—हिन्द चीन के संघर्ष में भारत की दिलचस्पी बिल्कुल स्वाभाविक थी। इसका एक कारण था कि भारत वहाँ होनेवाले संघर्ष को राष्ट्रीय संघर्ष के रूप में देखता था। यह यूरोप के उपनिवेशवाद से एक एशियाई देश को मुक्ति दिलाने का प्रबल प्रयास था। द्वितीयतः भारत नहीं चाहता था कि उसके पास पड़ोस में युद्ध की यह भयानक स्थिति बनी रहे जिससे तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना थी। यदि किसी दुर्घटनावश इसने एक व्यापक युद्ध का रूप ग्रहण कर लिया तो भारत इसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता था। यह खतरा तब और बढ़ गया जब 20 मार्च 1954 को फ्रांस के प्रधान सेनाधिकारी पाल एली (Paul Ely) ने अमरिका को यह सूचित किया कि यदि उसे तुरत भारी मात्रा में सहायता प्रदान न करे अन्यथा उसे कम्युनिस्टों से संधि करने के लिए विवश होना पड़ेगा। 5 अप्रिल को अमरिकी विदेश सचिव फास्टर डलेस ने सिनेट की वैदेशिक मामलों की समिति को कहा कि अमरिका हिन्द चीन को कम्युनिस्टों के हाथ में नहीं पड़ने देगा। इसका अर्थ अमरिका द्वारा युद्ध में कूदना था।

इस संकटपूर्ण स्थिति में भारत ने इस रोग तथा निर्देशों में संयम से काम लेने का यत्न किया। 22 फरवरी 1954 को उन्होंने हिन्द चीन में दोनों पक्षों से युद्ध बन्द करने की अपील की। नेहरू ने कहा था कि यह बड़े दुःख की बात है कि दोनों पक्ष समझौता कर लेने का इरादा रखते हैं। फिर भी यह खूनी युद्ध चलता जा रहा है।

फ्रांस की सरकार ने इस अपील पर विचार किया और यद्यपि इस प्रस्ताव का कोई महत्त्वपूर्ण नतीजा नहीं निकला लेकिन शान्ति के वातावरण को प्रस्तुत करने में इससे बड़ी सहायता मिली। अप्रैल के प्रारम्भ में पश्चिमी क्षेत्रों से जब यह धमकी आयी कि यदि हिन्द चीन में चीन ने खुले रूप से हस्तक्षेप किया तो उसके विरुद्ध परमाणविक बम का प्रयोग किया जायगा तो नेहरू ने तुरत अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि शान्ति स्थापित करने का यह कोई तरीका नहीं है। धमकी का सहारा लेकर हम शान्ति नहीं स्थापित कर सकते। बाद में जब भारतीय संसद में यह सवाल पूछा गया कि क्या भारत अपने क्षेत्र से फ्रांस की मदद के लिए अमरिका वायुयानों को गुजरने देगा? इसका उत्तर स्पष्टतया नकारात्मक था।

युद्ध में स्थिति दिनोंदिन बिगड़ने के कारण फ्रांस की सरकार ने समझौता कर लेना ही उचित समझा और काफी विचार विमर्श के उपरान्त हिन्द चीन की समस्या पर विचार करने के लिए सभी पक्ष एक सम्मेलन के लिए राजी हो गये। 26 अप्रैल से 21 जुलाई 1954 तक यह सम्मेलन जनेवा में हुआ। यद्यपि इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत को आमन्त्रित नहीं किया गया था लेकिन 24 अप्रैल 1954 को प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने हिन्द चीन की समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए जनेवा सम्मेलन के विचारार्थ छः प्रस्ताव रखे। पहले प्रस्ताव में शान्ति और सन्धिवार्ता का वातावरण बनाने के लिए सब सम्बद्ध देशों से यह कहा गया था कि वे धमकियाँ न दें और योद्धा दलों को युद्ध में तेजी न लाने की सलाह दी गई थी। दूसरे प्रस्ताव में युद्ध विराम के प्रश्न पर सबसे पहले ध्यान दिया जाने का वर्णन था। तीसरे प्रस्ताव में सम्मेलन को कहा गया था कि संघर्ष समाप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हिन्द चीन की पूर्ण स्वाधीनता फ्रांसीसी सरकार द्वारा स्वीकार कर ली जाय। चौथे प्रस्ताव में दोनों पक्षों को फ्रांस और हिन्द चीन द्वारा इस प्रश्न पर सीधा वार्तालाप करके इसे हल करने को कहा गया था। पाँचवें प्रस्ताव में संयुक्त राज्य अमरिका, सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन और चीन को एक ऐसा पवित्र समझौता करने को कहा गया था जिसके अनुसार वे लड़ने वाले दोनों पक्षों को प्रत्यक्ष रूप में किसी भी प्रकार सहायता न दें। छः प्रस्ताव में इस सम्मेलन की प्रगति संयुक्त राष्ट्रसंघ को रहने देने तथा समझौता करने के लिए उसकी सहायता लेने की बात कही गयी थी। इन प्रस्तावों का जनेवा सम्मेलन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

जनेवा सम्मेलन और भारत।—हिन्द चीन युद्ध विराम के लिए की गयी नेहरू की अपील का संयुक्त राज्य अमरिका को छोड़कर संसार के लगभग सभी देशों ने स्वागत किया। श्री नेहरू ऐसी अपील करनेवाले पहले राजनीतिज्ञ थे। यद्यपि भारत को हिन्द चीन के शान्ति सम्मेलन में बुलाने के प्रयत्न सफल नहीं हुए किन्तु उसने इस युद्ध को बन्द करवाने के प्रयत्नों में कोई कमी नहीं की। उसके अनुरोध से कोलम्बो में मई 1954 में होने वाले दक्षिण पूर्व एशिया के प्रधान मन्त्रियों के

सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विशेष रूप से विचार किया। वस्तुतः इस सम्मेलन के अन्त पर जो संयुक्त विज्ञप्ति निकली उसमें नेहरू के छः सूत्री प्रस्ताव को ही दुहराया गया था। ब्रिटेन ने इस समय दक्षिण-पूर्व एशिया में शान्ति स्थापित करने के प्रयत्नों में भारत से बड़ी सहायता ली थी। श्री कृष्णमेनन जेनेवा सम्मेलन के समय वहाँ उपस्थित रहे। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ईडन ने नेहरू को लिखे एक पत्र में मेनन के शान्ति कार्य की विशेष रूप से सराहना की।[1]

हिन्द-चीन के सम्बन्ध में भारत द्वारा किये गये प्रयत्नों का मूल्यांकन करते हुए चेस्टर बाउल्स ने लिखा है "भारत ने हिन्द-चीन में फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य का समर्थन करने की निष्फलता के सम्बन्ध में हमें बार-बार चेतावनी दी थी। जनवरी 1954 में जब नेहरू ने विराम-सन्धि करने पर जोर दिया तो उत्तरदायी अमरीकियों ने उन पर साम्यवादियों के साथ सहानुभूति का दोषारोपण करते हुए यह कहा कि वह ऐसा इसलिए कह रहे हैं कि वे उनकी निकट भविष्य में होनेवाली हार से बचाना चाहते हैं। तीन महीने बाद दीन-बीन-फू का पतन हुआ और फ्रांसीसी सेना को हिन्द-चीन में भीषण सैनिक पराजय का सामना करना पड़ा।"

जेनेवा सम्मेलन को सफल बनाने में भारत की देन को सबों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। यद्यपि औपचारिक रूप से भारत को इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित नहीं किया गया था, लेकिन हिन्द-चीन की समस्या में भारत की रुचि इतनी अधिक थी कि जवाहरलाल नेहरू ने श्री कृष्ण मेनन को सम्मेलन की गतिविधि पर नजर रखने के लिए जेनेवा भेजा। सम्मेलन में नेपथ्य की कूटनीति (Behind the scene diplomacy) का बोलबाला था और इस कूटनीति में मेनन ने समझौता कराने का अथक प्रयास किया। इसी कारण जेनेवा में मेनन की उपस्थिति का स्वागत सभी पक्षों ने किया है और मेनन के मध्यस्थ हस्तक्षेप से कई ऐसी बातों पर समझौता सम्भव हो सका जिस पर वार्त्ता के टूट जाने की पूरी सम्भावना हो गयी थी। सम्मेलन के अन्त पर विभिन्न देशों के प्रतिनिधि दलों ने मेनन के सराहनीय कार्य के लिए भारत को बधाई दी। फ्रांस के प्रधान मन्त्री ने फ्रांसीसी संसद में बोलते हुए जेनेवा सम्मेलन में भारत की सराहनीय भूमिका के निर्वाह पर बधाई दी और चीन के प्रधान मन्त्री ने कहा कि जेनेवा में भारतीय कूटनीतिज्ञ की उपस्थिति से निःसन्देह ही समझौता का मार्ग प्रशस्त हुआ था।

---

1 Krishna Menon's mission had been that of a true envoy bringing with him hopes of a great absent powers India determined to smooth out the physiological difficulties which have *prevented and to a considerable extent still preven discussions from developing real ne otiations on the substance of the question*

—*Survey Interna onal Affa rs* 1954 p 47

2 M S Rajan *Ind a in World Affairs* (1954 56) p 129

एकीकरण के लिए कराये जाने वाले चुनावों का प्रबल विरोधी था। जब अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग सगोन पहुंचा तो अमरिका के नि न पर उसने इसके साथ सहयोग करने से साफ साफ इन्कार कर दिया। जनवा समझौते के प्रथम वर्षगांठ पर दक्षिणी वियतनाम ने शोक दिवस मनाया और दियेम द्वारा दक्षिण वियतनामी गुण्डों ने अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के सदस्यों को उनके होटल में घेरकर उनके समक्ष प्रदर्शन किया और अवमानना का व्यवहार किया। भारतीय सदस्य के विरुद्ध उनका आक्रोश विशेष रूप से तीव्र था। फिर भी इन्हीं परिस्थितियों में भारत अपने एक महान अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का निर्वाह करता रहा। 1964 में जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने वियतनाम में खुली आक्रामक कारवाई शुरू कर दी तब अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग व्यर्थ हो गया।

स्वेज का संकट और भारत

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण :—स्वेज नहर का निर्माण 1869 में हुआ था और इसकी देख रेख तथा संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसका शेयर ब्रिटेन और फ्रांस का था। इसकी रक्षा के लिए 1936 की संधि के अनुसार ब्रिटिश सरकार एक सेना रखती थी। द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सेनाएं इसी के अनुसार इस प्रदेश का रक्षा करती रहीं। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने पर मिस्र में राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रबल हो उठा। मिस्र के लोग ब्रिटिश सेना की उपस्थिति को देश के आत्मगौरव सर्वोच्च सत्ता तथा प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझने लगे। अतएव मिस्र ने उन्हें हटाने की मांग की लेकिन ब्रिटेन इन मांगों को अस्वीकार करता रहा। बड़ी लम्बी समझौता वार्ता के बाद 27 जुलाई 1954 को हुई संधि के अनुसार 20 जून 1956 तक ब्रिटेन ने स्वेज नहर के क्षेत्र से अपने आठ हजार सैनिक हटाकर इस प्रदेश को खाली करना स्वीकार कर लिया। समझौते के द्वारा यह भी तय हुआ कि यदि मिस्र पर तुर्की या किसी अन्य राज्य का आक्रमण हो तो ब्रिटिश सेनाएं इस क्षेत्र में पुनः आ सकती थीं। स्वेज नहर को मिस्र का अविभाज्य अंग तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का मार्ग स्वीकार किया गया और दोनों देशों ने 1888 के समझौते के अनुसार नहर में नौचालन की स्वतन्त्रता की गारण्टी के पूर्ण पालन का दृढ़ निश्चय प्रकट किया।

इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था। वह पश्चिमी साम्राज्यवाद और प्रभुता का कट्टर विरोधी था। वह अपने देश की दरिद्रता को दूर करने के लिए नील नदी पर आस्वान में बड़ा बांध बनाना चाहता था। इसके लिए अपेक्षित विशाल धनराशि उसे पश्चिम से प्राप्त हो सकती थी किन्तु जब उसके पश्चिम विरोधी तथा रूस पक्षपाती रुख के कारण पश्चिमी देशों ने उसे यह राशि देने से इन्कार किया तो उसने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करके मिस्र के विकास के लिए यह राशि प्राप्त करने का निश्चय किया। नासिर के कथनानुसार स्वेज

नहर का एक अरब डालर का मुनाफा प्रतिवर्ष कम्पनी के जरिए फ्रांस और ब्रिटेन के हिस्सेदारों का चला जाता था। इस विशाल धन प्रवाह को मिस्रवासियों के कल्याण में लगाने के उद्देश्यों से नासिर ने 26 जुलाई 1956 को स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की तथा मिस्र में स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति को जब्त कर लिया।

राष्ट्रीयकरण की प्रतिक्रिया।—स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की उद्घोषणा से फ्रांस ब्रिटेन में तहलका मच गया। ब्रिटेन की सरकार ने मिस्र के इस काम को "बेन्दाचारितापूर्ण बतलाया और 27 जुलाई को मिस्र के पास एक विरोध पत्र भेजा। नासिर ने इस विरोध पत्र को नामंजूर कर दिया। उसका कहना था कि मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण अपनी सम्प्रभुता के आधार पर किया है और साथ ही स्वेज नहर में जहाजों के आवागमन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं उपस्थित की गयी है। इस पर ब्रिटेन काफी रुष्ट हुआ और उसने मिस्र की सभी सम्पत्ति को जब्त कर लिया। मिस्र पर और भी आर्थिक प्रतिबंध लगाये गये। फ्रांस ने भी ब्रिटेन का ही अनुसरण किया। अमरिका सहित अन्य साम्राज्यवादी देशों ने भी ब्रिटेन और फ्रांस का समर्थन किया। महान शक्तियों में सोवियत संघ ने मिस्र का साथ दिया।

भारत की प्रतिक्रिया —भारत के लिए स्वेज नहर का बड़ा महत्व था क्योंकि पश्चिमी देशों से उसके भार निर्यात और आयात इस पर निर्भर करते थे। भारत में इस समय द्वितीय पंचवर्षीय योजना चल रही थी और इस योजना की सफलता बहुत हद तक स्वेज नहर से नौचालन की स्वतन्त्रता पर निर्भर थी। अतएव भारत कभी यह नहीं चाहता था कि नहर की सामान्य स्थिति में किसी तरह की गड़बड़ी हो। जिस नाटकीय ढंग से राष्ट्रपति नासिर ने राष्ट्रीयकरण की घोषणा की थी वह भारत को अवश्य ही पसन्द नहीं आया लेकिन भारत इस पहलू पर विचार नहीं कर सकता है उसका एक ही उद्देश्य था कि नहर के द्वारा नौचालन में कोई कठिनाई नहीं हो और इसका आश्वासन राष्ट्रपति नासिर ने राष्ट्रीयकरण घोषणा के समय ही दे दिया था। अतएव भारत ने राष्ट्रीयकरण की घोषणा का समर्थन किया। 1 अगस्त 1956 को एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए ज्वाहरलाल ने कहा कि मिस्र को अपने सामान्य क्षेत्र में किसी व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करने का पूरा अधिकार है। नासिर का यह काम पूर्व के राष्ट्रवाद के अनुरूप है और पश्चिमी राष्ट्रों को इसको गलत दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। पश्चिमी एशिया में इन्हें तेल की प्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं होगी। नेहरू ने पश्चिमी देशों को चेतावनी देते हुए कहा कि वे कोई ऐसा कदम नहीं उठावें जिससे कोई विस्फोटक संघर्ष प्रारम्भ हो जाय।

लन्दन-सम्मेलन —ब्रिटेन और फ्रांस के लिए स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण एक घोर वज्राघात था। इसलिए इस प्रश्न पर विचार करने के लिए 2 अगस्त को

ब्रिटेन फ्रांस और अमेरिका के विदेशी मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ। यहाँ यह निर्णय किया गया कि स्वेज संकट पर विचार करने के लिए लन्दन में चौबीस राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया जाय जहाँ स्वेज नहर के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की व्यवस्था पर विचार करने तथा मिस्र की [illegible] के साथ साथ नहर का उपयोग करने वाले अन्य राष्ट्रों के हितों पर भी विचार हो।

16 अगस्त को लन्दन में सम्मेलन शुरू हुआ। उसमें बाईस राष्ट्रों ने ही भाग लेना स्वीकार किया। सम्मेलन में तीन योजनाएं रखी गयीं डलेस योजना, नौशीराव योजना तथा मेनन योजना। डलेस योजना में 1888 के समझौते की प्रस्तावना की ही भाँति यह कहा गया था कि इस नहर को सब देशों के लिए युद्ध और शान्तिकाल में समान रूप से खुला रहना चाहिए। साथ ही इस योजना में नहर पर मिस्र की सर्वोच्च सत्ता को मान्यता दी गयी तथा नहर का संचालन के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वेज नहर की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया। इस बोर्ड को अपनी कार्य की रिपोर्ट संयुक्त राष्ट्रसंघ को देनी थी और उसके काम के लिए अधिकार एवं सुविधाएँ मिस्र की सरकार से प्राप्त करनी थी।

रूसी विदेश मंत्री शपीलोव ने अपनी योजना में मिस्र के सम्प्रभु अधिकारों को मान्यता देते सभी देशों के लिए नहर को हमेशा स्वतन्त्र और खुला रखने तथा मिस्र द्वारा नहर की सुरक्षा मरम्मत आदि की व्यवस्था की मांग की किन्तु भारतीय प्रतिनिधि कृष्ण मेनन के प्रयत्न से शपीलोव ने अपनी योजना वापस ले ली।

मेनन योजना—डलेस योजना से सर्वदा भिन्न एक योजना (मेनन योजना) भारत ने प्रस्तुत की। भारतीय प्रतिनिधि ने पहले डलेस योजना की आलोचना की और कहा कि स्वेज नहर मिस्र की सम्पत्ति है। इस अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना का अर्थ एक नये मान्डेट के साथ स्वेज नहर कम्पनी को फिर से जीवित करना है। उन्होंने कहा कि यदि सम्मेलन अमेरिका योजना को स्वीकार कर लेता है तो मिस्र से वार्ता के सारे द्वार बन्द हो जायेंगे और नतीजा कुछ भी नहीं निकलेगा।

इसके उपरान्त उन्होंने अपनी योजना पत्र की जिसमें इन शर्तों पर जोर डाला गया था। इस योजना में नहर पर मिस्र की सर्वोच्च सत्ता को और इसे सबके लिए खुला रखने का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भौगोलिक प्रतिनिधित्व के आधार पर नहर का उपयोग करनेवाले [illegible] की एक परामर्श [illegible] संस्था बनाने की बात थी।

परन्तु लन्दन सम्मेलन ने मेनन योजना को स्वीकार नहीं किया। सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमरिका का प्रभाव सर्वोपरि था। अतः 22 अगस्त को अठारह देशों ने डलेस-योजना का समर्थन कर उसे स्वीकार कर लिया। सम्मेलन द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि आस्ट्रेलिया के प्रधान मंत्री रॉबर्ट मेंजीज डलेस योजना को लेकर काहिरा जायें। मेनन ने इस निर्णय का विरोध किया। उनका कहना था कि

सम्मेलन में भाग लेनेवालों का मुख्य पक्ष—मिस्र शामिल नहीं हुआ है। इसकी अनुपस्थिति में जो निर्णय हुआ है उसे किसी भी हालत में उसको मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। मेनन का सुझाव था कि लन्दन सम्मेलन की पूरी कार्यवाही राष्ट्रपति नासिर के पास भेज दी जाए लेकिन सम्मेलन ने इस बात को भी नहीं माना।

सुरक्षा परिषद् की कार्रवाई—3 सितम्बर से 9 सितम्बर तक मेंजीज काहिरा में राष्ट्रपति नासिर से समझौता-वार्ता करते रहे लेकिन यह समझौता वार्ता असफल रही। मेंजीज द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों को राष्ट्रपति नासिर ने मिस्र की प्रभुसत्ता पर हस्तक्षेप करनेवाला कदम बताकर ठुकरा दिया।

इस मिशन के असफल होने पर 12 सितम्बर 1956 को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि ब्रिटेन फ्रांस तथा अमरिका स्वेज नहर में से गुजरनेवाले यातायात का उत्तरदायित्व लेने के लिए इसके उपयोग करनेवालों का संघ (Suez Canal Users Association) गठित कर रहे हैं। इस संघ का एक कार्यालय भी खोल दिया गया। सोवियत संघ ने इसकी कड़ी आलोचना की। भारत में भी इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। जवाहरलाल नेहरू ने इस पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि इस संघ की स्थापना से संघर्ष का क्षेत्र घटने के बजाय बढ़ेगा।

नेहरू की इस घोषणा ने ब्रिटेन और फ्रांस को आक्रामक कार्रवाई बन्द करने के लिए प्रेरित किया और 13 अक्टूबर 1956 को सारा विवाद सुरक्षा परिषद् के समक्ष रखा गया। सुरक्षा परिषद् में एक प्रस्ताव पेश हुआ जो डलेस योजना से मिलता जुलता था और जिसमें पुनः अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की बात लायी गयी थी। अतः सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग कर इसे रद्द कर दिया।

मिस्र पर आक्रमण—अब ब्रिटेन और फ्रांस मिस्र में हस्तक्षेप करने का मौका ढूंढने लगे ताकि वे स्वेज नहर पर अपना स्वत्व स्थापित कर सकें। यह मौका उन्हें शीघ्र ही मिल गया। 29 अक्टूबर 1956 को इजरायल ने अपने प्राचीन शत्रु मिस्र पर सम्भवतः उनकी सलाह अथवा प्रेरणा से अचानक आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण इतना आकस्मिक था कि इजरायली सेनाएं सिनाई प्रदेश में सहसा ही पचास मील अन्दर तक घुस गयीं और इस प्रकार उन्होंने स्वेज नहर तक की भूमि पूरी [illegible] कर ली। इस पर तुर्रा यह था कि इजरायल द्वारा यह आरोप लगाया गया कि इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मिस्र पर है जिसकी "छापामार" कार्यवाहियों ने इजरायल को ऐसा कठोर कदम उठाने को बाध्य किया है।

इजरायली आक्रमण के ठीक दूसरे ही दिन 30 अक्टूबर को ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री एन्थोनी ईडन ने ब्रिटिश लोकसभा में यह घोषणा की कि फ्रांस और ब्रिटेन की सरकार ने मिस्र एवं इजरायल से यह मांग की है कि वे परस्पर युद्ध करना बन्द करके स्वेज नहर से दस मील पर तक अपनी सेनाएं हटा लें और इस बात के लिए सम्मति प्रदान करें कि ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी सेनाएं पोर्ट सईद इस्मालिया एवं स्वेज के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अस्थायी तौर पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लें

ताकि युद्धरत दोनों पक्षों को परस्पर लड़ने से रोका जा सके और स्वेज नहर में जहाजों के स्वतन्त्र आवागमन की गारंटी दी जा सके। इस माँग का उत्तर देने के लिये मिस्र को केवल बारह घण्टे का समय दिया गया और यह चेतावनी दी गयी कि यदि इस अवधि में दोनों पक्षों ने प्रस्तावित शर्तों पर अमल नहीं किया तो ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी फौज स्थिति को सुधारने के लिए हस्तक्षेप करेंगी।

स्पष्ट रूप से स्वेज पर कब्जा जमाने का यह एक ब्रिटिश फ्रांसीसी चाल थी। मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने ब्रिटेन और फ्रांस के इस संयुक्त अल्टिमेटम को अस्वीकार कर दिया। इस पर ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी वायु सेना के हवाई जहाजों ने साइप्रस स्थित हवाई अड्डे से उड़ान भर कर मिस्र के महत्वपूर्ण सैनिक स्थलों पर हमला बोल दिया। उसी दिन सुरक्षा परिषद् में सब राष्ट्रों से मिस्र में सेना न भेजने की प्रार्थना करने वाला प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास नहीं हो सका। यह प्रस्ताव अमरिका द्वारा प्रस्तुत किया गया था जिसमें यह माँग रखी गयी थी कि इजरायल अविलम्ब अपनी सेनाएँ मिस्र से वापस बुला ले और संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य मिस्र के क्षेत्र में शक्ति का प्रयोग न करें अथवा शक्ति का प्रयोग करने की धमकी न दें।

मिस्र पर आक्रमण की भारतीय प्रतिक्रिया—मिस्र पर तीन देशों के इस हमले पर भारत में तीव्र और तत्काल प्रतिक्रिया हुई। वही पुरानी बुराई (An old familiar evil) पुराने उपनिवेशवाद को पुनर्जीवित करने का नया प्रयास (New attempt to revive the old style colonialism) नेहरू की तात्कालिक प्रतिक्रिया थी। 31 अक्टूबर को भारत सरकार की ओर से इस आक्रमण से उत्पन्न परिस्थिति पर एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ। इसमें इजरायल के आक्रमण की निन्दा बड़े कड़े शब्दों में की गयी। ब्रिटेन और फ्रांस के नग्न आक्रमण की तीव्र भर्त्सना करते हुए कहा गया कि यह पुराने उपनिवेशवाद का एशिया और अफ्रिका पर फिर से लादने का प्रयास है। जवाहरलाल नेहरू ने कहा बीसवीं शताब्दी के मध्य में हम अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के युग में जा रहे हैं जब लूट पाट करना ही पश्चिमी राष्ट्रों का मुख्य साधन होता था लेकिन अब जमाना बदल चुका है। एशिया और अफ्रिका के लोग अब जग चुके हैं और किसी मूल्य पर इस लूटखसोट को सहन नहीं करेंगे।

भारत की प्रतिक्रिया केवल भर्त्सना करने तक ही सीमित नहीं रही। वह नैतिक सूत्रों के जरिये यह इस बात का भी प्रयास करने लगा कि आक्रामकों की सेनाएँ मिस्र की भूमि को छोड़कर वापस चली जाय और युद्ध बन्द हो जाय। इस कार्य के लिए भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ को मुख्य माध्यम बनाना चाहता था। इसलिए उसने सोवियत संघ के उस सुझाव को जिसमें दूसरे बाडुंग सम्मेलन को बुलाने की बात कही गयी थी नामंजूर कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्वेज का मामला ले जाने के लिए भारतीय कूटनीति सक्रिय हो गयी।

किया। 19 जनवरी तथा 2 फरवरी 1959 को साधारण सभा ने इजरायल द्वारा फौज हटाने के तथा महासभा का इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के दो अन्य प्रस्ताव पास किये। इजरायल ने इसका भी पालन नहीं किया। इसके बाद छः राष्ट्रियों ने यह प्रस्ताव पारित किया कि सब राष्ट्र इजरायल को सैनिक तथा आर्थिक सहायता देना बन्द कर दें। इस पर पहली मार्च 1957 को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएं हटाना स्वीकार किया और 7 मार्च तक सब सेनायें मिस्र से हटा ली गयीं।

स्वेज संकट के शुरू से अन्त तक भारत की सरकार और जनता मिस्र का पूरा समर्थन करती रही। इसके साथ ही बन्द राष्ट्रपति नासिर पर मनोपूर्ण दबाव डालती रही कि वे यथोचित संयम से काम लें और ऐसा कार्य रुख न अपनायें जिससे समझौता करने में विघ्न बाधा पड़े। पश्चिम के लेखकों और प्रेक्षकों ने भी इन बातों को कबूल किया है कि स्वेज संकट को निपटाने में भारत की देन अत्यंत महत्वपूर्ण थी।[1]

हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप और भारत

हंगरी विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—हंगरी की घटना जिसका सूत्रपात सोवियत संघ के द्वारा रूप से हुआ था स्वेज संकट समसामयिक था। हंगरी विवाद के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि मध्य यूरोप के इस छोटे देश में द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत ढंग का संविधान बना और 18 अगस्त 1949 को यहाँ सोवियत समर्थक जनता का गणराज्य स्थापित हुआ। 23 अक्टूबर 1956 को हंगरी के प्रतिक्रियावादी तत्वों के द्वारा स्थापित विरोधी क्रान्ति हो गयी। इन तत्वों को संयुक्त राज्य अमरिका से सहायता मिल रही थी। क्रान्ति अथवा बगावत होने पर हंगरी की तत्कालीन सरकार ने सोवियत संघ से यह अनुरोध किया कि वह हंगरी में शान्ति स्थापित रखने के लिए सैनिक सहायता दे। सोवियत संघ सहायता से कुछ ही दिनों में विद्रोह दब गया और हंगरी सरकार की इच्छा से सोवियत सेना वापिस बुला ली गयी किन्तु सोवियत फौजों के लौटते ही विद्रोहियों ने बड़े पैमाने पर दंगे और विद्रोह शुरू कर दिये। उनकी माँग थी कि भूतपूर्व प्रधान मंत्री इमरे नेगी (Imre Nagy) को फिर से प्रधानमंत्री बनाया जाय। अतएव नेगी को पुनः प्रधानमंत्री बना दिया गया। चूँकि इस समय तक विद्रोहियों को

---

1 Throughout the period when the Suez crisis lasted the Government of India played a conciliato y and constructive role in furtherance of mutually satisfactory settlement by negotiations In fact Western observers conceded that to India it was due much of the credit for moderation and restraint in the actio s and opinions of the Egyptian Government throughout the acute phase of the Suez crisis —M S Rajan *Ind a n World Aff irs* (1954 56), p 178

अमरिका से काफी सहायता और प्रेरणा मिल चुकी थी। अतः वे हंगरी से सोवियत सेना हटाने की माँग करने लगे (1946 में रूस और हंगरी के मध्य हुए एक समझौते के अनुसार रूसी फौजें हंगरी में रहती थीं)। इमरे नगी को विवश होकर सोवियत रूस से यह माँग करना पड़ा कि वह हंगरी से अपनी फौजें हटा ले। 1 नवम्बर को नगी ने एक नयी संयुक्त सरकार बनायी वारसा पैक्ट का परित्याग कर दिया और संयुक्त राष्ट्र से अपनी तटस्थता की रक्षा करने की माँग की। पर नगी के मुख्य सहायक किन्तु रूस के प्रबल पक्षपाती जानोस कादार (Kadar) ने हंगरी के अधिकांश श्रमिकों तथा किसानों की सहायता से नगी की सरकार को उलट दिया और अपनी सरकार बनायी। तत्पश्चात उसने तुरन्त ही विद्रोहियों को दबाने के लिए सोवियत संघ से सेना भेजने का अनुरोध किया। फलतः उत्तर में 4 नवम्बर को रूसी सेनाओं ने हंगरी में प्रवेश किया और 22 नवम्बर को इमरे नगी का अपहरण कर लिया गया। रूसी सेनाओं की सहायता से कादार सरकार ने अमरिका द्वारा प्रोत्साहित क्रान्ति को बुरी तरह से कुचल दिया। अनुमानतः दो लाख हंगरी जनता को बर्बरों और आतंक अत्याचारों के कारण अपने देश से बाहर भागना पड़ा।

सुरक्षा परिषद् में हंगरी का प्रश्न—जब सोवियत संघ की सेना हंगरी में प्रतिक्रान्ति को दबाने के लिए आगे बढ़ रही थी उसी समय इमरे नगी ने सुरक्षा परिषद् से रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध अपने देश की रक्षा की प्रार्थना की। संयुक्त राज्य अमरिका को एक अच्छा अवसर मिल गया। 4 नवम्बर 1956 को उसने सुरक्षा परिषद् में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें यह आशा व्यक्त की गयी थी कि सोवियत संघ अपनी सेना को हंगरी से वापस बुलाकर अपने हस्तक्षेप का अन्त करे। प्रस्ताव पर बोलते हुए सोवियत प्रतिनिधि ने कहा कि उसकी सेना हंगरी में वहाँ की सरकार के बुलाने पर गयी और सुरक्षा परिषद् को इस बात में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। उसने सुरक्षा-परिषद् से इस प्रस्ताव को नहीं पास करने का अनुरोध किया लेकिन जब अन्त में प्रस्ताव पर मतदान हुआ तो सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग करके उसे रद्द कर दिया।

साधारण सभा में हंगरी का प्रश्न—इसके बाद संयुक्त राज्य अमरिका ने हंगरी के प्रश्न पर विचार करने के लिए साधारण सभा की बैठक की माँग की। 9 नवम्बर को साधारण सभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। यहाँ एक प्रस्ताव रखा गया जिसका आशय था कि रूस हंगरी से अपनी सेना हटा ले ताकि वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में चुनाव कराया जा सके। सोवियत प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया लेकिन इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और सभा ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इसके बाद सोवियत विरोधी प्रस्तावों का ताँता लग गया। हंगरी से सम्बन्धित दस प्रस्ताव साधारण सभा में प्रस्तुत किये गये। शीत युद्ध के महारथियों को एक अच्छा मौका मिल गया था और वे इस अवसर को किसी भी मूल्य पर खोना नहीं चाहते थे।

10 जनवरी 1957 को सभा ने एक प्रस्ताव पास करके पाँच देशों का एक समिति स्थापित की और हंगरी की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए महासचिव को भेजने का निश्चय किया लेकिन हंगरी की सरकार ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया। 3 सितम्बर को उसने यह सूचना दी कि वह महासचिव का बाद में किसी तारीख को बुडापेस्ट में स्वागत करने के लिए तैयार है किन्तु वह किसी भी हालत में निरीक्षकों को हंगरी आने की अनुमति नहीं दे सकती। इसके पूर्व 12 सितम्बर 1956 को सभा एक सोवियत विरोधी प्रस्ताव स्वीकार कर चुकी थी जिसमें कहा गया था कि उसने हंगरी की स्वतन्त्रता का अपहरण करके हंगरी की जनता के मौलिक अधिकारों के उपयोग में बाधा डालकर चार्टर का उल्लंघन किया। निष्पक्ष विचार के लोग इस प्रस्ताव की गम्भीरता को सब समझते जब साधारण सभा इसी तरह के प्रस्ताव दक्षिण अफ्रिका या फ्रांस की सरकार के विरुद्ध पास किये होती लेकिन इन देशों में अमरिका के पिछलग्गुओं का शासन था और इसलिए वहाँ मानव के मौलिक अधिकारों का दमन नहीं हो रहा था। इस कारण इन प्रस्तावों के मूल में जो बात थी वे सभा समझते थे। रूस ने इन प्रस्तावों पर जरा भी ध्यान नहीं दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ (अमरिका) को कोई सफलता नहीं मिली।

लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ में अमरिका हंगरी के प्रश्न को सघ में बार बार उठाता रहा। 10 जनवरी 1957 के प्रस्ताव के आधार पर जिस समिति का संगठन हुआ था उसको हंगरी में प्रवेश की इजाजत नहीं मिली थी। इसलिए इसने हंगरी से भाग कर आनेवाले कुछ शरणार्थियों से भेंट की और उनकी गवाही के आधार पर एक रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट में सोवियत संघ को हंगरी में हस्तक्षेप के लिए दोषी ठहराया गया। 10 सितम्बर 1957 को साधारण सभा का ग्यारहवाँ अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इस अधिवेशन में इस रिपोर्ट पर विचार हुआ और बाद में एक प्रस्ताव पास करके फिर सोवियत हस्तक्षेप की निन्दा की गयी। साथ ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्यक्ष प्रिंस वान वैथियाकोन को उत्तरदायित्व सौंपा गया कि हंगरी जाकर वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य को पूरा करने का प्रयास करें। लेकिन हंगरी की सरकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी प्रस्ताव पर राजी नहीं हुई।

हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप और भारतीय प्रतिक्रिया—हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप के प्रति प्रारम्भिक भारतीय दृष्टिकोण की आलोचना देश और विदेश दोनों जगह हुई। हंगरी में जिस समय सोवियत हस्तक्षेप शुरू हुआ उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने में भारत सरकार ने असाधारण विलम्ब किया। इसके दो कारण थे। प्रथम कारण यह था कि इसी समय स्वेज संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँचा था और भारत सरकार का ध्यान पूर्णतया उसी पर केन्द्रित था। इसके भी कई कारण थे। मिस्र और भारत का सम्बन्ध बहुत दिनों से अत्यन्त मधुर रहता आया है क्योंकि विदेश-नीति के क्षेत्र में राष्ट्रपति नासिर और प्रधान मंत्री नेहरू एक ही विचार के पोषक थे। असंलग्नता की नीति में दोनों का अटूट विश्वास था। फिर स्वेज संकट में भारत

का अपना हित बहुत हद तक जुड़ा हुआ था। यदि किसी कारणवश स्वेज नहर बन्द हो गया तो भारत की अर्थ व्यवस्था पर इसका तत्काल प्रभाव पड़ता। इस हालत में भारतीय दृष्टिकोण से स्वेज नहर की समस्या का समाधान अत्यन्त आवश्यक था। हंगरी के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी। वह भारत से बहुत दूर था और भारतीय जनता की उसमें कोई विशेष रुचि भी नहीं थी।

द्वितीयतः भारत सरकार को हंगरी में होनेवाली घटनाओं के सम्बन्ध में आधिकारिक तौर पर तुरत सूचनाएं नहीं मिल रही थीं। यह ठीक है कि हंगरी के साथ भारत का कूटनीतिक सम्बन्ध था लेकिन हंगरी के लिए पृथक रूप से कोई भारतीय दूतावास बुडापेस्ट में स्थापित नहीं था। सोवियत संघ में भारतीय राजदूत ही हंगरी के लिए भी काम करता था। जब हंगरी में घटनाएं घटने लगीं उस समय दूतावास का कोई वरिष्ठ पदाधिकारी वहां नहीं था। भारत सरकार को अन्य कई सूत्रों से खबरें अवश्य मिल रही थीं लेकिन ज्यादातर वे एक स्तर की विरोधी थीं और उन पर विश्वास करके नीति निश्चय करना सहज नहीं था। इनमें से बहुत खबरों में शीत युद्ध की छाप स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही थी। नेहरू ने कहा था कि स्वेज संकट के सम्बन्ध में सभी बातें बिल्कुल साफ हैं लेकिन हंगरी के विषय में कोई स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं हो रहा है। इस हालत में भारत सरकार हंगरी के सम्बन्ध में तुरत अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर सकती थी।

बाद में जब कुछ विश्वसनीय सूत्रों से भारत सरकार को हंगरी के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलने लगी तब इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगा। 25 अक्टूबर को जवाहरलाल ने कहा कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि हंगरी के राष्ट्रीय जागरण में सोवियत संघ ने सैनिक हस्तक्षेप किया है। बाद में लोकसभा के नवें अधिवेशन (नयी दिल्ली) में बोलते हुए उन्होंने पंचशील का उल्लेख किया और कहा कि यह दुःख और आश्चर्य की बात है कि पंचशील को माननेवाले राष्ट्र इसके सिद्धान्तों के उल्लंघन करने में कोई कसर नहीं उठा रहे हैं। नेहरू का संकेत स्पष्टतया सोवियत संघ की ओर था क्योंकि उस समय मिस्र पर आक्रमण करनेवाले देशों ने पंचशील की शक्ति को नहीं माना था।

9 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में हंगरी के प्रश्न पर विचार हुआ और सोवियत हस्तक्षेप की निन्दा करते हुए दस प्रस्ताव पेश किये गये। *इन प्रस्तावों पर बोलते हुए भारतीय प्रतिनिधि वी० के० कृष्ण मेनन ने कहा कि हंगरी* के सवाल को शीत युद्ध का प्रश्न बनाना गलत होगा। उनका कहना था कि इस तरह के प्रस्ताव को स्वीकार करके संयुक्त राष्ट्र संघ हंगरी की जनता की सहायता नहीं करेगा बल्कि वहां की समस्या और भी उलझ जायगी। मेनन के इस दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना हुई। भारत की कई राजनीतिक पार्टियों ने उन्हें वापस बुलाने की मांग की। यह कहा गया कि मेनन की गतिविधि से ऐसा प्रतीत होता है कि वह भारत का प्रतिनिधि न होकर सोवियत संघ का प्रतिनिधि हो। मेनन विरोधी आन्दोलन ने इतना

बड़ा तूल पकड़ लिया कि जवाहरलाल नेहरू को इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करना पड़ा। उन्होंने कहा कि भारत संसार के हर क्षेत्र में स्वतन्त्रता पर आक्रमण किये जाने के विरुद्ध है। हम नहीं चाहते कि शक्तिशाली राष्ट्र अपनी इच्छा मनवाने के लिए छोटे राष्ट्रों का गला दबा दें। यह साफ जाहिर है कि हंगरी की अधिकांश जनता अपनी राज्य व्यवस्था में परिवर्तन चाहती है और इसके लिए उसने विद्रोह किया जिसको विदेशी सेना द्वारा कुचला गया है। इसके बाद भी कई अवसरों पर जवाहरलाल ने हंगरी की जनता के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में जैसा कि हम देख चुके हैं हंगरी का प्रश्न बार बार उठता रहा और भारत सरकार ने इसके प्रति शीत-युद्ध की राजनीति से ऊपर उठकर अपना दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय प्रतिनिधि हमेशा यह चेतावनी देते रहे कि साधारण सभा को मामले के गुणावगुणों पर ध्यान देते हुए कोई निर्णय करना चाहिए लेकिन जब सभा ने इस पर ध्यान नहीं दिया तो भारत ने हंगरी के प्रश्न पर वैसा ही रुख अपनाया जो तटस्थ देश के अनुरूप हो सकता था। इस बात की कई क्षेत्रों में कटु आलोचनाएं हुईं लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि हंगरी के संकट के सम्बन्ध में भारत सरकार का दृष्टिकोण बिल्कुल ठीक था। भारत ने हंगरी की जनता के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की सोवियत हस्तक्षेप की निन्दा की लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के उन निर्णयों में साझेदार बनने से इन्कार कर दिया जो पूर्व और पश्चिम के शीत युद्ध से प्रभावित थे।

हंगरी के सम्बन्ध में भारत के दृष्टिकोण को अपेक्षाकृत नरम कहा गया। मिस्र पर ब्रिटेन और फ्रांस के आक्रमण के विरुद्ध भारत ने जोरों से अपनी आवाज बुलन्द की थी। कुछ लोग चाहते थे कि भारत उसी तरह और उतने ही जोर में सोवियत संघ की आलोचना करे। लेकिन वे भूल गये कि इन दोनों घटनाओं के स्वरूप में जमीन आसमान का अन्तर था। एक खुला और न्यायहीन आक्रमण था तो दूसरा हस्तक्षेप था जो वारसा संधि की शर्तों के अन्तर्गत कानूनी दृष्टि से बिल्कुल उचित था। एक साम्राज्यवाद को लादने का प्रयास था तो दूसरा हंगरी की जनता को अवांछनीय अमरिकी प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयास था। एक पुराने उपनिवेशवाद को फिर से लादने का प्रयास था तो दूसरा वैचारिक आक्रमण (Ideological aggression) के सिवा कुछ नहीं था।[1]

---

1 In the Hungarian case there was no immediate aggression as in the case of Egypt The former was really a case of continuing intervention with Soviet armed forces based in Hungary under the Warsaw Pact. In the Suez case the forces of aggression came from outside especially for the purpose and it illustrated an old familiar evil a revival of the old style colonialism The Hungarian case illustrated the new evil of ideological domination Nehru quoted in Delhi uez Budapest *The Economist* November 10 1956 P 582

कांगो की समस्या और भारत

1960 से 1963 तक कांगो के गृह युद्ध ने आधुनिक विश्व शांति पर एक महान खतरा उपस्थित कर दिया और इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पूरी तरह इसी समस्या पर केन्द्रित रही। 30 जून 1960 को बेल्जियम के लगभग पचहत्तर वर्ष तक चले आनेवाले आधिपत्य से मुक्त होने के पश्चात् स्वतन्त्र कांगो गणराज्य की स्थापना हुई लेकिन दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही इस देश पर मुसीबतों के बादल घिर आये। देश का शासन और वहां की अर्थ-व्यवस्था चलानेवाले हजारों बेल्जियन स्वतन्त्र गणराज्य में अपनी स्थिति असुरक्षित समझकर स्वदेश लौट गये। परिणाम यह हुआ कि अनुभवशून्य कांगोवासियों के हाथ में शासन चक्र तथा अर्थ व्यवस्था एकदम अस्त-व्यस्त हो गयी और कांगो के टुकड़े प्रान्त स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। प्रधान मंत्री लुमुम्बा देश में शासन और व्यवस्था केवल पचास हजार सैनिकों की कांगोली सेना द्वारा ही रख सकता था लेकिन सेना स्वयं विद्रोह पर उतारू थी। 6 जुलाई को लियोपोल्डविले की सेना में अचानक विद्रोह हो गया। 7 और 8 जुलाई को एक सौ मील दूर दक्षिण में विजविल नामक स्थान पर भी विद्रोह हो गया। विद्रोहियों की मांग वेतन में वृद्धि और सेना के उच्च पदों पर अपने देशवासियों की नियुक्ति की थी। विद्रोह का एक बड़ा कारण यह भी था कि कांगोली सैनिक अपने बेल्जियन अफसरों से उन हथियारों को छीन लेना चाहते थे जो उनके कांगो के सरकारी शस्त्रागारों में जमा कराने के स्थान पर तेजी से अपने असैनिक देशवासियों में बाँटे जा रहे थे। बेल्जियम कांगो में ऐसे हस्तक्षेप करने के अवसर की ताक में था ही। अतः उसने कांगो के बेल्जियनों की सुरक्षा के बहाने 9 जुलाई 1960 को कांगो में अपनी सेना भेज दी। इसके बाद ही बेल्जियम के षडयन्त्र से 11 जुलाई को कांगो के एक प्रान्त कटांगा ने शोम्बे के नेतृत्व में लियोपोल्डविल के विरुद्ध विद्रोह करके एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य बनाने की घोषणा कर दी और बेल्जियम ने इस सरकार को पूरी तरह सहायता देनी शुरू कर दी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय हुए एक समझौते के अनुसार कांगो के कुछ निश्चित अड्डों पर दो हजार बेल्जियन सैनिकों को रखने की व्यवस्था हुई थी परन्तु इस व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए बेल्जियन की फौजें कटांगा में पहुँचने लगीं। इस पर लुमुम्बा ने बेल्जियम सरकार से मांग की कि बेल्जियन फौजों को केवल अपने अड्डों तक ही सीमित रहना चाहिए परन्तु बेल्जियम पर इस शिकायत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसकी फौजों ने राजधानी के यूरोपियन भाग पर भी अधिकार कर लिया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में कांगो विवाद का प्रवेश—उपर्युक्त परिस्थितियों में 12 जुलाई को प्रधान मंत्री लुमुम्बा द्वारा बेल्जियम पर आक्रमण करने तथा कटांगा को पृथक् राज्य बनाने के लिए षड्यन्त्र का आरोप लगाया गया। लुमुम्बा सरकार ने बेल्जियम द्वारा कांगो पर आक्रमण माना और 12 जुलाई को संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह प्रार्थना की कि कांगो को बेल्जियम के आक्रमण से रक्षा के लिए तुरन्त सैनिक सहायता दी जाय।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में आते ही कांगो का मामला शीत युद्ध के क्षेत्र में चला गया। सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमरिका पर आरोप लगाया कि वह इस बहाने बेल्जियन सेनाओं को पुन औपनिवेशिक शासन स्थापित करने के लिए भेज रहा है। 13 जुलाई 1960 को सुरक्षा परिषद की बैठक हुई और महासचिव डाग हैमरशोल्ड ने कांगो सरकार को अविलम्ब सैनिक सहायता भेजने की प्रार्थना की। इस बैठक में रूस और अमेरिका बुरी तरह एक दूसरे के विरुद्ध उलझ पड़े। सोवियत संघ ने बेल्जियम के आक्रमण की निन्दा की तथा अमेरिका पर कांगो की स्वतन्त्रता छीनने के षड्यन्त्र का दोषारोपण किया। अमेरिका ने इस दोषारोपण का खण्डन किया। सुरक्षा परिषद ने ट्यूनिसिया का एक प्रस्ताव पास किया जिसमें बेल्जियम को कांगो से अपनी सेना को हटाने का आदेश दिया गया था और महासचिव को यह अधिकार दिया गया कि जब तक कांगो की रक्षा करनेवाली सेना अपने कार्यों में समर्थ न हो तब तक उसको आवश्यक सैनिक सहायता दी जाय। इसी समय ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि यदि कांगो पर पश्चिमी देशों का आक्रमण जारी रहा तो सोवियत संघ कारवाई करने में संकोच नहीं करेगा।

संघ द्वारा कांगो में हस्तक्षेप—सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव के अनुसार 28 जुलाई को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना कांगो पहुँच गयी। इसने बेल्जियम और कांगोली सैनिकों का संघर्ष बन्द कराया तथा हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया ताकि विदेशी सेना उनका उपयोग कर कांगो में हस्तक्षेप नहीं कर। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कांगोली सेना को प्रशिक्षण देना भी शुरू कर दिया ताकि सरकार स्वयं विद्रोहियों का दमन कर सके। जुलाई के अन्त तक संयुक्त राष्ट्र की सेनाएं कटांगा को छोड़कर कांगो के सभी प्रान्तों में पहुँच गयी। अब कांगो का मामला उलझने लगा। अगला कदम था बेल्जियन सेनाओं को हटाना तथा कटांगा की स्वतन्त्रता का अन्त करना। बेल्जियम अपनी सेना को हटाने के लिए तैयार नहीं था और कटांगा के प्रधान मन्त्री शोम्बे ने यह घोषणा की कि वह अपने प्रदेश में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना को प्रवेश नहीं करने देगा। उसने कटांगा को पूर्ण स्वतन्त्र घोषित करते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य को अनुचित बतलाया। इस हालत में यह स्पष्ट था कि रक्तपात के बिना संघ की सेना कटांगा में नहीं प्रवेश कर सकती थी। हैमरशोल्ड इससे बचना चाहता था। उसने घोषणा की कि सेना कटांगा में नहीं घुसेगी। इसके बाद सुरक्षा परिषद में इस पर विचार होने लगा। यहाँ एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें बेल्जियन फौजों को कटांगा से तुरंत हट जाने की मांग थी। इस प्रस्ताव ने कटांगा में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना का प्रवेश भी आवश्यक बतलाया। सुरक्षा परिषद के इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए महासचिव हैमरशोल्ड स्वयं दो सौ चालीस व्यक्तियों की स्वीडिश सेना लेकर कटांगा के लिए रवाना हुए और 16 अगस्त को यह सेना कटांगा में प्रवेश कर गया।

संघ द्वारा हस्तक्षेप का नतीजा यह हुआ कि कांगो में तुरत ही एक गृह-युद्ध ने भीषण रूप धारण कर लिया। वस्तुतः यह गृह-युद्ध अफ्रिकी राष्ट्रवाद और यूरोपीय

बैठक कांगो समस्या पर विचार करने के लिए बैठी तो भारत ने कुछ अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर कांगो से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पेश किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1963 के आते आते कांगो की समस्या का समाधान हो गया। इस प्रक्रिया में भारत ने संघ का अपना पूर्ण समर्थन और सहयोग दिया।

वियतनाम की समस्या और भारत

वियतनाम में अमरीका हस्तक्षेप—हिन्द चीन की समस्या का वर्णन करते समय हमने जेनेवा समझौता का उल्लेख किया है। जेनेवा समझौता के द्वारा वियतनाम का राज्य दो पृथक राज्यों में बंट गया। उत्तर वियतनाम और दक्षिण वियतनाम और यह निश्चय हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग की देख रेख में वहाँ चुनाव सम्पन्न होगा और तब देश का एकीकरण होगा। जेनेवा समझौते के बाद से वियतनाम के एकीकरण की माँग वियतनामियों द्वारा बराबर होती रही और उत्तर के कम्युनिस्टों ने इस माँग का समर्थन किया लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव में पड़कर दक्षिण वियतनाम की सरकार ने एकीकरण की सारी माँगों को ठुकरा दिया। जब शान्तिपूर्ण रास्ते से एकीकरण की सम्भावना एकदम लुप्त हो गयी तो दक्षिण वियतनाम के देशभक्तों ने एक आन्दोलन शुरू किया। उन्होंने वियतकांग नाम से एक संगठन कायम करके सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाही शुरू कर दी। वियतकांग आन्दोलन को उत्तर वियतनाम का पूरा समर्थन मिला। बाद में वियतकांगों ने युद्ध शुरू किया और जब दक्षिण वियतनामी सरकार ने इसे कुचलना शुरू किया तो इसने एक गृह-युद्ध का रूप धारण कर लिया।

वियतकांग छापामार दस्तों को हनोई से सहायता मिलने लगी। सितम्बर में लाओ डांग पार्टी का हनोई में तीसरा सम्मेलन हुआ और उसमें दक्षिण वियतनाम को मुक्त करने का निर्णय लिया गया। इस निर्णय के तीन महीने बाद हनोई में दक्षिण वियतनाम को मुक्त करने के लिए एक मोर्चा संगठन किया गया और इसके बाद सितम्बर 1961 में दक्षिणी वियतनाम के लिए वियतनामी पीपुल्स रिवोल्यूशनरी पार्टी नामक एक दल भी संगठित कर लिया गया। इस स्थिति में वियतनाम की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी और 1961 में बड़े पैमाने पर वहाँ पुनः गृह युद्ध छिड़ गया। इस समय ने एक नियमित युद्ध का रूप धारण कर लिया। स्थिति काबू से बाहर होते देख दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रपति ने अमरिका से सैनिक सहायता माँगी। मई 1961 में अमरीकी उपराष्ट्रपति लिण्डन जानसन ने सैगान का दौरा किया। वापस लौटकर उसने अपनी सरकार से यह सिफारिश की कि दक्षिण वियतनाम को अमरीकी सहायता में वृद्धि की जाय। इस पर राष्ट्रपति कनेडी ने अक्टूबर 1961 में जनरल टेलर को दक्षिण वियतनाम इसलिए भेजा कि वह साम्यवादी चुनौती का सामना करने के लिए सैगोन की सरकार की आवश्यकताओं को आंके। टेलर की रिपोर्ट के आधार पर 4 जनवरी 1962 को संयुक्त राज्य अमरिका ने दक्षिण वियतनाम को आर्थिक

ध्यान में रखते हुए संयुक्त राज्य अमरिका की नीति का पूरा समर्थन करना चाहिए। लेकिन कई कारणों से प्रेरित होकर भारत ने ऐसा नहीं किया और वह अमरिका की वियतनाम नीति का कटु आलोचक बना रहा। यदि भारत अमरिकी नीति का समर्थन करता तो उसका परिणाम यह होता कि सोवियत संघ उससे नाराज हो जाता और इस हालत में सोवियत संघ से जुड़े हुए हमारे राष्ट्रीय हितों को अपार क्षति पहुँचती। भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध भारत चीन विवाद और कश्मीर की समस्या के बारे में सोवियत मैत्री हमारे लिए कितनी मूल्यवान था यह कोई छिपा हुआ तथ्य नहीं था। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर भारत द्वारा उत्तरी वियतनाम का समर्थन उचित प्रतीत होता है। और यदि दोनों दृष्टिकोण से समुचित विचार किया जाय तो राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है कि भारत 1954 के जनेवा समझौता के कार्यान्वयन पर पूरा बल दे। इसलिए भारत ने अमरिका की बमबारी की आलोचना की और इसे बन्द कराने के लिए पूरा प्रयास किया। भारत का विश्वास था कि बमवर्षा रोकने से युद्ध के विस्तार का भय कम होगा महायुद्ध की विस्फोटक स्थिति टल जायगी और पारस्परिक वार्ता के लिए वातावरण में सुधार होगा। इसी कारण भारत ने अमरिका से निरंतर बमवर्षा बन्द करने का अनुरोध किया और जब 1 अप्रिल 1968 को अमरिका ने सीमित बमबारी का निश्चय किया तो भारत ने उसका स्वागत किया और यह आशा व्यक्त की कि इस निश्चय से शांति का मार्ग प्रशस्त होगा। 1972 के मध्य में जब अमरिका ने पुनः बहुत बड़े पैमाने पर उत्तर वियतनाम पर बमबारी शुरू कर दी तो भारत ने कड़े शब्दों में इस आक्रामक कारवाई की निन्दा की।

वियतनाम के प्रश्न को लेकर शुरू से ही भारत और संयुक्त राज्य के बीच घोर मतभेद रहा। उत्तर वियतनाम के विरुद्ध अमरिका की आक्रामक सैनिक कारवाई का भारत ने लगातार विरोध किया। भारत सरकार ने हनोई में भारतीय दूतावास के कार्यालय का दर्जा ऊंचा करने का निश्चय किया। संयुक्त राज्य अमेरिका को यह बात पसन्द नहीं आयी और उसने खुले तौर पर अपना नाराजगी जाहिर की।

इसके उपरान्त जुलाई 1970 में दक्षिण वियतनाम की अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की विदेशमंत्री श्रीमती बिन्ह ने भारतीय विदेशमंत्री स्वर्ण सिंह के निजी अतिथि के रूप में भारत का भ्रमण किया। इस यात्रा को लेकर भारत के भीतर और बाहर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। भारत सरकार द्वारा श्रीमती बिन्ह की भारत यात्रा को रद्द करने के विरोध में स्थित दक्षिण वियतनाम के महावाणिज्य दूत सगोन लौट गये और इस प्रकार उन्होंने अपना कूटनीतिक विरोध प्रकट किया। सगोन में सरकारी तथा गैर-सरकारी हल्कों में मदाम बिन्ह की भारत-यात्रा को लेकर काफी सरगर्मी पैदा हो गया। दक्षिण वियतनाम की सरकार इस बात से काफी नाराज थी कि बावजूद इसके भारत तथा दक्षिण वियतनाम के साथ सरकारी स्तर पर सम्बन्ध था भारत सरकार ने मदाम बिन्ह को निमन्त्रण देने और स्वागत करने को उचित समझा। इसके विरोध में दक्षिण वियतनामी छात्रों ने संयुक्त राज्य अमरिका

का इशारा पाकर भारतीय दूतावास पर हमला किया तोड़-फोड़ की कारवाई की और भारत का झंडा भी जला दिया गया। तब वियतनाम में भारतीय दूतावास की स्थापना की बात तथा सरकारी स्तर पर श्रीमती बिंह का निमन्त्रण तथा उनका स्वागत इन दोनों बातों से संयुक्त राज्य अमरिका की सरकार भारत से काफी नाराज हुई।

1971 के मध्य से भारत और अमेरिका के सम्बन्ध में बंगला देश के प्रश्न को लेकर एक नया मोड़ आया और दोनों का सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ने लगा। इस परिस्थिति में भी भारत और सोवियत संघ के बीच अगस्त 1971 में एक संधि हुई। इस संधि के सम्पन्न होने के बाद यह निश्चित हो गया कि भारत अब पहले से भी अधिक उग्र रूप में अमेरिका की वियतनामी नीति का विरोध करेगा। यह भी स्पष्ट होने लगा कि उत्तर वियतनाम के साथ उसका सम्बन्ध और भी घनिष्ठ होगा। दिसम्बर 1971 में भारत पाकिस्तान युद्ध के दौरान जब अमरिका ने स्पष्टतया भारत विरोधी रुख अपनाया तो भारत सरकार ने भी वियतनाम के सम्बन्ध में अपनी नीति का खुले रूप से स्पष्ट कर दिया। 18 दिसम्बर 1971 को भारत सरकार ने हनोई सरकार के साथ अपने राजनयिक सम्बन्धों का दर्जा बढ़ाकर राजदूत स्तर का कर दिया। हनोई से सम्बन्ध बढ़ाने की बात बहुत अरसे से विचाराधीन थी लेकिन अमेरिकी प्रशासन की भावनाओं का ख्याल करते हुए भारत ने अभी तक इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया था। जब अमरीका की भारत विरोधी नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी तो भारत ने हनोई सरकार के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध का दर्जा बढ़ाने में जरा भी संकोच नहीं किया।

1972 के अन्त में वियतनाम में शांति स्थापना की सम्भावना बढ़ गयी और लगा कि पेरिस वार्ता के फलस्वरूप युद्ध विराम हो जायगा। अक्टूबर में समझौते का मसविदा भी तैयार हो गया था लेकिन एकाएक अमरिका की नीति बदल गयी और उसने पुनः बहुत बड़े पैमाने पर वियतनाम पर बमबारी शुरू कर दी। इस बमबारी के क्रम में भारतीय दूतावास पर भी प्रहार हुआ। भारत ने तत्काल अपना घोर विरोध प्रकट किया। आखिर 27 जनवरी को वियतनाम युद्ध पर समझौता हो गया और युद्ध विराम हुआ। वर्षों के युद्ध का अन्त हुआ और भारत ने इसका स्वागत किया।

कम्बोडिया का संकट और भारत

मार्च 1969 में कम्बोडिया में एक राजक्रान्ति के फलस्वरूप राजकुमार नरोत्तम सिंहनक को राष्ट्राध्यक्ष के पद से हटा दिया गया और जनरल लोननोल वहाँ के प्रधान मन्त्री बने। इसके उपरान्त राजकुमार सिंहनक ने पीकिंग में अपनी निर्वासित सरकार की स्थापना की और कम्बोडिया के देशभक्त जनता से अपील की कि वे मौजूदा सरकार को अपदस्थ करने में उनका साथ दें। इस प्रकार कम्बोडिया में गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी। चीन और उत्तर वियतनाम ने राजकुमार सिंहनक को समर्थन देने का आश्वासन दिया। इसके बाद ही कम्बोडिया में गृह युद्ध छिड़

1971 में कम्बोडिया के अपदस्थ राजकुमार सिहानुक ने एक पत्रकार के साथ विशेष भेंट में अपनी यह इच्छा व्यक्त की कि वे अपनी नेशनल युनाइटेड फ्रंट सरकार की एक कार्यालय नयी दिल्ली में खोलना चाहते हैं लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि इस सम्बन्ध में उन्होंने भारत सरकार से कोई बातचीत की या नहीं। बाद में राजकुमार सिहानुक ने इस दिशा में कोई पहल भी नहीं की।

कम्बोडिया की स्थिति इसके बाद भी विस्फोटक बनी रही और लगभग सभी गुटनिरपेक्ष सम्मेलनों में इस समस्या पर विचार हुआ। भारत ने हर मौके पर अन्य गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के साथ राजकुमार सिहानुक का समर्थन करता रहा।

भारत और पश्चिम एशिया का संकट

अरब इजरायल सम्बन्ध —इस समय पश्चिम एशिया की एक प्रमुख समस्या यहूदी राष्ट्र इजरायल तथा अरबों का उग्र संघर्ष है। फिलिस्तीन में यहूदी समस्या की उत्पत्ति प्रथम विश्व-युद्ध के समय हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन ने फिलिस्तीन पर अपना संरक्षण समाप्त करने का निर्णय किया और 14 मई 1948 को जैसे ही ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि आज दिन से उसका संरक्षण समाप्त हो रहा है उसी समय तेल अवीव में यहूदियों ने इजरायल राष्ट्र की स्थापना की घोषणा कर दी। उस समय से अबतक अरबों के साथ इजरायल के तीन युद्ध हो चुके हैं। पहला युद्ध 1948 में हुआ जब अरबों ने इजरायल की स्थापना का विरोध किया। दूसरा युद्ध 1956 में स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद हुआ जब ब्रिटेन और फ्रांस के चढ़ाने पर इजरायल ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। उस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से इजरायल को जीते हुए अरब भू भागों को छोड़ना पड़ा। युद्ध विराम रखने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपातकालीन सेना रख दी गयी लेकिन अरब राष्ट्रों ने अपने इस इरादे को कि उनका उद्देश्य इजरायल का नामोनिशान मिटाना है कभी नहीं छुपाया। इस हालत में दोनों पक्षों के बीच पुनः युद्ध का होना अवश्यम्भावी था।

तृतीय अरब इजरायल युद्ध (1967) के कारण —1964 के अरब राष्ट्रों के काहिरा शिखर सम्मेलन के बाद अरब इजरायल में पुनः तनाव आने लगा। सीरिया और जोर्डन से घुसपैठियों के दस्ते इजरायल में पुनः आते थे और तोड़-फोड़ करके उत्पात मचाते रहते थे। तंग आकर इजरायल ने कई बार इन गाँवों पर प्रत्याक्रमण भी किया। इनमें 7 अप्रिल 1967 का सीरिया के विरुद्ध इजरायली कार्रवाई सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी।

7 अप्रिल की घटना के बाद इजरायल और सीरिया की सीमा पर स्थिति अत्यन्त तनावपूर्ण हो गयी। सीमाओं पर दोनों पक्ष के सैनिकों का जमाव होने लगा। ऐसा समझा गया कि इजरायल सीरिया पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी में व्यस्त है। बाद में जैसा कि राष्ट्रपति नासिर ने बतलाया "हमें सोवियत सूत्रों से यह जानकारी मिली कि इजरायल सीरिया पर आक्रमण करने की पूरी तैयारी कर चुका है।"

इस विस्फोटक स्थिति में अरब देशों में भी सैनिक तैयारी होने लगी। गाजा क्षेत्र में 1956 से ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की आपात् सेना रखी गयी थी ताकि मिस्र इजरायल में संघर्ष को रोका जाय। राष्ट्रपति नासिर ने यह माँग की कि यह सेना इस क्षेत्र से हटा ली जाय। संघ के महासचिव ने इस माँग को स्वीकार कर लिया और

आपात सेना हटा ली गयी। इसके तुरत ही बाद संयुक्त अरब गणराज्य की सेना सिनाई प्रायद्वीप से होते मिस्र इजरायली सीमा पर आ डटी। सीरिया और जोर्डन में भी युद्ध की तयारी होने लगी।

मिस्र सऊदी अरब तथा इजरायल से सटे अकाबा की खाड़ी है जो इजरायल का लाल सागर में पहुचने का रास्ता देती है। इजरायल इस खाड़ी को अपनी जीवन रेखा मानता है। 23 मई 1967 को संयुक्त अरब गणराज्य की सरकार ने इजरायली जहाजों को अकाबा की खाड़ी में प्रवेश का मनाही कर दी। नासिर ने घोषणा की कि खाड़ी कोई अंतर्राष्ट्रीय जल मार्ग नहीं है। यह मिस्र और सऊदी अरब के प्रादेशिक क्षेत्र में पड़ता है और इसलिए इजरायल को इधर से आवागमन करने का कोई अधिकार नहीं।

संयुक्त अरब गणराज्य की इस घोषणा ने स्थिति को अत्यन्त गम्भीर बना दिया। इजरायल के लिए ऐलात नगर पहले से ही बन्द थी अकाबा की खाड़ी बन्द करके उसका गला घोटने का प्रयास किया गया। ऐसी हालत में अब यह प्रायः निश्चित हो गया कि पश्चिम एशिया में भयंकर विस्फोट होकर रहेगा। स्थिति की गम्भीरता को देखकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यू थान्त काहिरा पहुँचे और मध्यस्थता करके इस संकट को टालने का प्रयास किया लेकिन काहिरा में उन्हें कहीं तनाव उपशम के लक्षण दिखायी नहीं पड़ा जिससे शान्ति के प्रयासों को और मजबूत किया जा सके। अतः निराश होकर महासचिव न्यूयार्क लौट आये।

उधर पश्चिम एशिया की तनावपूर्ण स्थिति पर सुरक्षा-परिषद में विचार शुरू हुआ। परिषद की 24 मई की बैठक में सोवियत संघ ने स्थिति को बिगाड़ने की जिम्मेवारी इजरायल पर मढ़ी और ब्रिटेन तथा अमेरिका पर यह आरोप लगाया कि वे इजरायल का बढ़ावा दे रहे हैं। जवाब में अमेरिका ने तनाव में वृद्धि के लिए सोवियत कूटनीति को जिम्मेदार बतलाया। इस गतिरोध की स्थिति में सुरक्षा परिषद की बैठक स्थगित हो गयी।

ब्रिटेन और अमरिका ने अकाबा की खाड़ी के घेराव को गलत तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन बताया। 29 मई को इन दोनों ने इजरायल के प्रधान मंत्री एश्कोल को इस बात का आह्वान किया कि वह अकाबा की खाड़ी की नाकेबंदी खत्म करने के लिए कारवाई करे। साथ ही ब्रिटेन ने पश्चिम यूरोप के देशों से अनुरोध किया कि खाड़ी को स्वतन्त्र करने में वे सहयोग दें। पश्चिम यूरोप के देशों ने इन झगड़ों में पड़ने से इन्कार कर दिया और राष्ट्रपति दगाल ने साफ साफ कह दिया कि वे ऐसी किसी कारवाई में सहयोग करने को तैयार नहीं हैं। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि पश्चिम एशिया के सम्बन्ध में चार बड़े राष्ट्रों की एक बैठक हो लेकिन सोवियत संघ को प्रस्ताव मान्य नहीं था।

ब्रिटेन और अमरिका का वरदहस्त पाकर इजरायल ने घोषणा की कि अकाबा की नाकेबंदी आक्रमण तुल्य है और यदि यह खत्म नहीं किया गया तो इजरायल बल प्रयोग करके इस नाकेबंदी को तोड़ देगा। स्थिति उत्तरोत्तर गम्भीर होने लगी।

सो वियत संघ के युद्धपोत दर्रा दानियाल पार करके भूमध्य सागर में प्रविष्ट करने लगे। अमरीका और ब्रिटेन के युद्धपोत भी भूमध्य सागर के चक्कर काटने लगे। अरब देशों की सैनिक तैयारी भी शुरू हुई। जोर्डन के शाह हुसैन काहिरा पहुँचे और नासिर को यह वचन दिया कि यदि इजरायल से संघर्ष छिड़ गया तो जोर्डन अरब राज्यों का साथ देगा। ट्यूनिसिया, मोरक्को, लेबनान और सूडान ने भी ऐसी ही घोषणाएँ कीं। अल्जीरिया ने पश्चिम एशिया में तत्काल फौज भेजने का निर्णय किया। इजरायल में भी युद्ध की तैयारी होने लगी। जनरल दायन जो 1956 के मिस्र इजरायल युद्ध में ख्याति प्राप्त कर चुके थे को इजरायल का रक्षा मंत्री नियुक्त किया गया और देश में आपात् स्थिति की घोषणा कर दी गयी। सारा पश्चिमी एशिया देखते ही देखते युद्ध के मैदान में परिणत हो गया। किसी भी क्षण युद्ध का विस्फोट हो सकता है और इसको विश्व-युद्ध में परिणत होने की सम्भावना थी। स्थिति ऐसी हो गयी थी कि लगता था कि संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच इजरायल और अरब जगत की आड़ में सीधी टक्कर हो जायगी। सुरक्षा परिषद की बैठक हुई लेकिन उसका कोई नतीजा न निकला।

तृतीय अरब इजरायल युद्ध (1967)—इस विषम परिस्थिति में पिछले बीस वर्षों से लगातार फटने के लिए बेचैन पश्चिम एशिया का अरब बनाम यहूदी राष्ट्रवाद का अस्थिर ज्वालामुखी 5 जून 1967 को अचानक विस्फोट के साथ एकाएक फट पड़ा। यहूदी राष्ट्र और अरब जगत के बीच एक तरह से यह युद्ध अनिवार्य और अवश्यम्भावी था। मिस्र के पत्रकार अरब देशों ने यह निश्चय कर लिया था कि इजरायल की किरकिरी वह अपनी आँखों से निकालनी ही है। अरब देशों की अपनी सेनाएँ इजरायल के विरुद्ध उपयुक्त ठिकानों पर पहुँचाने के लिए कम से कम दस दिन का समय और चाहिए था। तब इजरायल की स्थिति और नाजुक हो गया होती। इस हालत में इजरायल ने अतिशीघ्र शत्रु पर हमला करने का निश्चय किया। 5 जून को इजरायली विमानों ने एकाएक काहिरा और मिस्र के अन्य हवाई अड्डों पर हमला कर दिया। संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सीमा पर गाजा पट्टी से लेकर दक्षिण इजरायल के नगव क्षेत्र तक दोनों ओर की फौजों में मुठभेड़ हो गयी। युद्ध के प्रथम दिन उभय पक्षों ने अपनी अपनी कामयाबी के बारे में उद्घोषणाएँ कीं। लेकिन दूसरे ही दिन यह स्पष्ट हो गया कि हमलोगों के जमाने का सबसे जोरदार युद्ध था। संयुक्त अरब गणराज्य की बुरी पराजय हुई। सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप इजरायली सेना के कब्जे में आ गया और वे स्वेज नहर के पूर्वी किनारे तक पहुँच गये।

संयुक्त अरब गणराज्य पर आक्रमण होने के साथ ही जोर्डन सीरिया के साथ भी इजरायल का युद्ध शुरू हुआ। युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में सीरियाई फौज को कुछ सफलता अवश्य मिली लेकिन जोर्डन आठ घण्टे भी इजरायल की मार को नहीं सह सका। इजरायली सेना ने जेरूसलम के नगर तथा इसके उत्तर-पूर्वी इलाकों पर कब्जा कर लिया। जोर्डन को हथियार डालने पर विवश होना पड़ा। चार ही दिनों में

जोर्डान के लगभग बारह हजार सैनिक और असैनिक नागरिक मारे गये। अरब देशों की मदद के लिए अल्जीरिया, सूडान, यमन, कुवैत और मोरक्को। अरब देशों की कुमुक इजरायल की सीमा की ओर अवश्य बढ़ी थी लेकिन युद्ध की स्थिति पर इसका कोई असर नहीं पड़ा।

सुरक्षा परिषद और युद्ध विराम—युद्ध के छिड़ते ही फौरन सुरक्षा-परिषद की बैठक बुलायी गयी। भारतीय प्रतिनिधि ने परिषद में माँग की कि वह अरब-इजरायल युद्ध बन्द करने और दोनों पक्षों की सेना 4 जून की स्थिति में वापस लाने की माँग करे। 6 जून को परिषद ने युद्ध बन्द करने का एक प्रस्ताव पास किया। इजरायल युद्ध बन्द करने को तैयार हो गया लेकिन अरब देशों की ओर से यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। उधर युद्ध में जोर्डन की हालत सबसे बुरी हो रही थी। अतएव उसने युद्ध बन्द कर देने की माँग स्वीकार कर ली। 7 जून को परिषद ने एक दूसरा प्रस्ताव स्वीकार किया। इस प्रस्ताव में यह माँग की गयी थी कि युद्धरत सभी देश रात के आठ बजे से (ग्रीनविच समय) युद्ध बन्द कर दें। सुरक्षा परिषद् का यह आदेशात्मक प्रस्ताव था। युद्ध में मिस्र की पूरी पराजय हो गयी थी। अतएव उसके समक्ष युद्ध बन्द करने के सिवा कोई चारा नहीं रहा। 8 जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध बन्द हो गया। सीरिया ने भी अपनी ओर से युद्ध बन्द करने की घोषणा कर दी।

युद्ध में संलग्न सभी राष्ट्रों द्वारा इस घोषणा के बावजूद व युद्ध-विराम की माँग को कार्यान्वित करके 9 जून स्वेज नहर के किनारे और इजरायल-सीरिया सीमावर्ती इलाकों में युद्ध जारी रहा। सीरिया पर इजरायल ने अपनी आक्रामक कार्रवाई जारी रखी। वह सीरिया के क्षेत्र में स्थित कुछ सामरिक महत्त्व के स्थानों पर कब्जा कर लेना चाहता था। इस हालत में पश्चिम एशिया के प्रश्न पर विचार करने के लिए 9-10 जून को पुनः सुरक्षा-परिषद की बैठक हुई। भारत और सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने माँग की कि इजरायल को आक्रामक घोषित किया जाय लेकिन ब्रिटेन और अमरिका ने ऐसा नहीं होने दिया। महासचिव को यह कहा गया कि वे वस्तुस्थिति का पता लगायें। महासचिव ने जो रिपोर्ट दी उससे स्पष्ट था कि इजरायली सेना आक्रामक कार्रवाई में संलग्न है और युद्ध चल रहा है। अतएव सुरक्षा-परिषद् ने एक और प्रस्ताव पास करके यह आदेश दिया कि सीरिया और इजरायल दोनों पक्षों में युद्ध बन्द कर दें। इजरायल का सामरिक उद्देश्य पूरा हो चुका था। सीरिया की सामरिक क्षमता समाप्त हो चुकी थी। अतएव दोनों पक्षों ने तत्काल युद्ध विराम स्वीकार कर लिया और 10 जून को दोनों पक्षों में पूर्णतया लड़ाई बन्द हो गयी।

युद्ध के समाप्त होने के बाद शान्ति-समझौता के लिए कई प्रयास हुए हैं लेकिन इजरायल के जिद् के कारण कोई समझौता नहीं हो सका। इधर अरब राष्ट्र — सीरिया और जोर्डन के एक बड़े भू भाग पर इजरायल ने कब्जा कर

लिया है, स्वेज नहर बन्द हो गयी है और कूटनीतिक स्तर पर पूर्णतया गतिरोध बना हुआ है।

अरब इजरायल संघर्ष में भारत का दृष्टिकोण

जून 1967 के मध्य एशियाई संकट में भारत का दृष्टिकोण भारतीय विदेश नीति का एक बड़ा ही विवादास्पद विषय बन गया। भारत का रुख शुरू से ही अरब देशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहा है। संयुक्त अरब गणराज्य के प्रति भारत की दोस्ती भी बहुत पुरानी और पक्की थी। इसी कारण भारत ने अभी तक इजरायल को राजनयिक मान्यता नहीं प्रदान की है। मई के मध्य में जब पश्चिम एशिया में युद्ध के बादल मंडराने लगे उसी समय से भारत आँख मूँदकर संयुक्त अरब गणराज्य का समर्थन करता रहा। सुरक्षा परिषद में भारतीय प्रतिनिधि हमेशा अरब राज्यों की वकालत करता रहा। उसने सोवियत संघ के इस कथन का कि भड़कानेवाली कार्यवाही इजरायल ने शुरू की है समर्थन करता रहा। युद्ध छिड़ने पर प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी का लोकसभा में एक वक्तव्य हुआ जिसमें इजरायल पर युद्ध शुरू करने का सारा उत्तरदायित्व थोपा गया। तत्कालीन भारतीय विदेश-मन्त्री एम० सी० छागला ने पश्चिम एशिया की विस्फोटक स्थिति का लिए पूरा उत्तरदायित्व इजरायल पर डाला और कहा कि इस प्रदेश में इजरायली राज्य का अस्तित्व ही सारे तनाव और झगड़े का मूल कारण है। इस प्रकार भारत ने युद्ध में अरबों का प्रबल समर्थन किया जिसकी देश के भीतर बड़ी कड़ी आलोचना हुई। सम्भवतः अक्टूबर-नवम्बर 1967 के बाद भारतीय विदेश नीति की सबसे कड़ी आलोचना इसी अवसर पर हुई। भारतीय संसद के एक सदस्य श्री नाथ पाई ने कहा ... भारत एकमात्र देश है जिसे पश्चिम एशिया के संघर्ष में एक भी गोली चलाये बिना भीषण पराजय की क्षति उठानी पड़ी है। सिनाई के मरुस्थल में एक पत्थर पर यह अभिलेख अंकित किया जाना चाहिए—"इस स्थान पर भारत की विदेश-नीति को दफनाया गया है जिसकी मृत्यु पर किसी ने आँसू नहीं बहाये जिसके लिए कोई सैनिक सम्मान प्रदर्शित नहीं किया गया और जिसके शोक के गीत नहीं गाये गये। इस नीति के निर्माता नेहरू थे, मृत्यु हुई उनकी पुत्री से की है।"[1] स्वतन्त्र पार्टी के नेता एम० आर० मसानी के कथनानुसार भारत सरकार ने संयुक्त अरब गणराज्य के चपरासी का कार्य करते हुए अपने को बदनाम कर लिया था। 8 जून को लोकसभा में सरकारी नीति की आलोचना करते हुए एक सदस्य ने कहा कि तटस्थ राज्य अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए

---

1 On a stone in Sinai desert should be inscribed this ep taph Unwept unhonoured and unsung here lies buried India's non-alignment—created by Nehru killed by his daughter

—*Times of India* 1957

वाले देशों का घमकी का भारत का समर्थन मिले यह कैसा न्याय और कैसी नीति है ? संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्य राज्यों की भांति इजरायल को भी जीवित रहने का अधिकार है।

आलोचना का तीसरा आधार यह था कि भारत ने अरबों का समर्थन करके अपनी असंलग्नता तथा शांति की नीति का परित्याग कर दिया। नेहरू द्वारा प्रतिपादित असंलग्नता की नीति का अर्थ था कि हम विभिन्न गुटों से अलग रहते हुए तटस्थ वृत्ति से शांति बनाये रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु इसमें हमारे अपने को अरबों का समर्थक और पक्षपाती बनाकर असंलग्नता की नीति का परित्याग कर दिया। भारत की विदेश नीति का एक मुख्य ध्येय शांति की स्थापना करना है किन्तु इस मामले में भारत ने अरबों का समर्थन करके उन्हें युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया। अतः इस संघर्ष में भारत की विदेश नीति अपने सभी मौलिक उद्देश्यों के प्रतिकूल शांति का विरोध करनेवाली तथा तटस्थता और असंलग्नता का परित्याग करनेवाली थी।

भारतीय नीति का समर्थन—इन आलोचनाओं में कुछ तथ्य अवश्य है फिर भी पश्चिम एशिया के संकट के सम्बन्ध में भारतीय नीति का एक दूसरा पक्ष भी था। यह बात ठीक है कि अधिकांश अरब देशों ने भारत पाकिस्तान संघर्ष में पाकिस्तान का पक्ष लिया था और सार्वजनिक तौर पर संयुक्त अरब गणराज्य ने भारत का जोरदार समर्थन नहीं किया था। लेकिन इसी आधार पर यह मान लेना कि नासिर ने भारत का समर्थन नहीं किया उचित प्रतीत नहीं होता। सम्भव है कि गुप्त राजनय के माध्यम से नासिर ने भारत का पूरा समर्थन किया हो। इस बात का पता तो तभी लगेगा जब शोधकर्त्ताओं के लिए संग्रहालय (archives) का द्वार खोल दिया जाय। तबतक के लिए हम प्रधान मंत्री के उस वक्तव्य का अधिकारिक और सत्य मानना पड़ेगा जिसमें उन्होंने कहा था कि भारत पाकिस्तान युद्ध के समय भारत को सारे अरब राष्ट्रों से पूरी सहायता मिली थी। कासाब्लांका सम्मेलन में संयुक्त अरब गणराज्य ने जो रुख अपनाया उससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है। अरब राज्यों के इस सम्मेलन में एक ऐसा प्रस्ताव लाया था जिसमें भारत-पाकिस्तान युद्ध के सम्बन्ध में भारत को आक्रामक कहा गया। नासिर के विरोध के कारण पाकिस्तान का राजनय विफल हो गया और कासाब्लांका सम्मेलन में इस तरह का प्रस्ताव पास नहीं हो सका।

यह बात बिल्कुल ठीक है कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पारस्परिकता के सिद्धांत का पालन होना चाहिए। यदि हम थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि भारत पाकिस्तान युद्ध में हम अरबों का समर्थन न मिला तो भी केवल इसी आधार पर हम अरब विरोधी नीति न अपना सकते थे। हम सब अरब राज्यों को एक ही कोटि में रखने की भूल नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः तेरह अरब राज्यों को भारत के प्रति नीति की दृष्टि से हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पहले वर्ग में भारत के प्रति पूर्ण मित्रता रखने वाले राज्य थे जिनमें संयुक्त अरब गणराज्य यमन और

होता है। पश्चिमी देशों से भारत के व्यापार का यह उत्तम मार्ग है। यदि यह नहर किसी कारणवश बन्द हो जाय तो भारत आनेवाला माल अफ्रिका महादेश का चक्कर काटकर उत्तमाशा अन्तरीप के पाँच हजार मील से अधिक लम्बे मार्ग से आयगा। इससे समय अधिक लगेगा और भाड़ा भी अधिक देना पड़ेगा। उस समय स्वेज नहर बन्द था। इस स्थिति में अमरिका से जहाज चालीस के स्थान पर सैंतालीस दिनों में पहुँचता था और यूरोप के माल में तीन सप्ताह अधिक लगते थे। अमरिका से आने वाले माल पर लिए जाने वाले भाड़े में पचीस तथा यूरोप से आनेवाले माल पर चालीस प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी। इसके अतिरिक्त पश्चिम एशिया के साथ भारत का घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। यह क्षेत्र हमारे तेल और रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता को पूरा करता था और भारत में बने मालों की वहाँ बड़ी खपत थी। अतः अपने महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों को तथा व्यापार की धारा को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिए बड़ी मात्रा में पेट्रोल प्राप्त करने के लिए तथा पश्चिम एशिया की मण्डियों में अपना माल बेचने के लिए पश्चिम एशिया के अरब राज्यों विशेषकर संयुक्त अरब गणराज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना भारत के लिए आवश्यक था। यह उसके राष्ट्रीय हित में था। यदि कुछ अरब राज्यों ने 1962 तथा 1965 के संघर्ष में हमारा साथ नहीं दिया तो भी अपने हितों को ध्यान में रखते हुए हमें अरब राज्यों का ही समर्थन करना चाहिए। तरह अरब राज्यों के समर्थन से भारत को जितना ठोस लाभ प्राप्त हो सकता था उतना कदापि इजरायल के समर्थन से नहीं हो सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यापक दृष्टिकोण से भी भारत द्वारा अरबों का समर्थन वांछनीय प्रतीत होता था। इजरायल की स्थापना साम्राज्यवादी ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरिका के सहयोग से हुआ था। भारत की यह मान्यता है कि इजरायल के पीछे अमेरिका का हाथ रहा है। 1967 में अमरीकी महत्त्वाकांक्षा पर कोई सीमा नहीं थी। सम्पूर्ण दक्षिण पूर्व एशिया पर छाये रहने के लिए वह वियतनाम में खूनी युद्ध चला रहा था। इसी समय पश्चिम एशिया का संकट आ गया। इससे ऐसा प्रतीत हुआ कि संयुक्त राज्य अमरिका पश्चिम एशिया से लेकर दक्षिण एशिया तक अपना एकछत्र साम्राज्य कायम करना चाहता है। अमरिका की यह महत्त्वाकांक्षा भारत के लिए बड़ी खतरनाक थी। भारत सरकार की यह धारणा बन गयी थी कि यदि अमरिका अरब संसार के हितों को कुचल देता तो पश्चिम एशिया का सारा शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जायगा। दक्षिण पूर्व एशिया में भी यदि उसको सफलता मिल गयी तो भारत अकेले बीच में दब जायगा और तब अमेरिकी दबाव का विरोध करना बड़ा कठिन हो जायगा।

पश्चिम का उपनिवेशवाद अभी मरा नहीं था। किसी न किसी रूप में वह समय-समय पर अपना सर उठाता रहता था। और पश्चिम एशिया में इस उपनिवेशवाद से टक्कर लेने की क्षमता केवल एक ही व्यक्ति में था। यदि राष्ट्रपति नासिर पराजित हो जाते तो पश्चिमी एशिया में शक्ति रिक्तता हो जाती जो भारत के हित में कभी भी अच्छा नहीं होता।

पूर्व और में इजरायल विरोधी भाषण नहीं देंगे तो अरब हम पर नाराज हो जायेंगे। 1962 में भारत चीन संघर्ष के समय राष्ट्रपति नासिर ने ऐसा ही रुख अपनाया था। स्वयं पं० नेहरू ने उन्हें तटस्थ रहते हुए समस्या को सुलझाने में मदद करने का परामर्श दिया था। यदि भारतीय नेता बिना उग्र भाषण दिये हुए संयम से काम करते तो सम्भव था कि राजनयिक स्तर पर स्थिति को बिगड़ने से रोक लिया जाता जो भारतीय राजनय की बहुत बड़ी उपलब्धि होती।

भारत और रबात सम्मेलन—पश्चिम एशिया की समस्या को लेकर विगत पाँच छह वर्षों में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनका असर भारत को काफी क्षोभ हुआ। 21 अगस्त 1969 को जरूसलम स्थित चौदह सौ वर्ष पुरानी अल अक्सा मस्जिद में रहस्यमय ढंग से आग लग गयी। इस अग्निकाण्ड ने अरब देशों और इजरायल के सम्बन्ध को और तनावपूर्ण बना दिया। अग्निकाण्ड पर विचार करने के लिए छब्बीस मुस्लिम देशों का एक इस्लामी शिखर सम्मेलन रबात में 22 सितम्बर 1969 को शुरू हुआ। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत ने असाधारण व्याकुलता का परिचय दिया। चूंकि यह मुस्लिम देशों का सम्मेलन होनेवाला था अतएव भारत को इसमें आमंत्रित नहीं किया जा सकता था। लेकिन भारत ने प्रारम्भ से ही निमंत्रण प्राप्त करने का यत्न किया। भारतीय विदेश मंत्रालय ने इस यत्न के समर्थन में दो दलीलें दीं। एक तो यह कि जिस सम्मेलन में पाकिस्तान शामिल हो उसमें भारत की उपस्थिति होना इसलिए जरूरी है कि पाकिस्तान उस सम्मेलन का उपयोग भारत के खिलाफ प्रचार करने के लिए नहीं कर सके, वहाँ पाकिस्तानी प्रचार का स्पष्ट उत्तर दिया जा सके और भारत के खिलाफ कोई प्रस्ताव पास नहीं होने दिया जाय। दूसरी दलील यह दी गयी थी कि मुस्लिम सम्मेलन में भाग लेकर भारत संयुक्त अरब गणराज्य तथा ऐसे ही प्रगतिशील अरब राष्ट्रों का पक्ष मजबूत कर सकता है और मुस्लिम देशों में धर्मान्धता की लहर को रोक सकता है।

भारत को इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमंत्रण दिया जाय या नहीं इस प्रश्न पर इस्लामी देशों में काफी वाद विवाद हुआ। पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव का कड़ा विरोध किया। अहमदाबाद के साम्प्रदायिक झगड़ों का हवाला देते हुए पाकिस्तान ने इस्लामी सम्मेलन में भारत को शामिल करने के विचार पर अपना गहरा विरोध प्रकट किया। रबात सम्मेलन में इस पर कई बैठकों में विचार हुआ। सम्मेलन में काफी बहस के बाद भारत को आमंत्रित करने का निर्णय हुआ। ज्यों त्यों करके आखिर भारत ने यह निमंत्रण मँगवा ही लिया। इस बात की सूचना आते ही और उद्योग मंत्री श्री फखरुद्दीन अली अहमद के नेतृत्व में भारतीय प्रतिनिधि दल रबात के लिए रवाना हो गया।

लेकिन पाकिस्तान अपने विरोध पर डटा रहा। जब भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल सम्मेलन कक्ष में पहुँचा तो पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने उनकी उपस्थिति पर विरोध प्रकट किया और सम्मेलन से वाक आउट कर गये। पाकिस्तानी प्रतिनिधि दल के

निकट सूत्रों ने बताया कि इस्लामी शिखर सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत को निमन्त्रण दिये जाने के विरुद्ध पाकिस्तान ने सम्मेलन का शेष कार्य वहीं खत्म कर देने का निर्णय किया है। आखिर राष्ट्रपति याह्या खाँ की बात मान ली गयी और दूसरे दिन पूर्ण अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि-दल को बैठने नहीं दिया गया।

रबात सम्मेलन में शामिल होने के लिए निमन्त्रण पाने का भारतीय प्रयास तथा सम्मेलन से भारत को जिस प्रकार निकाला गया उसके विरुद्ध देश में घोर प्रतिक्रिया हुई। निश्चय ही यह समूचे राष्ट्र का घोर अपमान था और इस बात से देश की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा। 1962 में चीन के हाथों पराजय से यह चोट किसी तरह कम नहीं थी। वह चोट सामरिक थी और यह राजनयिक।

भारत के भूतपूर्व परराष्ट्र मन्त्री छागला ने रबात में मुस्लिम शिखर सम्मेलन में भारत के सरकारी तौर पर भाग लेने को अत्यन्त खेदजनक और दुर्भाग्यपूर्ण बताया। अत्यन्त कठोर शब्दों में एक वक्तव्य जारी करते हुए उन्होंने कहा कि सबसे बड़ा बुनियादी सवाल यह है कि इस शिखर सम्मेलन से भारत का क्या वास्ता? यह विशुद्ध रूप से धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सम्मेलन था जिसमें भाग लेने के लिए मुस्लिम देशों को निमन्त्रित किया गया। क्या हमारा मुस्लिम देश है? क्या हमारे देश का कोई राजकीय धर्म है?

छागला ने कहा यह अत्यन्त खेदजनक एवं दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारत ने सरकारी तौर पर एक इस्लामी सम्मेलन में भाग लिया। हमने निमन्त्रण पाने के लिए भीख माँगी, हुज्जत की और जब बाद में निमन्त्रण मिला तो हम दौड़कर रबात पहुँचे। कभी वक्त था जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन तब तक पूरा एवं प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं माना जाता था जब तक उसमें भारत का प्रतिनिधि शामिल नहीं होता था। सम्मेलन में हमारी सम्मानपूर्ण स्थिति होती थी। लेकिन अब समय बदल गया है। यह दुःखद है कि भारत ने इस्लामी सम्मेलन में भाग लेने के लिए उन देशों के द्वार खटखटाये।

आखिर इस सम्मेलन से हमारा क्या वास्ता था? क्या हमारे देश का कोई राजकीय धर्म है? हम धर्मनिरपेक्ष होने का दावा करते हैं, सभी धर्मों को एक स्तर पर रखते हैं और सार्वजनिक जीवन में धर्म के प्रवेश की अनुमति नहीं देते। यह सब विदित है कि राष्ट्रपति नासिर इस प्रकार के सम्मेलन करने के विरुद्ध थे। सीरिया जैसे छोटे राष्ट्र ने इसमें यह कहकर भाग लेने से इन्कार कर दिया कि वह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। हमारी अपनी नीति भी निरन्तर इस प्रकार के सम्मेलन के विरुद्ध रही क्योंकि इससे लोग धार्मिक गुटों में बँट जायेंगे और धर्मान्धता तथा असहिष्णुता को बढ़ावा मिलेगा। अब भारत ने स्वयं इस प्रकार के दूषित कृत्य का समर्थन किया है।

बाद में भारतीय प्रतिनिधि-दल के नेता फखरुद्दीन अली अहमद ने भी स्वीकार किया कि भारत के प्रति सम्मेलन का रवैया बड़ा असाधारण और दुर्भाग्यपूर्ण रहा। अहमद ने कहा कि सम्मेलन की अन्तिम घोषणा में भारतीय मुस्लिम समुदाय के

शामिल होने की जो बात कही गयी है उससे मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ है। ऐसा लगता कि किसी प्रतिनिधि ने सम्मेलन में भाग नहीं लिया। उन्होंने कहा कि सम्मेलन ने भारत सरकार को निमन्त्रण भेजा था और भारतीय प्रतिनिधि-दल तो भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने एक बात की निन्दा की कि अन्तिम बैठक की जानकारी भारतीय प्रतिनिधि दल को नहीं दी गयी।

देश के इस गम्भीर अपमान के लिए भारत की पत्र पत्रिकाओं और संसद में बड़ा हो-हल्ला मचा। माँग की जाने लगी कि देश की इज्जत के साथ ऐसी खिलवाड़ करनेवालों को दण्डित किया जाय। इसके जवाब में भारत सरकार के प्रवक्ताओं ने सम्मेलन में शामिल होने को उचित ठहराया। भारतीय विदेश मन्त्रालय की ओर से यह बहाना निकाला गया कि भारत रबात सम्मेलन में इसलिए नहीं गया कि वहाँ अल अक्सा मस्जिद में आग लगाने के बारे में विचार होना था बल्कि इसलिए कि उसमें इस बड़े मामले पर विचार होना था कि इजरायल के गैर-कानूनी अधिकार में जेरूसलम सहित अन्य सभी अरब इलाकों को कैसे निकाला जाय। एक बड़े अधिकारी ने तो यहाँ तक कहा कि सम्मेलन इस्लामी नहीं था और इसका नाम था—अल अक्सा सम्मेलन जबकि सम्मेलन के चित्रों से स्पष्ट था कि यह इस्लामी शिखर सम्मेलन था।

भारतीय प्रतिनिधि दल के नेता फखरुद्दीन अली अहमद ने दिल्ली लौटने पर इस बात को दोहराया कि यह सम्मेलन किसी इस्लामी मामले पर विचार के लिए नहीं बुलाया गया था और इस आधार पर उन्होंने इसमें भाग लेने की भारत की आतुरता को सही सिद्ध करने का असफल यत्न किया। पता नहीं कि अल अक्सा मस्जिद में आग लगने का मामला किस प्रकार इस्लामी सवाल नहीं था। बस इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जेरूसलम तथा अन्य अरब क्षेत्रों को इजरायली अधिकार से निकालने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो भी प्रस्ताव पास किये हैं उनका भारत ने समर्थन किया है। लेकिन इनका समर्थन तो सोवियत संघ आदि अनेक देशों ने भी किया था।

घूम फिर कर बात फिर वहीं आ जाती है। सवाल यह है कि भारत में छह करोड़ मुसलमान होने के कारण हम क्यों सभी इस्लामी सम्मेलनों में भाग लेने का यत्न करना चाहिए और सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिए किसी धार्मिक सम्मेलन में भाग लेने का क्या औचित्य हो सकता है? भारतीय हित के दृष्टि कोण से यह खतरनाक भी था। यदि अल अक्सा मस्जिद के अग्निकाण्ड पर धार्मिक सम्मेलन हो सकता है तो हजरतबाल काण्ड पर भी इसी तरह का सम्मेलन हो सकता है। इन आधारों पर रबात सम्मेलन में भारत के शामिल होने का सम्पूर्ण देश में बड़ा विरोध हुआ और सारी घटना की कटु आलोचना की गयी।[1]

1 उदाहरणार्थ इस पर हिन्दुस्तान टाइम्स (दिल्ली सितम्बर 27 1969) की यह टिप्पणी थी

To say that India had sent a delegation to attend an Al Aqsa Summit and not the World Islamic Summit is

क्योंकि कुछ वर्ष पूर्व इण्डोनेशिया में हुए इस्लामी सम्मेलन में चीन सोवियत संघ आदि के मुस्लिम प्रतिनिधि और मध्य एशिया के मुसलमान सोवियत गणराज्यों के प्रतिनिधि गये थे किन्तु रबात सम्मेलन से वे दूर ही रहे। युगोस्लाविया में मुसलमानों की काफी संख्या होने के बावजूद बलग्रेड उससे दूर रहा और अल्बानिया ने भी उसमें कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी। दूसरी ओर जैसा कि स्वयं अरब राष्ट्रों ने शिकायत की सम्मेलन में उनको आमन्त्रित किया गया जिनका इजरायल के साथ राजनयिक सम्बन्ध है। क्या विदेश नीति निर्माताओं और राजनय की गति मति निश्चित करने वालों ने इन सब तथ्यों की उपेक्षा करके ऐसी स्थिति क्यों पैदा कर दी जिसमें समूचा राष्ट्र तिरस्कृत और लज्जित हुआ? इन सारे प्रश्नों का उत्तर है—भारत सरकार की कश्मीर सम्बन्धी नीति। कश्मीर के प्रश्न को भारत सरकार इतना अधिक महत्व देती है कि यह उसकी विदेश-नीति का एक मुख्य तत्व बन गया है और भारतीय राजनय बहुत हद तक इसी प्रश्न से प्रभावित होती रहती है। भारत रबात सम्मेलन में इस कारण शामिल होने के लिए इतना उत्सुक था कि कहीं उसकी अनुपस्थिति में पाकिस्तान कश्मीर के प्रश्न पर अरब राष्ट्रों का समर्थन न प्राप्त कर ले।[2]

---

1 It is necessary to ask why the Government of India sought representation at the World Islamic Summit The stark truth is that this was an obvious manifestation of what might appropriately be described as *The Kashmir factor in Indian diplomacy* Fifty percent of India's foreign policy is permanently dictated and determined by the Kashmir factor India wanted to be at Rabat in order not to leave the field clear for Pakistan and to woo the Muslim nations gathered there on Kashmir or Indo Pakistan relations generally It is for the same reason that India fought for an invitation to the Islamic conference at Kuala Lumpur earlier this year It is for the same reason again that India's great triumph at the Belgrade conference of non aligned nations was in somehow managing to keep out Pakistan The enormous distortions that the Kashmir factor has introduced in India's foreign policy and even in its domestic policy whether consciously or unconsciously has resulted in double talk double think and unprincipled contortions for many years The Government of India's entire position on West Asia and towards Israel is powerfully influenced by the Kashmir factor Indian diplomacy towards the United States the Soviet Union China and several other countries has from time to time been visibly subjected to the Kashmir factor

—*Hindustan Times* Sept 27 1969

जेद्दा सम्मेलन और स्थायी इस्लामी सचिवालय पर भारतीय प्रतिक्रिया — ऐसा प्रतीत होता है कि अल अक्सा मस्जिद की घटना के बाद अरब राष्ट्र इजरायल के साथ अपने झगड़े को उत्तरोत्तर मजहबी रंग देने लगे। राजनीतिक और सैनिक मोर्चों पर पराभव के बाद इजरायल की समस्या को धार्मिक रूप देने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। 6 मार्च 1970 को आयोजित मुस्लिम देशों के धार्मिक नेताओं की एक बैठक में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि पश्चिम एशिया की समस्या मूलतः इस्लाम की समस्या है और इसलिए मुसलमानों को उनके लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को प्रस्तुत रहना चाहिए। मुस्लिम देशों से स्वयंसेवक और धन भेजने की अपील किया गया। एक मुस्लिम समाचार समिति गठित करने का सुझाव भी दिया गया। इस सम्मेलन में राष्ट्रपति नासिर मौजूद थे और उन्होंने भी मुस्लिम राष्ट्रों से सहायता की याचना की।

इस प्रकार अरब इजरायल विवाद दिन प्रतिदिन मुसलमानों और गैर मुसलमानों का विवाद बनता गया। इसके लिए शाह फैसल और शाह हुसैन बहुत हद तक जिम्मेवार थे। ऐसा करने में पाकिस्तान उन्हें एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली सहयोगी के रूप में मिला। मुसलमान देशों में ईरान की नीति भी विरोधाभासों से भरी हुई थी। मुस्लिम देशों के संगठन को मजहबी आधार देने का विरोध भी नहीं करता और खुलकर इजरायल को शत्रु भी घोषित नहीं करता। ऐसी स्थिति में संयुक्त अरब गणराज्य, सीरिया और कुछ अन्य मुस्लिम राष्ट्रों द्वारा इस समस्या को राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्ष समस्या बनाये रखने का प्रयास बहुत दूर तक सफल नहीं हो सकता।

अरब इजरायल विवाद के इस्लामीकरण के इस प्रयास की पृष्ठभूमि में ही 1970 में हुए वाह्य मुस्लिम देशों के जेद्दा-सम्मेलन का अध्ययन किया जा सकता है। इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की तैयारी रबात सम्मेलन के बाद ही आरम्भ हो गया था। 24 मार्च को सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए सऊदी अरब के शाह फैसल ने कहा कि इजरायल ने न केवल फिलिस्तीन और यरुशलम की जनता के साथ अन्याय किया है बल्कि इस्लाम की शान और प्रतिष्ठा को कुचलने की भी कोशिश की है।

जेद्दा-सम्मेलन में एक मुस्लिम सचिवालय की स्थापना को लेकर काफी गर्म विवाद हुआ। मगर संयुक्त अरब गणराज्य, सीरिया और सूडान के प्रतिनिधियों के विरोध के बावजूद सचिवालय स्थापित करने का फैसला किया गया। सचिवालय का मुख्य कार्यालय जेद्दा में रखा गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाँति इस सचिवालय में भी एक महासचिव होगा जो हर दो वर्ष के बाद बदला जायगा। भारत सरकार ने इस सचिवालय की स्थापना का और पश्चिम एशिया की समस्या के मजहबीकरण पर अपनी प्रतिक्रिया सार्वजनिक रूप से तो व्यक्त नहीं की लेकिन उसका दृष्टिकोण इसके विरुद्ध में ही रहा। यदि यह सचिवालय केवल मजहबी और सांस्कृतिक मामलों में ही मुस्लिम देशों के बीच तालमेल स्थापित करने का काम करता तो यह समझ में नहीं आता कि मुस्लिम सम्मेलन में पश्चिम एशिया की राजनीतिक समस्या पर बहस

हजार सैनिक विशेषज्ञों और सलाहकारों को मिस्र से हटा लेने को कहा है। इसका कारण यह था कि मिस्र सोवियत संघ से आधुनिकतम शस्त्रास्त्र मांग रहा था लेकिन सोवियत संघ ने इस अनुरोध को स्वीकार नहीं किया और सलाह दी कि मिस्र राजनीतिक वार्ता द्वारा पश्चिम एशिया का संकट दूर करे। पर मिस्री नेता सोवियत संघ से बहुत नाराज हो गये और रूसी विशेषज्ञों को मिस्र छोड़ने का आदेश दे दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि रूसी विशेषज्ञों की वापसी से पश्चिमी एशिया में सोवियत संघ के राजनय को एक बहुत बड़ा धक्का लगा। इस घटना के प्रभाव से भारत अरब सम्बन्ध भी अछूता नहीं रहा। भारत सोवियत मैत्री सन्धि के उपरान्त ये दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मसलों पर सहयोग कर रहे थे। मिस्र की इस कारवाई से निश्चय ही भारत की स्थिति पर बुरा असर पड़ा। यद्यपि भारत सरकार ने इस घोषणा पर तत्काल अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की लेकिन वह भीतर भीतर मिस्र की कारवाई से बहुत नाराज हुई।

अरब आतंकवाद और भारत—फिलिस्तीनी अरब शरणार्थियों ने इजरायल से बदला लेने के लिए एक फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन बना रखा है जो छापामार तरीकों से आतंक फैलाते रहते हैं। ये छापामार लगभग बारह छोटे बड़े गुटों में बंटे हुए हैं जिनमें एक काला सितम्बरी (Black Sebtemper) अपने आतंकवादी कारनामों के लिए काफी कुख्यात हो चुका है। इन्हीं लोगों ने 1970 में तीन पश्चिमी देशों का विमान हरण कर जोर्डन में उतारा था एक पान अमरिकन हवाई जहाज को काहिरा हवाई अड्डे पर उतारकर ध्वस्त किया था तथा एक बेल्जियन विमान का अपहरण किया था। इन्हीं छापामारों ने 1971 में पश्चिम जर्मनी के एक विद्युत जनरेटर के कारखाने को अपना निशान बनाया था जो इजरायली वायुसेना के लिए माल तैयार करता था। लेकिन इनकी गतिविधि अपनी चरमसीमा पर तब पहुंची जब 5 सितम्बर 1972 को इन्होंने म्युनिक में ओलम्पिक खेलकूद में भाग लेनेवाली इजरायली टीम के सभी खिलाड़ियों को पकड़कर नाटकीय ढंग से उनकी हत्या कर दी। आतंकवादियों के इस काम की निन्दा हर जगह हुई। लेकिन कुछ प्रमुख अरब राज्यों ने इसका पूरा समर्थन किया। सीरिया ने छापामारों की मौत को शहादत की मौत कहकर मातम मनाया। मिस्र ने भी आपत्ति के एक शब्द नहीं कहे। इससे आतंकवादियों का हौसला और भी बढ़ा और 4 मार्च 1973 को सूडान की राजधानी खारतूम में साऊदी अरब के दूतावास में काले सितम्बरी गुट के फिलिस्तीनी छापामारों ने दो अमरीकी और एक बेल्जियम के राजनयिक की हत्या कर दी।

इस घटना के पूर्व अरब आतंकवादियों ने अपने इजरायल विरोधी और इजराइल समर्थक विरोधी अभियान का एक अड्डा भारत को भी बनाया जहाँ से पार्सल और चिट्ठियों के जरिये बम भेजते थे। भारत ने ऐसी गतिविधियों की तीव्र भर्त्सना की। यदि आतंकवादियों के कारनामे इसी तरह बढ़ते रहे तो सम्भव है कि कुछ प्रमुख अरब देशों के साथ भारत का सम्बन्ध भविष्य में अच्छा नहीं रहे।

चतुर्थ अरब इजराइल युद्ध (1973) और भारत

1973 के प्रारम्भ में ही पश्चिमी एशिया की स्थिति विस्फोटक हो गयी। तृतीय अरब इजराइल युद्ध के बाद नवम्बर 1967 में सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पास करके सम्बद्ध पक्षों को आदेश दिया था कि उक्त प्रस्ताव के

रूप में कायम रहने का हक मिले तथा फिलिस्तीनी जनता के अधिकारों का समुचित समाधान स्वीकार किया जाय।

तेल संकट और भारत —इस प्रकार भारत ने सदा की भाँति अरबों का पूर्ण समर्थन किया। इस बीच तेल उत्पादक अरब राज्यों ने इजरायल के समर्थकों के खिलाफ कारवाई करने के उद्देश्य से कच्चे तेल का मूल्य बेहिसाब बढ़ा दिया और उसकी आपूर्ति पर कुछ पाबन्दी भी लगा दी। अरबों के इस हथियार के प्रयोग से यूरोप की अर्थ व्यवस्था असंतुलित हो गयी। पश्चिम यूरोप में विकास की गति लगभग रुक गयी। विकासशील देशों के लिए तो तेल के मूल्य में वृद्धि विध्वंसात्मक सिद्ध हुई। इन देशों ने अबतक जो उन्नति की थी उसके चौपट हो जाने की सम्भावना स्पष्ट दिखने लगी। दिसम्बर 1973 में जब ईरान ने कच्चे तेल को खुले बाजार में बेचने की घोषणा की तो भारत सहित सभी विकासशील देशों में खलबली मच गयी। ईरान के निर्णय का नतीजा यह होता कि केवल वही खरीद पाते जिनकी क्रय शक्ति ऊँची होती। इस प्रतियोगिता में स्पष्टतः अमरिका और जापान के मुकाबले में अन्य देश पीछे रह जाते। तेल के संकट ने भारत के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न कर दी। भारत का दुःख इस बात का था कि तेल जैसे मजबूत हथियार के उपयोग में अरबों ने अपने दोस्तों और दुश्मनों में कोई फर्क नहीं किया। चूँकि अमेरिका इजरायल के साथ था इसलिए यह बात समझ में आ सकती है कि अरब देश अमरिका को तेल बन्द करें या उसका दाम बढ़ायें। लेकिन साथ में भारत जो अरबों का मित्र रहा था उसके लिए भी तेल का दाम बढ़े यह बात अनेक भारतीयों को समझ में नहीं आया। अरबों के इस व्यवहार से भारतीय लोकमत बहुत क्षुब्ध हुआ और भारत सरकार काफी परेशानी में पड़ गयी। लेकिन जहाँ तक अरब-इजरायल संघर्ष में अरबों के समर्थन का प्रश्न था भारत अपनी पुरानी नीति का ही अवलम्बन करता रहा।

लाहौर का इस्लामी सम्मेलन और भारत —22-24 फरवरी 1974 को पाकिस्तानी नगर लाहौर में दूसरा इस्लामी सम्मेलन हुआ जिसमें मुख्यतः पश्चिम एशिया की समस्या पर ही विचार विमर्श हुआ। सम्मेलन में कई प्रस्ताव स्वीकार हुए। जिसमें से इजरायली सेनाओं को तुरत हटाने की माँग की गयी। पश्चिम एशिया में शांति समझौता की सम्भावनाओं पर भी विचार हुआ।

ज्ञात है प्रथम इस्लामी सम्मेलन में हुए अनुभव के आधार पर इस बार भारत ने सम्मेलन में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की। लेकिन राजनीति के इस मजहबीकरण के प्रयास को भारत ने कभी पसन्द नहीं किया। यद्यपि भारत ने इस पर किसी तरह की अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की लेकिन यह सम्भावना थी कि इस तरह के प्रयासों से भारत और पश्चिम एशिया के देशों में गलतफहमी बढ़े। सम्भवतः इसी कारण मिस्र के राष्ट्रपति सआदत ने लाहौर में इस्लामी सम्मेलन में भाग लेने के बाद दो दिनों के लिए (24-25 फरवरी 1974) भारत आये। सआदत की भारत यात्रा का उद्देश्य पाकिस्तान तथा अन्य मुस्लिम देशों को यह बतलाना था कि इस्लामी शिखर सम्मेलन में भाग लेने के बावजूद मिस्र धर्मनिरपेक्ष भारत के घनिष्ठ नजदीक है। भारत से रवाना होने के पहले उन्होंने यह भी बताया कि मिस्र और राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्नों पर भारत के साथ सहमति रखता है।

O

अध्याय 7

भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका

(India and the U S A)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि —स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका मे कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। इसके कई कारण थे। प्रथम भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका एक दूसरे से बहुत दूर पर स्थित हैं। दूसरे अंग्रेजी सरकार जान-बूझकर ऐसी नीति का अवलम्बन करती थी ताकि भारतीय किसी दूसरे देश के सम्पर्क में नहीं आये। लगभग द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व तक संयुक्त राज्य अमेरिका भी विश्व राजनीति में पार्थक्यता नीति (policy of isolation) का अवलम्बन करता रहा। चीन और जापान को छोड़कर एशिया के मामले में उसने कभी विशेष रुचि लेने की प्रवृत्ति का प्रदर्शन नहीं किया। सांस्कृतिक स्तर पर भी दोनों देशों का सम्पर्क नाममात्र का ही रहा। स्वतन्त्रता के पहले कुछ अमरीकी लेखक और पत्रकार भारत अवश्य आये पर कठिन भारतीय जीवन का गहराई का निरीक्षण करना ही उन्होंने अपना मुख्य ध्येय माना। मिस मेयो (Miss Mayo) द्वारा मदर इण्डिया पुस्तक की रचना इसी उद्देश्य से हुई थी। ब्रिटिश काल में कुछ अमरीकी क्रिश्चियन मिशनरियाँ भी भारत में काम करती थीं लेकिन उनके कार्यकलापों से दोनों देशों के सम्बन्ध में कोई दृढ़ता नहीं आयी। भारतीय विद्यार्थियों को कभी अमरीकी शिक्षा विद्यालयों में पढ़ने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। यदि कोई भारतीय इस तरह का इरादा प्रकट करता तो ब्रिटिश सरकार उसके मार्ग में तरह तरह की बाधाएँ उपस्थित करती। संयुक्त राज्य अमरिका का अप्रवास नियम (immigration law) प्रत्यक्षतः भारत विरोधी था। इस नियम ने नागरिक के रूप में अमरिका में बसने से भारतीयों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

इन सारी बाधाओं के बावजूद प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त भारत और संयुक्त राज्य अमरिका के मध्य धीरे धीरे सम्पर्क बढ़ने लगा। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता अमरिका को स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र का देश मानते थे और वे सोचते थे कि भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई में उन्हें अमरिका की सहानुभूति अवश्य प्राप्त होगी। प्रथम विश्व युद्ध के समय भारतीय नेताओं ने राष्ट्रपति विल्सन द्वारा आत्म निर्णय के सिद्धान्त का स्वागत किया। 1919 के दिल्ली कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष मदन मोहन मालवीय ने विल्सन की प्रशंसा पर न्याय कायम करने के लिए इन्होंने जो कुछ कहा उन्होंने विल्सन के चौदह सूत्र (Fourteen Points) का बड़े उत्साह से स्वागत किया। इस प्रकार भारतीयों ने राष्ट्रपति विल्सन से बड़ी-बड़ी उम्मीदें और यह विश्वास किया कि पेरिस के शान्ति सम्मेलन में उनका नाम से भारत को भी स्वशासन का अधिकार प्राप्त होगा। पर इस सम्बन्ध में भारतीयों को बड़ी निराशा हुई क्योंकि विल्सन ने उनके प्रति किसी तरह की रुचि नहीं ली।

1 B Prasad *Origin of Indian Foreign Policy* p 63

अप्रत्याशित सफलता ने अमरीकी नेताओं को बहुत चिन्तित कर दिया। वे अनुभव करने लगे कि युद्ध प्रयास में भारत के राष्ट्रवादी तत्वों का सहयोग लेना परमावश्यक है और यह तभी संभव है जब ब्रिटिश सरकार कम-से-कम सिद्धांत के रूप में भारतीय स्वतंत्रता की बात माने। अतएव अमरीकी राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी रूजवेल्ट (Franklin D Roosevelt) ने भारत की स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए ब्रिटिश प्रधान मंत्री विंसटन चर्चिल (Winston Churchill) से भारतीय समस्या का समाधान करने पर अनेक बार जोर दिया। प्रधानमन्त्री के नाम 10 मार्च 1942 को भेजे गये अपने एक संदेश में भारतीय समस्या के प्रति अपनी गम्भीर चिन्ता व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा था यद्यपि इस मामले में मेरा कोई प्रत्यक्ष मतलब नहीं है तो भी मैं समस्या के समाधान के लिए उत्सुक हूँ। भारतीय समस्या में रूजवेल्ट की इस रुचि ने भारतीय समस्या के समाधान के लिए क्रिप्स मिशन (Cripps Mission) भेजे जाने के निर्णय को प्रभावित किया। 11 मार्च 1952 को यह घोषणा हुई कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से वार्ता करने और गतिरोध को दूर करने लिए भारत जायेंगे। क्रिप्स वार्ता में मदद देने के उद्देश्य से रूजवेल्ट ने लुई जॉनसन (Louis Johnson) को अपना निजी प्रतिनिधि बनाकर दिल्ली भेजा। यद्यपि जॉनसन की उपस्थिति के बावजूद क्रिप्स मिशन असफल रहा लेकिन यह इस बात का सबूत था कि अमरीकी प्रशासन भारतीय समस्या में अब सक्रिय रुचि लेने लगा है।

क्रिप्स मिशन जब असफल होने लगा तो रूजवेल्ट ने एक बार और हस्तक्षेप किया। 11 अप्रैल 1942 को चर्चिल के नाम अपने संदेश में उन्होंने पुनः यह अनुरोध किया कि समझौता वार्ता को भंग होने से बचाने के लिए एक और प्रयत्न किया जाय और साथ ही यह भी कहा कि अमरीकी जनता यह नहीं समझ पा रही है। यदि ब्रिटिश सरकार युद्ध के उपरान्त भारत के विभिन्न भागों को ब्रिटिश साम्राज्य की अधीनता से मुक्त करने के लिए तैयार है तो वह युद्ध के समय उन्हें स्वशासन देने को क्यों राजी नहीं होती? चर्चिल पर रूजवेल्ट के विचारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और क्रिप्स मिशन पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ। फिर भी रूजवेल्ट भारतीय समस्या के प्रति उदासीन नहीं हुआ। 25 जुलाई 1942 को रूजवेल्ट को अपने एक सन्देश में चीन के जेनरल च्यांगकाई शेक ने यह अनुरोध किया कि वह भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए हस्तक्षेप करे। 12 अगस्त को च्यांगकाई-शेक को उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा यह उलझनपूर्ण समस्या सभी के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है मेरा और आपका कार्य ब्रिटिश सरकार मिस्टर गाँधी और उनके अनुयायियों को यह स्पष्ट कर देना है कि हम ब्रिटिश सरकार अथवा कांग्रेस को निर्णय के लिए बाध्य करने का नैतिक अधिकार नहीं है लेकिन इसके साथ ही हमें दोनों पक्षों को स्पष्ट कर देना चाहिए कि हम उनके मित्र हैं और यदि हमारी सहायता की अपेक्षा हुई तो सहायता उनके लिए प्रस्तुत है।[1]

1 भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अमरीकी सरकार ने जो रुचि ली उसका विस्तृत विवरण उन कागज-पत्रों का पढ़न से मिलता है जो अमरीकी विदेश विभाग द्वारा 1960 में फारेन रिलेसन्स सिरीज फौर दि इयर 1942 (Foreign Relations Series for the year 1942) नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है।

मामलों में उसको अपना समर्थन भी दिया है। भारत को असंलग्नता की नीति पर चलने के कारण जहाँ एक ओर अमरिका ने भारत के हितों को कभी-कभी बहुत नुकसान पहुँचाया है वहाँ दूसरी ओर प्रचुर आर्थिक सहायता के द्वारा और भारत चीन संघर्ष के समय अविलम्ब बिना शर्त सैनिक सहायता देकर भारत के प्रति अपनी मैत्री का परिचय भी दिया है।

सन्देह के वातावरण में सम्बन्ध का प्रारम्भ—कई परिस्थितियों के कारण भारत के स्वतन्त्र होने के बाद संयुक्त राज्य अमरिका और भारत के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रारम्भ सन्देह के वातावरण में शुरू हुआ। स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान अमरिका ने भारत के प्रति जो रुख अपनाया था उसको प्रबुद्ध भारतीय भूले नहीं थे। नवीन भारत सरकार के अन्तर्गत कई उच्च पदों पर पदाधिकारी थे जो युद्धोत्तर कालीन अमरीकी विदेश नीति को नफरत की निगाहों से देखते थे। दूसरी तरफ कुछ प्रमुख अमरीकी नेताओं ने अमरिका और सोवियत संघ के शीत युद्ध में एक पक्ष होने का गलत दृष्टिकोण अपना लिया था। उनका कहना था कि जो देश स्पष्ट रूप से अमेरिका के साथ नहीं हैं वे उसके विरोधी हैं। अमरीकियों ने भारत की असंलग्नता की नीति को इसी का परिणाम बतलाया। कुछ प्रमुख अमरीकी नेताओं ने इस आशय के वक्तव्य दिये कि जवाहरलाल नेहरू एक अर्ध साम्यवादी (quasi communist) हैं जिनका उद्देश्य असंलग्नता की आड़ में धीरे-धीरे खिसकाकर भारत को सोवियत गुट में ले जाना है। जनवरी 1947 में जोन फास्टर डलेस ने कहा था कि भारत में सोवियत साम्यवाद अन्तःकालीन हिन्दू सरकार के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।

भारत और अमरिका के प्रारम्भिक सम्बन्ध में जो मतभेद उत्पन्न हुए उसके मौलिक कारण थे। तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर दोनों के दृष्टिकोणों में मूलभूत अन्तर था। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन और उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में दोनों देशों के दृष्टिकोणों में स्पष्ट अन्तर था। अमरीकी दृष्टिकोण में सोवियत संघ के नेतृत्व में चल रहे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन युद्धोत्तर विश्व की सबसे बड़ी समस्या थी और इसको कुचलने के लिए अमरिका किसी भी हद तक जाने को तैयार था। वह युद्ध करने को भी तैयार था। भारत इस हद तक जाने को तैयार नहीं था। वह विश्व शान्ति को सर्वोपरि स्थान देता था। एक बार श्रीमती विजया लक्ष्मी पण्डित ने ठीक ही कहा था कि भारत के लिए युद्ध साम्यवाद से भी अधिक बड़ा संकट है। दूसरे भारत उपनिवेशवाद का प्रबल विरोधी था। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमरिका स्वयं एक साम्राज्यवादी देश था और विश्व के विभिन्न भागों में यूरोपीय साम्राज्यवाद का खुला समर्थन करता था।

अतएव युद्धोत्तर काल की दो प्रमुख समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर के कारण प्रारम्भ से ही भारत और संयुक्त राज्य अमरिका का सम्बन्ध सन्देहों के साथ शुरू हुआ। जिस समय भारत ब्रिटिश पराधीनता से मुक्त हुआ उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ का सम्बन्ध अत्यन्त बिगड़ चला था और दोनों के मध्य भीषण रूप से शीत युद्ध शुरू हो गया था। सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमरिका विश्व व्यापी पैमाने पर तैयारी कर रहा था। इस कार्य में वह अधिक से अधिक देशों का समर्थन प्राप्त करना चाहता था और संसार के सभी गैर-साम्यवादी

देशों को अपने गुट का सदस्य बना लेना चाहता था। एशिया के नवोदित राष्ट्रों की ओर उसका विशेष झुकाव था और उसका विचार था कि ये राष्ट्र शीत युद्ध में अमेरिका का साथ दें तथा सोवियत संघ का विरोध करें। जो देश अमेरिका की इस नीति से सहमत नहीं होते थे उन्हें शत्रु या विरोधी की कोटि में रखा जाता था। भारत उस समय आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश था और उसे विदेशी सहायता की बड़ी आवश्यकता थी और यह सहायता अमेरिका से ही मिल सकती थी। अतएव अमेरिका को यह आशा थी कि स्वतन्त्र भारत अधिक मूल्य देकर उसका साथ देगा। लेकिन उसे निराश होना पड़ा क्योंकि स्वतन्त्र भारत की सरकार ने गुटों से अलग रहनेवाली असलग्नता की नीति को अपना लिया। गुटबन्दियों के मध्य तटस्थ या असंलग्नता की नीति अमेरिका को पसन्द न थी और इसलिए वह भारत को शंका की दृष्टि से देखने लगा। भारत को अपने राजनयिक जाल में फंसाने के लिए अमेरिका की ओर से कितने प्रयास हुए लेकिन भारत इन सारे प्रयासों को विफल बनाता रहा। उसने अमरीकी गुट में शामिल होने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। ऐसी हालत में भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका का सम्बन्ध सन्तोषजनक ढंग से प्रारम्भ नहीं हुआ। दोनों देशों के बीच कुछ मौलिक मतभेद थे जिनका उनके सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त जब जब समय बीतता गया क्रम-क्रम निम्न बातों पर मतभेद बढ़ता गया

कश्मीर के प्रश्न पर मतभेद—कश्मीर के प्रश्न पर भारत का जनमत और भारतीय प्रशासन अमेरिका के पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का 1948 से लेकर अब तक कठोर आलोचक रहा है। कश्मीर पर पाकिस्तानी हमले से उत्पन्न स्थिति पर न्याय पाने के लिए 31 दिसम्बर 1947 को भारत इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गया। उसे यह आशा थी कि संयुक्त राज्य अमेरिका न्याय का पक्ष ग्रहण करेगा और पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित कराने में मदद देगा। लेकिन अमेरिका का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत था। उसने भारत का समर्थन करने के बजाय पाकिस्तान का पक्ष लिया। आज तक कश्मीर की समस्या का समाधान नहीं हो पाया है और इसके मूल में अमेरिका भारत विरोधी रवैया है। अमेरिका के इस दृष्टिकोण से भारतीय लोकमत शुरू से ही अमेरिका का विरोधी हो गया। भारतीय समाचार-पत्रों ने लिखा कि संयुक्त राज्य अमेरिका कश्मीर में सोवियत संघ के विरुद्ध सैनिक अड्डा कायम करना चाहता है। उनका विश्वास है कि यदि कश्मीर भारत के साथ रहा तो उसको इस तरह के अड्डे बनाने की सुविधा नहीं मिलेगी। अतएव वह पाकिस्तान का समर्थन कर रहा है।

केवल कश्मीर के प्रश्न पर ही नहीं वरन भारत और पाकिस्तान के मध्य अन्य झगड़ों पर भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत विरोधी रुख अपनाया। भारत पाकिस्तान सम्बन्धों पर अमेरिका के इस रुख ने दोनों देशों के सम्बन्धों में दरार डालने की भूमिका निबाही है।

दक्षिण अफ्रिका के प्रवासी भारतीय की समस्या और उपनिवेशवाद पर मतभेद—प्रारम्भ में भारत का एक और मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में पेश था। दक्षिण

अफ्रिका म प्रवासी भारतीयों के साथ वहाँ की सरकार रगभद की नीति के आधार पर जो व्यवहार कर रही थी उसके सम्बन्ध म भारत ने सयुक्त राष्ट्रसघ मे प्रश्न उठाया। सयुक्त राष्ट्रसघ की साधारण सभा में जब इस विवाद पर बहस हुई तो अमरीकी प्रतिनिधि ने हमशा दक्षिण अफ्रिका की सरकार का समथन किया और ऐसे किसी प्रस्ताव को स्वीकार नही करने दिया जिसम दक्षिण अफ्रिका सरकार की निन्दा हो रही थी। इस तरह पराधीन राष्ट्रों के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के सम्बन्ध म अमरिका का रुख भारत को बिल्कुल पसन्द नही आया। ऐसे आन्दोलनों के प्रति भारत की पूरी सहानुभूति थी लेकिन सयुक्त राज्य अमरिका के दृष्टिकोण म इण्डोनेशिया मलाया और हिन्द चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के षड्यन्त्र के सिवा और कुछ नही थे। अतएव इन आन्दोलनों को कुचलने म उसने यूरोप के उपनिवेशवादी राष्ट्रों को अपना नतिक समथन प्रदान किया। भारतीय लोकमत को इससे बडी निराशा हुई।

कम्युनिस्ट चीन का प्रादुर्भाव और भारत अमरिका मतभद—कश्मीर रग भेद की नीति तथा उपनिवेशवाद पर दोनो के विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण उनके सम्बन्ध म दरार तो पड़ ही रही थी। इसी समय चीन के राजनीतिक परिवतन ने उनके मतभेद को और भी गहरा कर दिया। चीन म कम्युनिस्टों की सफलता के पहले तक भारत के प्रति अमरीकी नीति लगभग उदासीन थी। लेकिन 1949 म कम्युनिस्टों की जीत और जनवादी चीन की स्थापना ने पूर्वी एशिया की स्थिति को एकदम बदल दिया। बदली हुई परिस्थिति म अमरिका के लिए भारत का महत्व बहुत बढ़ गया। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार वाल्टर लिपमन (Walter Lipmann) का एक लेख प्रकाशित हुआ। एक लख म उसने लिखा था जब कि एशिया म नियरलैंड फ्रांस और राष्ट्रवादी चीन असफल हो गये उस हालत म हम मित्रों की तलाश कहाँ करें? एशिया म अमरीकी नीति के निर्धारण के लिए इस मौलिक प्रश्न का समाधान आवश्यक है। मैं यही कहूँगा कि अब हम लोगो को नेहरू की ओर देखना चाहिए। हमारी समस्याओं के समाधान की कुंजी उन्हीं के पास है। यद्यपि यह एक गैर-सरकारी प्रभाव का व्यक्तिगत विचार था लेकिन अमरिका के शासकीय क्षेत्र म भी इसी तरह के विचार आने लगे। उनका कहना था कि नेहरू तुरन्त ही चीन द्वारा उपस्थित सकट को समझेंगे और उसके अन्त के लिए अमरिका का हाथ मजबूत करेंगे। इसलिए भारत के प्रति अमरीकी रुख म कुछ नरमी आयी। उस समय भारत घोर आर्थिक सकटों म पड़ा था। इस सकट का मुकाबला करने के लिए अमरिका ने कुछ आर्थिक सहायता देने का आश्वासन दिया। इन बातों पर विचार विमश करने के लिए अमरीकी प्रशासन ने जवाहरलाल नेहरू को अमरिका भ्रमण के लिए आमन्त्रण दिया। जवाहरलाल ने पहल तो इस आमन्त्रण को अस्वीकार किया लेकिन मई 1949 म उन्होंने अमरिका जाने का निश्चय किया।

सितम्बर-अक्टूबर 1949 म नेहरू ने अमेरिका की यात्रा की। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि सयुक्त राज्य अमेरिका भारत के पुनर्निर्माण के लिए यथेष्ट आर्थिक सहायता देगा। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि इस आर्थिक सहायता को प्राप्त करने के लिए भारत अपनी विदेश नीति के मौलिक सिद्धान्तों का परित्याग नहीं करेगा। पूर्व और पश्चिम के बीच युद्ध म पक्ष लेने से भी उन्होंने इनकार किया।

बताया। जवाहरलाल ने बोनिन तथा र्यूकू टापुओं पर अमरीकी संरक्षण का विरोध करते हुए इन्हें जापान को वापस करने, फारमोसा चीन को देने के प्रस्ताव रखे और जापान में विदेशी सेना रखने का विरोध किया। इस मत के जब नेहरू के प्रस्ताव नहीं स्वीकार किये गये तो नयी दिल्ली ने 23 अगस्त को वाशिंगटन को यह सूचना दी कि वह सनफ्रांसिस्को सम्मेलन में शामिल नहीं होगा तथा जापान से पृथक संधि करेगा। भारत का यह रवैया संयुक्त राज्य अमरिका को एकदम पसन्द नहीं आया। जब 9 जून 1952 को भारत ने जापान के साथ पृथक संधि कर ली तो अमरिका में इसकी विरुद्ध बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

हिन्द चीन के प्रश्न पर मतभेद —हिन्द चीन की समस्या के संबंध में भी भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका में मतभेद बड़े उग्र रूप में प्रकट हुए क्योंकि दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक अंतर था। इस समस्या का भारत पारस्परिक वार्ता के आधार पर और शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने का पक्षपाती था जब कि अमरीकी प्रशासन सैनिक शक्ति का सहारा लेना चाहता था। 1954 में हिन्द चीन की समस्या गम्भीर हो गयी। फ्रांस की सरकार ने हिन्द चीन में अपने उपनिवेश कायम रखने के लिए अमेरिका से सैनिक सहायता मांगी। अमरीकी विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस ने घोषणा की कि वह हिन्द चीन को कम्युनिस्टों के हाथों नहीं पड़ने देगा और फ्रांस की सहायता करेगा। इसका अर्थ अमरिका द्वारा युद्ध में कूदना और तृतीय विश्व युद्ध का प्रारम्भ था।

भारत ने अमेरिका के इस दृष्टिकोण का विरोध किया और जवाहरलाल नेहरू ने दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने के लिए एक छह सूत्री प्रस्ताव रखा और युद्ध को तत्काल बन्द कर देने का सुझाव दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसकी विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। कुछ अमरीकियों ने उनपर साम्यवादियों से सहानुभूति का आरोपण करते हुए यह कहा कि वह हो ची मिन्ह को उसकी निकट भविष्य में होने वाली हार से बचाना चाहता है। बाद में हिन्द चीन में विराम सन्धि हुई और समस्या के समाधान के लिए जेनेवा में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। अमरीकी विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस ने इस बात का भरपूर यत्न किया कि यह सम्मेलन किसी तरह असफल हो जाय। उधर भारत के प्रतिनिधि वी० के० कृष्णमेनन ने सम्मेलन को सफल बनाने का जोड़-तोड़ प्रयास किया और हिन्द-चीन के सम्बन्ध में एक समझौता हो गया। भारत के इस रवैये के कारण अमरिका की नाराजगी बिल्कुल स्वाभाविक थी।

तिब्बत के प्रश्न पर मतभेद —1950 में चीन की जनवादी सरकार ने तिब्बत पर आधिपत्य कर लिया। तिब्बत में भारत सरकार के विशेष हित थे और वह नहीं चाहती थी कि तिब्बत के मामलों में चीन कोई ऐसी कार्रवाई करे। जब पेकिंग ने तिब्बत पर आधिपत्य कायम कर लिया था अमरीकी प्रशासन ने आशा की भारत सरकार इसका विरोध करेगी और चीनी आधिपत्य के विरोध में अमेरिका से सहायता लेगी। लेकिन भारत ने चीन के साथ तिब्बत के प्रश्न पर समझौता कर लिया। बाद में पंचशील के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। संयुक्त राज्य अमरिका को यह बात भी पसन्द नहीं आयी। इस घटना ने दोनों देशों के पारस्परिक मतभेद को और भी बढ़ा दिया।

कि पाकिस्तान अमरिका द्वारा दी गयी सनिक सामग्री का दुरुपयोग भारत के विरुद्ध करन का स्पष्ट प्रलिन है लेकिन अमरीकी प्रशासन न हर बार भारतीय शिकायतो की उपेक्षा की। भारत क प्रति शत्रु भाव रखने वाला राष्ट्र जब मुफ्त की अमरीकी सैन्य सहायता म प्रबल सनिक राष्ट्र बनने लगा तो विवश होकर भारत को भी रक्षा पर अधिक खर्च करना पडा। इसका भारत की आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पडने लगा। पाकिस्तान को सन्तुष्ट रखने की नीति पर चलते हुए अमरिका ने इस तथ्य की सम्भव अवहेलना की कि बन्दूक का प्रयोग आक्रमण करन के लिए उतना ही सुविधा जनक हो सकता है जितना कि प्रतिरक्षा के लिए और एक दफा बन्दूक से गोली के निकल जान के बाद इस प्रश्न का व्यावहारिक राजनीति म कोई महत्व नहीं रह जाता कि आक्रमण किसने किया था। पाकिस्तान म भारत विरोधी भयकर कुप्रचार की पृष्ठभमि म अमरिका के इस आश्वासन की निरर्थकता स्वय अमरिका को ज्ञात था कि अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दिये गये शस्त्रो का प्रयोग भारत के विरुद्ध नही किया जायगा। इस सनिक सहायता के सबध म अमेरिका म भारतीय राजदूत श्री एम सी छागला ने स्पष्ट शब्दो म कहा था — संयुक्त राज्य अमेरिका अपने हाथ स स्वय अपने दूसरे हाथ से किये हुए काम को नष्ट कर रहा है। वह भारत की करोडो और अरबो डालर म सहायता कर रहा है ताकि उसका औद्योगिक विकास हो सके उसी समय वह हमारे विरोधी देशो को शस्त्रास्त्र देकर हम इस बात के लिए बाध्य कर रहा है कि हम अपने प्रतिरक्षा के लिए अधिक व्यय करें और इस प्रकार हमारे वे साधन जिनका हमारे देश की जनता के कल्याण के लिए उपयोग होना चाहिए था शस्त्रास्त्र के उत्पादन म व्यय हो रहे हैं।

एशिया-अफ्रिका म राजनीतिक शून्यता का अमरीकी सिद्धान्त—युद्धोत्तर काल म एशिया और अफ्रिका के देश धीरे धीरे स्वतन्त्र होने लगे और यूरोपीय राज्यों का प्रभुत्व उन पर स उठने लगा। इसम जो स्थिति पैदा हुई उसके सबध म अमरिका न यह दृष्टिकोण अपनाया कि इस क्षेत्र म राजनीतिक शून्यता(political vacuum) उत्पन्न हो गयी है और इस शून्यता को भरने की जिम्मेवारी अमरिका की है। दूसरे शब्दो म इसका अर्थ हुआ इन क्षेत्रों पर अमरीकी प्रभाव को कायम करना था। इसी उद्देश्य स प्रेरित होकर अमरीकी प्रशासन ने पहले ट्रूमन सिद्धान्त तथा आइजनहावर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भारत म इन सिद्धान्तो तथा शक्ति शून्यता के सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई। जवाहरलाल नेहरू ने बडे कडे शब्दो म इसकी भर्त्सना की। इस घटना न अमरिका के एक बहुत बडे वर्ग को भारत का विरोधी बना दिया। इसी तरह दोनो देशो के सम्बन्धो म तनाव और बिगाड आया जब भारत न लेबनान और जार्डन म अमरीकी हस्तक्षेप का विरोध किया। यह हस्तक्षेप आइसनहावर सिद्धान्त के अन्तर्गत हुआ था।

गोआ के मामले पर सम्बन्धो म बिगाड—1961 तक भारत के कुछ भागों पर पुर्तगाल का अधिकार था और भारत शुरू स ही अपने इस भू भाग को मुक्त करने का प्रयास कर रहा था। लेकिन पुर्तगाल की सरकार इस प्रश्न पर भारत सरकार के साथ बातचीत करने को तयार नहीं थी। इस प्रश्न पर अमरीकी सरकार का रुख शुरू स भारत विरोधी रहा क्योंकि पुर्तगाल नाटो संगठन का एक सदस्य था और अमेरिका इस मित्र राष्ट्र को भारत के लिए नाराज नहीं करना चाहता था। अतएव गोआ आदि पुर्तगाली बस्तियो के प्रश्न पर उसने पुर्तगाल का पूरा पूरा समर्थन किया। 7 नवम्बर 1955 को अमरीकी विदेश सचिव डलेस ने कहा था कि

उनके प्रयास से भारत और अमरिका के सम्बन्धों में काफी सुधार हुआ। चेस्टर बौल्स के पूर्व अमेरिका भारत को आर्थिक सहायता देने के लिए उतना उत्सुक नहीं था लेकिन नये राजदूत के प्रयासों के फलस्वरूप भारत को काफी मात्रा में अमरीकी सहायता मिलने लगी। चेस्टर बाउल्स ने इस बात की सिफारिश की कि एशिया में साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए तथा भारतीय प्रजातन्त्र को मजबूत बनाना अत्यन्त आवश्यक है कि भारत को अमरिका से पूरी सहायता मिलनी चाहिए। अन्य कई कारणों से भी बाध्य होकर अमरिका ने भारत को आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया। दृष्टिकोणों में अनेक विभिन्नता के बावजूद अमरिका ने भारत के आर्थिक विकास में गहरी रुचि ली और कई तरह के ऋणों एवं सहायता से भारत को अनुगृहीत किया। उसी की प्रेरणा से विश्व-बैंक, विकास ऋणकोष, प्राविधिक सहयोग आयोग आदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने ऋण और उपहार के रूप में भारत को विशाल आर्थिक और प्राविधिक सहायता प्रदान की। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी भारत और अमरिका की मैत्री रही। फुलब्राइट योजना (Fulbright Scheme) के अन्तर्गत दोनों देशों के बीच बहुत बड़े पैमाने पर विद्वानों का आदान-प्रदान हुआ। 1956 में जवाहरलाल नेहरू ने दूसरी बार अमरिका की यात्रा की जिससे भारत के विरुद्ध फैली भ्रान्तियों में बड़ी कमी आयी। दिसम्बर 1959 में अमरीका राष्ट्रपति आइजनहावर ने भारत की यात्रा की जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के सम्बन्धों में और सुधार हुए। भारतीय जनता ने श्री आइजनहावर का बड़ा सम्मान और स्वागत किया। 13 दिसम्बर 1959 को जनता ने आइजनहावर और नेहरू का जो संयुक्त विज्ञप्ति निकाली उसमें कहा गया था कि उनके समान आदर्श और उद्देश्य तथा शान्ति के लिए उनके समान प्रयास दोनों देशों की मित्रता को और अधिक मजबूत तथा स्थायी बनायेंगे। राष्ट्रपति की यात्रा के उपरान्त अमरिका की भारत के विकास में और भी गहरी रुचि हुई। 22 मार्च 1960 को अमरिका के उपराज्य सचिव डगलस डिलन (Douglas Dillon) ने सीनेट की विदेश समिति के सम्मुख स्वीकार किया कि भारत का आर्थिक विकास अमरीकी विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य बन गया है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति आइजनहावर ने भारत को विशेष आदर देते हुए 4 मई 1960 को वाशिंगटन में भारत के खाद्य मन्त्री एस० के० पाटिल के साथ स्वयं एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते द्वारा फसल की कमी का सामना करने तथा गल्ले का सुरक्षित रखने के लिए अमरीका ने भारत को आगामी चार वर्षों में चावल तथा गेहूँ से भरे हुए 1 500 जलयान भेजने का निश्चय किया। मई 1960 का यह समझौता सार्वजनिक कानून—480 (PL-480) समझौता के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पी० एल० 480 का उद्देश्य विकासशील देशों को कृषि वस्तुएँ विशेष तौर पर खाद्यान्न रियायती दरों पर देकर भुखमरी से बचाया जाना था। रियायत का अर्थ यह था कि अमरिका से भारत जो भी खाद्यान्न खरीदे उसका भुगतान डालर के बजाय वह रुपया में करे और वह भी कम ब्याज पर। इस तरह जो रुपया इकट्ठा हुआ वह भारत के रिजर्व बैंक में जमा होता रहा। उसको खर्च करने का अधिकार अमरीकी सरकार को रहा लेकिन भारत सरकार से अनुमति लेकर। इस रुपया को पी० एल० 480 रुपया कहते हैं। इसी रुपया से अमरीका भारत को अनुदान या कर्ज देता रहा। भारत तथा अमरिका के बीच पी० एल० 480 कानून के अन्तर्गत जो समझौता हुआ उसके अनुसार भारत के निर्माण में अमरीका का निम्नलिखित योगदान रहा है—

कृषि के क्षेत्र में चौवालीस सौ भारतीय विशेषज्ञों को अमरिका में प्रशिक्षण दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय विकास सम्बन्धी अमरीकी एजेंसी ने आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर, उड़ीसा, राजस्थान, पंजाब और उत्तरप्रदेश में कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना में मदद के साथ ही अधिक महत्व उपज देनेवाले खाद्यान्न फसलें, रासायनिक उर्वरकों, कृषि ऊर्जा के विकास सम्बन्धी अनुसंधानकार्य में भी सहयोग दिया। भारत में हरित क्रांति के लघु कार्यक्रम में खासा योगदान किया था। इसके अलावा बाढ़ नियन्त्रण करने, सिंचाई और जल विद्युत के उत्पादन के लिए बाहर नदी घाटी परियोजनाओं के निर्माण में भी सहयोग दिया। विशाखापत्तनम, ट्राम्बे, मद्रास, गोआ और कानपुर में विशाल रासायनिक उर्वरक संयन्त्रों की स्थापना तथा पाँच ग्रामीण विद्युत सहकारी समितियों की स्थापना करने के अलावा उत्तर प्रदेश में रिहन्द नदी पर बाँध के निर्माण करने में भी अमरिका ने सहायता दी। इसी कार्यक्रम की सहायता के अन्तर्गत उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना हुई। इनमें कानपुर का इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलाजी, पाँच इंजीनियरिंग कालेज, नौ इंजीनियरिंग शिक्षा संस्थान, प्राविधिक कालेज आदि हैं। मलेरिया रोग के सफल नियन्त्रण पर भी पी० एल० 480 निधि ने खासा योगदान दिया। 1950 के दशक में हर वर्ष भारत में इस रोग से मरने वालों की संख्या आठ लाख हुआ करती थी, लेकिन बाद में यह संख्या नहीं के बराबर रह गयी। इस क्षेत्र में मलेरिया उन्मूलन अभियान को सफल बनाने का काम भी पी० एल० 480 निधि के अन्तर्गत किया गया। इसके अलावा सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में संदूषित पानी की पूर्ति और सफाई, संचारी रोग संबंधी अध्ययन और रोकथाम तथा शिशु स्वास्थ्य के बारे में भी अमरिकी तकनीकी अधिकारियों ने अपना सुझाव अर्पित किया। जहाँ तक श्रम आन्दोलन का संबंध है दो सौ से अधिक मजदूर नेताओं, प्रशिक्षकों और विशेषज्ञों को अमरिका में उच्च प्रशिक्षण प्रदान किया गया तथा कई अमरिकी विशेषज्ञों ने भी भारत में काम किया।

भारत-चीन युद्ध और संयुक्त राज्य अमेरिका—*अक्टूबर 1962* में भारत-चीन युद्ध होने के फलस्वरूप भारत और संयुक्त राज्य अमरिका के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ। चीनी हमले में अपनी रक्षा के लिए भारत ने अमरिकी सरकार से अनुरोध किया कि वह शीघ्रातिशीघ्र मदद दें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रपति कैनेडी ने इस अनुरोध पर अविलम्ब विचार किया और भारत को सैनिक सहायता भी दी। अमरिका की शक्तिशाली वायु सेना ने नब्बे घण्टे के अन्दर एक हजार टन युद्ध-सामग्री भारत पहुँचायी थी। पं० नेहरू के शब्दों में सारा देश इस सहायता के लिए अमरिका का आभारी रहेगा। यह एक सन्तोष की बात है कि अमरिका ने भारत के पराजय में नाजायज लाभ उठाने का प्रयास नहीं किया। उसने सैनिक सहायता देने के लिए कोई शर्त नहीं रखा। विदेश सचिव डीन रस्क ने भारत की असंलग्नता की नीति की प्रशंसा भी की। अमरीकी राजदूत गालब्रेथ ने कहा, "फौजी सहायता देकर हम भारत को पश्चिमी देशों के सैनिक गुट में शामिल नहीं करना चाहते और न हम भारत की तटस्थ नीति को बदलने के ही समर्थक हैं। अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी कई बार कह चुके हैं कि अमरिका भारत की तटस्थ नीति का स्वागत करता है।"

लेकिन अमरिका भारत को बराबर सैनिक सहायता देता रहेगा यह तुरत ही एक संदिग्ध बात हो गयी। अमरिका में कुछ ऐसे विचार व्यक्त किये गये जिससे पता चला कि अमरीकी सहायता को बराबर जारी रखने में कुछ कठिनाई होती रहेगी।

कम-से कम एक बात स्पष्ट हो गयी । अमरिका पाकिस्तान के लाभ की दृष्टि से कश्मीर समस्या का हल करवा लेना चाहता है । इसके लिए भारत पर कई तरह के दबाव डाले गये । अमरिका की प्रेरणा से ही कश्मीर के प्रश्न पर भारत पाकिस्तान वार्तालाप शुरू हुआ था और कलकत्ता के भुट्टो-स्वर्ण सिंह वार्तालाप के समय अमरीकी राजदूत प्रोफेसर गलब्रथ ने जिस नाटकीय ढंग से हस्तक्षेप किया था उसने इस तथ्य की ओर संकेत किया कि भारत के प्रति अमरीकी दृष्टिकोण में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है । मई 1963 में राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने अमरीका की यात्रा की । पर इसका भी कोई विशेष परिणाम नहीं निकला । अमरिका ने बोकारो प्लान्ट बठाने में मदद देने से इन्कार कर दिया । 1963 64 में भारत के प्रति अमरीकी राजनय का एक लक्ष्य प्रतीत हो रहा है—चीनी आक्रमण तथा भारत की आर्थिक स्थिति से उत्पन्न संकट से लाभ उठाकर भारत को अमरीकी प्रभाव में आबद्ध कर लेना । और इस दिशा में अमरिका को कुछ सफलता भी मिली । फिर भी इस बात को मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रपति कनेडी के पदारोहण के उपरान्त अमरिका के साथ भारत के सम्बन्धों में उल्लेखनीय सुधार हुआ था और कनेडी प्रशासन द्वारा भारत पर चीन का हमला होने पर जो अविलम्ब सहायता प्रदान की गयी थी उसने भारतीय जनता को बहुत ही अधिक प्रभावित किया । राष्ट्रपति कनेडी ने भारत की तटस्थता नीति को भी अन्य अमरीकी नेताओं की अपेक्षा भली प्रकार समझा और उसका यथोचित सम्मान किया । कनेडी ने पाकिस्तान और भारत विरोधियों के विरोध एवं प्रचार की परवाह न करते हुए भारत-चीन युद्ध के समय और उसके बाद जिस प्रकार सैनिक सहायता दी वह उनकी महानता और दूरदर्शिता का प्रमाण था । लेकिन संसार का यह महान नेता अत्यन्त आकस्मिक ढंग से हमारे मध्य से उठ गया । उसकी मृत्यु में भारत ने अपना एक बहुत बड़ा शुभचिन्तक खो दिया । कनेडी के बाद जॉन्डिन जॉनसन संयुक्त राज्य अमरिका के राष्ट्रपति हुए । जॉनसन ने अपने प्रथम भाषण में जो आश्वासन दिया उससे आशा की गई कि शायद अमरिका का नया प्रशासन भारत के प्रति कनेडी नीति का ही अनुसरण करे । राष्ट्रपति जॉनसन के शासन-काल में भारत को सहायता मिली है । 7 दिसम्बर 1963 को भारत और संयुक्त राज्य अमरिका के बीच नयी दिल्ली में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार अमरिका भारत को आठ करोड डॉलर तारापुर में आणविक शक्ति का संयन्त्र स्थापित करने के लिए देने का वादा किया । अमरिका की सहायता से भारत ने अपनी वायुसेना को भी शक्तिशाली बनाया । 1964 में भारत के विभिन्न भागों में भारत ब्रिटेन और स्वदेशी के साथ सैनिकों ने सम्मिलित रूप से सामरिक अभ्यास किये । 1964 में भी भारत में विकट खाद्यान्न समस्या उपस्थित हुई । पी एल 480 के अन्तर्गत अमरिका ने बड़ी मात्रा में भारत में खाद्यान्नों की पूर्ति की और कई तरह की आर्थिक सहायताएँ देने का आश्वासन दिया । भारत को इस तरह की सहायता पर्याप्त रूप में अमरिका से मिली है । पाकिस्तान के विरोध के बावजूद चीन का मुकाबला करने के लिए अमरिका ने भारत के हाथों सैनिक साजोसामान और कुछ सैनिक सम्पदन भी दी ।

1 सितम्बर को पाकिस्तान ने अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा पार करके छम्ब-जरिया क्षेत्र में भारतीय प्रदेश पर बड़े विशाल पैमाने पर आक्रमण कर दिया। यह पहला अवसर था जब पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध अमेरिका में बने और पाकिस्तान को मदद के रूप में दिये पैटन टैंक, हवाई बम वर्षक तथा अन्य अमरीकी शस्त्रास्त्रों को युद्ध में झोंक दिया। पाकिस्तान की इस कारवाई ने अमरीकी प्रशासन को बड़ी दुविधा में डाल दिया। जिस समय संयुक्त राज्य अमेरिका और पाकिस्तान में पारस्परिक सुरक्षा संधि हुई थी और अमरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का वादा किया था उस समय भारत ने इस कारण इसका बड़ा विरोध किया था कि पाकिस्तान को मिले हथियारों में साम्यवाद के विरुद्ध प्रयोग करने का भारतीय सुरक्षा पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। पंडित नेहरू ने राष्ट्रपति आइजनहावर को लिखा था कि पाकिस्तान इन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध करेगा। उस समय राष्ट्रपति आइजनहावर ने जवाब दिया कि पाकिस्तान को मिले अमरीकी हथियारों का प्रयोग केवल कम्युनिस्ट राज्यों के विरुद्ध करने दिया जायगा और यदि पाकिस्तान ने इन हथियारों से भारत पर आक्रमण किया तो संयुक्त राज्य अमरिका उसका विरोध करेगा और भारत की सहायता करेगा। इस आश्वासन के आधार पर भारत सरकार ने अमरीकी सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट कराया कि पाकिस्तान सैटो तथा सियाटो संधियों के अंतर्गत मिले शस्त्रास्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध कर रहा है और यह अनुरोध किया कि अमरिका अपने मित्र राज्य को ऐसा करने से रोके। लेकिन अमरीकी प्रशासन ने इस तथ्य की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया और पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्रास्त्रों के दुरुपयोग से रोकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। संयुक्त राज्य अमरिका की यह नीति राष्ट्रपति आइजनहावर के उन आश्वासनों का उल्लंघन था। लेकिन उस समय के लिए अमरिका ने पाकिस्तान को हर तरह की सैनिक सहायता बंद कर दी। लेकिन यह प्रतिबंध भारत के विरुद्ध भी लगाया गया। अमरीकी सरकार ने आक्रामक और आक्रांत दोनों को एक ही कोटि में रखने में लेश मात्र का संकोच नहीं किया। इसके अतिरिक्त उसने यह भी धमकी दी कि वह दोनों देशों को आर्थिक सहायता देना भी बंद कर देगा। यदि युद्ध न बंद किया गया। इस धमकी से पाकिस्तान की अपेक्षा भारत को ही अधिक नुकसान होने वाला था क्योंकि इस समय भारत में खाद्यान्नों के अभाव के कारण भयंकर-संकट उत्पन्न हो गया था और भारत को अमरीकी सहायता की सख्त जरूरत थी। सितम्बर के महीने में युद्ध को समाप्त करने के लिए सुरक्षा-परिषद की चार बैठकें हुईं। बैठकों में सुरक्षा परिषद के अन्य सदस्यों की तरह अमरीकी प्रतिनिधि ने भी गोल्डबर्ग ने भी महासचिव यू थांत के युद्ध बंद कराने के प्रयासों का समर्थन किया तथा परिषद् द्वारा पारित प्रस्ताव के पक्ष में अपना मत दिया। लेकिन बहस के दौरान अमरीकी प्रतिनिधि ने हमेशा कश्मीर प्रश्न के राजनीतिक समाधान पर बल दिया। इस दृष्टिकोण से अमरिका का रुख निश्चय ही भारत विरोधी था। इसका तात्पर्य यह था कि संयुक्त राज्य अमरिका कश्मीर के प्रश्न को अभी अंतर्राष्ट्रीय समस्या

मानता है—यह प्रश्न जिसका समाधान भारत की दृष्टि म कश्मीर के लोगो ने कई चुनावो मे भाग लेकर बहुत पहले कर लिया था।

भारत पाकिस्तान युद्ध म अमरीकी दृष्टिकोण का एक और पहलू था। 1 सितम्बर को पाकिस्तान ने भारत पर हमला इस विश्वास के साथ किया था कि वह कुछ ही दिनो म भारत को पराजित करने म सफल रहेगा लेकिन भारत ने जब इसका प्रतिरोध किया और पाकिस्तान ने कई जगहा पर हमला शुरू किया तो पाकिस्तान का पूर्ण विनाश अवश्यम्भावी हो गया। ऐसी हालत म राष्ट्रपति अयूब ने एकाधिक बार अपनी पुरानी दोस्ती क नाम पर अमरिका म अपील की कि वह भारत क आक्रमण बन्द कराने क सम्बन्ध म कोई कारवाई करे। लेकिन राष्ट्रपति जानसन ने इस बार पाकिस्तान को अनुग्रहित नहा किया। सयुक्त राज्य अमरिका की सरकार न इस बात का कई बार दुहराया और स्पष्ट शब्दो म कहा कि युद्ध बन्द करने क सम्बन्ध म जो भी निणय लिया जायगा वह सयुक्त राष्ट्र सघ क अन्तगत होगा और व्यक्तिगत रूप स अमरिका इसक सम्बन्ध म कोई काय नहा करेगा। इसम कोई सन्देह नहीं कि अमरिका क इस दृष्टिकोण ने पाकिस्तान को हठो छोडन और सुरक्षा-परिषद क युद्ध विराम प्रस्ताव को मान लेने क लिए बाध्य कर दिया।

भारत पाकिस्तान युद्ध क दारान म अपन नय साथी पाकिस्तान पर भारतीय सनिक दबाव को कम करन के उद्देश्य से 17 सितम्बर का चीन न भारत का धमकी से भरा एक अल्टिमेटम भेजा जिसम भारत स यह माग की गयी थी वह तीन दिना के अन्दर गर कानूनी ढग म चीनी क्षत्र म बनाय सनिक अड्डा को तोड द तथा इसके उपरान्त उसने शीघ्र ही सीमान्त पर भारत क विरुद्ध सनिक गतिविधि प्रारम्भ कर दी। चीन की इस कायवाही मे परिस्थिति बहुत कठिन हो गयी। इस हालत म अमरीकी विदेश सचिव न यह घोषणा का कि यदि चीन न भारत क विरुद्ध कोई सैनिक कारवाई की तो अमरिका भारत को किसी तरह की सहायता देने म जरा भी सकोच नहा करेगा। इसम कोई सन्देह नही कि नाजुक घडियो म अमेरिका की इस घोषणा म भारतीयो के मनोबल को ऊचा रखन म बडी सहायता मिली। अमरिका की इस घोषणा का भारत म सवत्र स्वागत हुआ।

भारत पाकिस्तान सम्बन्ध के सन्दभ म सयुक्त राज्य अमरिका का दृष्टिकोण हमशा भारत विरोधी रहा है। भारत-पाकिस्तान युद्ध क समय अमरिका न दोनों दशा को शस्त्रास्त्रों की आपूर्ति बन्द कर दी थी। लकिन 1966 स उसन पुन पाकिस्तान को विशाल मात्रा म सनिक सहायता देना आरम्भ किया। यह तब हुआ जब पाकिस्तान ने चीन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लिया और चीन म उसको सनिक सहायता मिलने लगी। इस परिवतन क फलस्वरूप भी अमरीका प्रशासन क पाक समयक रुख म कोई परिवतन नहीं आया। पाकिस्तान का सनिक सहायता का पुन प्रारम्भ इस बात का द्योतक है कि अमरिका भारत की मत्री की उतनी परवाह नहीं करता जितनी परवाह उस पाकिस्तान की नाराजगी का है।

प्रधान मन्त्री की अमेरिकी यात्रा —अप्रिल 1965 म भारत क प्रधान मंत्री की अमरीकी यात्रा के स्थगन स भारत में अमरिका विरोधी भावना का प्रबल तूफान फट गया था और इस घटना के कारण दोनों देशों का सम्बन्ध काफी गिर गया था। इस कारण एस के पाटिल और जी डी बिड़ला जसे अमरिका के समर्थक भारतीय बहुत चिन्तित थे। जन-जुलाई 1956 म इन दोनों व्यक्तियों ने अमरिका का भ्रमण किया और यह प्रयास किया कि राष्ट्रपति जॉनसन पुन भारतीय प्रधान मंत्री का आमन्त्रित करें। इस तरह का जाल बुना ही जा रहा था कि भारत और पाकिस्तान म युद्ध छिड़ गया और भारतीय प्रधान मन्त्री द्वारा अमरिका यात्रा की सारी सम्भावनाए अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गया। नवम्बर और दिसम्बर के महीनों मे भारत अमरिका सम्बन्ध म दो तथ्य स्पष्ट हुए। युद्ध के कारण अमरिका ने भारत को हर तरह की सहायता देना बन्द कर दिया था लेकिन भारत म विषम खाद्यान्न सकट को देखते हुए अमरिका ने फसला किया कि पी० एल 480 के अत गत गहूँ की आपूर्ति पुन लागू की जाय। इसम कोई सन्देह नही कि भारत को भुखमरी स बचाने म अमरिका के इस निणय न बड़ी सहायता की है। दूसरा तथ्य ताशकन्द सम्मेलन से सम्बन्धित है। अमरिका कभी नहीं चाहता होगा कि सोवियत सघ भारत और पाकिस्तान क बीच मध्यस्थता करे। लेकिन जब सोवियत सघ ने ताशकन्द सम्मेलन का प्रस्ताव रखा और भारत तथा पाकिस्तान दोनो ने इस स्वीकार कर लिया तो कम से कम सावजनिक रूप स अमरिका ने इसका विरोध नहीं किया। अमरिका के दृष्टिकोण म ताशकन्द म समझौता करने म बड़ी सहूलियत मिली। प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु पर श्री हम्फ्र ने अमरीकी जनता और सरकार की ओर से भारत क प्रति अपार सहानुभूति दर्शायी और यह आश्वासन दिया कि भारत अमरिका स हर तरह की सहायता की अपक्षा कर सकता है। कुछ दिनो के उपरान्त इन्दिरा गांधी भारत की प्रधान मन्त्री नियुक्त की गया। राष्ट्रपति जॉनसन न उन्हें बधाई दी और एक पत्र लिखकर यह अनुरोध किया कि वे शीघ्र ही अमरिका यात्रा का कायक्रम बनावें।

28माच 1967 को श्रीमती इन्दिरा गांधी की अमरिका यात्रा प्रारम्भ हुई। ऐस तो श्रीमती गांधी कई बार अमरिका की यात्रा कर चुकी था लेकिन प्रधान मंत्री क रूप स यह उनकी प्रथम यात्रा थी। उस समय भारत भीषण आर्थिक सकट म गुजर रहा था और यह उम्मीद की गयी कि प्रधान मंत्री की यात्रा स प्रचुर मात्रा म आर्थिक सहायता मिल सकती है। लकिन सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस यात्रा का कोई विशष परिणाम नहीं हुआ। सयुक्त राज्य अमरिका भारत की आर्थिक कठिनाइयों स लाभ उठान का यत्न करता रहा। भारत पर अपना सांस्कृतिक साम्राज्यवाद लादने क उद्देश्य से उसने इण्डो यू एस एजुकेशन फाउण्डेशन का प्रस्ताव रखा लकिन सवत्र देश म इसका इतना व्यापक विरोध हुआ कि सारी योजनाएँ स्थगित कर दी गयीं। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद अमरिका न पुन उन सारी आर्थिक सहायता को चालू करने का निणय किया जो भारत पाक युद्ध के समय बन्द

1970 के प्रारम्भ में भारत और अमरिका के आपसी सम्बन्धों में दो बातों को लेकर संकट उत्पन्न हुआ। भारत सरकार ने हनोई में भारतीय दूतावास के कार्यालय का दर्जा ऊंचा करने का निश्चय किया। संयुक्त राज्य अमरिका को यह बात पसन्द नहीं आयी। इसके कुछ दिनों बाद भारत सरकार ने यह भी फैसला किया कि दिल्ली छोड़कर भारत के अन्य पांच नगरों के अमरीकी सूचना केन्द्रों को बन्द कर दिया जाय। मई 1970 में इन पांच सूचना केन्द्रों को बन्द भी कर दिया गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की पच्चीसवीं वर्षगांठ में भाग लेने के लिए प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी अक्टूबर 1970 में न्यूयार्क गयी। इसके कुछ दिन पूर्व अमरिका ने पाकिस्तान को शस्त्र देने का निर्णय किया था। 1965 में भारत-पाक युद्ध के समय अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान को शस्त्र बेचने पर प्रतिबन्ध लगाया था। भारत के सम्बन्ध में यह प्रतिबन्ध तो लागू रहा लेकिन पाकिस्तान के प्रति स्पष्ट पक्षपात बरता गया। स्वाभाविक रूप से इससे भारतीय राजनीतिक क्षेत्रों में रोष पैदा हो गया। श्रीमती गांधी ने अपना रोष राष्ट्रपति निक्सन द्वारा आयोजित एक भोज में शामिल न होकर प्रकट किया।

पाकिस्तान को शस्त्र देने के सिलसिले में न्यूयार्क में अमरीकी विदेश मन्त्री विलियम रोजर्स श्रीमती गांधी से मिले। अमरीकी अधिकारियों ने भारतीय नेताओं को आश्वासन दिया कि अमरीकी शस्त्रों का उपयोग भारत के विरुद्ध नहीं किया जायगा। मगर भारतीय नेताओं को इस आश्वासन से सन्तोष नहीं हुआ।

भारत और संयुक्त राज्य अमरिका के पारस्परिक सम्बन्धों के इस संक्षिप्त इतिहास से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि इस सम्बन्ध में अनेक चढ़ाव-उतार आये हैं और सहयोग तथा मतभेद के बीच यह झूलता रहा है। दोनों देशों की मैत्री के विषय में तरह-तरह की बातें कही जाती रही हैं। यह कहा गया कि दोनों देशों की मैत्री का बड़ा ठोस आधार है। दोनों की आस्था लोकतांत्रिक व्यवस्था में है और यदि समय-समय पर मतभेद उत्पन्न भी हो जाते हैं तो वह स्वाभाविक और स्वस्थ मैत्री का परिचायक है। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि विश्व के महत्वपूर्ण मसलों पर दोनों के दृष्टिकोण मौलिक रूप से अलग-अलग हैं। संयुक्त राज्य अमरिका और भारत के बीच जो सहयोग और मैत्री है उसका मतलब है कि भारत द्वारा आर्थिक सहायता पाने की लालसा है। संयुक्त राज्य अमेरिका भी अपने विश्व व्यापी हितों का ध्यान में रखकर भारत की उपेक्षा नहीं कर सकता। अपने कुछ स्वार्थों की रक्षा के लिए वह भारत को आर्थिक सहायता देने पर विवश है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत जीवन की भांति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी परोपकार का स्थान होता है और मानवीयता का ध्यान में रखकर भी विकसित देश समृद्ध राष्ट्र आर्थिक सहायता देते हैं। लेकिन हम यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक व्यापार के समान होती है जिसमें कोई खर्चा उससे दुगुनी आमदनी की आशा में किया जाता है।

बंगलादेश के सन्दर्भ में भारत अमेरिका संबंध

अमरिका का भारत विरोधी रवैया—पूर्वी पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही के विरुद्ध जन विद्रोह तथा बंगला देश की स्थापना से भारत और संयुक्त राज्य अमरिका के सम्बन्धों में पुनः कटुता आयी। भारत की पूरी सहानुभूति बंगला देश के स्वातन्त्र्य संग्राम के सेनानियों के साथ थी। लेकिन संयुक्त राज्य अमरिका ने पश्चिमी पाकिस्तान के सैनिक तानाशाही का अपना समर्थन दिया। बंगला देश के नर संहार को रोकने के लिए भारत ने यह प्रयास किया कि संसार का कोई देश पश्चिम पाकिस्तान को किसी तरह की सहायता न दे। लेकिन अमरिका ने भारत के इस अनुरोध की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया और पश्चिम पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक मदद देता रहा। जब भारत ने इस पर विरोध किया तो उसे कहा गया कि पूर्व बंगाल की घटनाओं के पहले ही इस सहायता के लिए अमरिका पाकिस्तान को वचन दे चुका था। लेकिन बाद में भी अमरिकी सहायता लगातार पहुँचती रही। इससे स्पष्ट हो गया कि संयुक्त राज्य अमरिका का प्रशासन किसी भी कीमत पर याहिया खाँ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है तथा सैनिक तानाशाही को कायम रखने के लिए वह किसी भी स्तर पर उतर सकता है। बात यह थी कि ठीक इसी समय अमरिका को पाकिस्तानी मदद की सख्त जरूरत थी। चीन तथा अमरिका के मध्य सम्पर्क स्थापित कराने में पाकिस्तान बिचौलिया का काम कर रहा था और ऐसी स्थिति में पाकिस्तान को नाखुश करना सम्भव नहीं था। इसलिए बंगला देश के जन विद्रोह को कुचलने के लिए अमरिका पश्चिम पाकिस्तान को हर सम्भव मदद देता रहा। भारत की अमरीकी नीति के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

राजनयिक स्तर पर भी पश्चिम पाकिस्तान को अमरिका का पूरा मदद मिला। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने अगस्त 1971 में बंगला देश के शरणार्थियों के प्रत्यावर्तन को सम्भव और सरल बनाने के लिए सीमा के दोनों ओर संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रक्षक नियुक्त किये जाने का सुझाव दिया। भारत ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया। भारत का ख्याल था कि यदि सीमा के दोनों ओर राष्ट्रसंघीय प्रक्षक नियुक्त कर दिये जाते तो सारी दुनिया का ध्यान बंगला देश में हो रहे पाकिस्तानी अत्याचारों से हटकर उन पर केन्द्रित हो जाता है। दूसरा प्रश्न यह था कि मुट्ठी भर प्रेक्षक शरणार्थियों की सुरक्षित वापसी के सफल माध्यम बन सकते थे और वे यह विश्वास दिला सकते थे कि वापसी के बाद वे बंगला देश में सुख-चैन से रह सकते थे। भारत का यह भी ख्याल था कि महासचिव के इस प्रस्ताव में अमरीकी राजनय काम कर रहा था।

6 अगस्त 1971 को नयी दिल्ली से यह घोषणा की गयी कि सोवियत संघ के विदेश मन्त्री 8 अगस्त को दिल्ली आयेंगे। इसके एक दिन बाद भारत सरकार ने अमरिका से कड़ा विरोध प्रकट करके इन स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि अमरिका पाकिस्तान को युद्ध के लिए मदद को जो कुछ कर रहा है, वह भारत के प्रति

अमैत्रीपूर्ण कार्रवाई है। यह बताया गया कि अमरिका द्वारा सारे आश्वासनो का उल्लंघन करके पाकिस्तान को लगातार हथियार देना चीन के साथ मिलकर याहिया खाँ को युद्ध के लिए भड़काना तथा अपने नागरिकों को राष्ट्रसंघ के नाम पर पूर्व बंगाल के प्रेक्षक के रूप म भजने से भारत और अमेरिका के सम्बन्ध इस समय इतने बिगड़ गये जितने कि पहले कभी नहीं बिगड़े थे। भारतीय विदेश-नीति के एक प्रवक्ता ने यह भी बतलाया कि अमरिका ने पाकिस्तान की पीठ थपथपाने के लिए भारत म राजनीतिक स्तर पर यह भी कहा कि यदि भारत और पाकिस्तान की लड़ाई हुई तथा चीन उसम पाकिस्तान की ओर से कूदा तो अमरीकी सरकार भारत की सहायता नहीं करेगी। इसे सरकारी क्षत्रो म अमरिका का धमकी माना गया। भारतीय अधिकारियों ने साफ-साफ कहा कि अमेरिका ने भारत को अपमानित किया है। वाशिंगटन स्थित भारतीय राजदूत एल० के० झा ने कहा कि दक्षिण एशिया म निक्सन सरकार जिस नीति पर चल रही है उससे मेरी सरकार खुश नहीं है। सारे भारत म आज यह भावना व्याप्त है कि अमेरिका ने हमे अपमानित किया है।

इसके तुरन्त ही बाद 9 अगस्त को भारत और सोवियत संघ की मैत्री सन्धि सम्पन्न हुई। इस सन्धि की घोषणा से अमरिका म हैरानी और घबड़ाहट का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अगस्त 1971 की भारत सोवियत सन्धि के उपरान्त अमरिका का रुख और भी भारत विरोधी हो गया।

शुरू से ही अमरीकी प्रशासन किसिंगर के प्रभाव के कारण भारत विरोधी नीति का अवलम्बन करता रहा। इस बात का प्रमाण तब मिला जब एक अमरीकी पत्रकार जैक ऐंडरसन ने विदेश विभाग के कुछ गोपनीय दस्तावेजो का रहस्योद्घाटन किया। इससे स पता चला कि अमरिका के भारत विरोधी रवैया के प्रति अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए भारत स्थित अमरिकी राजदूत केनेथ की कीटिंग ने अपनी सरकार को दक्षिण एशिया की वास्तविकता को जानने के लिए दो तार भेजे जिनम उन्होने कहा था कि पाकिस्तान का संयुक्त राज्य के रूप म खात्मा हो चुका है। इस क्षेत्र म वास्तव म भारत एकछत्र शक्ति है। बंगला देश एक सीमित समस्या है जिसका सम्भवत जल्दी ही एक स्वाधीन देश के रूप म अभ्युदय होगा। अतएव कीटिंग ने अमरीकी प्रशासन को सलाह दी कि वह भारत विरोधी नीति छोड़कर स्थिति को समझे। लेकिन अमरीकी प्रशासन पर इन चेतावनियों का कोई असर नहीं पड़ा।

प्रधान मन्त्री की अमरिका यात्रा —भारत-पाकिस्तान सीमा पर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाने बाद प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने नवम्बर 1971 म कुछ पश्चिमी देशों का भ्रमण किया। प्रधान मन्त्री का इरादा पश्चिम के राजनेताओं से मिलकर भारतीय दृष्टिकोण स उन्हें परिचित करना था। इसी सिलसिले मे वे वाशिंगटन पहुँची और राष्ट्रपति निक्सन स मिलकर उन्हे अपना दृष्टिकोण समझाने का यत्न किया। इस बार निक्सन से वार्ता के दौरान में श्रीमती गांधी ने दो टूक बातें की। उन्होने भारत को लाचार असहाय और पर निर्भर देश के रूप म पेश नहीं किया। उन्होने साफ साफ कहा कि भारत अपनी नियति के लिए अकेला लड़ेगा। अमर

युद्ध के विस्फोट पर अमरीकी प्रतिक्रिया—3 दिसम्बर को भारत तथा पाकिस्तान के मध्य युद्ध आरम्भ हो गया। 4 दिसम्बर को अमरीकी विदेश विभाग में इस विषय पर एक लम्बा वक्तव्य जारी किया गया जिसमें युद्ध छिड़ने के लिए भारत को दोषी बताया गया। यह घोषित किया गया कि भारत को हथियारों की खरीद के उच्च हुए सभी लाइसेंसों को रद्द कर दिया गया है। इसका सीधा अर्थ यह था कि अमरिका ने भारत को सैनिक साज-सामान की आपूर्ति रोकने का निर्णय कर लिया है। यह भी धमकी दी गयी कि भारत ने युद्ध बन्द नहीं किया तो अमरिका आर्थिक मदद भी बन्द करने को बाध्य हो सकता है। उसी दिन अमरिका ने सुरक्षा परिषद में भारत पाक प्रश्न रखने की पहल की और परिषद की बैठक में प्रस्ताव रखा जो स्पष्टतया भारत विरोधी था। सोवियत संघ के वीटो के प्रयोग के कारण यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। परिषद में भारत विरोधी रवैये के लिए भारत सरकार ने अमरिका की कठोर शब्दों में निन्दा की और वाशिंगटन को चेतावनी दी कि वह भारत पर किसी प्रकार आर्थिक या राजनीतिक दबाव डालने का यत्न न करे क्योंकि भारत एक किसी दबाव को स्वीकार नहीं करता।

भारत के विदेश सचिव ने अमरीकी राजदूत कीटिंग को बुलाकर अमरिका द्वारा भारत विरोधी रुख अपनाने पर कड़ा विरोध प्रकट किया और उन्हें स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि वाशिंगटन के इस रवैये से दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे। कीटिंग को चेतावनी दी गयी कि अमरिका भारत को हमलावर कहना बन्द कर दे। अमरिका चाहे जितना शोर मचाये भारत सरकार तबतक युद्ध बन्द नहीं करेगी जबतक बांग्ला देश को सारा इलाका आजाद नहीं करा लिया जाता। साथ ही वाशिंगटन स्थित भारतीय राजदूत को आदेश दिया गया कि वे भारत का गुस्सा अमरिका के सामने तक पहुँचा दें। अमरिका द्वारा सुरक्षा परिषद में भारत का विरोध और पाकिस्तान का समर्थन करने तथा भारत को धमकी देने के विरोध में भारतीय जनता में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। 6 दिसम्बर को दिल्ली में विभिन्न राजनीतिक दलों की एक सभा में अमरीकी रवैये की कटु निन्दा की गयी। दिल्ली में विद्यार्थियों ने अमरीकी दूतावास के सामने उग्र प्रदर्शन किया और अमरिका विरोधी नारे लगाये। प्रदर्शनकारी छात्रों ने दूतावास को एक ज्ञापन भी दिया। इसमें कहा गया था कि अमरीकी साम्राज्यवादियों द्वारा आक्रमणकारी पाकिस्तान का समर्थन करना प्रजातांत्रिक सिद्धांतों का हनन करने का षड्यन्त्र है। ज्ञापन में यह भी स्पष्ट किया गया कि चाहे अमरिका पाकिस्तान को सैनिक तथा अन्य मदद जितनी ही मात्रा में क्यों न दे और भारत की मदद क्यों न बन्द कर दे पर हम बता देना चाहते हैं कि भारत अपने पैरों पर खड़ा है अमरीकी टुकड़ों पर नहीं।

पाकिस्तान के सैनिक शासकों की रक्षा करने में सुरक्षा परिषद में असफल हो जाने के उपरान्त अमरिका जानबूझकर भारत पर गलत आरोप लगाने लगा। एक आरोप यह था कि इस्लामाबाद में खड़े अमरीकी विमान पर भारत ने बमवर्षा की तथा

बगाल की खाड़ी में दो अमरीकी जलपोतों पर हमला किया। भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने इस आरोप को सरासर झूठ बताया।

6 दिसम्बर को अमरीकी प्रशासन ने घोषणा की कि 876 करोड़ डालर की आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में भारत के साथ जो एकरार हुआ था वह रद्द किया जाता है। दो दिन बाद अमरीकी राजदूत कीटिंग ने औपचारिक रूप में भारत सरकार को सूचित कर दिया कि अमरिका भारत को सैनिक सामान देना बन्द कर रहा है। सैनिक सामान के आयात के लिए भारत को अब कोई नये अमरीकी लाइसेंस नहीं दिये जायेंगे तथा वर्तमान लाइसेंस जो बीस लाख डालर के मूल्य के थे वे भी रद्द किये जा रहे हैं।

जहाँ तक भारत को अमरीकी आर्थिक सहायता का प्रश्न था भारत को विदेशों से जो सहायता प्राप्त होती थी उसका 38 प्रतिशत योगदान अमरिका का होता था। दूसरे शब्दों में भारत को आर्थिक सहायता देने वाले राष्ट्रों में अमरिका अग्रणी रहा था। इससे उसे यह और भी वहम हुआ कि उसकी सहायता के बिना भारत का समूचा अस्तित्व लड़खड़ा जायगा। लेकिन युद्ध के पहले ही भारत सरकार ने यह नीति-विषयक निश्चय ले लिया था कि विदेशों से खासकर अमरिका से आर्थिक सहायता लेना ही बन्द कर दी जाय। 3 दिसम्बर को अपने प्रेस सम्मेलन में श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने स्पष्ट कर दिया कि भारत सरकार अमरीकी सहायता के लिए मोहताज नहीं है।

उधर युद्ध में हर मोर्चे पर पाकिस्तान की अच्छी पिटाई हो रही थी। अमरिका ने युद्ध में सुरक्षा परिषद् द्वारा हस्तक्षेप कराने का एक और प्रयास किया तथा 6 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद की बैठक अमरीकी प्रतिनिधि के आग्रह पर फिर बुलायी गयी। अमरिका ने पुनः एक भारत विरोधी प्रस्ताव पेश किया और भारत पर आरोप लगाया कि पाकिस्तान पर उसका हमला जारी है। सोवियत संघ के वीटो प्रयोग के कारण यह अमरीकी साजिश भी व्यर्थ हो गया। सुरक्षा-परिषद् में असफल होने के बाद अमरिका की माँग पर संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा का अधिवेशन बुलाया गया जहाँ एक भारत विरोधी प्रस्ताव पास कराने में अमरिका को सफलता मिल गयी। लेकिन भारत सरकार ने स्पष्ट कर दिया कि वह इस गलत प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेगा। इस पर अमरिका ने पुनः सुरक्षा परिषद् की बैठक की माँग की जहाँ उसने एक तीसरा भारत विरोधी प्रस्ताव रखा। अमरिका का कहना था कि भारत ने साधारण सभा के प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया है और पाकिस्तान पर उसका हमला जारी है। पूर्वी पाकिस्तान में भारत का सैनिक अभियान वास्तव में उस पर कब्जा करना है। यह कदम संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक सदस्य राष्ट्र के अस्तित्व पर आघात है। भारत ने साधारण सभा का अविलम्ब युद्ध बन्द करो प्रस्ताव ठुकरा कर विश्वशांति के लिए खतरा पैदा कर दिया है। इस हालत में अमरिका ने भारत तथा पाकिस्तान के बीच युद्धबंदी और फौजों की वापसी का प्रस्ताव फिर रखा। भारत में अमरिका के इस नवीनतम साजिश के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। एक भारतीय नेता ने कहा कि अमरिका ने अब अपना असली रूप प्रकट कर दिया है परन्तु उसे यह समझ लेना चाहिए कि यह करके भी वह अपने इस षड्यन्त्र में सफल नहीं हो

मदना जिसके द्वारा वह भारत को कमजोर बनाये रखना और इस उपमहाद्वीप में अपने राजनीतिक स्वार्थों की रक्षा करना चाहता है। शान्ति के सम्बन्ध में अमरिका कितना पाखण्डी था इसका पता इससे तो चल ही गया कि उसने उस पाकिस्तान को रोकने के लिए कुछ नहीं किया जो बाल्टा देश की साढ़े सात करोड़ जनता की इच्छा आकांक्षाओं के साथ खून की होली खेली थी और जिसने इस देश पर अकस्मात ही आक्रमण कर दिया था। परन्तु जिन परिस्थितियों में उसकी ओर से परिषद् में पुनः युद्धबन्दी और फौजों की वापसी का प्रस्ताव रखा गया था उन्होंने इस पाखण्ड को बिल्कुल नंगा कर दिया। यह बिल्कुल उसी तरह था जैसे कोई एक हाथ में शान्ति का बयान पकड़े हुआ हो और दूसरे में तलवार। यदि यह बात न होती तो वह भारत पर आक्रान्ता होने और संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य राष्ट्र के अस्तित्व को खत्म करने का आरोप न लगाता और न ही चुपचुप रूप में इस बात की कोशिश में होता कि पाकिस्तान को किसी प्रकार सैनिक मदद मिल सके। सोवियत संघ ने तीसरी बार वीटो का प्रयोग करके इस बार भी अमरीकी साजिश को विफल बना दिया।

अमरीकी रवैये पर भारतीय प्रतिक्रिया —अमरिका के निरन्तर भारत विरोधी पैंतरेबाजी के कारण भारतीय जनमत का क्षुब्ध होना बिल्कुल स्वाभाविक था। भारतीयों की मनःस्थिति को प्रधान मन्त्री ने अपनी दो सार्वजनिक सभाओं में व्यक्त किया। 10 दिसम्बर को दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों के बीच तथा 12 दिसम्बर को दिल्ली के नागरिकों की रैली में बोलते हुए उन्होंने अमरिका की नीति की कटु आलोचना की। अपने भाषणों के दौरान बिना अमरिका का नाम लिये ही प्रधान मन्त्री ने कहा कि हम पर विदेशी मदद बन्द करने की धमकी दी जा रही है। लेकिन कोई धमकी हम अपने रास्ते से नहीं हटा सकती है। कुछ देश नहीं देखना चाहते कि भारत स्वतन्त्रतापूर्वक सोचे और निर्णय करे। पर अपने इस अधिकार में हम कोई हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करेंगे। प्रधानमन्त्री ने कहा कि पाकिस्तान के दुःख और विनाश की सारी जिम्मेवारी उन देशों पर है जिन्होंने उसे बड़े बड़े हथियार दिये हैं। जो लोकतन्त्र के लिए लम्बी बात करते थे वे आज लोकतन्त्र की रक्षा के प्रश्न पर न सिर्फ मौन हैं बल्कि लोकतन्त्र के शत्रुओं का पक्ष ले रहे हैं। प्रधान मन्त्री ने चेतावनी दी कि उन देशों को भूल जाना चाहिए कि यह बाल्टा या कोई देश किसी के दबाव के आगे झुक जायगा।

इसी समय भारत सरकार ने हनोई सरकार के साथ अपने राजनयिक सम्बन्धों का दर्जा बढ़ाकर राजदूत स्तर का कर दिया। हनोई से सम्बन्ध बढ़ाने की बात बहुत अर्से से विचाराधीन थी लेकिन अमरीकी प्रशासन की भावनाओं का ख्याल करते हुए भारत ने अभी तक इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया था। जब अमरिका की भारत विरोधी नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी तो भारत ने हनोई सरकार के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध का दर्जा बढ़ाने में जरा भी संकोच नहीं किया। आखिर अमरिका की भावनाओं का कबतक ख्याल किया जाता।

इसके तुरत ही बाद 16 दिसम्बर को प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने राष्ट्रपति निक्सन को एक पत्र लिखा। भारत अमरिका सम्बन्ध पर यह पत्र एक ऐतिहासिक

अमरिका के इस युद्धपोत राजनय (gunboat diplomacy) के क्या कारण हो सकते थे। सम्भवत अमरीका की यह चाह थी कि वह बंगला देश के तट पर अपनी नौसेना को ले आवे तथा पाकिस्तानी सेना के आत्मसमर्पण के पहले उसे निकालकर कराँची ले जाय। यह भी सम्भव था कि अमरीका युद्ध विराम में पश्चिम बंगाल देश में किसी रूप में अपना दखल कायम करना चाहता था जिससे युद्ध विराम के बाद पाकिस्तानी सैनिकों, गद्दारों तथा पश्चिमी पाकिस्तान से आकर बंगला देश का आर्थिक शोषण करनेवालों को भारतीय सेना तथा मुक्तिवाहिनी के पंजे से छुड़ाया जा सके। युद्ध में भारतीय नौसेना को बहुत कामयाबी मिल रही थी। बंगाल की खाड़ी में इंटरप्राइज को खड़ा कर देने से भारतीय नौसेना की गतिविधि सीमित हो सकती थी। अमरीकी पत्रकार जैक एण्डरसन ने बाद में जो गुप्त दस्तावेजों का प्रकाशन किया उससे पता चलता है कि सातवें बेड़े को बंगाल की खाड़ी में भेजना इसलिए जरूरी था ताकि भारत के जहाजों की नाकेबन्दी हो सके और भारतीय विमानों की सक्रियता पर रोक लगायी जा सके। एण्डरसन के अनुसार यह बेड़ा इसलिए भी भेजा गया ताकि भारत सोवियत संघ को यह पता चल जाय कि वक्त आने पर अमरिका अपने बल का प्रयोग भी कर सकता है। सोवियत संघ पर प्रभाव पैदा करने के लिए यह कदम उठाया गया था ताकि सुरक्षा परिषद में उसके रवैये में कुछ नरमी आवे।

इंटरप्राइज के चलने की सूचना जैसे ही मिली वैसे ही वाशिंगटन स्थित भारतीय राजदूत लक्ष्मीकांत झा ने अमरीकी विदेश विभाग से सम्पर्क स्थापित किया और इसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण माँगा। लेकिन अमरीकी प्रशासन ने इस पर कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। इसके उपरान्त भारतीय राजदूत ने यह संकेत दे दिया कि भारतीय जनता अमरिका के इस हस्तक्षेप को किसी प्रकार सहन नहीं करेगा। उन्होंने यह भी बता दिया कि दो पक्षों में युद्ध के समय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार तीसरे पक्ष को युद्धरत दलों को धमकी देने का कोई अधिकार नहीं है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार युद्धविराम से पहले जो भी लड़ाई में हस्तक्षेप करेगा उसे युद्ध में कूदा मान लिया जायगा और उसके खिलाफ सैनिक कारवाई की जा सकेगी। भारत की यह चेतावनी कारगर रही और इंटरप्राइज ने बंगला देश के मामले में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं किया। इस घटना का एक ही नतीजा हुआ। अमरिका पूरी तरह बदनाम और अपमानित हुआ। सम्पूर्ण भारत में अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध में एक प्रबल जनभावना देखने को मिली। स्वचालित परमाणु अस्त्रों से सज्जित सातवें बेड़े को बंगाल की खाड़ी में भेजकर अमरीकी शासकों ने अपने विरुद्ध भारतीय जनता के मन में जिस घृणा, विरोध तथा आक्रोश को जन्म दिया तथा जनता ने जिस प्रकार सच्ची उसकी अभिव्यक्ति की वह भारत-अमरीका सम्बन्ध के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। इस विरोधी भावना का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि लगभग समस्त वर्गों के लोगों ने अपना विरोध जुलूसों, प्रदर्शनों, नारों, पत्रों और प्रस्तावों के माध्यम से व्यक्त किये। एक मजदूर और चपरासी से लेकर प्रधानमन्त्री तक ने अमरीकी शासकों का विरोध किया। मजदूरसंघों ने अमरीकी

साम्राज्यवाद के विरोध में प्रदर्शन किये। विद्यार्थियों ने जुलूस निकाले। सरकारी कर्मचारियों ने अमरीकी माल का बायकाट कर समस्त विरोध प्रदर्शन किये। सभी राजनीतिक दलों ने प्रदर्शन किये तथा प्रस्ताव पारित किये। संसद के दोनों सदनों ने अमरीकी नीतियों की तीव्र आलोचना की। देश के मुसलमानों ने अमरीकी सूचना कार्यालय के सामने प्रदर्शन किये। फिल्म जगत के कलाकारों तथा कर्मचारियों ने अमरीकी दूतावास के सामने अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध में नारे लगाये। लेखकों और बुद्धिजीवियों ने अमरीकी नीतियों के विरोध में लेख लिखे। अखबारों के पाठकों ने अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध में सम्पादकों के नाम पत्र लिखे। सारा देश अमरीकी साम्राज्यवाद विरोधी भावना से भर गया। भारत में अमरिका के लिए यह सबसे बड़ी पराजय थी। अमरीकी समाचार-पत्रों में आमतौर पर यही ध्वनि रही कि भारत को माध्यम बनाकर सोवियत संघ एशिया में कूटनीतिक सफलताएं प्राप्त करता जा रहा है। भारत सोवियत संघ का माध्यम बना या नहीं इस पर मतभेद हो सकता है लेकिन अमरिका के अपवित्र इरादों का भण्डाफोड़ हो गया। इसको मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

युद्धोपरान्त भारत अमरिका सम्बन्ध

भारत पाकिस्तान-युद्ध के पहले और बाद में अमरिका के विरोधी रवैये के कारण भारत तथा अमरिका का सम्बन्ध एकदम खराब हो गया। सम्भवतः अमेरिका के प्रशासन ने सम्बन्धों को सुधारने के लिए कुछ प्रयास करना श्रेयस्कर समझा। 8 फरवरी 1972 को अमरीकी कांग्रेस को दिये गये वार्षिक विदेश-नीति सन्देश में निक्सन ने भारत से सम्बन्ध सुधारने की पेशकश की। उन्होंने कहा अमेरिका भारत से आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर बातचीत करने को तैयार है, परन्तु उसकी दिलचस्पी इस बात में है कि दक्षिण एशिया की नई स्थिति के प्रति वह अपने पड़ोसियों के प्रति क्या रुख अपनाता है। लेकिन दिल्ली के सरकारी क्षेत्रों में निक्सन के इस वक्तव्य को असन्तोषपूर्ण बताया गया। भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने कहा कि निक्सन अपने झूठे आरोपों को दुहराकर दुनिया को यह बताना चाहते हैं कि भारत एशियाई देश दबाकर पाकिस्तान को रौंदना चाहता है। उनके अनुसार निक्सन भारत से बातचीत करने के लिए शर्तें रख रहे थे और ऐसी धमकियाँ दे रहे थे जिन्हें कोई स्वाभिमानी देश स्वीकार नहीं कर सकता। भारत का कहना था कि निक्सन भारत सोवियत मैत्री के सन्दर्भ में भारत की समस्या को समझें। वस्तुतः यदि भारत से उनका सम्बन्ध सुधार लाना है तब भारत की भौगोलिक वास्तविकता के आधार एवं जन सम्बन्ध कायम करना होगा। मतलब यह कि सोवियत संघ से विशेष तरह का सम्बन्ध भारत नहीं रखे। सच पूछा जाय तो निक्सन के इस वक्तव्य से भारत का असन्तोष और बढ़ गया। सम्बन्ध सुधरने के बदले बिगड़ गया। सम्भव है कि ऐसा वक्तव्य देकर निक्सन अमरीकी कांग्रेस को यह समझाना चाहते थे कि उन्होंने भारत के बारे में जो रवैया अपनाया था वह सही था।

बात यहां तक सीमित नहीं रही। 21 फरवरी 1972 को अमरिका ने यह घोषणा की कि पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक सहायता फिर से शुरू किया जा रहा है। आर्थिक सहायता पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। किन्तु उप महाद्वीप में तनाव बने रहने की स्थिति में यदि पाकिस्तान को फौजी सहायता आरम्भ की जाती है तो इसका एक ही अर्थ हो सकता था वाशिंगटन के शासक नहीं चाहते थे कि एशिया के इस भाग में शान्ति बनी रहे। वे उस आग को जिसकी चिनगारी भली भांति बुझी नहीं थी फिर भड़काना चाहते थे। पाकिस्तान को फिर हथियार देने का विचार करके अमरिका ने स्पष्ट कर दिया कि वह भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने में ईमानदारी से काम नहीं लेना चाहता है।

इसके तुरन्त ही बाद राष्ट्रपति निक्सन की पीकिंग यात्रा हुई। यात्रा की समाप्ति पर जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गयी उसमें पाकिस्तान के प्रति भारतीय रवैये तथा बंगला देश में भारतीय सेना की उपस्थिति की चर्चा की गयी। भारत ने इसपर कड़ा विरोध व्यक्त किया। इन बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में भारत और अमरिका के सम्बन्धों में सुधार की सम्भावना बहुत कम हो गयी

बंगलादेश की आजादी और युद्ध में भारत की विजय के साथ ही भारत और अमरिका के सम्बन्धों में गिरावट का दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि अमरिका ने अभी तक युद्ध में पाकिस्तान की पराजय को स्वीकार नहीं किया और इसके लिए वह भारत को क्षमा करने को तैयार नहीं। लेकिन भारत के साथ अमरिका के बिगड़े हुए सम्बन्धों की निरर्थकता को अमरीकी समाचारपत्रों और अमरीकी जनमत ने स्वयं पहचाना और अमरीकी प्रशासन से यह आग्रह किया कि उसे भारत के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने के लिए शीघ्र से शीघ्र तथा ठोस कदम उठाने चाहिए क्योंकि दोनों के बीच विकृत सम्बन्धों का कोई तर्कसंगत आधार नहीं हो सकता। अनेक समाचारपत्रों ने भारत के साथ अमरिका के सम्बन्धों में विकार के लिए स्वयं राष्ट्रपति निक्सन की विदेश नीति को जिम्मेवार ठहराया। भारत और अमरिका के सम्बन्धों में सुधार पर टिप्पणी करते हुए 4 अक्टूबर 1972 को अमरिका के प्रमुख समाचार-पत्र क्रिश्चियन साइंस मॉनिटर ने लिखा दुःख की बात है कि भारत पाकिस्तान युद्ध के दौरान ही नहीं वरन उसके बाद भी भारत और अमरिका के सम्बन्धों में गिरावट होती गयी। गलतफहमी दोनों ओर से थी लेकिन सबसे अधिक जिम्मेवारी उन लोगों पर थी जिन्होंने पूर्वी बंगाल के संकट के दिनों में पाकिस्तान के पक्ष में पलड़ा झुकाने का निर्णय लिया। बाद में अमरिका ने बंगलादेश को मान्यता दी और नये राष्ट्र को पर्याप्त अमरीकी सहायता दी गयी। इससे भारत की अप्रसन्नता कुछ कम हुई। वियतनाम युद्ध की समाप्ति से एशिया में अमरीकी नीति के प्रति भारतीय दृष्टिकोण कम आलोचनात्मक हो जायेगा। अमरिका के लिए यह आवश्यक है कि वह भारतीय उपमहाद्वीप के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र के साथ मैत्रीपूर्ण और स्थायी सम्बन्ध कर। भारत और अमरिका के सम्बन्धों में जो गिरावट हुई उसका कारण दिसम्बर 1971

में भारत का समर्थन करते हुए सोवियत संघ ने उठाया। अब संतुलन कायम करने का एक महत्त्वपूर्ण अवसर आया है।

इसी समय भारत के विदेशमंत्री सरदार स्वर्ण सिंह ने अमरिका की यात्रा की। इस यात्रा के दौरान उन्होंने अमरीकी राज्य सचिव विलियम राजर्स से एक लम्बी वार्ता की। राजर्स और स्वर्ण सिंह की बातचीत सम्बन्ध-सुधार की दिशा में पहला कदम था। इसी समय एक अमरीकी पत्र 'फारेन अफेयर्स' में श्रीमती इन्दिरा गांधी का एक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में भारतीय प्रधानमंत्री ने दोनों देशों के सम्बन्धों के बारे में भारत का दृष्टिकोण स्पष्ट किया था। उस लेख में श्रीमती गांधी ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि विश्व-शान्ति से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों पर मतभेद है, लेकिन दोनों देशों के बुनियादी सिद्धान्तों का आदर करते हुए सम्बन्धों में सुधार किया जा सकता है।

इसी बीच सितम्बर 1972 में वाशिंगटन से यह घोषणा हुई कि राष्ट्रपति निक्सन ने डेनियल पैट्रिक मोइनिहन को भारत में अमरिकी राजदूत नियुक्त किया है। इस नियुक्ति से यह आशा बंधी कि भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में कुछ सुधार अवश्य होगा। इसके कुछ ही दिनों बाद नयी दिल्ली में एक रैलिंग एसेम्बली (5 जनवरी 1972) में भाषण करते हुए श्रीमती गांधी ने वियतनाम में अमरीकी बमबारी की कटु आलोचना की। अमरीकी विदेश विभाग ने श्रीमती गांधी के वक्तव्य पर गहरा रोष व्यक्त किया और विदेश विभाग की ओर से यह कहा गया कि भारत में अमरिका के नये राजदूत श्री मोइनिहन का स्वागत स्थगित किया जाता है।

पाकिस्तान को पुनः शस्त्र आपूर्ति का निर्णय—11 मार्च 1973 को अमरिका के सहायक विदेश मंत्री श्री सिस्को ने विदेशी मामलों की समिति के समक्ष बयान देते हुए कहा कि पाकिस्तान की आक्रमण के खिलाफ किसी खतरे का मुकाबला करने के लिए सुरक्षा क्षमता बढ़ाने के लिए अमरीकी प्रशासन पुनः अमरीकी हथियारों की आपूर्ति पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहा है। इस वक्तव्य के निकलते ही भारत में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। भारतीय विदेश मंत्री स्वर्ण सिंह ने कहा कि पाकिस्तान को पुनः हथियारों की आपूर्ति करने से अमरीकी कदम से भारतीय उपमहाद्वीप की शान्ति खतरे में पड़ जायगी और स्थायी शान्ति स्थापित करने की सम्भावनाओं पर प्रतिकूल असर पड़ेगा। इससे शिमला समझौते का भविष्य भी प्रभावित हो सकता है। इसी बीच अमरीकी राजदूत को स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया कि अमरिका द्वारा पाकिस्तान को हथियार देने से भारत की सुरक्षा के लिए भारी खतरा पैदा हो गया है और अमरिका की इस कार्रवाई को भारत विरोधी कार्य माना जायगा। भारतीय विदेशमंत्री ने यह भी कह दिया कि पाकिस्तान को शस्त्र आपूर्ति का निर्णय भारत अमरिका के सम्बन्धों को सामान्य एवं मित्रतापूर्ण बनाने के मार्ग में निश्चित रूप से बाधक बनेगी। यद्यपि अमरीकी राजदूत ने भारत सरकार को यह आश्वासन दिया कि अमरीकी सरकार हथियारों के मामले में पाकिस्तान के साथ पुराने समझौते को ही पूरा कर रहा है और अब

अमरिका की सरकार ने यह फैसला किया है कि भविष्य मे इस उपमहाद्वीप में किसी भी देश को घातक हथियार नही दिया जायगा फिर भी भारतीय लोकमत इससे सन्तुष्ट नही हुआ। 15 मार्च को वाशिंगटन से यह घोषित किया गया कि अमरिका ने लगभग 63 करोड़ रुपया की आर्थिक सहायता भारत को देने का निश्चय किया है। यह सहायता दिसम्बर 1971 में भारत पाक युद्ध के समय रोक दी गयी थी। इस घोषणा से भी अमरिका विरोधी भावना में कमी नही आयी। इस निर्णय से यह भी स्पष्ट हो गया कि अमरिका भारत के साथ अपने सम्बन्ध को सुधारने के लिए जरा भी चिन्तित नहीं है।

इसके बाद ही मई 1973 में ईरान को एक विशाल शस्त्रागार बनाने की अमरिकी योजना सामने आयी। अमरिका ने घोषणा की कि वह ईरान को तीन सौ विमान और आठ सौ टैंक देगा और भारी संख्या में अमरिकी प्रशिक्षकों को ईरान भेजा जायगा। इसी समय ईरान के साथ अपने सम्बन्धों को और अधिक गहरा करने के लिए पाकिस्तान बेहद प्रयास कर रहा था। पाकिस्तानी नेता लगातार ईरान की यात्रा कर रहे थे और भारत के विरुद्ध ईरान ने खुले दिलों से पाकिस्तान का समर्थन करना शुरू कर दिया था। यह स्पष्ट हो गया कि आगामी भारत पाकिस्तान संघर्ष के अवसर पर आवश्यकता पड़ने पर ईरान पाकिस्तान के मकरान तट की रक्षा का भार उठा सकता है, पाकिस्तानी विमानों को अपने हवाई अड्डों में शरण दे सकता है और अपने से अमरीकी साज सामान पाकिस्तान को हस्तान्तरित कर सकता है। इस पृष्ठभूमि में बड़े पैमाने पर ईरान को शस्त्र आपूर्ति के अमरिकी निर्णय का भारत अमरिका सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था।

चिली की राजपलटी और भारत अमरिका सम्बन्ध— 11 सितम्बर 1973 को दक्षिण अमरिका के गणराज्य चिली में फासिस्ट सैनिक अफसरों ने एक खूनी राजपलटी करके प्रथम तौर पर निर्वाचित चिली के प्रथम मार्क्सवादी राष्ट्रपति साल्वादोर आयेंदे की निर्मम हत्या कर दी। हत्या की घटना में अमरीकी सी० आई० ए० का हाथ बताया गया। भारत के लिए यह घटना बड़ी ही दुखद थी। भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अमरिका का नाम लिये बिना इस घटना के लिए परोक्ष रूप से अमरिकी प्रशासन को जिम्मेदार बताया। इस कारण भी भारत और अमरिका का सम्बन्ध बिगड़ा। अमरिकी सरकार ने भी भारतीय प्रतिक्रिया पर आपत्ति की।

पी० एल० 480 पर समझौता—1973 में भारत और अमरिका के सम्बन्धों के सुधार की दिशा में भी कुछ कार्यवाहियाँ हुई। जुलाई 1973 में अमरिकी सरकार ने भारत स्थित अमरिकी सहायता मिशन की इमारत भारत को सौंप दी। पिछले दो वर्षों से भारत पर सोवियत संघ का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। 1971 के भारत सोवियत समझौता के बाद भारत सोवियत संघ के बहुत निकट आ गया था। दिसम्बर 1973 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी ब्रेजनेव ने भारत की यात्रा की और दोनों देशों के बीच कई समझौते। पर हस्ताक्षर हुए। भारत पर सोवियत संघ के इस बढ़ते हुए प्रभाव को सीमित करने के लिए अमरिकी सरकार

ने कुछ कदम उठाने का निश्चय किया और पी० एल० 480 पर एक समझौता करने को तैयार हो गया। सितम्बर 1973 से ही इस समझौता के लिए दोनों पक्षों में वार्ताएं होने लगीं और 13 दिसम्बर 1973 को इस सम्बन्ध में एक समझौता हो गया। पी० एल० 480 तथा कुछ अन्य रुपये ऋणों का मद में भारत का चौबीस अरब सत्तानबे करोड़ रुपया अमरिका का देना था। समझौता के अनुसार अमरिका ने सोलह अरब अड़सठ करोड़ रुपया पाचवीं योजना के लिए भारत को अनुदान के रूप में दे दिया। शेष आठ अरब तैंतीस करोड़ अमरिकी दूतावास के खाते में चला गया। इसमें से अमरिका पचास करोड़ रुपया दस वर्ष के भीतर डालर में बदल सकता था। लेकिन जैसा कि अमरिकी राजदूत ने बताया इस रुपये में अमरिका एक भारतीय मान्यता सम्बन्ध खराब न हो सामान्यतः अमरिका भारत से नहीं लेता रहा है। इसके अलावा कुछ राशि नेपाल को सहायता के लिए निर्धारित कर दी गयी। समझौता के अनुसार पी० एल० 480 का निधि भारत को हो गयी और इसके बाद भारत पर किसी तरह का ध्यान नहीं रहेगा। समझौते के महत्त्व पर बोलते हुए अमरिकी राजदूत ने कहा कि यह भावी लाभकारी सम्बन्धों और वार्त्ताओं की शुरुआत का रास्ता खोल देगा।

डियागो गार्सिया के सम्बन्ध में मतभेद—अमरिका द्वारा हिन्द महासागर में स्थित ब्रिटिश अधिकृत टापू डियागो गार्सिया में अमरिका सैनिक अड्डा कायम करने के निर्णय से भी 1974 में भारत अमरिका सम्बन्ध में तनाव आया। कन्याकुमारी से बारह सौ मील दूर स्थित इस छोटे से टापू में अमरिका और ब्रिटेन ने अपनी वायु सेना और नौ सेना का एक अड्डा बनाने का फैसला किया जिसमें तीन करोड़ डालर खर्च करने का अनुमान किया गया। अमरिका का कहना था कि अड्डा कायम करने के फैसले के पीछे कोई आक्रामक उद्देश्य नहीं था। उसने दावा किया कि हिन्द महासागर में सोवियत नौ सेना की बढ़ती हुई गतिविधियों से आशंकित होकर और सन्तुलन कायम रखने के लिए उसने इस क्षेत्र में नौ सेना का विस्तार करने की योजना बनायी है। लेकिन भारत और एशिया के कई देशों ने एक स्वर से इस योजना का विरोध किया। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस अमरिकी योजना की भर्त्सना की और शान्ति के लिए इसे खतरनाक बताया। उन्होंने कहा कि इससे एशिया में अशान्ति बढ़ेगी। डियागो गार्सिया के विवाद को लेकर जब अमरिकी राजदूत मोयनिहन ने कहा कि यह तो सयोग की बात है कि भारत तथा डियागो गार्सिया के आसपास का समुद्र हिन्द महासागर के नाम से जाना जाता है यदि उसको मेडागास्कर सागर कहा जाय तो कोई हर्ज नहीं तब भारत में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। डियागो गार्सिया में नौसैनिक अड्डा कायम करने के अमरीकी निश्चय का भारत निरन्तर विरोध करता रहा और इस कारण दोनों देशों के सम्बन्ध में कटुता आयी।

इस प्रकार 1971 से भारत अमरिका सम्बन्ध में जो गिरावट आया उसमें अब तक कोई सुधार नहीं हुआ है और दोनों देश एक दूसरे से दूर दूर खिचते जा रहे हैं।

अध्याय 8

भारत और सोवियत संघ

(India and U S S R)

ऐतिहासिक पृष्ठाधार —स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत और सोवियत संघ का सम्पर्क मुख्यतः जवाहरलाल नेहरू के जरिये हुआ। 1917 की बोल्शेविक क्रांति ने एशियाई राष्ट्रवाद को विशेष रूप से प्रभावित किया। भारत की राजनीति पर भी निश्चित रूप से इसका प्रभाव पड़ा। लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रमुख नेता शुरू में बोल्शेविक क्रांति को शक की निगाह से देखा करते थे। वहाँ पर घटनेवाली हिंसात्मक घटनाओं से महात्मा गांधी विशेष रूप से क्षुब्ध थे। सोवियत क्रांति से उनकी चिढ़ इतनी तीव्र थी कि 1924 में लेनिन की मृत्यु पर जब कांग्रेस समिति में एक शोक प्रस्ताव आया तो वह स्वीकार नहीं किया जा सका।

सोवियत संघ के प्रति भारतीय नेताओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन 1927 के बाद आया। पददलित राष्ट्रों के ब्रुसेल्स सम्मेलन (1927) में भाग लेने के उपरान्त जवाहरलाल नेहरू तीन चार दिनों की यात्रा पर सोवियत संघ गये और वहाँ की व्यवस्था से अत्यधिक प्रभावित हुए।[1] स्वदेश वापस आने पर उन्होंने सोवियत संघ की सफलताओं पर कुछ लेख लिखे और भाषण दिये। उन्होंने कहा कि सोवियत संघ में जो महान प्रयोग हो रहा है उसका भारत के लिए बड़ा महत्त्व है। नेहरू की धारणा थी कि सोवियत संघ और भारत अच्छे पड़ोसी के नाते काफी अच्छा सम्बन्ध कायम रख सकते हैं। भारत सरकार शुरू से ही सोवियत संघ का विरोध कर रही थी। नेहरू का कहना था कि यह विरोध ब्रिटेन और सोवियत संघ के विरोध का भाग है और भारत को इससे कोई मतलब नहीं है। भारत और सोवियत संघ के बीच संघर्ष का कोई कारण नहीं हो सकता है। नेहरू का विचार था कि सोवियत संघ में एक नयी सभ्यता और संस्कृति का जन्म हो रहा है और निराशा के युग में वह आशा की एकमात्र किरण है। सोवियत संघ को ध्यान में रखकर ही हम भविष्य पर आशा कर सकते हैं।[2] सोवियत संघ की विदेश-नीति से नेहरू बहुत प्रभावित थे और इसको शान्ति की नीति कहा करते थे। उनके ध्यान में सोवियत संघ

---

1 Jawaharlal Nehru *Soviet Russia Some Random Sketches Iman I pressions* p 5[illegible]

2 That great and fascinating unfolding of a new order and a new civilization is the most promising feature of our dismal age If the future is full of hope it is largely because of Soviet Russia and what it has done If some world catastrophe do not intervene this new civilization would spread to other lands and put an end to the wars and conflicts which capitalism fed —*Report of the Forty Ninth Session of the Indian National Congress* p 70

ही यूरोप का एक देश था जो प्रजातन्त्र और राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों को पूर्ण समर्थन देता था और फासिस्टवाद के विरुद्ध एक मात्र सहारा था।

1939 40 में सोवियत नीति के कारण नेहरू को ज़बरदस्त सदमा लगा और सोवियत संघ के प्रति उनका उत्साह कुछ कम पड़ गया। 1939 के सोवियत जर्मन पैक्ट से उनको बड़ी निराशा हुई। हिटलर और स्टालिन के बीच इस समझौते को उन्होंने शुद्ध अवसरवादिता कहा और इसकी कड़ी आलोचना की।[1] फिर जब सितम्बर 1939 में सोवियत सेना ने पूर्वी पोलैण्ड पर तथा दिसम्बर में फिनलैंड पर आक्रमण कर उन पर आधिपत्य कायम किया तो नेहरू को और बड़ा धक्का लगा। बाद में उन्होंने महसूस किया कि सोवियत सुरक्षा के लिए यह कारवाई आवश्यक थी और इसलिए इस सन्देह को त्याग दिया।

सोवियत संघ के प्रति कांग्रेस के नेताओं और विशेषकर जवाहरलाल के अनुराग का प्रधान कारण यह था कि सोवियत नेता निरन्तर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करते रहे थे। उनकी पूरी सहानुभूति भारतीयों के पक्ष में थी। यद्यपि 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण सोवियत संघ अपना समर्थन नहीं दे सका लेकिन यह निश्चय था कि युद्ध समाप्त होते ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को पुनः उसका प्रबल समर्थन मिलेगा। 1945 के सन फ्रान्सिस्को सम्मेलन में जब अपने को जनतन्त्र का प्रहरी कहने वाले अमरीकी प्रतिनिधि मौन धारण किये रहे उस समय भारतीय तथा अन्य पराधीन जातियों की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठाने वाला सोवियत प्रतिनिधि मोलोतोव ही था। सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के दृष्टिकोणों में यह अन्तर जो सामने आया उसका नेहरू या एशिया की कोई राष्ट्रवादी नेता नहीं भूल सकता था। यह स्पष्ट हो गया कि एक उपनिवेशवाद को सहारा देने वाला और दूसरा उपनिवेशवाद का विरोधी है। सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति स्वतन्त्र भारत की नीति के सम्बन्ध में हमें इस बात को बराबर ध्यान में रखना चाहिए।[2]

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले ही सोवियत संघ के प्रति जवाहरलाल की एक विशेष धारणा बन गयी थी। भारत-सोवियत सम्बन्ध पर इस तथ्य का विशेष प्रभाव पड़ा है।

स्टालिन युग में भारत सोवियत सम्बन्ध —स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सोवियत संघ के साथ भी भारत के सम्बन्ध एक से नहीं रहे उसने अनेक उतार-चढ़ाव देखे। 1946 47 में उपनिवेशवाद प्रस्ताव विभेद निरस्त्रीकरण आदि

1 Jawaharlal Nehru *An Autobiography* p 601

2 How it affected Nehru is revealed by his comments Nehru drew a sharp contrast between the U S and Soviet attitudes on this subject (colonialism)and clearly stated that India would remember this when formulating her own policy towards the two countries —B Prasad *The Origins of Indian Foreign Policy* P 241

अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर भारत और सोवियत संघ का एक सा दृष्टिकोण रहा और इन प्रश्नों पर भारत ने अमेरिका के विरुद्ध सोवियत संघ का ही समर्थन किया। परन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही और कुछ ही समय बाद कुछ प्रश्नों को लेकर दोनों के बीच मनमुटाव पैदा हो गया। यूनान और कोरिया के प्रश्नों पर भारत ने पश्चिमी गुट का समर्थन किया। फिर पश्चिमी गुट से आर्थिक सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत साम्यवाद विरोधी रुख भी अपनाया। अप्रैल 1949 में नेहरू ने कहा कि "साम्यवाद का विस्तारवादी स्वरूप एशियाई देशों की शान्ति और स्वाधीनता के लिए सबसे बड़ा खतरा है।" फिर सोवियत समाचार पत्रों ने यह आरोप लगाया कि भारत सरकार ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवादियों से साँठ-गाँठ कर रही है। जून 1949 में मार्शल जुकोव ने कहा कि नेहरू सरकार का जनविरोधी स्वरूप उसकी नीतियों में भलीभाँति स्पष्ट है।

वस्तुतः बात यह थी कि प्रारम्भिक दिनों में जिस तरह भारत की असंलग्नता की नीति को संयुक्त राज्य अमरिका ने सन्देह से देखा उसी तरह सोवियत संघ ने भी इस नीति को शंका की दृष्टिकोण से देखा। रूस ने पश्चिम के साथ अनबन्य के कारण उस समय तटस्थ देशों के प्रति विरोध की नीति का अनुसरण किया क्योंकि जो सोवियत संघ के अन्दर समर्थक नहीं थे उन्हें वह अपना शत्रु समझता था। स्टालिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कठोर नीति का अवलम्बन करने वाला था। उसने भारतीय असंलग्नता की नीति को निर्बल और अवसरवादी नीति का प्रतिरूप तथा एंग्लो-अमरिकन साम्राज्यवादियों के साथ सहयोग को छुपाने का आवरण मात्र समझा। तटस्थता की नीति के कारण स्टालिन भारत को अपना विरोधी समझता था। 1952 में विशिन्स्की ने कृष्ण मेनन से कहा था "आप से अच्छे रूप में तुम (भारतीय) अलग-थलग होओ ... तुम अपनी स्थिति महा जानन और भयंकर अमरीकी नीति के प्रबल समर्थक हो।" इसी कारण उस समय सोवियत विश्वकोष में भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन तथा महात्मा गांधी को पूँजीवादी का समर्थक बताया गया था।

लेकिन 1949 के अन्त में भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ। इसके दो कारण थे। प्रथमतः नेहरू ने असंलग्नता का रचनात्मक और सक्रिय नीति का निरूपण ढंग से बड़ा ही कुशलतापूर्वक संचालन किया। ब्रिटेन और अमरिका के साथ अपने मैत्री सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र विदेश-नीति का परित्याग नहीं किया और सोवियत संघ के साथ अपने सम्बन्धों को सुधारने की दिशा में व प्रयत्न करते रहे। इससे भारत के सम्बन्ध में कई भ्रान्तियाँ दूर हुईं। इस काल में भारत ने चीन की नयी सरकार (माओ की सरकार) को मान्यता दिलाने का प्रयत्न किया और इस विषय में पाश्चात्य देशों की नाराजगी की परवाह नहीं की। इस काल में डा. राधाकृष्णन् मास्को में भारत के राजदूत नियुक्त हुए और उनके सत्प्रयासों से दोनों देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास होने लगा। फलस्वरूप भारत और सोवियत संघ ने आर्थिक सहयोग का

प्रारम्भ किया। 1949 में ही दोनों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार सोवियत संघ ने चाय और कच्चे जूट के बदले एक लाख बीस हजार टन गेहूँ और मक्का देना स्वीकार किया। 1949-50 में दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हुए।

कोरिया युद्ध शुरू होने पर भारत और सोवियत संघ का सम्बन्ध पुनः कुछ खराब हो चला। शुरू में भारत सरकार ने अमरीकी गुट का समर्थन किया और कोरिया के युद्ध में उत्तर कोरिया को आक्रामक माना। भारत के इस कार्य से सोवियत संघ में रोष पैदा हो गया। परन्तु बाद की घटनाओं ने भारतीय नीति के सम्बन्ध में सोवियत संघ के नेताओं की भ्रान्तियों को दूर कर दिया। जब कोरिया समस्या के बाद के चरणों में भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं से 38 वीं अक्षांश रेखा पार न करने और चीन को संघ द्वारा आक्रमणकारी घोषित न करने का आग्रह किया गया तो स्टालिन ने भारत के शान्ति प्रयासों की सराहना की। यह सत्य ही कहा गया है कि कोरियाई युद्ध के समय भारतीय नीति से जहाँ वाशिंगटन और दिल्ली के बीच मतभेद की स्थिति पैदा हुई वहाँ सोवियत संघ के साथ उसके सम्बन्धों में एक बड़ी सीमा तक प्रगाढ़ता आयी। इसी समय जापानी शान्ति सन्धि के प्रश्न पर भारत ने सोवियत संघ का साथ दिया और अमरिका द्वारा आयोजित सनफ्रांसिस्को सम्मेलन में जाने से इन्कार कर दिया। जापानी शान्ति-सन्धि के प्रारूप का भारत ने इसलिए विरोध किया कि वह जापान को साम्राज्यवादी शिकंजे में जोड़ने का एक प्रयास था। अतएव भारत ने सोवियत संघ का साथ देते हुए जापानी शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। इसके कुछ ही दिनों के उपरान्त अप्रिल 1952 में स्टालिन ने भारतीय राजदूत डा० राधाकृष्णन से भेंट की। इस भेंट को बहुत महत्त्व दिया गया क्योंकि पिछले दो वर्षों में स्टालिन ने किसी राजदूत को ऐसा अवसर नहीं दिया था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस भेंट को सोवियत संघ और भारत के सम्बन्धों में सुधार का प्रतीक माना गया। दिसम्बर 1952 में कोरिया-युद्ध के युद्धबन्दियों के प्रश्न पर भारत और सोवियत संघ में पुनः कुछ मतभेद पैदा हुआ लेकिन इसके कारण दोनों का सम्बन्ध बहुत अधिक नहीं बिगड़ा और दोनों देश मैत्री की ओर अग्रसर होते रहे।

सोवियत संघ की नयी विदेश नीति और भारत—1953 में स्टालिन की मृत्यु हो गयी और इसके तुरत ही बाद सोवियत विदेशनीति में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। तटस्थ राज्यों के प्रति सोवियत नेताओं में एक नयी सहानुभूति की भावना आयी। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त सोवियत विदेश-नीति का मूलाधार हो गया। लौह आवरण की नीति में भी शिथिलता आयी और सोवियत नेताओं ने यात्राओं के राजनय का आश्रय लिया। इस वातावरण में भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में और अधिक सुधार हुआ। इस परिस्थिति को लाने में दोनों पक्षों का प्रमुख हाथ रहा। संयुक्त राज्य अमरिका ने भारत द्वारा कोरिया के राजनीतिक सम्मेलन में भाग लेने का विरोध किया। फलतः भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में अधिक प्रगाढ़ता आयी। 1953 के मध्य में कश्मीर की स्थिति भी

बिगड़ने लगी। इसी समय शेख अब्दुल्ला द्वारा स्वतन्त्र कश्मीर का नारा बुलन्द किया गया। उस समय भारत की जनता में यह आम धारणा थी कि शेख अब्दुल्ला के इस नारे को संयुक्त राज्य अमरिका से प्रेरणा मिली है। 1954 के प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। भारत में इसका प्रबल विरोध हुआ और इस विरोध में सोवियत संघ ने भारत का समर्थन किया। फलतः भारतीय जनता और प्रशासन में सोवियत संघ के प्रति अधिक हार्दिक अनुभूति पैदा हुई।

हिन्द-चीन की समस्या, पंचशील और सैन्य संगठनों का निर्माण—1954 में हिन्द चीन की समस्या ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया। संयुक्त राज्य अमरीका फ्रांस का पक्ष लेकर इस युद्ध में कूद पड़ना चाहता था। भारत ने इसका विरोध किया और हिन्द चीन की समस्या के समाधान के लिए छह सूत्री प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव प्रत्यक्षतः अमरिका विरोधी था। अतः सोवियत संघ में इसका स्वागत हुआ। हिन्द चीन से सम्बन्धित जेनेवा सम्मेलन में भी भारत की भूमिका अत्यन्त निष्पक्ष रही। सोवियत संघ ने इस पर खुशी जाहिर की।

पुनः भारत और चीन के मध्य पंचशील के समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। सोवियत संघ ने पंचशील के सिद्धान्तों में अपनी आस्था व्यक्त की और शांति के मार्ग में इसे एक महत्वपूर्ण कदम बताया।

फिर एशिया को शीत युद्ध के दायरे में समेटने के लिए अमरिका की प्रेरणा से दो सैन्य संगठनों—दक्षिण पूर्व एशिया संधि संगठन तथा बगदाद संधि की स्थापना हुई। भारत ने इन सैन्य संगठनों का प्रबल विरोध किया और अमरीकी नीति की तीव्र भर्त्सना की। अमरिका द्वारा स्थापित इन सैन्य संगठनों के विषय में भारत और सोवियत संघ का एक ही प्रकार का दृष्टिकोण होने से दोनों देशों के सम्बन्ध पहले से अधिक मधुर हो गये।

यात्राओं का आदान प्रदान—जून 1955 में जवाहरलाल नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की और वहाँ के लोगों को अपने सद्भाव से बहुत अधिक प्रभावित किया। 22 जून को नेहरू और सोवियत प्रधानमन्त्री बुलगानिन ने इस आशय के एक संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये कि दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध जो पहले से ही मैत्री तथा सहिष्णुता पर आधारित हैं भविष्य में भी पंचशील द्वारा निर्देशित होते रहेंगे।

नेहरू की रूस यात्रा के पश्चात् 1955-56 में बुलगानिन और खुश्चेव ने भारत की यात्रा की। 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद यह पहला बार था कि रूसी प्रधानमन्त्री सद्भावना की यात्रा पर इस प्रकार अपने देश से बाहर निकला था। रूसी नेताओं की यह भारत यात्रा भारत की असंलग्नता की नीति के लिए बड़े आदर और सम्मान की बात थी। भारत में रूसी नेताओं का ऐतिहासिक स्वागत किया गया। अपने महान नागरिक सम्मान का उत्तर देते हुए बुलगानिन ने घोषणा की ... भारत सोवियत मैत्री की रचना पंचशील के विश्वसनीय तथा स्थायी आधार स्तम्भों पर की जा रही है ... भारत तथा सोवियत संघ के मध्य सच्ची

समानता तथा पारस्परिक लाभ के आधार पर व्यापारिक एवं आर्थिक सहयोग के विकास के लिए सभी आवश्यक स्थितियाँ पैदा कर ली गयी हैं।

भारतीय संसद के समक्ष बुलगानिन ने कहा : हम अपने आर्थिक तथा वैज्ञानिक अनुभव को आपके साथ बाँटने के लिए तैयार हैं। नगर में ख्रुश्चेव ने भाव विभोर होकर घोषणा की : हम अपनी रोटी का आखिरी टुकड़ा भी आपके साथ बाँटकर खायेंगे। कश्मीर के बारे में बोलते हुए ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि सोवियत संघ कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग मानता है। आपको जब जब भी हमारी सहायता की जरूरत हो, ख्रुश्चेव ने आश्वासन देते हुए कहा, पहाड़ की चोटियों पर से जरा हाँक कर हमें पुकार लीजियेगा। हम आपकी मदद के लिए आ जायेंगे। वस्तुतः कश्मीर के प्रश्न पर भारत की प्रतिष्ठा की रक्षा सोवियत संघ ने की है। जब जब अमरीकी गुट ने भारत को परेशान करने का प्रयत्न किया तब-तब सुरक्षा परिषद् में वीटो का प्रयोग करके सोवियत संघ ने ही भारत की लाज बचायी।

अपनी इसी भारत की यात्रा के दौरान सोवियत नेताओं ने सार्वजनिक रूप से इस बात का समर्थन किया कि गोआ भारत का एक अभिन्न अंग है और पुर्तगाल का वहाँ रहने का कोई अधिकार नहीं है। कश्मीर और गोआ के प्रश्नों पर भारत का समर्थन करके सोवियत संघ ने प्रत्येक भारतवासी के हृदय में अपने लिए सद्भावना पैदा करने में सफलता प्राप्त की। दोनों देशों के नेताओं द्वारा एक दूसरे के देश को की गयी सद्भावना यात्राएं मैत्री एवं सहयोग की प्रतीक बन गयीं। 1955 में ही उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में दोनों देशों द्वारा अपनाये गये समान दृष्टिकोण ने दोनों देशों की मित्रता को और गहरा रूप प्रदान किया। यद्यपि 1956 में हंगरी की घटना को लेकर भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में कुछ तनाव उत्पन्न हो गया क्योंकि भारत द्वारा हंगरी में की गयी सोवियत सैनिक कार्यवाही का विरोध हुआ लेकिन यह तनाव बड़ा क्षणिक ही रहा और इससे दोनों देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को कायम रखने की प्रक्रिया में कोई विशेष व्यवधान पैदा नहीं हुआ।

निरस्त्रीकरण और गोआ—निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी सोवियत संघ और भारत के दृष्टिकोणों में काफी समानता रही है। 1958 में सोवियत संघ ने अपार जोखिम उठाकर अपनी तरफ से परमाणविक परीक्षण बन्द करने का निर्णय किया। भारत ने सोवियत संघ की इस कार्यवाही की बड़ी प्रशंसा की। 1959 और 1960 की साधारण सभा के अधिवेशनों में भारत ने सोवियत संघ द्वारा रखे गए निरस्त्रीकरण के सभी प्रस्तावों का समर्थन किया। 1962 में गोआ की मुक्ति के सम्बन्ध में भारत को सोवियत संघ का पूर्ण समर्थन मिला। जब गोआ के विरुद्ध भारत की सैनिक कार्यवाई के प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाया गया तो सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग कर दिया। प्रस्ताव को पारित नहीं होने दिया। इनके कारण भारतीय जनता के दिल में प्रबल मैत्री का भाव पनपा।

आर्थिक सहयोग—राजनीतिक क्षेत्रों में सहयोग के अतिरिक्त भारत और सोवियत संघ में आर्थिक सहयोग भी बढ़ने लगा। 1953 में दोनों देशों का व्यापार

कुल अस्सी लाख रूबल था। 1957 मे यह राशि पाँच करोड रूबल तक पहुँच गया। सोवियत सघ से भारत को प्रचुर मात्रा मे आर्थिक और प्राविधिक सहायता मिली। भिलाई मे सोवियत सहायता से एक इस्पात का कारखाना खुला जो दोनो देशो की मैत्री का प्रतीक है। 1958 के अत तक भारत को सोवियत सघ से तीन करोड रूबल का ऋण मिल चुका था। सयुक्त राज्य अमरिका का ऋण मुख्य रूप से भारत की सामुदायिक विकास योजनाओं और खाद्यान्नों की आवश्यकता पूरी करने के लिए हुआ है। इसमे तात्कालिक लाभ को ही ध्यान मे रखा जाता रहा है और इसका स्वरूप मुख्यत प्रचारात्मक रहा है। किन्तु सोवियत सघ का ऋण स्थूल रूप मे तथा स्थायी रूप मे फायदे देने वाले मिला है, कारखाने भारी मशीनो के कारखाने तथा दवा इयाँ बनाने के कारखाने के लिए मिला है। इसका उद्देश्य सदा सर्वदा के लिए आत्म निर्भर बनाना है ताकि यह दूसरा का मुहताज न हो रहे। अत सोवियत सहायता सयुक्त राज्य अमरिका की अपेक्षा न्यून होते हुए भी अधिक महत्वपूर्ण है।

सोवियत सघ और भारत के इन मधुर सम्बन्धो को ध्यान मे रखते हुए 20 फरवरी 1950 को जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था हम इस बात से परिचित है कि हमारे द्वारा एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्गों को अपनाया जा रहा है किन्तु मूलभूत बात एक दूसरे के प्रति एव दूसरे के दृष्टिकोण और मित्रता के प्रति विश्वास और सम्मान की भावना है। मुझे विश्वास है कि ऊपरी मतभेदों के बावजूद भारत और सोवियत सघ के बीच यह भावना विद्यमान है। मेरे विचार से यह कहना सही है कि भारत और भारतीय जनता सोवियत सघ और सोवियत जनता के साथ मित्रता की भावना क्षणिक आवेग या स्वार्थ भावना पर आधारित नही है वरन् इसकी जड इतनी गहरी हैं कि समय पर उत्पन्न होने वाले विचारो के मतभेद मे यह अपने-आपको सुरक्षित रख सकती है। मैं सोचता हूँ कि यह मित्रता निश्चित रूप से मेरे देश के लिए लाभकर है। मैं आशा करता हूँ कि यह मित्रता आपके देश के लिए और शेष सम्पूर्ण विश्व के लिए हितकर है।

भारत-चीन युद्ध और सोवियत सघ

1962 के अक्टूबर नवम्बर मे जब भारत चीन के साथ युद्ध शुरू हुआ तो सोवियत सघ के लिए एक बडी कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। इस युद्ध मे एक तरफ था सोवियत सघ का भाई चीन और दूसरी ओर दोस्त भारत था। इस हालत मे वह किसका पक्ष ले यह बहुत ही कठिन समस्या थी। युद्ध के प्रारम्भिक दिनो मे सोवियत सघ मौन धारण किये रहा। इससे भारत को बडी निराशा हुई। लेकिन 25 अक्टूबर 1962 को सोवियत समाचार पत्र प्रावदा ने अपने अग्रलेख मे भारत से यह आग्रह किया कि वह चीन के रचनात्मक प्रस्तावों को शातिपूर्ण समझौते के लिए स्वीकार करे। सीमा विवाद मे वस्तुत चीन का पक्ष लेते हुए उसने कुख्यात मकमोहन रेखा को निश्चित तथा इसे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की विरासत बताया। 5 नवम्बर को अग्रलेख मे प्रावदा ने युद्धबन्द करने पर तथा दोनो पक्षो द्वारा कोई शर्त न लगाते हुए परस्पर सधि वार्ता करने पर बल दिया।

ख्रुश्चेव ने भी प्रधान मन्त्री नेहरू को एक पत्र में इसी प्रकार की वार्ता का सुझाव दिया। भारत के लिए यह स्थिति बड़ी ही चिन्तनीय और गम्भीर थी क्योंकि इसने सोवियत संघ को अपना मित्र बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। इतना ही नहीं सोवियत संघ द्वारा अपने पूर्व निर्णय के अनुसार भारत को मिग लड़ाकू वायुयान मिग विमानों का निर्यात भी स्थगित कर दिया गया। इन सब बातों को लेकर भारत में सोवियत संघ के विरुद्ध प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का ज्वार-सा आ गया।

धीरे धीरे भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में सोवियत संघ का दृष्टिकोण बदलने लगा और 5 नवम्बर तक वह तटस्थनीति पर आ गया। बाद की महत्वपूर्ण घटनाओं ने इस बात का निश्चित संकेत दे दिया कि सोवियत संघ ने भारत का साथ नहीं छोड़ा है और उसका प्रभाव राजनीतिक दबाव चीन द्वारा युद्ध-विराम की घोषणा करने का एक प्रमुख कारण रहा है। दिसम्बर 1962 में सुप्रीम सोवियत के सामने ख्रुश्चेव ने भारत पर चीन के आक्रमण की निन्दा की थी। सोवियत नीति में भारत के प्रति विरोधी रुख नहीं अपनाने का मुख्य प्रमुख कारण यही रहा कि उसने महान संकटकाल में घोर प्रतिक्रियाओं के बावजूद भी भारत ने असंलग्नता की नीति का परित्याग नहीं किया और पश्चिम के सैन्य संगठनों में शामिल होने से इनकार कर दिया। जब 1963 में चीन ने कोलम्बो प्रस्ताव अमान्य ठहरा दिए गए तो भी सोवियत राजनीतिज्ञों ने चीन की कड़ी आलोचना की। इसके अतिरिक्त उसने अपने वायदे का निभाते हुए मिग विमान भी दिए और भारत में मिग विमान का कारखाना भी स्थापित किया। भारत चीन विवाद में सोवियत रूस के इस प्रकार के न्यायपूर्ण व्यवहार के कारण चीन के प्रमुख पत्र 'पीपुल्स डेली' ने लिखा था "पहले सोवियत रूस ने इस विवाद में तटस्थता का ढोंग किया और अब यह संयुक्त राज्य अमरीका के साम्राज्यवादी और नेहरू भारतीय प्रतिक्रियावादियों का खुल्लम-खुल्ला समर्थन कर रहा है।" स्पष्ट है कि भारत सोवियत मैत्री भारत चीन संघर्ष की कसौटी पर खरी उतरी है। इस संघर्ष में भारत के प्रति सोवियत संघ का दृष्टिकोण इस बात को प्रमाणित करता है कि दोनों देशों की मित्रता एक सुदृढ़ नींव पर खड़ी है।

रूस की सहायता—जुलाई 1963 में भारत सरकार के एक सचिव श्री बंद्योपाध्याय के नेतृत्व में सोवियत संघ से सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए एक मिशन मास्को गया और सोवियत सरकार ने भारत की सैनिक सहायता-प्रदान करने का आश्वासन दिया। इस प्रकार सोवियत संघ के साथ हमारे सम्बन्ध को एक नया आधार प्राप्त हुआ। 1963 में भारत को रूस से प्रचुर मात्रा में सामरिक और आर्थिक सहायता मिली। रूस ने भारत को मिग वायुयान दिए और वह मिग वायुयानों के निर्माण के लिए भारत में एक कारखाना स्थापित करने में सहायता प्रदान कर रहा है। इसके लिए पच्चीस करोड़ रुपए की पूंजी से एक कम्पनी कायम की गई है। कम्पनी निर्माण के लिए उड़ीसा में एक स्थान चुना गया। रूस ने अन्य प्रकार की सहायता करने का भी वचन दिया। 4 नवम्बर 1963 को रूस और भारत के बीच

एक करार पर नयी दिल्ली में हस्ताक्षर हुआ जिसके अनुसार भारत में तेल और गैस का पता लगाने तथा उन्हें विकसित करने के लिए रूस से टेक्नीशियन भेजे जायेंगे। एक शक्तिशाली रेडियो स्टेशन बनवाने में सहायता करने का भी सोवियत संघ ने आश्वासन दिया। इस प्रकार भारत को सोवियत संघ से प्रचुर मात्रा में सहायता मिलती रही है।

सोवियत संघ भारत के प्रति प्रगाढ़ सहानुभूति रखता है इसका प्रमाण हमें प्रधान मन्त्री नेहरू की मृत्यु के बाद मिला। नये प्रधान मन्त्री को एक पत्र लिखकर सोवियत प्रधानमन्त्री श्री ख्रुश्चेव ने भारत को यह आश्वासन दिया कि सोवियत संघ हमेशा की तरह भारत को यथासम्भव सहायता देता रहेगा। उस समय सोवियत जनता और नेताओं का जो सहानुभूतिपूर्ण आचरण हुआ वह अन्तिम था। उसने यह सिद्ध कर दिया कि सोवियत संघ भारत का परम मित्र है। बाद में सितम्बर 1964 में डॉ. राधाकृष्णन ने रूस की राजकीय यात्रा की। इसके फलस्वरूप दोनों देशों की भ्रान्तियाँ पूरी तरह दूर हो गयीं।

सोवियत संघ का नवीन नेतृत्व और भारत—16 *अक्टूबर* 1964 को ख्रुश्चेव के पतन के उपरान्त सोवियत संघ में जिस नवीन नेतृत्व का उदय हुआ उसके कारण भारत में यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि अब भारत के प्रति सोवियत दृष्टिकोण में परिवर्तन होगा। ख्रुश्चेव भारत के परम मित्र थे और उनके पतन से भारत में अपार दुःख उत्पन्न हुआ। ऐसा समझा गया कि कोसीगिन और ब्रेजनेव चीन के साथ सैद्धान्तिक प्रश्नों पर समझौता कर लेंगे और स्टालिनवादी नीति का अनुसरण करते हुए भारत चीन विवाद में भारत के पक्ष का समर्थन करना छोड़ देंगे। लेकिन यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। तत्कालीन सोवियत राष्ट्रपति मिकोयन ने मास्को में भारतीय राजदूत को यह विश्वास दिलाया कि भारत के सभी समझौते ख्रुश्चेव के साथ नहीं किन्तु सोवियत सरकार के साथ हुए थे और सोवियत संघ उसका पूरा पालन करेगा। दिल्ली स्थित सोवियत राजदूत ने भी भारत सरकार को आश्वासन दिया कि भारत के प्रति उनके देश की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। नवम्बर 1964 में दोनों देशों ने एक नये व्यापारिक समझौते किये तथा दोनों देशों के व्यापार में पिछले वर्ष की अपेक्षा पचास प्रतिशत की वृद्धि की घोषणा की गयी। जनवरी में सोवियत संघ ने भारत में भिलाई जैसा दूसरा इस्पात का कारखाना बोकारो में खोलने में सहायता देने का वचन दिया। 1965 में भारत के प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने सोवियत संघ की आठ दिन की यात्रा करके दोनों देशों में सौहार्द बढ़ाया और चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सोवियत संघ से तृतीय पंचवर्षीय योजना की अपेक्षा दुगुनी सहायता पाने का आश्वासन प्राप्त किया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि भारत के प्रति सोवियत संघ की वर्तमान नीति में ख्रुश्चेव की नीति से कोई अन्तर नहीं आया। दोनों देशों की मैत्री में उत्साह की कमी नहीं आयी। सोवियत संघ के नये नेतृत्व से भी भारत को अपार सहानुभूति, समर्थन और सहायता मिली है और दोनों देशों का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर है।

1965 का भारत-पाकिस्तान युद्ध और सोवियत संघ

कश्मीर समस्या पर सोवियत दृष्टिकोण—संसार की महाशक्तियों में सोवियत संघ ही एक ऐसा देश है जिसने कश्मीर में भारतीय स्थिति को उचित ढंग से समझा है। कश्मीर के प्रश्न पर उसने हमेशा से भारतीय पक्ष का समर्थन किया है। ख्रुश्चेव ने शुरू में ही यह घोषित किया था कि सोवियत संघ कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग मानता है। कश्मीर की समस्या की जटिलता का कारण सोवियत दृष्टिकोण में साम्राज्यवादी देशों की नीति है जो एशिया के दो पड़ोसी देशों को आपस में लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करने के उद्देश्य रखते हैं। इस विचार को सोवियत नेता कई बार व्यक्त कर चुके हैं और कश्मीर के सम्बन्ध में सोवियत नीति इसी तथ्य से प्रभावित रही है। सोवियत संघ का विचार है कि भारत और पाकिस्तान एक अच्छे पड़ोसी की तरह प्रत्यक्ष रूप से वार्ता करके इस प्रश्न का तय कर लें। कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् की जितनी बैठकें हुई और उनमें जो भी प्रस्ताव स्वीकृत हुए उनके सम्बन्ध में सोवियत संघ ने इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर दृष्टिकोण का निर्धारण किया। श्री ख्रुश्चेव के पतन के बाद जब भारत में सोवियत विदेश नीति में परिवर्तन की आशंका व्यक्त की जाने लगी तो सोवियत संघ के नये नेतृत्व ने तुरंत ही स्पष्ट कर दिया कि कश्मीर प्रश्न के सम्बन्ध में उसकी नीति वही रहेगी जो अभी तक थी। सोवियत संघ के दृष्टिकोण में परिवर्तन कराने के उद्देश्य से पाकिस्तान की कूटनीति सक्रिय हो गयी। अप्रैल 1965 में राष्ट्रपति अयूब खाँ इसी उद्देश्य से सोवियत संघ गये और नेताओं से अनुरोध किया कि वे पाकिस्तान के सम्बन्ध में पुरानी बातों को भूल जायें तथा पाकिस्तान के प्रति अपनी नीति का पुनर्निर्धारण करें। सोवियत नेताओं ने पाकिस्तानी राष्ट्रपति का हार्दिक स्वागत किया लेकिन नीति के पुनर्निर्धारण के सम्बन्ध में किसी तरह का संकेत नहीं दिया। बाद में पाकिस्तान के विदेश मन्त्री भुट्टो ने कई बार सोवियत संघ की यात्रा की। लेकिन इन यात्राओं और प्रयासों के फलस्वरूप सोवियत संघ की कश्मीर नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा-परिषद् में सोवियत वीटो को कुण्ठित करने में पाकिस्तान के सारे प्रयास विफल हो गये।

भारत-पाक युद्ध और सोवियत संघ—5 अगस्त को कश्मीर में पाकिस्तानी मुजाहिदों के प्रवेश से स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो गयी और भारत ने इस नवीन पाकिस्तानी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए दृढ़ नीति का अवलम्बन किया। भारतीय सैनिकों ने मुजाहिदों का सफाया करना शुरू किया और सीमा के उस पार युद्ध अड्डों को जो पाकिस्तान के अधिकार में थे नष्ट करना शुरू किया। भारत का कहना था कि इन्हीं स्थानों से गुजरकर पाकिस्तानी घुसपैठी भारतीय क्षेत्र में घुसते हैं और कश्मीर की सुरक्षा के लिए उनपर भारतीय अधिकार का होना आवश्यक है। भारत के इस निर्णय ने स्थिति को और अधिक खराब कर दिया और पाकिस्तान के साथ प्रत्यक्ष युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा। स्थिति को खराब होते देख सोवियत प्रधानमन्त्री श्री कोसीजिन ने 20 अगस्त 1965 के अन्त में कश्मीर

की स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए पाकिस्तान और भारत को पत्र लिखा। उन्होंने दोनों पक्षों को संयम से काम लेने तथा प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा झगड़े का शांतिपूर्ण निबटारा करने का सुझाव दिया। भारतीय उपमहाद्वीप में इस तरह से स्थिति को बिगड़ते देख सोवियत संघ के लिए चिंतित होना बिल्कुल स्वाभाविक था। भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ जाने की पूरी सम्भावना थी और पश्चिमी गुट में पाकिस्तान के सम्बद्ध होने से इस संकट में अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न होने की सम्भावना थी। सोवियत संघ के अत्यन्त निकट पड़ोस में इस तरह की घटना घटे उसकी ओर से वह अपना मुख नहीं मोड़ सकता था।

1 सितम्बर को पाकिस्तानी सेना द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा का उल्लंघन करके भारतीय क्षेत्र में प्रवेश ने स्थिति को अनियंत्रित कर दिया। इसके प्रतिरोध में भारत को भी प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध में आना पड़ा और भारतीय सेना ने कई मोर्चों पर पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध जारी कर दिया। कई क्षेत्रों में भारतीय सेना पाकिस्तान के भू भाग में घुस गयी। भारत की इस कार्यवाही को जहाँ पश्चिमी राष्ट्रों ने आक्रमण कहकर सम्बोधित किया वहाँ सोवियत संघ ने भारतीय स्थिति को समझने का प्रयास किया और आत्मरक्षा के लिए किये गये इस भारतीय कार्यवाही को उचित बतलाया। पाकिस्तानी हमले के खिलाफ भारतीय प्रदेश की अखण्डता और प्रभुसत्ता बनाये रखने के लिए भारत को जो कदम उठाना पड़ा उसका सोवियत संघ में समर्थन किया गया।

यद्यपि भारत पाक युद्ध में सोवियत संघ ने भारत का समर्थन किया लेकिन वह नहीं चाहता था कि उसके दो पड़ोसी एशियाई देश साम्राज्यवादियों के जाल में फँसकर इस तरह लड़ते रहें और अपने आप को बर्बाद कर लें। वह चाहता था कि दोनों देश अविलम्ब युद्ध बन्द कर दें। इस समय सोवियत नीति का प्रमुख उद्देश्य विवाद के कारणों में न पड़कर शांति की स्थापना थी। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रधानमन्त्री कोसीजिन ने 4 सितम्बर 1965 को भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति को पत्र लिखकर उन्हें साम्राज्यवादी चालों को समझने की कोशिश करने को तथा अविलम्ब युद्ध बन्द करके प्रश्न को प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा ताशकंद और बन्धुत्व भावना के अनुरूप शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने का सुझाव दिया। यह दुर्भाग्य की बात है प्रधान मन्त्री कोसीजिन ने लिखा कि भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव में कोई कमी नहीं आयी है और दोनों दल युद्ध विराम रेखा पार करके एक दूसरे के साथ युद्ध कर रहे हैं कश्मीर में सैनिक संघर्ष से सोवियत संघ बहुत चिंतित है अब समय नहीं है कि इस संघर्ष के कारणों का पता लगाया जाय। कितने मनुष्यों की जान व्यर्थ जा रही है। युद्ध को तत्काल बन्द करना परम आवश्यक है। रूसी प्रधान मन्त्री ने दोनों देशों को यह आश्वासन दिया कि वे समस्या के समाधान के लिए सोवियत संघ के सहयोग पर निर्भर कर सकते हैं। यदि दोनों पक्ष चाहें तो समस्या के समाधान के लिए सोवियत संघ अपनी सेवा (good offices) अर्पित करने को तैयार है।

रूस के इस प्रस्ताव को मध्यस्थता का प्रस्ताव नहीं कहा जा सकता था

किंतु इसमें ऐसा सहयोग से भारत पाकिस्तान के विवादों को हल करने का सुझाव अवश्य था। कई क्षेत्रों में यह रूस का भारत विरोधी दृष्टिकोण माना गया। एक आलोचकों का कहना था कि यदि सोवियत संघ भारत के पक्ष का समर्थन करता था और उसकी सैनिक कार्यवाही को उचित मानता था तो उसको सिर्फ पाकिस्तान को कड़ी चेतावनी देनी चाहिए थी। भारत और पाकिस्तान दोनों को एक ही तरह का पत्र लिखना तथा दोनों देशों को एक स्तर पर रखना सही था। लेकिन इसका ऐसा मतलब लगाना सोवियत राजनय को नहीं समझना ही माना जायगा। वाद-विवादों और सुरक्षा परिषद के मंच पर सोवियत संघ ने भारत का खुला समर्थन किया था। लेकिन यह समय वाद विवाद का नहीं युद्ध का था। यदि सोवियत संघ उस समय खुलकर भारत का समर्थन करता तो अमरीका के लिए पाकिस्तान का खुला समर्थन आवश्यक हो जाता। चीन को भी इससे उत्साह प्राप्त हो जाता और भारत की स्थिति बड़ी नाजुक हो जा सकती थी। इस दृष्टिकोण से सोवियत संघ के पत्रों को भारत विरोधी कहना एकदम अनुचित है।

सुरक्षा परिषद में सोवियत संघ ने भारत के पक्ष का प्रबल समर्थन किया। 4 सितम्बर को सुरक्षा परिषद ने युद्ध विराम का जो प्रस्ताव पास किया उसको सोवियत संघ का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस प्रस्ताव से युद्ध बन्द नहीं हुआ और इसी बीच तीन तरफ से भारत ने पाकिस्तान पर हमला कर दिया। इस घटना से आंग्ल अमरीकी शक्ति सक्रिय हो उठी। इन क्षेत्रों में इसको भारत द्वारा पाकिस्तान पर आक्रमण माना गया। पश्चिम के भीतर से आंग्ल अमरीकी गुट इस बात का प्रयास करने लगा कि भारत को आक्रमणकारी घोषित किया जाय या नहीं तो कम से कम कश्मीर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना भेजी जाय। कश्मीर में संघ की सेना भेजने की साजिश बहुत पुरानी थी और ब्रिटेन और अमरीका युद्ध की स्थिति से लाभ उठाना चाहते थे। लेकिन सोवियत विरोध के कारण ही आंग्ल अमरीकी गुट को अपने भारत विरोधी साजिश का परित्याग करना पड़ा। 6 सितम्बर को सुरक्षा परिषद ने युद्ध बन्द करने के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकार किया कि वह भारतीय पक्ष का बहुत हद तक समर्थन करता था। भारत चाहता था कि प्रस्ताव यह स्वीकार करे कि वर्तमान संघर्ष का आरम्भ पाकिस्तानी मुजाहिदों के कश्मीर प्रवेश से हुआ। भारत की इस माँग का सोवियत संघ ने समर्थन किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि भारत और पाकिस्तान सम्पूर्ण क्षेत्र में तत्काल युद्ध बन्द करें और सभी सैनिकों को उस स्थान पर बुला लें जहाँ वे 5 अगस्त 1965 को थे। 5 अगस्त की तिथि महत्त्वपूर्ण है। इस दिन पाकिस्तान घुसपैठियों का प्रवेश भारतीय क्षेत्र में हुआ था। इस तरह प्रस्ताव ने परोक्ष रूप से पाकिस्तान की निन्दा की। प्रस्ताव में 5 अगस्त की तिथि सोवियत संघ के कहने पर रखी गयी। सोवियत प्रतिनिधि ने स्पष्ट कर दिया कि यदि इस तिथि का उल्लेख नहीं होता है तो वह प्रस्ताव का समर्थन नहीं करता। इस प्रकार परिषद की 6 सितम्बर वाली बैठक में भारत को सोवियत संघ का अपूर्व समर्थन प्राप्त हुआ।

इस प्रस्ताव को कार्यान्वित कराने के लिए जब राष्ट्रसंघ के महासचिव

यू थान्ट भारत और पाक्स्तिान के लिए रवाना हुए तो सोवियत संघ ने महासचिव के शान्तिमिशन का जोरदार शब्दों में समर्थन किया। इसी समय ईरान और तुर्की की सरकार तथा इंडोनेशिया ने पाकिस्तान का समर्थन किया और पाकिस्तान को सैनिक सहायता भेजने का आश्वासन दिया। 16 सितम्बर को चीन एक कदम और आगे बढ़ गया और भारत को अल्टिमेटम दे दिया। सोवियत सरकार ने इन विदेशी शक्तियों को चेतावनी दी कि भारत और पाकिस्तान के मामले में हस्तक्षेप करके स्थिति को और बिगाड़ने का प्रयास नहीं करें। सोवियत संघ के इस कदम रुख ने इन देशों को बाध्य किया कि वे भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की सहायता नहीं करें।

यू थान्ट के शान्ति मिशन की विफलता के बाद सोवियत संघ बहुत चिन्तित हो उठा। 18 सितम्बर को प्रधान मन्त्री कोसिजिन का एक दूसरा पत्र भारत और पाकिस्तान की सरकारों को मिला। पत्र में कहा गया था कि दोनों देश कुछ और अधिक बुद्धिमानी से काम लें और युद्ध बन्द करें। युद्ध से उत्पन्न समस्या को वार्ता द्वारा तय करने के लिए इस बार सोवियत प्रधान मन्त्री ने यह स्पष्ट सुझाव रखा कि उनकी सरकार दोनों पक्षों को अपनी सेवा (Good offices) अर्पित करने के लिए तैयार है। सोवियत संघ प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री तथा राष्ट्रपति अयूब खाँ के बीच समस्या के समाधान के लिए प्रत्यक्ष वार्ता कराने की व्यवस्था कराने को तैयार है और इस तरह की वार्ता यदि दोनों पक्ष चाहें तो सोवियत ताशकन्द में हो सकती है। ताशकन्द सम्मेलन के विचार की उत्पत्ति यहीं से होती है। भारत ने इस प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार कर लिया और कुछ आनाकानी करने के उपरान्त पाकिस्तान ने भी इसे मान लिया। बाद में सुरक्षा परिषद ने 20 सितम्बर को प्रस्ताव पास करके भारत और पाकिस्तान को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया। 23 सितम्बर को युद्ध बन्द हो गया। सोवियत-संघ ने इसका बड़े रूप के साथ स्वागत किया।

ताशकन्द सम्मेलन—23 नवम्बर को प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने राज्य सभा में कहा कि सोवियत सरकार से उन्हें पुन: एक पत्र प्राप्त हुआ है जिसमें प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने सुझाव रखा है कि ताशकन्द में भारत और पाकिस्तान के नेताओं का सम्मेलन अब शीघ्र होना चाहिए। 2 दिसम्बर को भारत में सोवियत राजदूत ने प्रधान मन्त्री से मुलाकात करके सम्मेलन की योजना पर विचार विमर्श किया। उन्होंने बताया कि जनवरी 1960 के प्रथम सप्ताह में यह सम्मेलन प्रारम्भ हो और युद्ध विराम रेखा को दृढ़ करने युद्ध विराम के उल्लंघन को बन्द करने तथा भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में सुधार करने की समस्या पर इस सम्मेलन में विचार हो। उन्होंने यह भी कहा कि स्वयं प्रधान मन्त्री कोसिजिन दोनों पक्षों को सलाह मशविरा देने के लिए ताशकन्द में मौजूद रहेंगे। 8 दिसम्बर को यह घोषणा की गयी कि ताशकन्द में भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति के बीच 4 जनवरी से सम्मेलन प्रारम्भ होगा।

4 जनवरी 1966 को ताशकन्द के दूरमिय भवन में जिसका अब तत्समता भवन है भारत के प्रधान मन्त्री पाकिस्तान के राष्ट्रपति और सोवियत प्रधान

में ताशकन्द शिखर-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। संसार में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति था जिसने यह आशा की थी कि ताशकन्द सम्मेलन सफल होगा। यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व पाकिस्तान के राष्ट्रपति कह चुके थे कि कश्मीर के बिना भारत के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करेंगे। भारत के प्रधान मन्त्री ने भी कहा कि वे कश्मीर के प्रश्न पर किसी तरह की बात नहीं करेंगे। सोवियत संघ में भी समझौते के प्रश्न पर सन्देह प्रकट किया गया। तास ने अपने विशेष समाचार में कहा कि दोनों देशों के विवादों को जो लगभग बीस वर्षों से विग्रह की स्थिति में हैं, सुलझाना आसान काम नहीं है। फिर भी सम्मेलन शुरू होने के पहले प्रधान मन्त्री कोसिगिन ने कहा कि हम को जनता को आशा है कि यह वार्ता सफल होगी। सोवियत विदेश मन्त्रालय के एक प्रवक्ता ने कहा कि ताशकन्द का वायुमण्डल आशाप्रद है और उसमें फलदायक परिणामों की आशा की जा सकती है।

पाँच दिनों की वार्ता के बाद यह स्पष्ट होने लगा कि सम्मेलन किसी हालत में सफल नहीं हो सकता। पाकिस्तान कश्मीर का प्रश्न उठाने की जिद पर डटा हुआ था और भारत वार्ता करने से इन्कार कर रहा था। भारत का कहना था कि दोनों देशों को युद्ध नहीं करने की घोषणा करनी चाहिए। पाकिस्तान इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं था। इस हालत में जैसे जैसे ताशकन्द वार्ता का अन्त करीब आता गया वैसे वैसे भारत पाकिस्तान में समझौते की आशा समाप्त होती गई। 9 जनवरी को एक पाकिस्तानी प्रवक्ता ने पत्र प्रतिनिधियों के सामने यह घोषित कर दिया कि पाकिस्तान को भारत का युद्ध नहीं करने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं है। पाकिस्तानी प्रवक्ता ने कहा कि जबतक कश्मीर के प्रति पाकिस्तानी दावे का निबटारा नहीं हो जाता या इस दावे को निबटाने के लिए कोई व्यवस्था नहीं कर ली जाती भारत पाकिस्तान के बीच युद्ध नहीं करने का कोई समझौता नहीं होगा। पाकिस्तानी प्रवक्ता के कथन के बाद अपने प्रेस-सम्मेलन में भारत के विदेश मन्त्रालय के सचिव श्री सी० एस० झा ने पाकिस्तान द्वारा भारतीय प्रस्ताव के ठुकराए जाने की पुष्टि की और कहा कि दोनों पक्षों की स्थिति एक दूसरे से काफी दूर है। उन्होंने कहा कि वार्ता में बहुत कम प्रगति हुई है।

सोवियत राजनय का जादू—11 जनवरी 1966 की सुबह यह प्रायः निश्चय हो गया था कि ताशकन्द वार्ता असफल हो गयी और सम्भवतः सम्मेलन के अन्त पर संयुक्त विज्ञप्ति को निकालना भी कठिन है। लेकिन सोवियत राजनय अत्यन्त सक्रिय था। ताशकन्द में सोवियत संघ के शीर्ष नेता मौजूद थे और 10 जनवरी को उनके अथक प्रयास के फलस्वरूप गतिरोध टूट गया और चार बजे संध्या को यह संकेत मिलने लगा कि भारत और पाकिस्तान में किसी तरह का समझौता हो जायगा। नौ बजे रात को वार्ताओं की गेस्टहाउस के बीच राष्ट्रपति अयूब खाँ तथा प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने प्रधान मन्त्री कोसिगिन की उपस्थिति में एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। जो बात केवल बारह घंटे पूर्व असम्भव प्रतीत होती थी उसको सोवियत राजनय के जादू ने सम्भव बना दिया। ताशकन्द वार्ता की सफलता केवल प्रधान मन्त्री कोसिगिन की सफलता ही नहीं वरन् सोवियत

कुछ वर्षों म सोवियत राजनय की सबसे महान सफलता थी।[1]

सोवियत राजनयिक सफलता के कारण—सभी भविष्यवाणियों के बाव जूद ताशकन्द सम्मेलन सफल हुआ इसका प्रमुख कारण है सोवियत राजनय की ईमानदारी और निष्पक्षता। यह सत्य है जैसा कि सोवियत पूज नजमी ताश ने कहा था कि यह बात हम भली भाँति जानते हैं कि भारत और पाकिस्तान म शत्रुता का बीज उपनिवेशवादियों द्वारा बोया गया है जो दोनों देशों की जनता को शान्ति और मत्रीपूर्ण वातावरण में रहने नहीं दे रहे हैं। सोवियत राजनय म इस तरह का कोई स्वार्थ नहीं था। उसने एक निष्पक्ष वातावरण म दोनों देशों के कर्णधारों को मिलाया और समझौता कराने म उनकी सहायता की जिसमें स्वार्थ की भावना का सर्वथा अभाव था। सोवियत नेताओं के सहानुभूतिपूर्ण आचरण तथा सद्भावना से सम्मेलन को सफल बनाने म सफलता मिली।

सोवियत राजनय की सफलता का एक और कारण था और यह कारण भौगोलिक था। सोवियत संघ यूरोप के साथ साथ एशिया का भी एक देश है और एशिया मे शान्ति बनी रहे यह उसके हक म भी अच्छा है। अतएव सोवियत नेताओं के साथ एशिया म शान्ति बनाये रखने के इच्छुक थे। इस प्रकार का कार्य ईमानदारी के साथ किया जाय तो उसम सफलता का मिलना अवश्यम्भावी होता है।[2]

1 Th agreem nt hich Prime M nister Shastr and President Ayub Khan signed at Tashkent on January 11 is not a tr umph of Indian diplomacy It i also not tr umph of Pakistani d plomacy It i an outstanding triumph of Soviet diplomacy At Tashkent the S iet Union em rged as a major factor in Asian affairs t pushed asid China and kept ff any estern nt rvention In bringing t gether India and Pakistan outside the p le of the ecurity Council the Sov et Union did someth ng hich the security Council c uld n t do and any other B g Power c uld n t have hoped to do For the fir t time over Kashmir India and Pakistan have agreed to ca ry out c rtain bligat ons directly between thems lves and this is the measure of the S t succes

—M Chalpathi Ra *The Ta hke it 1 e nent in The Illust ate l Weekly of India* March 6 1 66 p 15

2 With Tashkent som thing alt gether ne has c me nto the world The Tashkent episode will have an em ti nal mpact on the relationship bet een the three great n ghbours—Ind a *Pakistan and Russia*

Kosyg n as able t do hat n ith r Harold W ls n n r Lyndon Johnson could h e d n Th t is n t b cau e he is cleverer than they but in the la t analys s becau h is nea er

Great Britain in spit of the t s of the c mm alth

पाकिस्तान को सोवियत सैनिक सहायता और भारत—जुलाई 1968 में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निर्णय किया। सोवियत संघ के इस निर्णय की एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि थी।

पाकिस्तान के दृष्टिकोण से ताशकन्द सम्मेलन का एक लाभ यह हुआ कि वह रूस के बहुत अधिक नजदीक पहुँच गया जिसके लिए पाकिस्तान का राजनय वर्षों से सक्रिय थी। ताशकन्द सम्मेलन से पाकिस्तान को प्रोत्साहन मिला और उसने रूस से शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के लिए 1966 में अपना सैनिक मिशन जनरल नूर खाँ के नेतृत्व में मास्को भेजा। यह मिशन खाली हाथ पाकिस्तान लौट आया। यह ठीक है कि उस समय रूस ने पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र देने से इन्कार कर दिया लेकिन *वार्ता के दौरान रूसी नेताओं के रुख से स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तान को सोवियत* सैनिक सहायता मिल सकती है। दिसम्बर 1967 में यह संकेत मिलने लगा कि निकट भविष्य में पाकिस्तान को सोवियत संघ से शस्त्रास्त्र मिल सकते हैं। भारतीय नेताओं ने शस्त्रास्त्र मिलने की सम्भावना मात्र को लेकर सोवियत संघ से विरोध करना उचित नहीं समझा। *अप्रैल 1968 में प्रधान मन्त्री कोसिजिन पाकिस्तान पहुँचे। उनके करांची पहुँचने के पहले ही राष्ट्रपति अयूब ने अमेरिका को पेशावर अड्डा खाली करने को नोटिस दे दी थी।* यह इस बात का संकेत था कि पाकिस्तान किसी कीमत पर रूसी शस्त्रास्त्र प्राप्त करने के लिए दृढ़संकल्प है। कोसिजिन की पाकिस्तान यात्रा समाप्त होने के कुछ ही दिनों बाद यह स्पष्ट हो गया कि पाकिस्तान को शीघ्र ही रूस से शस्त्रास्त्र मिलने लगेंगे।

10 जुलाई 1968 को जब यह घोषणा हुई कि सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैनिक साजो सामान देने का निश्चय कर लिया है तो पूरे भारत के राजनीतिक क्षेत्र में एक तहलका मच गया। लोगों ने कहा कि सोवियत संघ का यह फैसला भारत की विदेश नीति के मुँह पर करारा तमाचा है। सोवियत संघ के इस निर्णय को भारत-रूस सम्बन्धों के इतिहास की सबसे बड़ी घटना मानी गयी। प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि पाकिस्तान इन हथियारों का इस्तेमाल भारत के खिलाफ करेगा। पहले भी ऐसा हुआ है कि जब पाकिस्तान *को अमरिका से फौजी सहायता मिली तब उसने उस सहायता का उपयोग भारत के* विरुद्ध किया। 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर अमरीकी हथियारों के बल पर ही आक्रमण किया था। भारत-पाक युद्ध के दौरान में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि अगर पाकिस्तान को अमरीकी सहायता नहीं मिली रहती तो वह हमले की हिम्मत नहीं करता।

भारत के अन्य क्षेत्रों में भी इसी तरह की शंका व्यक्त की गयी। कहा गया कि यह सोचने की बात है कि पाकिस्तान को रूस से जो हथियार प्राप्त होंगे, उनका उपयोग वह किसके विरुद्ध करेगा। क्या चीन के विरुद्ध? क्या सोवियत नेता इतने भोले हैं कि वे यह नहीं जानते कि पाकिस्तान की एकमात्र लड़ाई भारत से है और यदि कभी भी ये हथियार काम में आये तो भारत के विरुद्ध ही काम में आयेंगे। तब फिर सोवियत संघ ने पाकिस्तान को फौजी मदद देने का निर्णय क्यों किया?

पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने से भारत के प्रति सोवियत दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं आया और भारत के प्रति उसकी मित्रता की भावना पहले की तरह सुदृढ़ बनी रही। इस बात का एक प्रमाण तब मिला जब भारत के राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन की मृत्यु (3 मई 1969) के समय सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिजिन स्वयं भारत आये। स्वयं प्रधान मन्त्री के आने का अर्थ यह था कि सोवियत संघ भारत की भावनाओं का बहुत कद्र करता है। साथ ही कोसिजिन का उद्देश्य उन भ्रान्तियों को दूर करना भी था जो पाकिस्तान को रूसी सैनिक सहायता देने के निर्णय से पैदा हुआ था। अपने अल्पकालीन दिल्ली प्रवास के समय प्रधान मन्त्री कोसिजिन ने बताया कि भारत और सोवियत संघ के सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं। साथ ही उन्होंने कहा कि इन सम्बन्धों पर किसी भी प्रकार की छाया पड़े ऐसा कोई भी बात नहीं होगी। भारत के राष्ट्रीय हित पर किसी का भी आक्रमण हो तो हम मदद करेंगे। हम दोनों का मैत्री सम्बन्ध शान्ति कायम का लक्ष्य दृढ़ है और आगे भी अधिक दृढ़ रहेगा।

चेकोस्लोवाकिया की घटना और भारत सोवियत सम्बन्ध—1960 तक साम्यवादी जगत में अटूट और सुदृढ़ एकता थी। यूगोस्लाविया को छोड़कर सभी साम्यवादी देश सोवियत संघ के नेतृत्व को मानते थे। किन्तु 1960 से साम्यवादी जगत में उग्र मतभेद उत्पन्न होने लगे। इसका प्रारम्भ सोवियत संघ और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद से शुरू हुआ। 1967 के प्रारम्भ में चेकोस्लोवाकिया में भी कुछ नयी प्रवृत्तियों का समावेश होने लगा और वहाँ उदारवाद के नाम पर कुछ ऐसे सुधार लागू किये गये जो साम्यवादी व्यवस्था से मेल नहीं खाते थे। सोवियत संघ ने पहले इसका विरोध किया और चेक नेताओं पर दबाव डाला कि वे कोई ऐसा काम न करें जिससे साम्यवादी व्यवस्था पर खतरा उत्पन्न हो जाय। चेक नेताओं ने पहले टालम टोल की नीति अपनायी। फलतः समाजवाद विरोधी देशी तथा विदेशी तत्व अत्यन्त सक्रिय हो उठे। ऐसे तत्वों को कुचलने के लिए चेकोस्लोवाकिया की सरकार यथेष्ट रूप से सक्षम नहीं थी लेकिन उन्हें विदेशी सहायता (विशेषतः पश्चिम जर्मनी की सहायता) मिलने लगी थी। पश्चिम जर्मनी के समाचार पत्रों में चेकोस्लोवाकिया के तटस्थीकरण की चर्चा भी की गयी।

But to make this the touchstone of Indo-Soviet relations as appears to be the tendency in certain political quarters would be to reduce all diplomacy to simple bilateral equations which would be thoroughly unrealistic. Any exaggerated dismay over Soviet attitude would be as unwarranted as the earlier exuberance over Moscow's stance. The Soviet Union's relations with Pakistan are governed by its global interests and dictated by its obvious desire to wean away Pakistan from China and the West. This need not mean any real diminuation in Soviet interests in India and hasty conclusions might only inhabit the country's diplomacy for no tangible return. —*Hindustan Times*, May 8, 1969

पूर्वी यूरोप की सुरक्षा के दृष्टिकोण से चेकोस्लोवाकिया का एक महत्त्वपूर्ण सामरिक महत्त्व है और चेकोस्लोवाकिया के बिना वारसा पैक्ट का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता है। चेकोस्लोवाकिया को जीतने के बाद हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण किया था। इस तथ्य को ध्यान में रखकर पश्चिम जर्मनी के षड्यन्त्रों में मुँह नहीं फेरा जा सकता था। यह ठीक है कि तत्काल पश्चिम जर्मनी की ओर से आक्रमण का खतरा नहीं था लेकिन उसके प्रोत्साहन से चेकोस्लोवाकिया में समाजवाद विरोधी तत्त्वों के हौसले बढ़ते जा रहे थे। इस हालत में सोवियत संघ और वारसा पैक्ट के अन्य राष्ट्रों के समक्ष दो ही रास्ते थे—तुरन्त कोई कारवाई करके इन विरोधी तत्त्वों का सफाया कर दिया जाय अथवा कुछ समय और रुका जाय। वारसा पैक्ट के राष्ट्रों ने प्रथम उपाय का अवलम्बन करना ही उचित समझा।

सोवियत हस्तक्षेप —वारसा सन्धि के पाँच सदस्य देशों—सोवियत संघ, हंगरी, पोलैंड, पूर्वी जर्मनी और बुल्गेरिया ने 14-15 जुलाई के वारसा सम्मेलन के बाद एक संयुक्त पत्र चेकोस्लोवाकिया को भेजा। पत्र में चेकोस्लोवाकिया की नयी सरकार पर 'प्रतिक्रियावादी' और समाजवादी व्यवस्था को खतरा पैदा करने वाली होने का आरोप लगाते हुए चेक नेताओं को यह चेतावनी दी गयी कि यदि उन्होंने अपना रवैया नहीं बदला तो उनके विरुद्ध कठोर कारवाई की जायगी। पत्र में कहा गया था "हम यह कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि साम्राज्यवाद समाजवादी व्यवस्था में सेंध पैदा करे और यूरोप में शक्ति सन्तुलन अपने पक्ष में कर ले—चाहे यह काम शान्तिपूर्ण अथवा अशान्तिपूर्ण उपायों से किया जाय फिर चाहे यह भीतर से हो या बाहर से।"

वारसा सन्धि के इस संयुक्त पत्र की चेकोस्लोवाकिया में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। चेकोस्लोवाकिया कम्युनिस्ट पार्टी ने पत्र में लगाये गये आरोपों का खण्डन किया और यह इच्छा व्यक्त की कि समस्या के समाधान के लिए रूस तथा अन्य कम्युनिस्ट पार्टियों से सीधी द्विपक्षीय वार्ता होनी चाहिए। चेकोस्लोवाकिया कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष मण्डल ने संयुक्त पत्र के उत्तर में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि चेकोस्लोवाकिया की स्थिति और पार्टी के उद्देश्यों को इतना गलत समझा गया।

इन पत्रों के आदान-प्रदान के बाद साम्यवादी जगत में घटनाएँ तीव्र गति से घटने लगीं और 21 अगस्त 1968 को सोवियत संघ तथा वारसा सन्धि के देशों की सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया में घुस कर उसके बड़े नगरों पर कब्जा कर लिया। इन सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया की राष्ट्रीय असेम्बली के 166 सदस्यों को घेर लिया और चेक कम्युनिस्ट पार्टी के नेता दुबचेक को गिरफ्तार कर लिया। इसी बीच सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया में पश्चिम जर्मनी के एजेन्ट सक्रिय हो गये जिन्होंने देश के भीतर कई स्वतन्त्र चेक रेडियो की स्थापना कर ली। इन रेडियो स्टेशनों ने सोवियत और साम्यवाद विरोधी प्रचार बड़े धड़ल्ले से होने लगा। पर कुछ ही घण्टों में सम्पूर्ण चेकोस्लोवाकिया रूसी टैंकरों के कब्जे में आ गया। सोवियत आधिपत्य के विरुद्ध प्राग में हड़ताल हुई और चेक नागरिकों ने क्षमा हुआरो

विदेश नीति का एक अहम अंग हो गया। सोवियत संघ ने पाकिस्तान को न केवल हथियार दिये बल्कि पाकिस्तान के नेताओं से सैनिक समस्याओं पर कई बार बातचीत की।

भारत सरकार ने सोवियत दृष्टिकोण के नेताओं पर अपना विरोध प्रकट किया। अक्टूबर 1970 में राष्ट्रपति वी वी गिरि ने सोवियत संघ की यात्रा की और वार्ता के दौरान सोवियत नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट कराया। इन छोटे मोटे मतभेदों के बावजूद सोवियत संघ और भारत की मैत्री में लेशमात्र भी कमी नहीं आयी है।

भारत सोवियत संधि

भारत और सोवियत संघ की संधि—अगस्त 1971 में भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में नाटकीय घटनाएं घटीं और एकाएक राजनयिक स्तर पर सरगर्मी आ गयी। 3 अगस्त को मास्को स्थित भूतपूर्व भारतीय राजदूत श्री डी पी धर बड़े ही गोपनीय ढंग से मास्को पहुँचे और सोवियत नेताओं से गुप्त वार्ताएं कीं। इसके बाद ही यह घोषणा की गयी कि सोवियत विदेश मंत्री ए ए ग्रोमिको 8 अगस्त को भारत पहुँचेंगे। ग्रोमिको की भारत यात्रा को राजनयिक क्षेत्र में बड़ा महत्त्व दिया गया और ऐसी आशा की गयी कि इस यात्रा का कोई बड़ा ही निर्णायक परिणाम निकलेगा। इस बीच भारत और सोवियत संघ के बीच होनेवाली संधि का प्रारूप तैयार हो चुका था। ग्रोमिको के भारत आगमन का मुख्य उद्देश्य इस संधि पर हस्ताक्षर करना था। यह सारा काम इतना गोपनीय ढंग से हुआ कि किसी को थोड़ा भी इसका आभास नहीं मिल पाया। केवल अटकलबाजियों का बाजार ही गर्म रहा। यह कहा जाता रहा कि भारत के लिए इस संकट के समय ग्रोमिको सोवियत संघ की ओर से हमारे साथ एकजुटता प्रदर्शित करने आये हैं।

भारत पहुँचने पर ग्रोमिको का बड़ा भव्य स्वागत हुआ और वे शीघ्र ही भारतीय विदेश मन्त्री से मन्त्रणा करने में संलग्न हो गये तथा 9 अगस्त को सबेरे भारत और सोवियत संघ के बीच शान्ति मित्रता और सहयोग की संधि पर हस्ताक्षर हो गये। संधि की घोषणा अत्यन्त नाटकीय ढंग से हुई। सबेरे नौ बजे प्रधानमन्त्री ने मन्त्रिमण्डल की विशेष बैठक बुलायी और उसमें इस संधि पर औपचारिक स्वीकृति दी। फिर भारत की ओर से सरदार स्वर्ण सिंह ने और सोवियत संघ की ओर से श्री ग्रोमिको ने संधि पर हस्ताक्षर किये। प्रधानमन्त्री ने संसद में विरोधी दलों के नेताओं की बैठक बुलाकर संधि के बारे में उन्हें बताया। बाद में सरदार स्वर्ण सिंह ने संसद के दोनों सदनों में तालियों की गड़गड़ाहट के बीच संधि की प्रतियाँ पेश कर दीं।

सोवियत विदेशमन्त्री श्री ग्रोमिको की दिल्ली यात्रा का यह नाटकीय परिणाम भारत की विदेश नीति में महत्त्वपूर्ण मोड़ का सूचक था। यह पहला अवसर था जबकि भारत एक बड़े राष्ट्र के साथ ऐसी संधि में शरीक हुआ जिसका सैनिक और रक्षा के मामलों में विशेष महत्त्व है।

संधि की सबसे प्रमुख धारा यह है कि दोनों में से किसी देश पर हमला

होने या हमले का खतरा होने पर दोनों देश शीघ्र ही परस्पर विचार विमर्श करेंगे ताकि एस खतरे का समाप्त किया जाय और दोनों देशों की शान्ति तथा सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए समुचित प्रभावकारी कदम उठाये जाये। इसका अर्थ यह है कि यदि पाकिस्तान या चीन न या दोनों ने मिलकर भारत पर हमला किया तो सोवियत संघ हमारी सुरक्षा के लिए प्रभावकारी कदम उठायेगा। संधि के अनुसार दोनों देश एक दूसरे पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं करेंगे। एक दूसरे के खिलाफ किसी सैनिक गठबन्धन में शामिल नहीं होंगे तथा दोनों देशों में किसी पर हमला करने वाले तीसरे देश को किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे। संधि के अनुसार भारत और सोवियत संघ इस बात के लिए भी राजी हुए कि वे अपने क्षेत्र में किसी प्रकार के ऐसे काम को नहीं होने देंगे जिससे दूसरे पक्ष को सैनिक क्षति होने की आशंका हो।

हमलावर देशों के इरादों पर बिजली गिरानेवाला इस संधि में सैनिक सहयोग की अनेक धारायें हैं यद्यपि इसे सैनिक संधि या रक्षा संधि नहीं कहा गया है। इसके अनुसार यद्यपि यह स्पष्ट रूप से तो नहीं कहा गया है कि एक देश पर हमला दूसरे देश पर भी हमला माना जायगा परन्तु समझौते की इस भावना के बजाय उसकी भावना यही है। संधि में दोनों देशों के बीच आर्थिक वैज्ञानिक तकनीकी तथा सांस्कृतिक सहयोग लगातार सुदृढ़ करने का दृढ़ निश्चय प्रकट किया गया।

छह पृष्ठों की इस संधि में पहला पृष्ठ प्रस्तावना का है जिसमें दोनों देशों की शान्ति और सह-अस्तित्व की नीतियों का बखान किया गया है। संधि में कुल बारह धाराएं हैं। एक सप्ताह के भीतर संधि की पुष्टि दोनों देशों ने कर दी और दस्तावेजों का आदान प्रदान करके यह लागू कर दी गयी। आरम्भ में संधि बीस साल के लिए है लेकिन कोई भी पक्ष संधि की अवधि समाप्त होने से बारह महीने पहले इस खत्म करने की नोटिस दे सकता है। ऐसी नोटिस न दिये जाने पर संधि की अवधि स्वतः हर बार पाँच साल के लिए बढ़ जायगी। इसका अर्थ यह है कि यह संधि हमेशा हमेशा चल सकती है।

प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने विरोधी दलों के नेताओं की बैठक में इस संधि की सूचना देते समय बताया था कि यह सैनिक संधि नहीं वरन् मैत्री संधि है। संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद पत्रकारों को सोवियत विदेशमंत्री श्री ग्रोमिको ने बताया कि यह संधि अत्यन्त महत्वपूर्ण है और सोवियत संघ इस संधि को बहुत अच्छा मानता है। राज्यसभा में संधि की एक प्रति पेश करते हुए सरदार स्वर्ण सिंह ने कहा कि यह संधि केवल हमारे दोनों देशों के बीच ही नहीं बल्कि इस समूचे क्षेत्र के लिए शान्ति सुरक्षा और विकास का स्थायित्व देने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस क्षेत्र में इस तरह की संधियाँ होने से यहाँ शान्ति स्थिर होगा तथा इस क्षेत्र के देशों की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता को बल मिलेगा। विदेश मंत्री ने कहा कि यह संधि युद्ध के खिलाफ शान्ति के लिए है और अब हमारी आजादी पर हमला करनेवालों का हिम्मत नहीं होगी। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि

इस संधि से गुट निरपेक्षता की हमारी नीति मजबूत होगी तथा अंतर्राष्ट्रीय तनाव कम करने में सहायता मिलेगी।

सरदार स्वर्ण सिंह ने आश्वासन दिया कि भारत सरकार की शांति नीति आज भी उतनी ही दृढ़ है जितनी कि पहले थी। किसी दूसरे देश के खिलाफ यह संधि नहीं है और न किसी अन्य देश की ओर हमारी निगाह है लेकिन इसके साथ हम किसी देश के आक्रमण की धमकी को बरदाश्त नहीं करेंगे।

संधि के उपलक्ष में रात्रि में सरदार स्वर्ण सिंह ने श्री ग्रोमिको को दावत दी जिसमें भारत तथा सोवियत संघ की शान्ति मैत्री के जाम पीये गये। इस अवसर पर ग्रोमिको ने कहा कि भारत और सोवियत संघ के बीच यह मैत्री संधि हमारे पिछले पच्चीस वर्षों के प्रयास की चरम परिणति है और इससे विश्व शांति का आधार मजबूत होगा। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यह संधि किसी देश के विरुद्ध नहीं है।

संधि का स्वरूप

यह कोई सैनिक गुटबन्दी नहीं है—सोवियत संघ और भारत की यह संधि किसी भी दृष्टिकोण से एक सैनिक गुटबन्दी की संधि नहीं कही जा सकती। भारत के विदेश मन्त्री ने यह दावा किया कि भारत अपनी नीति का परित्याग कर सोवियत सैनिक गुट में शामिल नहीं हुआ है। संधि में यह व्यवस्था नहीं है कि भारत पर हमला सोवियत संघ पर किया गया हमला माना जायगा जैसा कि अमरिका द्वारा की गयी नाटो सिआटो तथा सेंटो सैनिक संधियों में या सोवियत संघ के तत्वावधान में की गयी वारसा संधि में लिखा गया है। इस संधि में तो केवल यह व्यवस्था की गयी है कि दोनों में से किसी पर आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर दोनों पक्ष शीघ्र ही विचार विमर्श करेंगे ताकि खतरे को समाप्त किया जाय और दोनों पक्षों की शांति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए समुचित और प्रभावकारी कदम उठाये जाय। इन शब्दों के जरिये भारत ने किसी भी प्रकार अपने को सोवियत संघ के सैनिक गुट में नहीं बांधा है। इसलिए किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह संधि किसी देश या देश विशेषों के विरुद्ध है। यह तो भारत और सोवियत संघ के मध्य मैत्री सहयोग और शांति की संधि है। इसका एकमात्र उद्देश्य आक्रमण या आक्रमण की आशंका का निवारण है। सोवियत संघ के साथ भारत ने संधि अवश्य की है किन्तु यह युद्ध के विरुद्ध शांति की संधि है। उसका कोई प्रकट सैनिक उद्देश्य नहीं है। सैनिक गुटबन्दी की संज्ञा इसे कदापि नहीं दी जा सकती है। यह सही है कि दोनों में से किसी देश पर किसी तीसरे देश ने आक्रमण किया तो उसके प्रतिकार के लिए वे एक दूसरे की सहायता को तैयार रहेंगे और इस सम्बन्ध में आवश्यक विचार विमर्श करेंगे। किन्तु आप से-आप बिना बुलाये ही मित्र देश की मदद के लिए मैदान में नहीं उतर पड़ेंगे जैसा कि सैनिक गठबन्धनवाली संधि के परिणामस्वरूप होता है।

हमले के खिलाफ गारन्टी—भारत और सोवियत संघ के मध्य की गयी शांति मैत्री और सहयोग की संधि पाकिस्तान के सम्भावित हमलों के खिलाफ एक

होने की स्थिति में दूसरा तत्काल परामर्श और कार्य करता—संधि की यह व्यवस्था पाकिस्तान को भारत पर आक्रमण करने के पहले चीन तथा अमरिका से इजाजत लेने पर मजबूर करता। इस तरह भारत का एक ठोस कार्य हुआ कि वह पाकिस्तान से पाकिस्तान की शर्तों पर युद्ध और अनन्तर अमरिका की शर्तों पर समझौता करने से बच गया। इस प्रकार इस संधि ने भारत के अकेलेपन को दूर कर तथा सुरक्षा प्रदान कर उसमें आत्मविश्वास की भावना का संचार किया। यही कारण है कि देश में लगभग सभी तत्वों द्वारा इस संधि का बेहद स्वागत हुआ। यहाँ तक कि जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी जैसी दक्षिणपंथी पार्टियों ने भी इसका स्वागत किया। सारा वातावरण युद्ध से आतंकित जिस तरह बोझिल था उसमें पाकिस्तान के आक्रामक दिमाग को ठंडा करने का यह उपाय हुआ, देश का पहले चैन की साँस लेना आवश्यक था।

सोवियत भारत मैत्री का एक नया अध्याय—भारत और सोवियत संघ पुराने दोस्त थे और उनकी दोस्ती का इतिहास भी बड़ा शानदार था किन्तु सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको के भारत आगमन के बारह घण्टे बाद ही दोनों देशों के बीच जिस बीस वर्षीय संधि पर हस्ताक्षर हुए उसने इस दोस्ती में एक नयी जिन्दगी का सूत्रपात किया। भारत यह नहीं भूल सकता कि सोवियत संघ ने संकट के समय में उसकी सहायता की। कश्मीर के मामले में आंग्ल-अमरीकी गुट की चालों को अपने वीटो अधिकार का उपयोग करके सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद में असफल किया। रक्षा की आवश्यकता के लिए हमें विमान ही नहीं दिये बल्कि विमान बनाने का कारखाना दे दिया जबकि अमरिका ने हमें विमान देने से इनकार करके पाकिस्तान को बमवर्षक तथा लड़ाकू विमानों के अलावा भारत पर हमले के लिए सभी तरह के हथियारों से लैस किया। जब किसी ने हमें पनडुब्बियाँ नहीं दीं तो सोवियत संघ ने पनडुब्बियाँ दीं। भिलाई और बोकारो में इस्पात कारखाने, भोपाल और हरिद्वार के बिजली के भारी यन्त्रों के कारखाने तथा तेल की खोज और उसे साफ करने के कारखाने देकर सोवियत संघ ने हमें खनिज तेल में स्वावलम्बन पर खड़ा कर दिया और इस दिशा में आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हो रहे।

यह सही है कि 1962 में चीन की सैनिक कार्रवाई की सोवियत संघ ने तुरन्त आलोचना नहीं की लेकिन कुछ देर बाद उसने चीन की निन्दा ही नहीं की भारत को चीन का मुकाबला करने के लिए भारी पैमाने पर हथियार भी दिये।

सोवियत संघ इस झगड़े में फँसना नहीं चाहेगा और इस प्रकार भारत बिल्कुल अकेला पड़ जायगा। परन्तु इस संधि से उसका यह सारा मधुर स्वप्न टूट जायगा। युद्ध की जो धमकियाँ वह आज दे रहा है वह भविष्य में भी दे सकेगा इसकी सम्भावना इससे कम हो जायगी। जब उसे यह पता होगा कि भारत की पीठ पर रूस है तो अमरिका और चीन की मदद मिलने पर भी वह भारत पर आक्रमण करने से पहले सौ बार सोचेगा। कहना न होगा कि सोवियत संघ और भारत के बीच यह संधि एक समय में हो रही है जब इस उपमहाद्वीप में शान्ति की खातिर इसकी बहुत आवश्यकता थी।

आज सोवियत संघ के भारवाहक विमानों से ही लद्दाख के सीमांत पर तैनात भारतीय सैनिकों को रसद मिलती है।

दोनों देशों के सम्बन्धों में थोड़ा सा तनाव तब आया जब 1968 में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को कुछ हथियार बेचने का निश्चय किया था। लेकिन यह तनाव जल्द ही समाप्त भी हो गया क्योंकि सोवियत संघ ने एक साल से भी ज्यादा समय से पाकिस्तान को कोई हथियार नहीं दिए।

बंगला देश के सवाल पर सोवियत संघ का रवैया भारत से लगभग मिलता जुलता रहा। आरम्भ से ही सोवियत संघ ने पाकिस्तान को लिखकर स्पष्ट कर दिया कि वह मानव हत्या समाप्त करके राजनैतिक हल चाहता है। भारत की ओर से भी लगातार राजनैतिक हल की बात कही जाती रही थी।

इस प्रकार 1955 56 से ही भारत और सोवियत संघ में सहयोग चल रहा था। लेकिन इस संधि के सम्पन्न होने के बाद अब यह सहयोग नयी गति से चला। इससे दोनों देश न केवल एशिया और विश्व में शांति स्थापना तथा प्रजातीय एवं उपनिवेशवाद का खत्म करने में पहले से कहीं अधिक सहयोग करेंगे अपितु यह सहयोग शिक्षा संस्कृति तथा व्यापार के क्षेत्र में भी पहले से अधिक विस्तार पा सकेगा। संधि की जो धाराएं हैं उनमें इन बातों का स्पष्ट उल्लेख है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नवीनतम प्रवृत्तियों के उभार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया—जिस नाटकीय तत्परता से संधि सम्पन्न हुई उससे साफ जाहिर है कि चीन-अमरिका मैत्री की सम्भावना से क्रेमलिन और दिल्ली समानतः भयभीत हुए थे। एशिया में दोनों के हित अहित समान थे। अतः भारत सोवियत संधि भारत सोवियत हितसाम्य की औपचारिक पुष्टि और विरोधी हितों के लिए चेतावनी था। *जिस तत्परता से सोवियत संघ ने संधि पर हस्ताक्षर किये उससे यह सिद्ध हो गया* कि वह एशिया की राजनीति में अपना दखल कायम रखने को कृतसंकल्प है और ढील-ढाल नीति बरत कर अंतिम अवसर गवाना उसे सह्य नहीं। अमरिका चीन मेलजोल सोवियत संघ की अदूरदर्शिता और विलम्ब वृत्ति के कारण ही सम्भव हो सका। यदि भूतपूर्व सोवियत प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहावर से शीर्षस्तरीय मंत्रणा करने के बाद वार्तालाप को सोत्साह आगे बढ़ाया होता और यदि सोवियत संघ ने अपने चेकोस्लोवाकिया अभियान के अन्तर्राष्ट्रीय परिणामों का सतर्कतापूर्ण अध्ययन किया होता तो अमरिका सोवियत संघ से विमुख होकर चीन की ओर उन्मुख न हुआ होता।

भारत सोवियत संधि प्रस्तावित चीन अमरीकी प्रेमालाप की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी इसमें सन्देह नहीं। लेकिन इसकी पृष्ठभूमि यहीं तक सीमित नहीं थी। चीन-सोवियत मतभेद हिन्द तथा प्रशान्त महासागर से ब्रिटेन के हटने की प्रक्रिया और वियतनाम-युद्ध के दलदल से किसी तरह छुटकारा पाने की अमरीकी इच्छा के सन्दर्भ में हिन्द महासागर की राजनीति बड़ी दिलचस्प हो गया थी। पश्चिमी एशिया में कम्युनिस्ट विरोधी उथल-पुथल के बाद सोवियत संघ को एशियाई राज

नीति म दखल बनाए रखने के लिए भारत पर आश्रित होना पड गया। ब्रिटेन और अमरिका के हटने स हिंद महासागर और प्रशात महासागर म जो शक्ति न्यनता उत्पन्न हो गयी उससे चीन को सबसे ज्यादा लाभ होगा। भारत और सोवियत सघ दोनो को ही यह गवारा नहीं था। चूकि निकट भविष्य म भारत चीन सम्बन्धो म सुधार की सम्भावना नहीं थी अत सामरिक दष्टि स कमजोर राष्ट्र भारत को भी सोवियत सघ पर आश्रित होना पडा।

एक गर कम्युनिस्ट देश के साथ सोवियत सघ का शान्ति मित्रता और सहयोग की यह दूसरी सधि है। भारत से सधि सम्पन्न करने के पूर्व सोवियत सघ मई 1971 म इसी तरह की एक पन्द्रह वर्षीय सधि सयुक्त अरब गणराज्य स कर चुका है।[1] सयुक्त अरब गणराज्य के साथ सोवियत सघ की सधि समझ मे आ सकती है क्योकि पश्चिम एशिया क सकट म वह अरबो की सहायता क लिए वर्षों स वचनबद्ध था लेकिन भारत के साथ उसका सधि करना राजनय का एक चमत्कार प्रतीत होता था। भारत सोवियत सधि न सयुक्त रा अरब और सारे ससार को चकित कर दिया। पश्चिम एशिया के मध्य मे सोवियत सहायता तथा समर्थन क बावजूद अरबो की हार के कारण सोवियत सहायता की साख को काफी आघात लग चुका था। क्यूबा और पश्चिम एशिया म पराजय के बाद सोवियत सघ के चिन्तन म परिवर्तन हुआ जिसका प्रतिफलन भारत-सोवियत सधि म हुआ। अब सोवियत सघ मात्र सहायता और समर्थन तक सीमित नहीं रहना चाहता था क्योकि भारत एशिया म उसका अतिम दुर्ग है जिसे गवाना उसे गवारा नहीं था। भारत सोवियत सघ की एशियाई राजनीति का सवप्रथम उपकरण था और भारत का भी सोवियत सघ को भारी जरूरत थी। दोनों के हित परस्पर अभिन्न और भारत सोवियत सधि इसकी औपचारिक किन्तु अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति थी। चीन अमरिका मित्राप क म भ म पूर्वी यूरोप क कम्युनिस्ट रा य भी चाहत थ कि सोवियत सघ इस नवीनतम अ तर्राष्ट्रीय घटना का मुकाबला करने क लिए कोई राजनयिक कदम उठाए। भारत सोवियत सधि वारसा सधि के देशो की अभिलाषा का भी एक प्रतिफल माना जा सकता है।[2] एशिया म एशियाइयो को आपस म लडाने की ओर एशिया म सोवियत सघ और चीन भी शामिल है नया अमरिका पहल का यह सोवियत जवाब था।

एक ओर इस सधि स भारत का लाभ हुआ तो दूसरी ओर सोवियत सघ

1 भारत क लिए भी शान्ति मित्रता और सहयोग की यह दूसरी सधि है। इसक पूर्व 1951 म नपाल क साथ भारत की एक सधि हुई थी। पर उसका दायरा सीमित था

2 I r tl S v et bloc countries the treaty is a d pl matic rip st n the r global strat gy aga nst China Outdon by Wa hit t l st month the S viet bl c countries have been search i g f r a b vi t Asia i itiative to c unter tl e an n unce ment of th j l i f the U S President to visit Peking

—*The I i lian Express* August 10 1971

का भी कम लाभ नहीं हुआ। सोवियत संघ कुछ समय से चीन से टकराव के डर से चिन्तित था और राष्ट्रपति निक्सन की प्रस्तावित पीकिंग यात्रा से तो सोवियत संघ और भी ज्यादा इस बारे में चिन्तित हुआ। इस संधि के अनुसार सोवियत संघ और चीन के बीच संघर्ष के समय भारत मास्को के साथ होगा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम चीन से लड़ने को सोवियत संघ की ओर से अपनी सेना भेज देंगे। केवल इस संधि से ही चीन को यह भय रहेगा कि यदि वह सोवियत संघ के साथ युद्ध में फँसा तो भारत भी दक्षिण की ओर से उसका मुकाबला कर सकता है। इस प्रकार चीन दक्षिण की ओर से अपनी सारी सेना हटा कर सोवियत संघ के खिलाफ नहीं लगा पायेगा।

चीन अमरिका के प्रमालाप से तुलना—बीसवीं शताब्दी के इस आठवें दशक के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नया शृंखला शुरू हुई जिसके दूरगामी परिणाम आंकना आसान नहीं। केवल एक महीने के भीतर ऐतिहासिक महत्त्व की दो घटनाएँ घटीं। एक तो अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन को पीकिंग में निमंत्रण और दूसरे भारत तथा सोवियत संघ के बीच शांति मैत्री और सहयोग की यह बीस वर्षीय संधि। दोनों युगान्तरकारी घटनाएँ थीं जिनके परिणामस्वरूप विश्व राजनीति एक नया रूप ग्रहण करने लगी। लेकिन इन दोनों घटनाओं की उत्पत्ति के स्वरूप तथा सम्भावनाओं में बड़ा अन्तर था। पहले मामले (निक्सन की प्रस्तावित चीन यात्रा) में बीस वर्ष से लड़ते आ रहे दो प्रचंड शत्रु थक चुके थे और नये दाँव-पेंच की तलाश में साँस लेने के लिए परिस्थितियाँ हाथ मिलाने को मजबूर हुए थे। लेकिन भारत सोवियत संधि में क्रमशः विकसित बीसवर्षीय मैत्री का स्वाभाविक सम्पन्न हुआ।

चीन और अमेरिका के नेता उन उद्देश्यों अथवा संकल्पों से प्रेरित नहीं हुए जो भारत-सोवियत मैत्री संधि में निहित थे। चीन और अमरिका के नेताओं में विचारों की धारणाओं की और दीर्घकालीन उद्देश्यों की बहुत बड़ी खाई थी जिसे वे केवल राजनय से पाट नहीं सकते थे। दोनों सोवियत संघ को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते थे और उसको नीचा दिखाने का प्रयास करते थे। दूसरी ओर भारत और सोवियत संघ के बीच ऐसी शत्रुता या वैमनस्य की पृष्ठभूमि नहीं थी। भारत और सोवियत संघ के बीच विकसित राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग दोनों देशों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। राजनयिक स्तर से देखने में एक स्वाभाविक लगता है तो दूसरे में कृत्रिमता का अंश बहुत ज्यादा प्रतीत होता है। एक दो देशों की मित्रता की परम्परा की चरम परिणति थी तो दूसरा उन अमुक्कर परिस्थितियों का तार्किक परिणाम था जिन पर न अमरिका का वश था और न चीन का। मेल मिलाप करने के लिए चीन और अमरिका बाध्य हुए लेकिन भारत सोवियत संधि स्वाभाविक रूप से विकसित हुई। यह केवल तात्कालिक उलझनों से निपटने के प्रयास का फल नहीं क्योंकि इसकी उत्पत्ति आज से लगभग दो वर्ष पहले हो चुकी थी।

संधि की उत्पत्ति—संधि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बोलते हुए सरदार स्वर्ण सिंह ने बतलाया कि इसके लिए वार्ताएं दो वर्ष पहले से ही चल रही थीं। केवल यही तथ्य कि संधि का मसविदा तीन भाषाओं—हिन्दी, रूसी और अंग्रेजी में तैयार था और तीनों प्रतियों पर हस्ताक्षर किये गये, इस बात की ओर संकेत करता है कि संधि पर काफी समय से विचार विमर्श हो रहा था। वस्तुतः संधि प्रस्ताव का मसविदा पिछले दो वर्षों से तैयार पड़ा था लेकिन इस पर हस्ताक्षर करने से भारत कतराता था। सरदार स्वर्ण सिंह का यह दावा भी बिल्कुल ठीक था कि संधि होने और संधि से पहले हुई वार्ता को पूरी तरह गोपनीय रखा गया था। इस गुप्त रखने का कारण यह था कि श्रीमती गांधी ने इस मामले में ठीक वैसी ही सतर्कता बरती थी जैसी कि राष्ट्रपति निक्सन ने किसिंजर की पीकिंग यात्रा को एकदम गोपनीय बनाकर बरती थी। यह आवश्यक भी था। यदि संसार को इसका पूर्वाभास होता तो सम्भव था कि सोवियत तथा भारत विरोधी तत्व अत्यन्त सक्रिय हो जाते और संधि के मार्ग में रोड़े अटकाने से बाज नहीं आते। इसके अतिरिक्त ऐसी नाजुक संधियाँ विशेष प्रकार की मर्यादित राजनयिक वार्तालाप और पत्राचार की अपेक्षा रखती हैं।

1969 के आरम्भ में चीन और सोवियत संघ के बीच सीमा विवाद ने योग्य गम्भीर रूप धारण कर लिया जब कि मार्च में उसूरी नदी के टापू दमिस्की को लेकर दोनों में एक मामूली सैनिक भिड़न्त हो गयी। यह घटना सोवियत संघ के लिए एक चेतावनी थी। सोवियत संघ ने महसूस किया कि चीन के साथ उसका झगड़ा सैद्धान्तिक स्तर तक ही सीमित नहीं रह गया है इसकी परिणति दोनों के मध्य प्रत्यक्ष टकराव में भी हो सकती है। इस सम्भावना के विरुद्ध उपाय करने के लिए सोवियत राजनय सक्रिय हो गया। संधि वार्ता आज से दो वर्षों से भी अधिक समय पहले उस समय शुरू हुई थी जब राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए 6 मई 1969 को सोवियत प्रधान मंत्री कोसिजिन स्वयं नयी दिल्ली आये थे। उस समय इस बात पर अत्यधिक आश्चर्य व्यक्त किया गया था कि दोनों प्रधान मंत्रियों की उस वार्ता के दौरान वहाँ कोई भी भारतीय दुभाषिया मौजूद नहीं था। अब यह मानकर चला जा सकता है कि उस समय ऐसा सिर्फ इसलिए किया गया था कि उस नाजुक वार्ता के सम्बन्ध में किसी बात का पता बाहर न चल जाय। सम्भवतः इसी वार्ता में प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी सोवियत संघ के साथ एक संधि के लिए तैयार हो गयीं। 5 जून 1969 को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी लियोनिड ब्रेजनेव ने एशिया ई देशों से सामूहिक सुरक्षा के लिए एक संगठन कायम करने का प्रस्ताव रखा। चीन की ओर से आनेवाले खतरों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि एशियाई देशों को मिलजुल कर अपनी सुरक्षा की कड़ियों को मजबूत करना चाहिए। जून में सुप्रिम सोवियत में बोलते हुए सोवियत विदेश मंत्री ने पुनः इस प्रस्ताव को दुहराया। लेकिन सोवियत संघ के इस प्रस्ताव पर किसी एशियाई देश ने ध्यान नहीं दिया। भारत ने इस पर कभी भी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया।

पर भारत के साथ भी चीन का सीमा विवाद था जिसको लेकर भारत और चीन के बीच 1962 में युद्ध हो चुका था। चूंकि इस मामले में भारत और सोवियत संघ के हित समान थे अतः सोवियत संघ ने भारत के साथ एक सुरक्षा संधि का प्रस्ताव रखा। सोवियत सेनाध्यक्ष मार्शल ग्रेचको को सुरक्षा संधि के मसविदे के साथ फौरन भारत भेजा गया। भारत सरकार की सोवियत संघ के प्रति पूरी सहानुभूति थी और एक समय भारत सरकार इस संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार भी हो गयी थी। लेकिन अंतिम क्षण में भूतपूर्व विदेश मंत्री दिनेश सिंह ने हस्ताक्षर के काम को स्थगित करने की सलाह दी और प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी उनसे सहमत हो गयीं।[1]

हस्ताक्षर को स्थगित करने के पक्ष में भारतीय विदेश मंत्रालय का पहला तर्क यह था कि सोवियत संघ से प्रस्तावित संधि कर लेने से भारत की गुट निरपेक्षता की नीति पर लोगों को सन्देह होने लगेगा। दो महान गुटों के सुरक्षा समझौतों से अलग रहना ही गुट निरपेक्षता की पहचान थी। प्रस्तावित भारत सोवियत संघ का मसविदा चीन तथा सोवियत संघ की तीस वर्षीय संधि से बहुत कुछ मिलती जुलती थी। इस संधि के कारण ही चीन सोवियत गुट का सदस्य माना जाता था। अतः भारत को कोई भी गुट निरपेक्ष नहीं कह सकता था।

निश्चित 1969 में यह सोचा गया कि एक औपचारिक संधि से बंध जाने की जगह भारत का हित इसी में है कि वह सोवियत संघ के साथ मधुर सम्बन्ध कायम रखे और इस सम्बन्ध को कायम रखने में सहयोग देता रहे। सोवियत संघ से एक संधि में आबद्ध हो जाने से अमरीका तथा पश्चिमी यूरोपीय देशों में उसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हो सकती थी।

इसके अतिरिक्त ठीक उसी समय कांग्रेस का बंगलोर अधिवेशन हुआ और सत्तारूढ़ पार्टी में भयंकर फूट पड़ गयी। इसके फलस्वरूप लोकसभा में श्रीमती इन्दिरा गांधी की पार्टी का स्पष्ट बहुमत नहीं रहा। लोकसभा में राजनीतिक दलों की ऐसी दलगत स्थिति थी उसमें यह सम्भव नहीं था कि सोवियत संघ से ऐसी किसी संधि की संसदीय पुष्टि मिल जाती। अतः भारत सरकार सोवियत संघ से एक औपचारिक संधि करने से कतरा गया।

मई 1971 में बंगला देश की राजनीति ने भारत के समक्ष एक विकट परिस्थिति उत्पन्न कर दी। बंगला देश की स्थिति और उसको लेकर भारत पाकिस्तान के सम्बन्धों में तनाव के बढ़ने के बारे में अवगत करने के लिए भारतीय विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह जब जून में मास्को पहुँचे तो सोवियत अधिकारियों ने एक बार फिर से उस संधि पर हस्ताक्षर करने का सुझाव दिया। इस पर विचार करने का आश्वासन देकर स्वर्ण सिंह मास्को से विदा हुए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि बंगला देश की समस्या पर अमरीकी सरकार

---

1 संधि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखें—(1) 15 अगस्त 1971 का हिंदुस्तान टाइम्स तथा 18 अगस्त के टाइम्स आफ इंडिया में गिरीलाल जैन का लेख— ट्रिटी इन पर्सपेक्टिव।

या रवया कम पाकिस्तान परक या कम से-कम तटस्थतापूर्ण होता तो भारत-सोवियत संधि सम्भव न हो पाती। मास्को से सरदार स्वर्ण सिंह वाशिंगटन पहुँचे और अमरीकी अधिकारियों ने उन्हें आश्वासन दिया कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता नहीं दी जाएगी। लेकिन जब इस आश्वासन के बाद भी पाकिस्तान को अमरीकी हथियारों की आपूर्ति जारी रही और किसिंजर ने भी अपनी भारत यात्रा के दौरान प्रतिरक्षा या भविष्य के लिए कोई आश्वासन नहीं दिया तो भारत सरकार को अमरिका से बड़ी निराशा हुई और श्रीमती गांधी ने मास्को से संधि करने का फैसला कर लिया। इसके बाद उस समय भी जब अमरीकी विदेश मन्त्री श्री रोजर्स ने अमरिका स्थित भारतीय राजदूत श्री एल० के० झा को यह चेतावनी दी कि भारत-पाक युद्ध में चीन के हस्तक्षेप के बावजूद अमरिका भारत की सहायता न करेगा तो श्रीमती गांधी का निश्चय और भी दृढ़ हो गया। 1969 का प्रस्तावित संधि का जाँच की गयी। उसमें पारस्परिक सुरक्षा से सम्बन्धित जो धाराएं थीं वे भारत के दृष्टिकोण से कुछ कड़ी थीं और भारत पर उसकी सामर्थ्य से अधिक उत्तरदायित्व डाल रही थीं। इसके चलते गुटनिरपेक्षता की नीति भी समाप्त हो रही थी। अतः उन धाराओं में हेर-फेर किया गया। कहा जाता है कि वर्तमान संधि की आठवीं नौवीं तथा दसवीं धाराएं इसी संशोधन के परिणाम हैं। गुटनिरपेक्षता से सम्बन्धित वर्तमान संधि की चौथी धारा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह बिल्कुल नयी धारा है जो 1969 के मसविदा में नहीं थी। इस धारा के द्वारा सोवियत संघ ने भारत की गुट निरपेक्षता की सराहना की।

1969 के प्रारूप को संशोधित करके केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद की राजनीतिक मामलात समिति की गोपनीय बैठक में लाया गया जिसने प्रधानमन्त्री के फैसले का अनुमोदन कर दिया। संशोधित प्रारूप की प्रति के साथ ही पी० एन० धर को सोवियत संघ की रजामन्दी प्राप्त करने के लिए तत्काल मास्को रवाना कर दिया गया।

कहा जाता है कि सोवियत संघ को यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि भारत सरकार ने आखिरकार उसकी बात मान ही ली। आमतौर पर बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधि ऐसी स्थिति में छोटे राष्ट्र के पास नहीं जाते हैं। लेकिन सोवियत संघ इस मौके को हाथ से नहीं जाने देना चाहता था। संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए वह इतना आतुर था कि ग्रोमिको को तत्काल दिल्ली रवाना कर दिया गया और उनके दिल्ली आगमन के चन्द घण्टों बाद ही संधि पर हस्ताक्षर हो गये। इन सारी घटनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि यह संधि अनिवार्य हो गयी थी और इसे टाला नहीं जा सकता था। बंगला देश की स्थिति पर राष्ट्रपति निक्सन के रवैये के फलस्वरूप भारत के पास सीमित विकल्प रह गये थे। इसके अतिरिक्त नयी दिल्ली संयुक्त राज्य अमरिका, पाकिस्तान और चीन के बढ़ते हुए सम्बन्धों की तेजी से पीछे पड़ गया था। वर्तमान संधि के द्वारा इस त्रुटि को दूर करने का यत्न किया गया।

भारतीय विदेश नीति के इतिहास में एक नया अध्याय—जब से भारत

स्वतन्त्र हुआ तब से उसकी विदेश-नीति का मूल आधार गुट निरपेक्षता या असंलग्नता का सिद्धान्त रहा है। भारत पर कई तरह के दबाव समय समय पर पड़े ताकि वह नीति का परित्याग कर दे। लेकिन अत्यन्त मुसीबत की घड़ी में भी भारत ने इस नीति का परित्याग नहीं किया। देश के अन्दर बहुत दिनों से यह माँग हो रहा था कि अन्तराष्ट्रीय राजनीति में भारत अकेला पड़ता जा रहा है और इस अकेलेपन को दूर करने के लिए असंलग्नता की नीति का परित्याग होना चाहिए। यह भी कहा जाता रहा कि समसामयिक अन्तराष्ट्रीय राजनीति में असंलग्नता की नीति का कोई औचित्य नहीं रह गया है। इस नीति का निर्धारण उस समय में हुआ था जब दुनिया स्पष्टतया दो गुटों में बटी हुई थी लेकिन 1960 के बाद से गुटबन्दियों की विभाजन रेखा मिटती गयी है और संसार के राष्ट्र प्रमुख नये सिरे से गुटबन्दी में संलग्न हैं। ऐसी स्थिति में 1946 47 में निर्धारित की गयी नीति का परित्याग होना चाहिए। किन्तु इन माँगों के बावजूद भारत सरकार अपने सिद्धान्त पर डटी रही और उसने असंलग्नता की नीति को नहीं छोड़ा।

भारत और सोवियत संघ की सन्धि ने इस नीति का अन्त कर उसको शानदार रूप से दफना दिया है। लेकिन भारत सरकार तो असंलग्नता की नीति से इतना अधिक मोह है कि वह अब भी कहता जा रहा है कि यह समझना गलत है कि भारत ने गुट निरपेक्षता की नीति छोड़ दी है। अगस्त 1971 को दिल्ली में एक विशाल जनसमूह को रैली में भाषण करते हुए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा आज सोवियत संघ के साथ जो सन्धि हुई है उसके बावजूद भारत अपनी गुट निरपेक्षता की नीति पर कायम रहेगा। हमने सोवियत संघ के सामने स्पष्ट कर दिया है कि भारत गुटों की नीति से अलग रहना चाहता है और हमारी बातें उसने मान ली हैं।

लेकिन प्रधान मन्त्री की इस दलील और घोषणा में कोई तथ्य नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की गुट निरपेक्ष नीति का इस सन्धि ने अन्त कर दिया है। गुट निरपेक्षता की नीति का मतलब महाशक्तियों के फौजी संघर्ष एवं तनावों से अपने को दूर रखना होता है। लेकिन एक महाशक्ति के साथ सन्धि करके भारत अब अपने को इन संघर्षों तथा तनावों से दूर नहीं रख सकता।[1] भारत के लिए यह सन्धि गुट निरपेक्षता का अर्थहीनता स्वीकार करने के तुल्य है। अन्तराष्ट्रीय परिस्थितियाँ और वातावरण के दबाव में असंलग्नता की नीति कब की न दम तोड़ चुकी थी। भारतीय विदेश मन्त्रालय चाहे अनचाहे उसको ढोता रहा था। 8 अगस्त को ग्रोमिको के भारत आगमन ने इसकी शवयात्रा का मार्ग प्रशस्त कर दिया और 9 अगस्त को सबेर ही उसे शान से दाह संस्कार कर दिया। भारत सरकार के

1 There is absolutely no doubt that in entering a security arrangement with one of the orld s two super powers India has abandoned non alignment and will in the eyes of many th rd countries be regarded as having aligned itself with the Soviet bl c —*The Hindustan Times* 10 August 1971

प्रवक्ताओं को ईमानदारी के साथ इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए था। आखिर गुट निरपेक्षता हमारा एक मात्र धर्म नहीं है। देश के हित में हम अपनी विदेश नीति में परिवर्तन कर सकते हैं और करना चाहिए।[1]

बगला देश की राजनीति पर प्रभाव—भारत और सोवियत सघ की सन्धि बगला देश की राजनीति में उत्पन्न परिस्थितियों का तात्कालिक परिणाम था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुरू से ही भारत की सहानुभूति बगला देश के स्वतन्त्रता संग्रामियों के साथ थी। भारत ने इस बात को कभी भी छिपाने का यत्न नहीं किया और भारतीय ससद ने सहानुभूति एव समर्थन का एक प्रस्ताव भी पारित किया। इसके बावजूद भारत चाहते हुए भी कारगर रूप से बगला देश की मुक्तिवाहिनी की सहायता नहीं कर पा रहा था। बगलादेश को मान्यता देकर इस्लामाबाद के खिलाफ उसे प्रत्यक्ष रूप से मदद देने में खतरा था। इसको लेकर भारत और पाकिस्तान के मध्य लड़ाई हो सकती थी जिसमें सम्भव था कि चीन और अमरिका का समर्थन पश्चिम पाकिस्तान को ही मिलता। याहिया खाँ ने युद्ध की धमकी भी दे दी थी और चीन तथा अमरिका से भारत को चेतावनी भी मिल चुकी थी। ऐसी हालत में भारत अकेले कोई जोखिम भरा कदम नहीं उठा सकता था। सोवियत सघ के साथ सन्धि करके तथा सोवियत समर्थन का आश्वासन पाकर भारत बगला देश के सम्बन्ध में अब कोई निर्णायक कदम उठा सकता था। इस प्रश्न को लेकर पाकिस्तान के लिए भारत से युद्ध करना भी अब खतरे से खाली नहीं रह जाता। अत बगला देश को लेकर पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहों के लिए वास्तविक सकट का समय आ गया। यही कारण है कि भारत सोवियत सन्धि की घोषणा ने पश्चिमी पाकिस्तान के अधिकारियों को व्यग्र और अशान्त बना दिया। इस सन्धि पर उनका चिन्तित होना या घबराना बिल्कुल स्वाभाविक था। जैसा कि लन्दन में डेली टेलीग्राफ ने भारत सोवियत सन्धि पर टिप्पणी करते हुए लिखा था "पूर्वी बगाल में छापामारों को हथियार देने तथा उनकी सहायता करने में इस सन्धि से भारत को अधिक स्वतन्त्रता मिलेगी। इस सन्धि के बाद कोई भी पाकिस्तानी सैनिक अधिकारी सीमा के पास स्थित छापामार अड्डों पर हमले की हिम्मत करने के पहले दो बार सोचेगा।" न्यूयार्क टाइम्स का कथन था कि "यह सन्धि स्पष्टत पाकिस्तान द्वारा भारत पर किये जाने वाले किसी भी हमले को हतोत्साहित किये जाने के उद्देश्य से की गयी है। इससे शान्ति का इतना समर्थन नहीं होगा जितना कि बगाली छापामारों को मदद देने का भारत का हौसला बढ़ेगा।"

पाकिस्तान इस बात का भी अन्दाज नहीं कर सकता था कि भारत और सोवियत सघ के बीच शान्ति मैत्री और सहयोग की सन्धि क्यों सन्धि का अवसर

[1] सन्धि का गुट निरपेक्षता की नीति पर प्रभाव के लिए हिन्दुस्तान टाइम्स (22 अगस्त 1971) में प्रकाशित शिशिर गुप्त के लेख नोट्स आउट साइड दी कन्टेस्ट देखिये।

वतमान सकट की स्थिति को देखते हुए सोवियत सघ ने भारत का अत्याधुनिक हथियार देने का आश्वासन दिया है। ऐसा समझा जाता है कि अपने नयी दिल्ली प्रवास के समय ही सोवियत विदेश मत्री ग्रोमिको ने यह आश्वासन दिया कि किसी भी बाहरी आक्रमण की स्थिति में सोवियत सघ की ओर से हर प्रकार के प्रक्षेपास्त्र पनडुब्बी तथा अन्य साज सामान भारत को उपलब्ध होंगे। इस हालत में तत्काल भारत पर पाकिस्तानी आक्रमण की आशका टल गया। इस सन्धि से स्पष्ट से प्रतीत होता है कि भारत सोवियत सधि ताशकन्द उद्देश्य की पूर्ति में उठाया गया सोवियत कदम था। 1966 में सोवियत सघ ने ताशकन्द सम्मेलन की जो व्यवस्था की थी उसका उद्देश्य भारत और पाकिस्तान के बीच 1965 के युद्ध को औपचारिक रूप से समाप्त कराना था। इस बार सोवियत सघ ने ताशकन्द भावना से प्रेरित होकर युद्ध छिड़ने की सम्भावना को समाप्त करने का यत्न किया था।[1]

भारत में सोवियत प्रभाव की वृद्धि की आशका—सधि पर हस्ताक्षर होने के बाद सरदार स्वर्ण सिंह ने लोकसभा में बोलते हुए यह घोषणा भी की कि भारत अन्य देशों के साथ भी इस तरह की सन्धि करने को तैयार है। लेकिन ऐसा करना आसान नहीं होगा क्योंकि भारत सोवियत सधि से इस सम्बन्ध में भारत के अधिकारों को कुछ अश में सीमित कर दिया है। इस प्रकार की सधि केवल उन्हीं देशों के साथ की जा सकती है जो सोवियत सघ के विरुद्ध नहीं हैं। लेकिन यह सीमा सोवियत सघ पर भी बाध्य होता है। वह भी किसी अन्य देश (उदाहरणार्थ पाकिस्तान)के साथ ऐसी सधि नहीं कर सकता जो भारत का विरोधी है। इस सम्बन्ध में व्याख्या का प्रश्न उठता तो दोनों देश आपस में विचार विमर्श करके इसका निर्णय करेंगे।

यह भी शका हो सकती है कि इस सधि के माध्यम से सोवियत सघ भारत में अपने पैर फैलाना आरम्भ करे। किन्तु ऐसा सोचना भी कोई मायने नहीं रखता। कम्युनिज्म के विस्तार की इच्छा सोवियत सघ के दिल में हो सकती है किन्तु सधि में साफ कहा गया है कि एक दूसरे के राष्ट्रीय हित के प्रति सम्मान और विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों के बीच शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास की भावना के साथ बद्ध की जा रही है। फिर सधि में यह भी कहा गया है कि एक दूसरे की प्रभुसत्ता एव स्वतन्त्रता का दोनों देश सम्मान करेंगे और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। ऐसी सूरत में सोवियत सघ के भारत में पैर फैला सकने का कोई सवाल ही नहीं उठता।

---

1 The treaty is seen as a continuation of the Tashkent objective of the Russian government—namely to help and maintain peace or rather avoid the outbreak of war in the Indian subcontinent What happened at Tashkent was the ending of a war which had already broken out What happened in Delhi on August 9 was an attempt to stop a breaking out
—V R Bhatt Tashkent in the Treaty *The Hindustan Times* 18 August 1971

इसके बावजूद यहाँ एक बात विचारणीय है। सोवियत संघ भारत को एशिया में अपना सुदृढ़ दुर्ग मानता है जिसको गवाना उसको गवारा नहीं है। भारत में उसकी दिलचस्पी हमारे पक्ष में अवश्य है। लेकिन इसके साथ ही यह बात अच्छी तरह समझ और स्वीकार कर लेनी चाहिए कि सोवियत संघ को एक ऐसी सबल शक्ति की आवश्यकता है जो उसे अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के खेल में सशक्त योगदान दे सके न कि उस पर आश्रित रहनेवाले पुछल्ले तारे की। दूसरे शब्दों में सोवियत संघ को एक ऐसे भारत की ही जरूरत होगी जो आत्म निर्भर और आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से सबल हो न कि एक निर्बल और आश्रित रहने वाले भारत की जिसकी सुरक्षा का भार उसे स्वयं वहन करना पड़े। अतएव एशिया की नयी शक्ति संतुलन में प्रभावकारी स्थान पाने के लिए भारत को एक शक्तिशाली और आत्म निर्भर देश बनना पड़ेगा। पिछले पचीस वर्षों का इतिहास हमें बताता है कि जिस सड़ी गली राजनीतिक आर्थिक प्रणाली में हम रह रहे हैं उसमें यह सम्भव नहीं है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उचित स्थान पाने के लिए हमें अपना रास्ता बदलना पड़ेगा।

सोवियत संघ के साथ हमारी नयी मैत्री संधि इस दिशा में भारत का मार्ग प्रदान कर सकती है। सोवियत संघ के साथ भारत को सहयोग करना है और इस सहयोग को उत्तरोत्तर मजबूत बनाना है। सामन्तवाद और पूंजीवाद के अवशेषों तथा निहित स्वार्थों के हितों को कायम रखकर भारत इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः इस बात की सम्भावना बढ़ गयी है कि समाजवादी लक्ष्य की ओर जाने में भारत की गति कुछ बढ़ जाय।[1] यही कारण है कि भारत के कुछ प्रमुख पूंजीपतियों के समाचार पत्रों ने संधि का खुले दिल से स्वागत नहीं किया है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं कि संधि पर टिप्पणी करने के लिए हिन्दुस्तान टाइम्स तथा स्टेट्समन ने जो सम्पादकीय लिखे उनके शीर्षक भी लगभग एक ही थे।[2] सम्भवतः इसी कारण ब्रिटिश समाचार पत्रों ने भी इस संधि का स्वागत नहीं किया।

---

1 The Indo-Soviet Treaty could conceivably have certain repercussions on the internal policy of this country quite apart from its obvious diplomatic significance. It is possible that the present mood might foster a spirit of radicalism in the pursuit of domestic policies. External reaction to the Treaty could in certain circumstances reinforce such a tendency. Those who have counselled caution in socialist advance may now feel safe to release the brake. —*The Hindustan Times*, August 12 1971.

2 हिन्दुस्तान टाइम्स (10 अगस्त) का शीर्षक 'Was this Necessary' *तथा स्टेट्समन (10 अगस्त) का* 'Was it really Necessary' था। टाइम्स ऑफ इण्डिया (10 अगस्त) ने भी 'Too Early to Judge' शीर्षक के अन्तर्गत सम्पादकीय लिखकर अपनी आशंकाएं व्यक्त की।

भारत में ब्रिटेन के आर्थिक हितों पर जो खतरा पैदा हो सकता था उसको ध्यान में रखते हुए उदारपंथी ब्रिटिश समाचार पत्र गार्जियन ने चेतावनी दी कि नयी दिल्ली और मास्को के बीच सम्पन्न मैत्री सन्धि में विनाश के बीज निहित हैं।

भारत-सोवियत सन्धि पर अमरीकी प्रतिक्रिया—भारत तथा सोवियत संघ के बीच सन्धि अमरीकी कूटनीति पर एक विनम्र वज्रपात था। सन्धि की खबर से अमरीका के कूटनीतिक क्षेत्र आश्चर्यचकित रह गये। राजनयिकों की राय थी कि यह सन्धि अमरीका और चीन की निकटता कूटनीति का उत्तर था। फिर भी अमरीकी अधिकारियों द्वारा तत्काल कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की गयी। यद्यपि विदेश मन्त्री विलियम रोजर्स ने अपनी संक्षिप्त प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि विश्व राजनीति पर भारत सोवियत मैत्री सन्धि का असर जरूर होगा तथापि अमरीकी सरकार निश्चित रूप से चिन्तित हुई। शस्त्रों की होड़ रोकने की वार्ताओं तथा शिखर की वार्ताओं से आज के युग में शीत युद्ध की भावना इस सीमा तक समाप्त नहीं हुई कि भारत जैसे बड़े आकार तथा महत्त्व के देश के साथ सोवियत संघ की मैत्री सन्धि वाशिंगटन में स्वागत योग्य नहीं रही। अमरीकी क्षेत्रों में यह बात महसूस की जाने लगी है कि सन्धि के फलस्वरूप विश्व के सर्वाधिक जनसंख्या वाले राष्ट्र में अमरीका के मूल्य पर सोवियत प्रभाव बढ़ जायेगा। इसके फलस्वरूप एक स्थानीय युद्ध का खतरा बढ़ गया जिसका फल भारतीय उपमहाद्वीप में महान शक्तियों का संघर्ष हो सकता है। वाशिंगटन के अधिकारी भारत सोवियत सन्धि को खुश रखने वाली नहीं मानते थे। वे समझते थे कि भारतीय विदेश नीति इतनी प्राचीन और स्वतन्त्र है कि यह सन्देह नहीं किया जा सकता कि केवल पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों के सम्बन्ध में पाकिस्तान की युद्ध की धमकियों के कारण भारत इस सन्धि के लिए प्रेरित हुआ। इसमें दूरगामी सम्भावनाओं का अवश्य ही मन्थन किया गया होगा और इसी कारण वाशिंगटन में यह समझा जा रहा था कि सन्धि से दक्षिण एशिया में अमरीकी नीति को धक्का पहुँचा है।

इस सम्बन्ध में यह आशंका व्यक्त की जा रही थी कि अमरीका इस पराजय को चुपचाप स्वीकार नहीं कर लेगा तथा भारत के प्रति उसका रुख कड़ा हो जायगा। अमरीका की सरकार ने अभी तक भारत को अधिक आर्थिक सहायता दी थी और पाकिस्तान को सैनिक सहायता देकर शक्ति सन्तुलन कायम करने का यत्न किया था। अब चूँकि भारत को सोवियत संघ से सैनिक सहायता मिलेगी इसलिए अमरीकी विचार में भारतीय उपमहाद्वीप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ जायगा। इस सन्तुलन को बनाये रखने के लिए यह सम्भव है कि अमरीका भारत की आर्थिक सहायता में कटौती करे।[1]

---

1 American assistance to India it is argued could now fall even below the present low levels and PL 480 imports of items like raw cotton may not be that easily available

संयुक्त राज्य अमरिका भारत की ओर से पूर्णतया निराश होकर विमुख न हो जाए इसके लिए भारत सरकार की ओर से तत्काल कुछ कदम उठाये गये। भारत सोवियत संधि सम्पन्न होने के तुरत बाद यह रहस्य पहले पहल खोला गया कि 1952 से ही भारत अमरिका से शांति मैत्री नवन तथा वाणिज्य संधि के लिए बातचीत करता रहा है। भारत का इस संधि के मसविदे का कुछ धाराएं स्वीकार्य नहीं था। फिर भी भारत सरकार के एक प्रवक्ता ने यह प्रस्ताव रखा कि यदि अमरिका इस प्रकार की संधि के लिए इच्छुक हो तो इस विषय को पुन उठाया जा सकता है। इसके तुरत बाद भारतीय राजदूत एल के झा ने अमरीकी विदेश मंत्री से मुलाकात की और उन्हें बताया कि यह संधि अमरिका पाकिस्तान और चीन किसी भी देश को लक्ष्य बनाकर नहीं की गयी है। उन्होंने इस बात का भी आश्वासन दिया कि सोवियत संघ के साथ जो मैत्री संधि की गयी है उसके लिए दो वर्ष से वार्ता चल रही थी और राष्ट्रपति निक्सन के चीन से सम्बन्ध सुधारने की कोशिश से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अशांति का नया क्षेत्र—भारत सोवियत संधि वस्तुत उस क्रिया की प्रतिक्रिया है जिसने समूची अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक झटके में बदल दिया। सोवियत चीन संघर्ष अब मात्र सैद्धांतिक न रहकर शक्तिगत हो गया था। चीन ने अब पूर्वी यूरोप में अपने पाँव पसारने शुरू कर दिये थे और अल्बानिया के बाद रूमानिया तथा यूगोस्लाविया उसके नये मित्र बन गये थे। लेकिन अमरिका और अफ्रीका भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। सोवियत संघ ने साम्यवादी तत्वों को बलि देकर अरब राष्ट्रों की मैत्री खरीदी थी। पर सूडान और मोरक्को की घटनाओं से उसे गहरा सदमा लगा था। भारत से रक्षा संधि करने में सोवियत संघ ने जो तत्परता दिखाई थी वह इसी का फल था। क्रामिया में सोवियत परस्त साम्यवादी राजनेताओं का जो शीर्ष सम्मेलन हुआ था उसमें रूमानिया और यूगोस्लाविया शामिल नहीं हुए थे। लेकिन अमरिका में चीनी का मार्क्सवादी प्रशासन चाहे सोवियत प्रतिद्वंद्विता का अखाड़ा बन चुका था। जाहिर है कि एशिया में शीघ्र ही भारी उथल पुथल होगी और सोवियत चीन प्रतिस्पर्धा हिंसक विस्फोट की ओर प्रवृत्त होगा। इस क्षेत्र से अमरिका के हट जाने के बाद से इन दोनों साम्यवादी शक्तियों के बीच अप्रत्यक्ष टकराव की आशंका बलवती हो उठी।

इस आधार पर कई दृष्टिकोणों से संधि की आलोचनाएं हुईं। इन आलोचकों का कहना था कि भारत सोवियत संधि ने फिलहाल के लिए भारत को गहरा

Disenchantment with foreign aid in the United States is already high Pakistan's military crackdown in East Bengal and now the Indo Soviet treaty could greatly prejudice Congressional attitudes to the foreign aid programme

—*The Statesman* July 10 (1971)

प्रदान कर दी है लेकिन यह तात्कालिक महत्व की बात है। इस सुरक्षा को स्थायी शान्ति पर्याय नहीं माना जाना चाहिए। कटु तथ्य यह है कि युद्ध और अशान्ति का क्षेत्र दक्षिण पूर्व एशिया से हटकर भारत प्रायद्वीप में आने लगा है। पश्चिम एशिया में यथास्थिति कायम रहने की सम्भावना है लेकिन उधर चीन-सोवियत सीमा और इधर भारत-पाक सीमा पर दीर्घकालीन अशान्ति का आरम्भ हो गया है। भारत को बाह्य आक्रमण से सुरक्षित होने पर भी युद्ध लड़ना पड़ सकता है। ऐसे युद्ध की प्रकृति वियतनाम युद्ध के समान हो सकती है। बंगला देश, पश्चिम बंगाल और पूर्वोत्तर सीमाचल के अलावा कश्मीर भी छापामार युद्ध के केन्द्र बन सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि पाकिस्तान अथवा चीन से भारत का प्रत्यक्ष युद्ध हो। युद्ध पर्दे के पीछे से भी लड़ा जा सकता है। ऐसी स्थिति में सोवियत संघ भारत को मात्र युद्ध सामग्री सप्लाई कर सकता है, विधिवत सैनिक सहायता नहीं दे सकता। ऐसी लड़ाई वियतनाम-युद्ध की पुनरावृत्ति मानी जायगी जिसमें अमरिका की वियतनामी भूमिका सोवियत संघ को करनी होगी।

संधि के आलोचकों ने दावा किया कि भारत सरकार के प्रवक्ताओं द्वारा बार-बार कहने के बावजूद अब यह तथ्य मान्य नहीं हो सकता कि भारत की गुट निरपेक्षता की नीति अभी भी कायम है। एक महाशक्ति के साथ सुरक्षा समझौता करके उसने निश्चय ही गुट के साथ अपने को आबद्ध कर लिया है। यह भी कहना कि भारत सोवियत संधि किसी देश के विरुद्ध नहीं है मान्य नहीं हो सकता। जिस परिस्थिति में संधि सम्पन्न हुई है उससे स्पष्ट है कि यह मुख्यतः पाकिस्तान के विरुद्ध है और इसी कारण संधि को इतना व्यापक समर्थन मिला है। चीन और अमरिका दोनों को पाकिस्तान कह सकता है कि आप लोगों की गलती के कारण ही हमारे खिलाफ भारत और सोवियत संघ की तैयारी हुई है। निश्चय ही चीन और अमरिका में संधि के विरुद्ध प्रतिक्रिया होगी। पश्चिमी एशिया में अमरिकी प्रभाव को खत्म करने में सोवियत राजनय जिस तरह सक्रिय है उसको ध्यान में रखते हुए अमरिका की दृष्टि में पश्चिम पाकिस्तान का अभी भी बहुत महत्व है। पिछले माह में अमरीकी कांग्रेस के समक्ष राष्ट्रपति निक्सन ने विदेश नीति पर जो रिपोर्ट पेश की थी उसमें यह बात स्पष्ट रूप से झलकती है। इस सन्दर्भ में अमरिका यह प्रयास कर सकता है कि भारत सोवियत गठबन्धन के खिलाफ वह पाकिस्तान को और मजबूत करे। इस प्रकार भारत सोवियत संधि भारतीय महाद्वीप के लिए एक नये शीत युद्ध का सूत्रपात करा सकता है और इस शीत युद्ध का मुख्य अखाड़ा भारत बन सकता है।[1]

---

1 In view of this declaration (Nixon's foreign policy report to Congress) the American may wish to strengthen Pakistan to counter the Indo-Soviet entente. Thus the Indo-Soviet Treaty might well mark the beginning of a new cold war in this part of the world with India in the eye of storm—the

इस विचारधारा को माननेवाले संधि के आलोचकों का क ना था कि भारत सोवियत संधि भारत के विरुद्ध चीन और पाकिस्तान के गठजोड़ के का पनिक भय का परिणाम था। यह बगला देश के स भ में चीन तथा अम रि का की नीतियों के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का फल था। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत मे पाकिस्तान के साथ यु चीन द्वारा उसम हस्त प तथा अमरिका को पाकिस्तान को दी जाने वाली मद की स भाव ाओ को बहुत बढ़ा च ा कर देखा या। य कमे कहा जा सकता है कि चीन और अमरिका आख मूदकर पाकिस्तान को हर हालत म सहायता करते जायेंगे। चीन की विदेश नीति पाकिस्तान पर ही क ि त नही है उसके वि त व्यापी हित ह और स बात की सम्भावना ब त कम है कि बगला देश का दलदल से पश्चिम पाकिस्तान को निकालने के ि ए व त बडे पमाने पर व ि मालय की सीमाओ पर भारत के विरुद्ध युद्ध छेड दे। यदि कुछ समय के लिए मान भी लिया जाय कि चीन ऐसा करता तो उसका मुकाबला करने के लिए भारत की स डिवि ज न सनाए वहाँ तयार थी। यदि यह भी मान लिया जाय कि चीन न सनाओं को परास्त करने मे सफल हो जा तो क्या य सम्भव था कि ससार की म ाशक्तियाँ (विशेषकर सोवियत सघ) अपने वि व्यापी ि तों का ध्यान म रखते हुए चुपचाप वठकर य देखती रहेगी ? दूसरे शब्दों म वास्तविक सकट को स्थिति म ाा संधि के बिना भी भारत को सोवियत सघ का समथन अव यम्भावी रूप से मिलता।

इस दृष्टिकोण से देखने से एसा लगता है कि भारत न सन्धि के दूरगामी परिणामों का वि लषण किये बिना ही इसका सम न कर लिया। य सन्धि चीन को उत्तेजित कर सकती थी उस पाकिस्तान क और नजदीक ल जा सकती थी तथा भारत अमरीका सम्ब ध क खाई को और ग रा कर सकती थी। सोवियत सघ ने अपने वि व व्यापी हितो का ध्यान म रखक इस संधि पर हस्ताक्षर किय था। भारतीय उप महाद्वीप म राजन तिक स्थिरता बनी रहे य उसका उ द्देश्य नहीं था। चीन के साथ समझौता करने की नयी जमीन तैयार करना यह सोवियत जवाब था। इसलिए जब यह प्रश्न उठेगा कि स र्क म कौन लाभ मे र ा और कौन घ टे म र ा तो क ा जायगा कि एक महाशक्ति न वि वव्यापी हितों की रक्षा के लिए भारत की विदेश नीति न अपना रवत ~ अ तरन गो दिया।

संधि के आलोचकों क य भी क ना था कि इसने अन्तर राष्ट्रीय राजनीति म भारत के वन त प न का बन्द ह ार सीमित कर दिया। एशिया म सोवियत संघ की अपनी नीति थी और सब अपने ि त थे। न ि तों के ा के लिए सोवियत विदेश नीति अवश्य सक्रिय र ती। सोवियत सघ के साथ संधि म आबद्ध

---

triangular global manoeuvers am ng Peking Wasl ingt n and Moscow w ll lead directly t involve Ne D lhi i ays for wh ch obviously it is unprepared

—*The H ustan T me* 10 August 1971

हो जाने के बाद भारत को चाहे अनचाहे उसका समर्थन करना ही पड़ेगा। कहा जाता है कि ताली दोनों हाथों से बजती है। सोवियत संघ ने भारत को सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की है। इसके बदले में भारत को भी कुछ देना होगा। सोवियत संघ की एशियाई नीति का समर्थन करके भारत इस उपकार का बदला चुका सकता है। ऐसी हालत में यह निश्चित है कि अपनी एशियाई नीति के निर्धारण में भारत के समक्ष अब बहुत कम विकल्प बच जायेंगे और कुछ अंश में उसकी स्वतन्त्रता सीमित हो जायगी।

लेकिन दिसम्बर 1971 में बंगला देश की समस्या को लेकर भारत और पाकिस्तान के मध्य जब लड़ाई छिड़ी तो भारत सोवियत सन्धि के आलोचकों की सारी आशंकाएं निर्मूल सिद्ध हो गयीं। इस संकट के समय सोवियत संघ ने भारत का पूर्ण समर्थन किया।

भारत-पाकिस्तान युद्ध और सोवियत संघ

बंगला देश के मुक्ति संग्राम को सोवियत संघ ने शुरू से ही नैतिक समर्थन दिया जो समय की तीव्रता के साथ ही राजनीतिक समर्थन में परिवर्तित हो गया। 25 मार्च 1971 से बंगला देश में जब मुजीबुर्रहमान को कैद करके पाकिस्तानी सेना ने भीषण नरसंहार शुरू किया। पाकिस्तान के इस क्रूर दमन की ओर भारत ने सभी देशों का ध्यान आकृष्ट कराने का यत्न किया लेकिन सोवियत संघ को छोड़कर सबके सब मौन रहे। अप्रैल 1971 में सोवियत राष्ट्रपति ने याह्या खाँ को एक पत्र लिखकर उनसे अनुरोध किया कि इस प्रकार के नरसंहार से कोई लाभ नहीं होनेवाला है और पाकिस्तान सरकार को अवामी लीग के चुने हुए प्रतिनिधियों से कोई राजनीतिक समझौता कर लेना चाहिए। लेकिन पाकिस्तान के तानाशाहों पर इस नेक सलाह का कोई असर नहीं हुआ। पाकिस्तान ने पूर्व बंगाल की स्थिति के लिए भारत को जिम्मेवार बताया और इसके चलते दोनों देशों के बीच तनाव बढ़ता चला गया। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत बिल्कुल अकेला पड़ गया था। बंगला देश की घटना को लेकर यह अकेलापन और भी दुखदायी हो गया था। बंगला देश के भीषण नरसंहार को रोकने के लिए भारत ने कई प्रयास किये लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला। भारतीय असफलता को देखकर पाकिस्तानी तानाशाह याह्या खाँ का हौसला बहुत बुलन्द हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रोत्साहन तथा चीन की अनिश्चित नीति से उत्साहित होकर वे भारत को बार-बार युद्ध की धमकी दे रहे थे। उनका ख्याल था कि भारत अकेला पड़ जायगा। तभी तो अमेरिका ने भी पाकिस्तान को धमकी के साथ अपनी ओर से यह धमकी दे डाली थी कि यदि भारत और पाकिस्तान में लड़ाई हुई और चीन ने पाकिस्तान का पक्ष लिया तो अमेरिका भारत की सहायता के लिए नहीं आयेगा।

भारत-सोवियत सन्धि—इस हालत में भारत को एक विश्वसनीय मित्र की आवश्यकता पड़ी। यह मित्र सोवियत संघ ही हो सकता था। इसी समय बंगला देश

की स्थिति और उसको लेकर भारत-पाकिस्तान के सम्बन्धों में तनाव के बढ़ने के बारे में अवगत कराने के लिए भारतीय विदेश मन्त्री सरदार स्वर्ण सिंह मास्को पहुँचे। इस अवसर पर सोवियत अधिकारियों ने भारत के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर करने का सुझाव रखा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि बंगला देश की समस्या पर अमरीकी सरकार का रवैया कम पाकिस्तान परक या कम से कम तटस्थतापूर्ण भी होता तो भारत सोवियत संधि सम्पन्न न होती। मास्को से सरदार स्वर्ण सिंह वाशिंगटन पहुँचे और अमरीकी अधिकारियों ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे पाकिस्तान को सैनिक सहायता नहीं देंगे। लेकिन जब इस आश्वासन के बाद भी पाकिस्तान को अमरीकी हथियारों की आपूर्ति जारी रही और किसिंजर ने भी अपनी भारत यात्रा के दौरान प्रतिरक्षा या सविष्य के लिए कोई आश्वासन नहीं दिया तो भारत सरकार को अमरिका से बड़ी निराशा हुई और श्रीमती गाँधी ने मास्को से संधि करने का फैसला कर लिया। इसके बाद उस समय भी जब अमरीकी विदेश मन्त्री श्री रोजर्स ने अमरिका स्थित भारतीय राजदूत श्री एल० के० झा को यह चेतावनी दी कि भारत पाक युद्ध में चीन के हस्तक्षेप के बावजूद अमरिका भारत की सहायता नहीं करेगा तो श्रीमती गाँधी का निश्चय और भी दृढ़ हो गया। संधि की बात पक्की हो गयी और दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने 9 अगस्त को इस पर हस्ताक्षर कर दिये।

संधि की सबसे प्रमुख धारा यह थी कि दोनों देशों में से किसी देश पर हमला होने या हमले का खतरा होने पर दोनों देश शीघ्र ही परस्पर विचार विमर्श करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाय और दोनों देशों की शान्ति तथा सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए समुचित प्रभावकारी कदम उठाये जाएँ। इसका अर्थ यह है कि यदि पाकिस्तान या चीन या दोनों ने मिलकर भारत पर हमला किया तो सोवियत संघ हमारी सुरक्षा के लिए प्रभावकारी कदम उठायेगा। संधि के अनुसार दोनों देश एक दूसरे पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं करेंगे। एक दूसरे के खिलाफ किसी सैनिक गठबंधन में शामिल नहीं होंगे तथा दोनों देशों में किसी पर हमला करने वाले तीसरे देश को किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे। संधि के अनुसार भारत और सोवियत संघ इस बात के लिए भी राजी हुए कि वे अपने क्षेत्र में किसी प्रकार के ऐसे कार्य का नहीं होने देंगे जिससे दूसरे पक्ष को सैनिक क्षति होने की आशंका हो।

भारत और सोवियत संघ की संधि बंगला देश की राजनीति से उत्पन्न परिस्थितियों का तात्कालिक परिणाम था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुरू से ही भारत की सहानुभूति बंगला देश के स्वतन्त्रता संग्रामियों के साथ थी। भारत ने इस बात को कभी भी छिपाने का यत्न नहीं किया और भारतीय संसद ने सहानुभूति एवं समर्थन का एक प्रस्ताव भी पारित किया। इसके बावजूद भारत चाहते हुए भी खुले रूप से बंगला देश की मुक्तिवाहिनी की सहायता नहीं कर पा रहा था।

श्रीमती गांधी ने इस बात की चेतावनी भी दी थी कि यदि समस्या का हल तत्काल न निकाला गया तो इससे वर्तमान तनाव अन्य गम्भीर रूप धारण कर सकता है। सोवियत नेताओं ने प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी के साथ जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की उसमें दोनों पक्षों के शरणार्थियों की वापसी के अतिरिक्त यह मांग की गयी कि बंगला देश से शरणार्थियों का भारत आना एक गम्भीर तनाव पैदा करता है और उसे तुरन्त रोका जाना चाहिए। संयुक्त विज्ञप्ति में कहा गया था कि क्षेत्र में एक ऐसा राजनीतिक समझौता होना चाहिए जिसमें पूर्व बंगाल की जनता के अविभाज्य अधिकार और जायज हितों को दृष्टि में रखा जाना चाहिए।

प्रधान मन्त्री की इस सोवियत यात्रा को सरकारी क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण और सफल यात्रा बताया गया। संयुक्त विज्ञप्ति में और सोवियत नेताओं के अन्य वक्तव्यों से यह सिद्ध हो गया कि सोवियत संघ भारत के दृष्टिकोण को समझने में काफी आगे बढ़ चुका है। इन प्रपत्रों के अनुसार श्रीमती गांधी की यात्रा की ठोस उपलब्धि यह थी कि सोवियत संघ ने खुले रूप से यह घोषित कर दिया कि बंगला देश में जो कोई भी राजनीतिक हल निकाला जाय वह लोगों की इच्छाओं और हितों को मद्देनजर रखकर ही निकाला जाय। साथ ही यह भी बताया गया कि सोवियत संघ ने यह स्पष्ट कर दिया कि उसने भारत के लिए कोई अन्य रास्ता अपनाने का मार्ग खुला छोड़ दिया है।

1 अक्टूबर को सोवियत संघ के राष्ट्रपति निकोलाई पद्गोर्नी उत्तर वियतनाम जाते हुए भारत में एक दिन के लिए रुक गये। इस अवसर पर उन्होंने बंगला देश के सम्बन्ध में उन सभी बातों को दुहराया जो सोवियत नेताओं ने श्रीमती इन्दिरा गांधी की मास्को यात्रा के दौरान कही थीं। सोवियत राष्ट्रपति ने कहा : "हम मानते हैं कि भविष्य में उस क्षेत्र में स्थिति को और बदतर होने देना नहीं चाहिए और तनाव को उस क्षेत्र के लोगों के अधिकारों और हितों को दृष्टि में रखकर एक उचित समझौता द्वारा दूर किया जाना चाहिए।" श्री पद्गोर्नी ने स्वीकार किया कि उस क्षेत्र में इस प्रकार की जटिल समस्याएं पैदा हो गयी हैं जिनके बहुत गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। सोवियत राष्ट्रपति ने स्वागत का उत्तर देते हुए कहा कि सोवियत संघ वर्तमान मित्रता के वातावरण में पूर्वी पाकिस्तान में राजनीतिक हल के लिए भारत की हर प्रकार से सहायता करेगा।

अक्टूबर के मध्य में सीमा पर स्थिति बिगड़ने लगी। दोनों पक्षों के सेनाओं की सीमाओं पर जमाव के कारण तनाव बहुत बढ़ गया और युद्ध के आसार दिखायी पड़ने लगे। इस स्थिति में सोवियत नेताओं ने उप विदेश मन्त्री निकोलाई फिरुबिन को तत्काल दिल्ली रवाना किया ताकि युद्ध की सम्भावना पर दोनों देशों के बीच उच्च स्तरीय मन्त्रणा हो सके। फिरुबिन ने सरदार स्वर्ण सिंह को आश्वासन दिया कि यदि युद्ध हुआ तो भारत अकेला नहीं रहेगा और सोवियत संघ भारत का पूरा पूरा समर्थन करेगा। सोवियत संघ ने भारत को यह आश्वासन भारत-सोवियत

सन्धि की नौवीं धारा में निहित शर्त के अनुसार दिया कि युद्ध की स्थिति उत्पन्न होने पर सम्बन्धित देशों का उच्च सत्ताएं एक-दूसरे से परामर्श करेंगी। सोवियत संघ ने यह भी आश्वासन दिया कि हमले का मुकाबला करने के लिए सन्धि की सभी शर्तों का पूरा किया जायगा।

फिर्लबिन की यात्रा के फलस्वरूप यह निर्णय हुआ कि सोवियत फौजी अधिकारी भारत आकर युद्ध की स्थिति का अध्ययन करेंगे। मास्को से सोवियत वायुसेना के प्रधान प म कातालाव का तत्काल भारत भेजा गया। पाकिस्तान और सोवियत संघ के आपसी सम्बन्ध में किस तेजी से गिरावट हो गया था इसका अनुमान केवल इसी से मिल सकता है कि पाकिस्तान ने कातालाव के विमान को पाकिस्तान पर उड़ान की इजाजत नहीं दी और कातालाव को एक दूसरे रास्ते से भारत आना पड़ा।

युद्ध पर सोवियत प्रतिक्रिया—3 दिसम्बर को भारत और पाकिस्तान में युद्ध शुरू हो गया। भारतीय हवाई अड्डों पर पाकिस्तानी हमलों के समाचार पर मास्को में बड़ी चिन्ता प्रकट की गयी। उस समय सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिजिन कोपन हेगन में डेनमार्क के प्रधान मन्त्री के साथ बातचीत कर रहे थे। भारत-पाकिस्तान स्थिति के सम्बन्ध में ताजा समाचार प्राप्त करते ही उन्होंने इस बातचीत का कार्यक्रम रद्द कर दिया और स्वदेश के लिए रवाना हो गये।

सोवियत समाचार-पत्रों ने भारत का खुला समर्थन किया। उनमें इन्दिरा गांधी के उस भाषण को प्रमुखता से छापा गया जिसमें उन्होंने पूर्व बंगाल का संकट हल करने के लिए वहां से पाकिस्तानी सेना की वापसी को जरूरी बताया था।

भारत पाकिस्तान युद्ध के शुरू होने पर अमेरिका के पहल पर युद्ध पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की बैठक बुलाया गया। अमरिका ने युद्ध विराम और सेनाओं की वापसी का एक प्रस्ताव रखा। सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग कर इसे रद्द करवा दिया और स्वयं एक प्रस्ताव रखा जिसमें पूर्व बंगाल की समस्या के राजनीतिक समाधान की बात कही गयी थी। सुरक्षा परिषद में अमेरिका के भारत विरोधी प्रस्ताव के खिलाफ निषेधाधिकार प्रयोग करने के लिए भारतीय विदेश मन्त्रालय ने सोवियत संघ की सराहना की और कहा कि सोवियत प्रतिनिधि ने बंगला देश की सही स्थिति विश्व के सामने रखी है।

सुरक्षा परिषद की 5 दिसम्बर वाली बैठक में वीटो करने के उपरान्त सोवियत सरकार ने मास्को से एक बयान जारी करके सभी देशों से अनुरोध किया कि वे भारत पाक संघर्ष से दूर रहें और इसमें स्वयं को शामिल नहीं करें। बयान में कहा गया था कि सोवियत सरकार विश्वास करती है कि सभी देश ऐसे कदम उठाने से दूर रहेंगे जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भारतीय उपमहाद्वीप में व्याप्त स्थिति

और भी उत्तेजित हो उठे। संघर्ष को सीमित रखने का यह प्रस्ताव भारत के हित में था। भारत ने इस वक्तव्य का स्वागत किया और कहा कि भारत किसी बाह्य शक्ति के हस्तक्षेप को सहन नहीं करेगा। भारत ने सोवियत संघ से इस समर्थन के लिए अपना आभार व्यक्त किया। उसका कहना था कि सोवियत नीति भारतीय नीति से पूर्णतः मेल खाती है। बंगला देश पर भारतीय दृष्टिकोण को सोवियत संघ ने भली भाँति समझा है। इस वक्तव्य में बंगाल की घटनाओं की उत्पत्ति तथा भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की कारवाइयों का पूर्ण विवरण दिया गया था।

6 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् का दूसरा बैठक हुई। अमेरिका ने फिर एक भारत विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसको चीन का पूरा समर्थन मिला। सोवियत संघ ने पुनः वीटो का प्रयोग करके इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इस प्रकार अमरिका और चीन द्वारा पाकिस्तान को मुसीबत से बचाने के लिए भारत पर दोषारोपण करने के अमरीकी प्रयास को सोवियत संघ ने दूसरी बार वीटो का प्रयोग करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सुरक्षा परिषद् में तीसरी बार भी वीटो का प्रयोग करके सोवियत संघ ने भारत का पूरा समर्थन किया।

10 दिसम्बर को जब युद्ध भयानक रूप से चल रहा था भारतीय कूटनीतिज्ञ डी॰ पी॰ धर राय मशविरा के लिए मास्को गये। भारत पाकिस्तान युद्ध में बाह्य हस्तक्षेप को रोकने में सोवियत संघ संधि के अन्तर्गत भारत की क्या मदद कर सकता था इसी प्रश्न पर विचार विमर्श करना इस यात्रा का उद्देश्य था। इसी तरह 12 दिसम्बर को जब सोवियत उपविदेश मन्त्री वेसाली कुजनेटसोव भारत आये और राय-मशविरा के लिए तबतक दिल्ली में जमे रहे जबतक युद्ध का अन्त नहीं हो गया। सोवियत संघ ने धर तथा कुजनेटसोव के जरिये भारत सरकार को आश्वासन दिया कि वह हर हालत में भारत की पूरी सहायता करेगा और संधि के अन्तर्गत दिये गये वचनों को निभायेगा।

इसी समय यह खबर आयी कि ढाका में स्थित पश्चिमी नागरिकों को हटाने के लिए अमरिका का सातवाँ बेड़ा बंगाल की खाड़ी की ओर रवाना हो चुका है। यह एक सनसनीखेज घटना थी और कुछ समय तक ऐसा लगा कि अमरिका पाकिस्तान का पक्ष लेकर युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से शामिल होना चाहता है। इसी संकटापन्न स्थिति में सोवियत संघ ने भी प्रक्षेपास्त्रों से युक्त रूसी युद्धपोतों को भी कोरियाई सागर से हिन्द महासागर की ओर बढ़ने का आदेश दे दिया ताकि अमरिका के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का कारगर मुकाबला किया जा सके। सोवियत युद्धपोतों की रवानगी की खबर से भारत को अपना मनोबल ऊँचा करने में बड़ी मदद मिला।

जब भारत ने एकतरफा युद्ध विराम की घोषणा की तो सोवियत सरकार ने खुले दिल से इसका स्वागत किया और शान्ति की दिशा में इसे एक महत्त्वपूर्ण कदम बताया। उसने महा शक्तियों को फिर से चेतावनी दी कि उपमहाद्वीप में स्थिति

स्थिरता कायम करने में आपसी सहयोग के साथ ही सब देशों के समान प्रयास से काम करने पर जोर दिया गया क्योंकि इससे एशिया के देशों में सद्भाव बढ़ेगा तथा सामाजिक और आर्थिक विकास पर वे सुरक्षा की भावना के साथ काम कर सकेंगे। दोनों देशों ने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शान्ति तथा मैत्रीपूर्ण सहयोग की स्थापना को व्यावहारिक लाभ तथा बड़े तथा छोटे देशों तक पहुँचाने पर जोर दिया। दोनों देशों ने यूरोप में सुरक्षा और सहयोग के लिए प्रस्तावित सम्मेलन की सफलता की कामना की। साथ ही उपनिवेशवाद एवं प्रजातीय विभेद की नीति खत्म करने पर बल दिया। घोषणा में भारत और सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए इसे हर दृष्टि से मजबूत बनाने का संकल्प किया। दोनों नेताओं ने हथियारों की होड़ रोकने तथा आम एवं पूर्ण निरस्त्रीकरण पर बल दिया। कहा गया कि इसमें परमाणविक आयुध भी शामिल किए जाने चाहिए। दोनों देशों ने हिन्द महासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाये रखने की अपनी इच्छा व्यक्त की। घोषणा पत्र में भारतीय उपमहाद्वीप में आपसी बातचीत के द्वारा विभिन्न समस्याओं के हल तथा शिमला समझौते के कार्यान्वयन पर जोर दिया गया तथा उपमहाद्वीप की स्थिति परी तरह सामान्य बनाने की दिशा में अगस्त 1973 के भारत पाकिस्तान समझौते को महत्वपूर्ण कदम बताया गया। दोनों नेताओं ने पश्चिम एशिया की स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए सुरक्षा परिषद् के प्रस्तावों को तेजी से लागू करने पर जोर दिया। यह कहा गया कि जब तक अरब क्षेत्रों को इजरायल खाली नहीं कर देता तब तक वहाँ की स्थिति सामान्य नहीं हो सकती।

आर्थिक समझौता—ब्रेजनेव के इस दिल्ली प्रवास के दौरान भारत और सोवियत संघ के बीच सम्बन्धों को नयी दिशा देने तथा उसे नये तत्वों से परिपूरित करने की दिशा में 29 नवम्बर 1973 को नयी दिल्ली में तीन ऐतिहासिक समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये जिनके अधीन व्यापार तथा आर्थिक सहयोग बढ़ाने, दोनों देशों के योजना आयोगों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक-दूसरे के सरकारी प्रतिनिधियों को विशेष सुविधाएं प्रदान करने की व्यवस्था की गयी।

आर्थिक और व्यापारिक सहयोग समझौते के अन्तर्गत सोवियत संघ भारत को उसकी प्रमुख योजनाओं के लिए सहायता की नयी किस्त देगा। इस समझौते में उद्योगों के अतिरिक्त कृषि क्षेत्र को भी शामिल किया गया। इस समझौते का उद्देश्य आत्मनिर्भरता की दिशा में भारत के प्रयासों को सफल बनाना बताया गया। सोवियत संघ ने बोकारो इस्पात विस्तार योजना में एक करोड़ टन और भिलाई इस्पात योजना में सत्तर लाख टन उत्पादन वृद्धि के लिए ऋण देना स्वीकार किया। समझौते के अन्तर्गत उसने मथुरा तेलशोधक तथा कलकत्ता भूगर्भ रेलवे और मलाजखंड ताम्बा परियोजना की स्थापना के लिए भी ऋण देना स्वीकार किया। समझौते में कहा गया कि ऋण के भुगतान की प्रक्रिया की शर्तों पर अलग से समझौता होगा।

ब्रेझनेव की एशियाई सुरक्षा का सिद्धान्त कोई नया नहीं है। पहले भी इन्हीं सिद्धान्तों का निरूपण किया गया था। लेकिन पिछले वर्षों में एशिया की राजनीतिक परिस्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं और ऐसी बदली हुई परिस्थिति में ब्रेझनेव सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ और सोवियत नेताओं ने प्रयास किया कि एशियाई देश इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लें। लेकिन भारत सरकार की प्रतिक्रिया कभी भी इन सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं रही। नवम्बर 1973 में ब्रेझनेव की भारत यात्रा के दौरान यह आशा व्यक्त की गयी कि सामूहिक सुरक्षा पद्धति को स्वीकार करने के लिए सोवियत संघ भारत पर जोर डालेगा। ब्रेझनेव ने भारतीय नेताओं से अपनी बातचीत और अपने सार्वजनिक भाषणों में इस योजना का काफी विस्तारपूर्वक जिक्र किया। उन्होंने कहा कि यूरोपीय सुरक्षा की तरह एशियाई महाद्वीप में भी इस तरह के सामूहिक सहयोग तथा सुरक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। ब्रेझनेव का विचार था कि एशिया में सामूहिक सुरक्षा से इस महाद्वीप की शान्ति और सुरक्षा की समस्याओं के सम्बन्ध में ऐसा एक दृष्टिकोण अपनाया जा सकेगा जो सभी सम्बद्ध देशों को मान्य होगा। उन्होंने कहा कि हम चाहते हैं कि इस प्रश्न पर सक्रिय व्यापक और रचनात्मक ढंग से विचार किया जाय ताकि इस जरूरी कार्य के विषय में समय रहते हो सके। इस महान लक्ष्य के लिए प्रयत्न और संघर्ष करना जरूरी है।

लेकिन भारत ने ब्रेझनेव की इस योजना को व्यावहारिक नहीं माना क्योंकि उसकी अपनी समस्याएं और परिस्थितियाँ थीं। इसी कारण भारतीय नेताओं ने ब्रेझनेव योजना पर किसी तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की और न सोवियत संघ ने ही भारत पर किसी तरह का दबाव डाला। सम्भवतः इसी वजह से ब्रेझनेव की यात्रा की समाप्ति पर जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गयी उसमें एशियाई सामूहिक सुरक्षा पद्धति का कोई उल्लेख नहीं किया गया।

सोवियत आर्थिक सहायता—ब्रेझनेव की भारतीय यात्रा के इस अवसर पर सोवियत संघ ने भारत को कई तरह की सहायता देने का भी आश्वासन दिया। इस समय भारत भीषण आर्थिक संकट में घिरा हुआ था। ऊर्जा का संकट विशेष रूप से बढ़ गया था तथा इसे तत्काल सहायता की जरूरत थी। अतः सोवियत संघ ने एक वर्ष के भीतर बीस लाख टन खनिज तेल और पाँच लाख टन मिट्टी का तेल देने का आश्वासन दिया। इसके अलावा उसने खनिज तेल की खोज और सुधार के लिए नये संयन्त्र भेजने का भी वादा किया।

इस तरह भारत और सोवियत संघ की मित्रता और उनके आपसी सहयोग सम्बन्ध दिनोदिन बढ़ता जा रहा है।

✱

अध्याय ६

भारत-चीन सम्बन्ध

(Sino Indian Relations)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि —चीन के साथ भारत के सम्बन्ध ने भारतीय विदेश नीति को जितना प्रभावित किया है उतना शायद किसी अन्य देश के साथ हमारे सम्बन्ध ने नहीं किया है। भारत और चीन के मध्य अत्यन्त प्राचीन काल से ही अत्यन्त मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा है। भूतकाल में दोनों के बीच प्रगाढ़ मैत्री सम्बन्ध था। एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद के आगमन से दोनों का यह मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध एकाएक टूट गया। ब्रिटिश काल में चीन के साथ भारत का जो सम्बन्ध कायम रहा उसका एकमात्र उद्देश्य चीन की जनता को साम्राज्यवादी शोषण का शिकार बनाना था। चीन की जनता पर अपनी गुलामी लादने के लिए ब्रिटिश भारतीय सरकार ने खुलकर भारतीय साधनों का प्रयोग किया। चीन को युद्ध में पराजित करने तथा चीनी राष्ट्रवाद को कुचलने के लिए भारतीय सेना का प्रयोग करने में ब्रिटिश सरकार ने जरा भी संकोच का अनुभव नहीं किया। यद्यपि भारत की जनता इस साम्राज्यवादी नीति में किसी तरह का सहयोग करना नहीं चाहती थी लेकिन यह सरकार को रोक भी नहीं सकती थी। चीन के लोग भारतीयों की इस विवशता को समझते थे और सम्भवतः इसी कारण दोनों की जनता के बीच किसी तरह का मनमुटाव पैदा नहीं हुआ। इसके विपरीत औपनिवेशिक दासता के अनुभव ने उन्हें एक-दूसरे के सन्निकट लाकर खड़ा कर दिया।

आधुनिक काल में भारत और चीन के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध 1927 में हुए पददलित राष्ट्रों के ब्रुसेल्स सम्मेलन में हुआ। इस सम्मेलन में भारतीय तथा चीनी प्रतिनिधियों की संयुक्त विज्ञप्ति निकाली गयी जिसमें कहा गया था कि पश्चिमी साम्राज्यवाद से एशिया की मुक्ति के लिए भारत और चीन का सहयोग परम आवश्यक है। इसी विज्ञप्ति में चीन में ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीय सेनाओं के प्रयोग की निन्दा की गयी। चीन के प्रति भारत में अपार सहानुभूति थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने कई प्रस्तावों को स्वीकार करके चीन के प्रति ब्रिटिश नीति की आलोचना की। 1931 में जब जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण किया गया तो चीन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने के लिए चीन दिवस (China Day) मनाया गया और भारत में जापानी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन चलाया गया। फिर 1937 में जब चीन और जापान के साथ युद्ध शुरू हुआ तो भारत ने पुनः चीन के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की। इस पृष्ठभूमि में यह स्वाभाविक था कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद स्वाधीन भारत अपने इस पड़ोसी राष्ट्र के साथ अच्छे सम्बन्ध कायम रखने का प्रयास करे।

नगाने रता ना मामना जात थी। आम जनता म राजनीतिक चतना का अभाव था। सम्पूण शक्ति तथा सुविधाए मठाधीशो और समाज क उच्चवर्गीय लामा गाय म केन्द्रित थी। देश की अधिकतर कृषि भूमि भी शताब्दियो स विहारो मठो तथा उच्चवर्गीय लामाओ क अधिकार म रही। तिब्बत की प्राचीन सभ्यता सस्कृति की यह सबस मुख्य विशषता थी।

सातवी शताब्दी म तिब्बत एक शक्तिशाली राज्य था परन्तु अठारहवी शताब्दी म छठे दलाई लामा क उत्तराधिकार क प्रश्न पर तिब्बतियो और मगोलो म झगडा हो गया तथा चीन न तिब्बत की राजधानी ल्हासा पर अधिकार करक सातवें दलाई लामा की अपन इच्छानुसार नियुक्ति कर दी।

तिब्बत और भारत —भारत म अग्रजी शासन स्थापित हो जान क बाद तिब्बत स सम्पर्क स्थापित करन का सबस पहला प्रयास भारत म अग्रज गवनर जनरल वारेन हेस्टिग्स न किया। उसन तिब्बत क शासन स मत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किय। इसी बीच नपाल न तिब्बत पर हमला कर दिया। तिब्बत क शासको न यह सन्देह किया कि इस हमल क पीछ अग्रेजो का हाथ है। अत उन्होन ईस्ट इण्डिया कम्पनी क साथ अपन सारे सम्बन्ध तोड दिय। बाद म अग्रजो न तिब्बत क साथ सम्बन्ध कायम करन क अनक प्रयास किय परन्तु उनका कोई नतीजा नहीं निकला।

इस समय तक तिब्बत चीन का भाग माना जान लगा था। इसलिए 1890 म भारत क अग्रज शासको न भारत तिब्बत सीमा निर्धारित करन क लिए चीन क साथ एक सन्धि की। बाद म तिब्बत क शासको न इस सन्धि को मानन से इन्कार कर दिया। इसी समय तिब्बत क मामल म जारशाही रूस रुचि लेन लगा और तिब्बत क दलाई लामा स रूसियो न सन्धि का प्रस्ताव रखा। इस पर अग्रेज बहुत घबराय। बौद्ध भिक्षुओ क रूप म उन्होन कुछ जासूसो को तिब्बत भेजा जिन्होन छुपकर तिब्बत का पूरा नक्शा बना लिया और सामरिक महत्त्व क स्थानो का पता लगा लिया। इस समय भारत का गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन था। वह घोर साम्राज्यवादी था। तिब्बत म रूस क बढत हुए प्रभाव को वह सह नहीं सकता था। अतएव 1904 म उसन यगहसबण्ड नामक एक सनापति क नतृत्व म एक सेना भेजी जो ल्हासा तक पहुँच गयी। दलाई लामा तिब्बत स भाग खडा हुआ और उसन चीन म शरण ली। यगहसबण्ड न तिब्बत क अधिकारियो को एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने क लिए बाध्य किया। इस आक्रामक सन्धि को तिब्बत क सरक्षक चीन से मान्यता प्राप्त करन क उद्देश्य स अग्रजो न 1906 म चीन क साथ एक सन्धि की। इस सन्धि क द्वारा ब्रिटेन न तिब्बत पर चीन की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार कर लिया। सन्धि क द्वारा यह निश्चित हुआ कि तिब्बत की राजधानी ल्हासा म भारत सरकार का एक एजेण्ट रहेगा तथा ग्यान्त्से तक डाक तार घर बनवाने का अधिकार भी भारत सरकार को रहेगा। व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा क लिए भारत सरकार को तिब्बत म अपनी सेना रखन का अधिकार भी प्राप्त हुआ।

हान का प्रयास किया। फिर भी चीन को जब जब मौका मिला उसने तिब्बत की स्वायत्तता नष्ट करके उसे अपना अभिन्न अंग बनाने का प्रयास किया।

तिब्बत के सम्बन्ध में एक और बात थी। ये ही भारत सरकार के कुछ हित थे। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि यह भारत और चीन के बीच एक मध्यवर्ती राज्य (buffer state) था। इस कारण सुरक्षा की दृष्टि से इसका सामरिक महत्व था।

कम्युनिस्ट चीन और तिब्बत—1949 में जब चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई तो यह अवश्यम्भावी था कि तिब्बत के सम्बन्ध में नयी सरकार कोई प्रभावकारी कदम उठावे। तिब्बत और पश्चिम में तुरन्त ही संघर्ष हो गया। तिब्बत के अधिकारी ल्हासा से चीनी मिशन को हटाने का प्रयास करने लगे। तिब्बत के इस प्रयास को चीन की नयी सरकार ने शंका की दृष्टि से देखा और समझा कि वह अपने को चीनी प्रभाव से मुक्त करना चाहता है। अतएव कम्युनिस्ट चीन की सरकार ने तुरत ही तिब्बत पर अपने अधिकारों का दावा किया। जनवरी 1950 को चीन ने साम्राज्यवादी षडयन्त्रों से तिब्बत को मुक्ति दिलाने की घोषणा की। अगस्त 1950 में चीन की सरकार ने घोषणा की कि तिब्बत पर शीघ्र ही आक्रमण किया जायगा। इस पर भारत ने चीन को एक विरोध पत्र भेजा और तिब्बत की समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने का अनुरोध किया। भारत तिब्बत में अपने विशेषाधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार था। वह तिब्बत में चीन की सर्वोच्च सत्ता को भी मानने के लिए तैयार था परन्तु साथ ही यह चाहता था कि उसकी (तिब्बत) स्वायत्तता बनी रहे। चीन ने उत्तर में लिखा कि वह तिब्बत को चीन का अभिन्न अंग मानता है। फिर भी यह बल प्रयोग करना नहीं चाहता है। चीन ने यह भी लिखा कि वह तिब्बत के प्रतिनिधि से समझौता वार्ता करने को तैयार है। इस पर नयी दिल्ली में चीनी राजदूत और तिब्बती प्रतिनिधि के बीच वार्ता शुरू हुई जो अक्तूबर तक चलती रही।

25 अक्तूबर 1950 को चीन ने तिब्बत पर एकाएक आक्रमण कर दिया। तिब्बती सेनाओं ने यथाशक्ति प्रतिरोध किया परन्तु वह चीन की विशाल शक्ति का सामना करने में असमर्थ रही। भारत ने चीन को विरोध पत्र भेजा जिसके उत्तर में कहा गया कि चीन का उद्देश्य तिब्बत को साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति दिलाना है। चीन ने यह भी लिखा कि तिब्बत सम्बन्धी उसकी कार्यवाही उसका घरेलू मामला है और इस बारे में भारत का विरोध विदेशी प्रभाव के कारण है। चीन ने भारत पर आरोप लगाया कि वह साम्राज्यवादी शक्तियों के बहकावे में आकर चीन के आन्तरिक मामलों में दखल दे रहा है। 23 मई 1951 को चीन और तिब्बत के मध्य निम्नलिखित सन्धि हुई—

(i) तिब्बत को स्वायत्त शासन का पूर्ण अधिकार होगा और चीन उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(ii) परन्तु तिब्बत के विदेशी सम्बन्धों का संचालन चीन पर होगा।

जिसमें चीन को भी शामिल किया गया। चीन के साथ अपने व्यवहार की सदाशयता का प्रदर्शन करते हुए भारत ने अफ्रीकी एशियाई देशों के साथ चीन के सम्पर्क को घनिष्ठ कराने में उसकी मदद की। यह सारा काम हिन्दी चीनी भाई भाई के युग में हुआ।

लेकिन तिब्बत के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की आलोचना आज भी भारत में होती है। यह कहा जाता है की चीन के प्रति भारतीय नीति की यह पहली असफलता थी। भारत को किसी भी कीमत पर चीन के आधिपत्य को मान्यता न देनी चाहिए थी और तिब्बत की स्वायत्तता के लिए उसे सैनिक हस्तक्षेप भी करना चाहिए था। लेकिन यदि हम वस्तुस्थिति का सही से अवलोकन करें तो यह सम्भव न था। भौगोलिक परिस्थिति के कारण सैनिक हस्तक्षेप करना उस समय बहुत कठिन था। दूसरे भारत ने कभी इस तथ्य को मानने में इन्कार नहीं किया कि तिब्बत पर चीन की सर्वोच्च सत्ता है। उसका विरोध केवल बल प्रयोग से था और इस बल प्रयोग को रोकने में सैनिक दृष्टि से वह असमर्थ था। अतएव भारत सरकार के समक्ष वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं था।

तिब्बत का विद्रोह और भारत—पंचशील सन्धि के पांच वर्ष बाद तिब्बत में चीन के विरुद्ध विद्रोह शुरू हो गया। इस विद्रोह का मुख्य कारण भूमि-सुधार था। हम कह चुके हैं कि तिब्बत में अभी भी मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था कायम थी। देश की अधिकतर कृषि भूमि शक्ति और सुविधाएं मठाधीशों और समाज के उच्चवर्गीय लोगों के हाथों में केन्द्रित थी। लामा लोग वहाँ के सबसे बड़े भू स्वामी थे। फिर जब तिब्बत पर कम्युनिस्टों का अधिकार कायम हुआ तो निश्चित था कि यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल सकती थी। वहाँ भूमि-सुधार का होना अनिवार्य था और उतना ही अनिवार्य भूमि के निहित स्वार्थों का विरोध था। नये सुधारों के काम में तिब्बती लोगों का सहयोग प्राप्त करने के लिए चीनियों ने हजारों की संख्या में तिब्बती युवकों को विभिन्न विषयों के प्रशिक्षण के लिए चीन भेजा। सदियों से विहारों और मठों में सभाओं द्वारा अंधविश्वास कायम रखने के लिए तिब्बतियों को शिक्षा दी जाती थी। कम्युनिस्ट शासन ने नये-नये स्कूलों का निर्माण किया जहाँ आधुनिक ढंग से विभिन्न कलाओं और वैज्ञानिक ढंग की शिक्षा दी जाने लगी। इसके अलावा नयी नयी सड़कों, अस्पतालों, आधुनिक भवनों और हवाई अड्डों का निर्माण हुआ। गुलामी और बेगारी की प्रथा उठा दी गयी। साम्यवादी सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाने लगी। इन कार्यों से तिब्बत की आम जनता में राजनीतिक चेतना आयी और उनके शोषण का अन्त हो गया। सुविधायुक्त वर्ग अर्थात् लामाओं और उच्चवर्गीय लोगों को इन सारी सुविधाओं से वंचित हो जाना पड़ा। इस हालत में तिब्बत में विद्रोह का होना अनिवार्य हो गया।

1956 में तिब्बत में खम्पाओं का जो विद्रोह शुरू हुआ और जो 1958 तक चलता रहा उसके सम्बन्ध में चीन कम्युनिस्ट सरकार का कहना था कि उसको शुरू

करतवा पुरान चाना समाज म यहा सुविधाप्राप्त वग थ जिनका विन्ता तत्वों म पयाप्त सहायता मिली। इस विद्रोह को दलाईलामा का समथन प्राप्त था। चीन क शासकों न इस विद्रोह को बडा बरहमी क साथ कुचला। मठा की सम्पत्तियाँ जब्त कर ली गयीं और लामाओं को कद कर लिया गया। 31 दिसम्बर म स्वयं तिब्बत की आम जनता ने भी इन लामाओं का साथ दिया। चीनी सनिकों न विद्रोहियों की सहायता करन क सन्दह म एक हजार तिब्बतियों को पकड़कर जल म बन्द कर दिया। हजारों की सख्या म तिब्बती देश छोड़कर भाग खडे हुए। दलाईलामा को भी तिब्बत देश छोड़कर भागना पड़ा। वह भागकर भारत आए और भारत सरकार ने उन्ह शरण दी। चीन की सरकार ने इस शत्रुतापूर्ण काय बतलाया और भारत पर विस्तारवादी होने का आरोप लगाया। दोनों आर स शीत युद्ध शुरू हुआ और आरोपों तथा प्रत्यारोपों के कारण दोनों का सम्बन्ध अत्यन्त बिगड़ गया। चीन न तिब्बत म भारतीय व्यापारियों और यात्रियों पर रोक लगा दी। इस सम्बन्ध म भारत सरकार द्वारा भी भेज गय विरोध-पत्र को रद्दी की टोकरी म डाल दिया गया।

भारत चीन सीमा विवाद

इस समय तक भारत और चीन क बीच सीमा को लकर भी घोर विवाद शुरू हो गया था। 1950 51 म ही कम्युनिस्ट चीन के नक्श म भारत के एक बहुत बड़े भू भाग को चीन का अंग दिखलाया गया था। जब भारत सरकार न चीन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया तो उस यह जवाब मिला कि य नक्श कुओमिन्तांग सरकार के पुरान नक्श हैं और चीन की नयी सरकार को इतना समय नहीं मिला कि वह इसमें उपयुक्त संशोधन कर सके। चीन न यह भी आश्वासन दिया कि भारत को इस बार म चिंतित होन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि समय मिलन पर इन नक्शों को ठीक कर लिया जायगा। यह हिन्दी चीनी भाई भाई का युग था और इसलिए भारत सरकार ने चीन की ईमानदारी पर सन्देह नहीं किया। लकिन कम्यु निस्ट चीन न कभी भी अपना नक्शा नहीं बदला और इसक प्रत्यक संस्करण म भारतीय भू भागों पर चीन का दावा बना रहा।

भारत और चीन का सीमा विवाद मुख्यत दो सीमान्तों क बार है। उत्तर पूव म मकमहोन रखा (Mc Maohon Line) और उत्तर-पश्चिम में लद्दाख।

मकमहोन रेखा —भारत मकमहोन रेखा को अपन और चीन क बीच एक निश्चित सीमान्त रेखा मानता है। लेकिन चीन इसको साम्राज्यवादी रेखा कहता है। उसका कहना है कि इसको भारत के साम्राज्यवादी ब्रिटिश अधिकारियों न तत्कालीन चीन पर जबरदस्ती आरोपित कर दिया था जिसको चीन की किसी सरकार न कभी मान्यता नहीं दी है। मकमहोन रेखा की उत्पत्ति 1914 क शिमला सम्मेलन म हुई थी। नेपाल भूटान सिक्किम और तिब्बत क बीच स्पष्ट सीमा रेखा नहीं होन के कारण हमेशा सीमा विवाद पैदा होता रहता था। इस पर विचार करन

अप्रैल 1955 के बाद भारतीय सीमा पर चीन की कार्यवाही जोर पकड़ने लगी और इसका प्रारम्भ हुई । चीन ने बाराहोती पर अधिकार कर लिया और अपनी सेना की एक टुकड़ी वहाँ स्थायी रूप से स्थापित कर दी । अप्रैल 1956 में चीनी सैनिक टुकड़िया ने दमजान और बाराहोती प्रदेश में प्रवेश किया । इसी प्रकार शिपकी दर्रा तथा दूसरी ओर युद्ध में भी अनधिकार प्रवेश किया गया । 1957 में इन सैनिक टुकड़ियों ने लाहौर टिविलन में प्रवेश किया और जुलाई 1958 में लद्दाख के खुरनाक किले पर अपना कब्जा कर लिया । लद्दाख में चीन ने भारत के एक बहुत बड़े भू भाग पर दावा किया । दावा ही नहीं उसने भारत की प्रादेशिक सीमा में अक्साई चीन (Akshai Chin) तक को अनाधिकृत रूप से बना लिया । भारत सरकार को इस तथ्य की जानकारी पहले से थी लेकिन भारतीय जनता से इसको छिपाकर रखा गया था । इसलिए जब भारतीय जनता को यह ज्ञात हुआ कि भारत चीन सीमा रेखा पर चीन की सशस्त्र टुकड़ियों ने भारत का बहुत सा क्षेत्र दबा लिया है और अधिक भूमि हस्तगत करने की तैयारी कर रहा है तब वह हतप्रभ हो गया । आलोचकों को खण्डन का मौका और पकड़ने लगा । लांगजू चौकी पर चीनी सेना के कब्जे तथा लद्दाख में भारतीय गश्ती दल पर किये गये चीनी आक्रमण से तो यह असन्तोष और भी उग्र हो गया । इसी समय तिब्बत में विद्रोह हुआ और दलाई लामा भागकर भारत आया । भारत में उसको शरण दी गयी । इस कारण चीन की सरकार भारत सरकार से और अधिक क्रुद्ध हो गयी । इसके बाद से ही तिब्बत में भारतीय व्यापारियों और तीर्थयात्रियों के मार्ग में नाना प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न की जाने लगी । पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों सीमाओं पर चीन की हरकतें तेजी से शुरू हो गयीं तथा उसने भारतीय सीमा के विभिन्न प्रदेशों में अपने सैनिक दस्ते भेजने और चौकियाँ स्थापित करने का कार्य आरम्भ कर दिया । 23 जनवरी 1959 के पत्र में चीन की सरकार ने यह स्पष्ट किया कि भारत और चीन के बीच कभी भी सीमाओं का निर्धारण नहीं हुआ है और तथाकथित सीमाएं चीन के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्यवादी षड्यन्त्र का परिणाम मात्र है । चीन ने मैकमोहन रेखा को गैरकानूनी घोषित कर दिया और उस गैर परम्परागत सीमा मानने से इन्कार कर दिया । 20 अक्टूबर 1959 को चीन की सेनाओं ने लद्दाख के कोंगका दर्रे के क्षेत्र में घुसकर नौ भारतीय सिपाहियों को मार डाला और दस को बन्दी बनाकर सीमा के उस पार ले गये ।

समझौता वार्ता —चीन की इन सारी कार्यवाहियों से भारत का जनमत उत्तेजित हो गया और शान्तिपूर्ण सैनिक कार्यवाही के लिए व्यापक माँग होने लगी । लेकिन पण्डित नेहरू ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया । उनका तर्क था कि भारत सभी अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान के लिए वचनबद्ध है । चीन की इन कार्यवाहियों को भारत पंचशील का उल्लंघन मानता रहा और उनका विरोध करता रहा ।

इस बारे में सीमा विवाद से उत्पन्न समस्याओं का समाधान के लिए दोनों

पवाल है। ब्रिटेन में भी ऐसी प्रतिक्रिया हुई। युद्ध शुरू होते ही ब्रिटिश सरकार और लगभग सभी ब्रिटिश पत्र पत्रिकाओं ने भारत का पक्ष लिया। (केवल जगत् प्रसिद्ध और वयोवृद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसल ने युद्ध के लिए भारत को दोषी ठहराया।) महारानी एलिजाबेथ ने कहा कि भारत पर इस आक्रमण से मेरी सरकार को गहरा धक्का लगा है। राष्ट्रमण्डलीय देशों में कनाडा ने बड़े उत्साह एवं सहानुभूति के साथ भारत का समर्थन किया।

युद्ध शुरू होने और लगातार भारतीय सेना की पराजय के कारण भारतीय जनमत ने भारत सरकार पर दबाव डाला कि वह देश की रक्षा के लिए पश्चिमी देशों से सैनिक सहायता की याचना करे। न चाहते हुए भी जवाहरलाल नेहरू को पश्चिमी देशों से ऐसी प्रार्थना करनी पड़ी। भारतीय प्रार्थना के प्रत्युत्तर में अमरीका ब्रिटेन और उसके तुरन्त बाद फ्रांस पश्चिमी जर्मनी आस्ट्रेलिया और कनाडा ने इस गति से भारत को प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी। इन देशों द्वारा भेजे गये अस्त्रशस्त्र ठीक समय पर भारत पहुँचे और भारतीय सैनिकों को जो अब तक पुराने शस्त्रों से ही लड़ रहे थे तुरन्त नये शस्त्रों से सुसज्जित किया जा सका। इन्हीं दिनों अमरीकी सेना के उच्च अधिकारी और ब्रिटेन के राष्ट्रमण्डलीय मन्त्री भी भारत पहुँचे। उन्होंने भारत का भ्रमण करके कई दिनों तक सैनिक दृष्टि से वस्तु स्थिति की जाँच की और भारतीय सैनिक आवश्यकताओं का अध्ययन किया। बाद में अमरीका और राष्ट्रमण्डलीय देशों ने अपने सैनिक शिष्टमण्डलों को भेजकर भारत को हवाई और सैनिक सहायता देने के लिए एक विस्तृत प्रतिवेदन तैयार किया जिसके फलस्वरूप भारत को भारी मात्रा में सैनिक सामग्री मिलने लगी।

पश्चिम के रुख में एक और बात उल्लेखनीय है। इस संकट के समय अमरीका की ओर से ऐसा कोई प्रयास नहीं किया गया कि भारत अपनी असंलग्नता की नीति छोड़ दे। अमरीकी राजनेताओं ने भारत की नीति की प्रशंसा की। एवरेल हेरीमेन ने कहा भारत और पश्चिम के लिए यह अच्छा है कि भारत सोवियत संघ से अपना मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखे। इस प्रकार राष्ट्रपति कनेडी ने कहा था हम चाहते हैं कि तटस्थ देशों की स्वतन्त्रता की रक्षा हो। इस दृष्टि से हम तटस्थ देशों की उतनी ही सहायता करेंगे जितनी सहायता अपने गुट के देशों की करते हैं।

सोवियत रूस—भारत चीन युद्ध के मामले में सोवियत संघ की प्रतिक्रिया प्रारम्भ में अत्यन्त निराशाजनक रही लेकिन बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि उसका रुख भारत के पक्ष में है। 25 अक्टूबर 1962 के प्रावदा के सम्पादकीय लेख में खुले रूप में चीन की 24 अक्टूबर वाली शर्तों का समर्थन किया गया। लेख में भारत से आग्रह किया गया था कि वह चीन के रचनात्मक प्रस्तावों को शान्तिपूर्ण समझौते के लिए स्वीकार कर ले। सीमा विवाद में चीन का पक्ष लेते हुए इसने कुख्यात मैकमोहन रेखा की निन्दा की तथा इसे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की विरासत बताया। 5 नवम्बर के अग्रलेख में प्रावदा ने युद्ध बन्द कर

म पाकिस्तान के विरुद्ध व्यवहार करने के लिए पश्चिम में अधिकाधिक नतिक समर्थन प्राप्त कर सके। राष्ट्रपति अयूब खाँ ने अपने पश्चिमी मित्रों को चेतावनी दी कि यदि सिआटो और सेंटो का पाकिस्तान के लिए कोई महत्व सिद्ध नहीं होता तो उनसे अलग हट जायगे। इसके बाद अयूब खाँ ने यह भी सुझाव दिया कि यही समय है जब ब्रिटेन और अमरिका भारत को कश्मीर प्रश्न पर झुकने के लिए बाध्य कर सकते हैं। पश्चिमी गुट को पाकिस्तानी विरोध पर ध्यान देना पड़ा और भारत पर उन्होंने दबाव डाला कि कश्मीर के प्रश्न पर वह पाकिस्तान से वार्ता करे। किन्तु यद्यपि दोनों देशों के मध्य यह वार्ता कई दौर में चली भी लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला।

तटस्थ राष्ट्रों की प्रतिक्रिया —भारत चीन युद्ध की जो प्रतिक्रिया तटस्थ राष्ट्रों में हुई वह अत्यन्त ही आश्चर्यजनक था। इण्डोनेशिया और उसके राष्ट्रपति सुकर्ण के लिए भारत ने जितना किया था उतना शायद ही किसी और देश ने किया था। किन्तु भारत के संकट के समय वे चुपचाप ही रहे। मिस्र के राष्ट्रपति नासिर यूगोस्लाविया के टीटो तथा घाना के एनक्रूमा भारत के गहरे मित्र माने जाते थे परन्तु उन्होंने भी दिल खोलकर भारत का साथ नहीं दिया। घाना के एनक्रूमा ने भारत को शस्त्र सहायता देने के लिए ब्रिटेन से विरोध भी प्रकट किया। टीटो और नासिर भी लगभग चुप रहे।

चीन की दूसरी धमकी —चीन ने भारत की 8 सितम्बर से पद की स्थिति स्थापित होने की माँग को ठुकरा दिया और यह धमकी दी कि इस बात पर अड़े रहने से सीमा संघर्ष सुलझ नहीं पायगा। उसने भारत को आक्रामक बतलाया। इतना ही नहीं कोलम्बो सम्मेलन प्रारम्भ होने से पूर्व उसने धमकी से भरा भारत विरोधी प्रचार किया ताकि सम्मेलन के समस्त राष्ट्रों को धमका कर उन्हें भारत की न्यायसंगत माँगों का समर्थन करने से रोक सके। अपने इस प्रयास में वह बहुत हद तक सफल भी रहा। सम्मेलन के एक दिन पूर्व चीन ने भारत को एक धमकी भरा पत्र भेजकर निम्न बातों का हाँ या ना में उत्तर देने को कहा

(1) भारत युद्ध विराम का प्रस्ताव स्वीकार करता है या नहीं

(2) भारत चीन का यह प्रस्ताव स्वीकार करता है या नहीं कि दोनों देशों की सेनाएं 7 नवम्बर 1959 की नियन्त्रण रेखा से बीस किलोमीटर पीछे हट जायें

(3) भारत चीन की यह माँग स्वीकार करता है या नहीं कि दोनों देशों के अधिकारी परस्पर मिलें और सेनाओं की वापसी और विसैन्यीकृत क्षेत्र के विषय में विचार विनिमय करें।

सीमा विवाद पर इस समय तक भारत ने पूरी तरह से अपना रुख अपना लिया था। अतः चीन के प्रस्ताव को नामंजूर करते हुए जवाब दिया कि [illegible] तीय सीमा पर चीन के इस दावे को भारत सरकार या कोई भारतीय कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता इसके परिणाम चाहे कुछ भी हों। इन दावों को मानने से पूरे हिमालय का भूभाग ही बदल जाता है और इस प्रकार हम सारा हिमालय चीन

कोलम्बो प्रस्तावों के मूल में यह उद्देश्य निहित था कि भारत और चीन के मध्य स्थित पूर्ण गतिरोध की अवस्था को समाप्त करके ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर दिया जाय जिससे दोनों राष्ट्र अपने सीमा विवाद का समाधान करने के लिए वार्तालाप प्रारम्भ करने की दिशा में अग्रसर हों।

कोलम्बो सम्मेलन में भाग लेनेवाले प्रतिनिधियों ने कोलम्बो प्रस्तावों को पारित करने के उपरान्त श्रीमती भण्डारनायके से अनुरोध किया कि वे इन प्रस्तावों को दोनों राष्ट्रों की सरकारों के सामने स्वयं उपस्थित करें ताकि आवश्यक स्पष्टीकरण मौके पर ही दिया जाकर दोनों सरकारों को इस बात के लिए सम्मत किया जा सके कि वे पारस्परिक समस्याओं का शांतिपूर्ण समाधान करने के लिए प्रस्ताव को मानने हेतु उद्यत हैं।

उपर्युक्त निश्चय के अनुसार श्रीमती भण्डारनायके ने पहले चीन का और फिर भारत का दौरा किया। भारत ने कुछ स्पष्टीकरण के बाद सम्पूर्ण कोलम्बो प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और उसके स्पष्टीकरण के अनुसार पूर्वी क्षेत्र में भारतीय सेना मैकमहोन रेखा तक जा सकती। चीनी सेना भी अपने पक्ष स्थानों तक जा सकेगी लेकिन विवादग्रस्त स्थानों पर उसका जाना भी वर्जित था। 21 जनवरी 1963 को चीन के विदेश मंत्री श्री चेन यी की ने कोलम्बो प्रस्तावों को सिद्धांततः स्वीकार कर लिया लेकिन साथ ही यह भी कहा कि कुछ बातों पर चीन का अपना विचार है जिनपर वार्ता के दौरान में विचार किया जा सकता है। वास्तव में चीन कोलम्बो प्रस्ताव मानने में आनाकानी कर रहा था। उसने कोलम्बो प्रस्ताव को वस्तुतः ठुकरा दिया और इस प्रकार भारत चीन सम्बन्ध में राजनीतिक स्तर पर एक तरह का पूर्ण गतिरोध उत्पन्न हो गया। चीन के रुख से तीन बातें स्पष्ट हो गयी (1) चीन लेन देन के आधार पर भारत से राजनीतिक समझौता करना चाहता था (2) चीन कोलम्बो प्रस्तावों को पूरी तरह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था तथा (3) चीन किसी प्रकार की मध्यस्थता का विरोधी था। यह भी कहा जाता है कि यदि भारत चीन को कुछ रियायतें देने को प्रस्तुत हो जाय तो चीन नेफा और लद्दाख में खाली किये गये स्थानों पर भारतीय सेनाओं द्वारा कब्जा किये जाने का विरोध नहीं करेगा।

9 अक्टूबर 1963 को भारत सरकार को प्रधान मंत्री चाऊ-एन लाई का एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने पुनः यह सुझाव रखा कि दोनों देशों को अब वार्ताएँ शुरू कर देनी चाहिए। इसके जवाब में भारत सरकार ने चीन से कहा कि वह पहले कोलम्बो प्रस्तावों को पूरी तरह स्वीकार करे तब वार्ता शुरू करने का सुझाव रखे। उस हालत में यदि वार्ता असफल रही तो भारत चीन विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष रखा जा सकता है। लेकिन चीन इन सभी सुझावों को टालता गया। उसने यह भारत को बदनाम करता रहा।

मासिर प्रस्ताव—चीन भारत विवाद के इस गतिरोध को दूर करने के लिए 3 अक्टूबर 1963 को राष्ट्रपति नासिर ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें कोलम्बो प्रस्तावों

पाकिस्तान और चीन का नवीन मंत्री का प्रथम व्यावहारिक प्रयोग सितम्बर 1965 में हुआ जब भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई छिड़ गयी। इस लड़ाई में चीन ने पाकिस्तान का पूरा-पूरा समर्थन किया और भारत को आक्रामक बतलाया। चीन ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। इसकी व्यवस्था करने के लिए कुछ चीनी अधिकारी पाकिस्तान भी आये। भारत चीन सीमा पर चीन ने सैनिक हलचल भी शुरू कर दी।

चीन की इस गतिविधि पर भारत सरकार का रुख स्पष्ट था। वह इस सम्भावना को ध्यान में रखे हुई थी कि चीन भी इस अवसर से लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण कर सकता है। अतः चीन के खिलाफ भी भारत अपनी तैयारी जारी रखी। भारत सरकार ने स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया कि यदि चीन भारत पर आक्रमण करता है तो उसका भारत द्वारा मुकाबला किया जायगा। संयुक्त राज्य अमरिका और सोवियत संघ ने भी चीन को चेतावनी दे दी कि वह युद्ध में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं करे।

चीन का अल्टिमेटम — किन्तु चीन पर इन चेतावनियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। 16 सितम्बर 1965 को चीन की सरकार ने भारत सरकार को एक अल्टिमेटम दिया जिसमें यह माग की गयी कि तीन दिनों के अन्दर भारत सिक्किम चीन सीमा पर गैर कानूनी ढंग से बनाये हुए सैनिक प्रतिष्ठानों को हटा ले अन्यथा इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। पत्र में यह भी माग की गयी थी कि भारत सीमा पर आने और अतिक्रमण तत्काल बन्द कर दे अपहृत सीमा निवासियों और पकड़े गये मवेशियों को वापस कर दे और सीमा के पार परेशान करनेवाले हमलों से विमुख हो जाय। अन्यथा इसके गम्भीर परिणामों के लिए भारत सरकार पूरी तरह से जिम्मेदार होगी।

चीन की इस कार्यवाही से भारत में सनसनी तथा पाकिस्तान में हर्ष की लहर फैल गयी। ऐसा प्रतीत हुआ कि पाकिस्तान और भारत का युद्ध अब व्यापक रूप धारण कर लेगा। चीन यदि भारत पर आक्रमण कर देता तो परिस्थिति बहुत नाजुक हो जाती और भारत पाक युद्ध विश्व युद्ध का रूप भी धारण कर सकता था। अतएव संयुक्त राज्य अमरिका ने जिन पर विश्व शान्ति का मुख्य दायित्व है तुरन्त ही चीन को चेतावनी दी कि वह आग से साथ खिलवाड़ नहीं करे। इस तरह की चेतावनी सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरिका दोनों ने दी। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था उसने चीनी अल्टिमेटम के समय को सम्भालने का प्रयास किया। चीन की धमकी गम्भीर अवश्य थी लेकिन यह अप्रत्याशित नहीं थी। यह चीन और पाकिस्तान के अस्वाभाविक गठबन्धन का स्वाभाविक परिणाम था।

लेकिन भारत ने चीन की चुनौती को स्वीकार कर लिया। अल्टिमेटम के जवाब में 17 सितम्बर को लोकसभा में प्रधानमंत्री शास्त्री ने सिक्किम तिब्बत सीमा पर भारत द्वारा अतिक्रमण किये जाने का खंडन करते हुए कहा कि भारतीय प्रदेश पर चीन का दावा हम स्वीकार नहीं है। उन्होंने कहा कि चीन की सैनिक शक्ति हम

अन्तर्राष्ट्रीय सीमा निर्धारित करने वाले सिक्किम की तरफ के जल विभाजक तक जाती थी। जब भारतीय सुरक्षा दल द्वारा उनको चेतावनी दी गयी तो साठ चीनी सनिक टुकड़ियाँ सीमा पर आ गयी और धमकी देनेवाली बातचीत करने लगीं। बाद में 20 अगस्त 1967 को जब भारतीय सनिक सिक्किम के प्रदेश में तार खींच रहे थे तो हल्की मशीनगन तथा हथगोलों के साथ 120 चीनी सनिक टुकड़ियाँ उनके विरुद्ध डट गयीं।

ये उत्तेजनात्मक कार्यवाहियाँ 6 सितम्बर तक बहुत गम्भीर बन गयीं। इस दिन सुबह के समय जब भारतीय गश्तीदल अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के सिक्किम की तरफ नाथूला के दक्षिण की ओर बढ़ रहा था तो सशस्त्र चीनी सनिक द्वारा उसे ललकारा गया। इसमे चीनी तो सीमा के भीतर भी घुस आये। 7 सितम्बर को जब भारतीय सनिक भविष्य म होनेवाली घुसपैठ को रोकने के लिए तार खींच रहे थे तो पुन साठ चीनी सनिक टुकड़ियाँ सिक्किम के प्रदेश म घुस आयीं और वहाँ बीस मिनट तक रहा। इन सनिकों ने नाथूला स्थित लाउडस्पीकरों से उत्तेजनात्मक प्रसारण किये। 10 सितम्बर को तीन अलग-अलग अवसरा पर चीनी सनिक सिक्किम की सीमा में घुस आये।

11 सितम्बर 1967 को चीनी सनिक ने सीमा के पार के भारतीय रक्षा दला पर गोलाबारी शुरू कर दी। इसी प्रकार की उत्तेजनात्मक कार्यवाही चोला में भी की गयी। चीन सरकार यह अच्छी तरह जानती है कि सिक्किम तिब्बत सीमा एक सुपरिभाषित अन्तर्राष्ट्रीय सीमा है तथा चीन भी इसे मान्यता देता है। आक्रमण करके चीन सरकार उस क्षत्र म सघष छेड़ना चाहती है जो कि कभी भी झगड़े के कारण नहा रहा।

भारत सरकार ने स्थिति को अधिक गम्भीर बनने से रोकने के लिए तथा विवाद को दूर करने के लिए यह सुझाया कि दोनो ओर से तुरन्त युद्ध विराम हो तथा दोनो ओर के सनिक कमाण्डर नाथूला मे मिलें।

नाथूला काड की स्मृति धूमिल भी न हो पायी थी कि 2 अक्टूबर को चोला म दोनों पक्षों के बीच एक भिड त हो गयी जबकि चीनियों ने वहाँ स्थित भारतीय सनिकों पर गोलाबारी शुरू कर दी। चोला नाथूला से साढ़े तीन मील पश्चिमोत्तर म है और नाथूला की भाँति इसका भी सामरिक दृष्टि से हमारा बड़ा सनिक महत्त्व है। चोला में 2 अक्टूबर 1967 को शाम पाँच बजे तक गोलाबारी चलती रही किन्तु बाद मे वहाँ शांति हो गयी। गोलाबारी शुरू करना तथा उत्तेजनात्मक कार्यवाही करने के लिए चीन ने भारत को विरोध पत्र भेजा। भारत ने भी अपने विरोध-पत्र म चीन से माँग की कि वह सिक्किम सीमा पर आक्रमण और उत्तेजक कार्यवाहियाँ करना फौरन बाज आये नहीं तो जो भी दुष्परिणाम होंगे उसकी जिम्मेदारी चीन पर होगी। विरोध पत्र के अन्त में यह भी स्मरण दिलाया गया था कि नाथूला सम्बन्धी घटना के बाद भारत सरकार ने दोनों ओर के सनिक अधिकारियों की बातचीत का सुझाव दिया था पर यह रचनात्मक कार्य चीन की सरकार को मान्य नहीं हुआ।

की जमी भत्सना और निन्दा की कड़ी आलोचना न गरो मे स्प न तथा ति व्रत म चीन के इस त प को नहीं की। हमने एशिया और अफ्रिका के नवीन रा यो की स्वत त्रता का समर्थन किया इन्डोनेशिया की स्वाधीनता दिलाने म बड़ा भाग लिया। कि तु जब चीन न हम पर हमला किया तो किसी मित्र न हमारा साथ नहीं दिया। मिस्र इडोनेशिया आ दि देश इस मामले म मौन रहे। सोवियत सघ आरम्भ म काफी समय तक चुप रहा। उस समय सोवियत सघ के प्रमुख पत्रों न चीन को आक्रान्त घोषित करके उसकी नि दा नहीं की तथा भारत से अनुरोध किया कि वह चीन के अपमानजनक प्रस्ताव को स्वीकार करते हु बिना शर्त के युद्ध बन्द कर दे। इसके विपरीत पश्चिमी देशों—अमरिका इगल बनाडा पश्चिमी जर्मनी ने तुरत ही हमारी सहायता की। ये सारी घटनाए इस बात को सिद्ध करती हैं कि भारतीय विदेश नीति म यथार्थवादिता का पुट एक म नहीं रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपयुक्त आलोचनाओं मे सत्य का कुछ अश है। जवाहरलाल नेहरू न कहा था कि हम री मित्रता के बावजूद चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार म सामान्य नियमों की इतनी घोर उपेक्षा की है कि अब उसकी सदाशयता में हमारा विश्वास गम्भीर रूप स शिथिल हो गया है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अब हमे उसकी अपनी स्वत त्रता तथा सत्ताओं का शत्रु समझना चाहिए। यह आलोचना भी सही है कि शान्तिमय विदेश नीति के कारण सैनिक तयारी और रणसामग्री की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया। नेहरू के शब्दों म अतीत काल म हम नियन्त्रता और निरन्तरता की मानवीय समस्याओं म इतने उलझे हुए थे कि हमने प्रतिर ा की आवश्यकताओं को तुलनात्मक दृष्टिकोण से बहुत कम स्थान दिया। यह स्पष्ट है कि हम इस ओर अधिक ध्यान दें कि हम अपनी सशस्त्र सेनाओं को सुदृढ़ बनायें तथा जहाँ तक सम्भव हो सके के लिए आवश्यक सब शस्त्रों तथा अ य सामानों को अपने देश में ही तयार कर।

अतएव भारत चीन युद्ध ने भारत को अपनी प्रतिरक्षा की ओर सजग कर दिया। भारतीय ससद ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके एक एक इच भूमि पर से आक्रान्तों को खदेड़ने की प्रतिज्ञा की। प्रतिरक्षा के क्षेत्र म भारत आत्म निर्भर बनने का प्रयास करने लगा। फलत रक्षा पर उसका व्यय बहुत अधिक बढ़ गया। नतीजा यह हुआ कि भारत को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का काम पूरी तरह बन्द कर देना पड़ा। एम एस० राजन ने लिखा था भारत चीन युद्ध से हुई पराजय से एक मात्र महत्वपूर्ण शिक्षा यह मिली कि सुरक्षा व्यय न करके कल्याणकारी राज्य बनाते रहने के कारण ही अपनी क्षत्रीय अखडता की रक्षा नहीं कर सके।[1] राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के काम को त्याग कर राष्ट्र के समस्त साधन को प्रतिरक्षा पर केन्द्रित कर देने से लाभ होगा या हानि यह तो भविष्य ही बतला सकता है। लेकिन फिलहाल के

1 M S Rajan *International Studie* Chinese Aggression Numder p 17

इसके तुरत बाद राष्ट्रपति निक्सन के निजी सलाहकार डा० हेनरी किसिंजर ने गोपनीय ढंग से पेकिंग की यात्रा की और चीनी नेताओं से बातचीत की। 16 जुलाई को यह घोषित किया गया कि चीन के नेताओं ने राष्ट्रपति निक्सन को चीन भ्रमण के लिए आमंत्रण दिया है और राष्ट्रपति ने इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया है। निक्सन की यह घोषणा अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। यह इस बात का सबसे ठोस प्रमाण था कि चीन और अमरिका के पुराने तनावपूर्ण सम्बन्ध खत्म हो रहे हैं और दोनों देश अपने मतभेदों को हल करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं तथा महान राष्ट्रों के सम्बन्धों के इतिहास में एक नया युग आरम्भ होनेवाला है।

राष्ट्रपति निक्सन की घोषणा ने भारत के लिए एक नयी स्थिति पैदा कर दी। भारत के कुछ राजनीतिक क्षेत्रों का विचार था कि वाशिंगटन का यह नया कदम अमरिका, चीन और पाकिस्तान का त्रिपक्षी गठजोड़ है। इस समय भारत बंगला देश की समस्या में उलझा हुआ था। पाकिस्तान ने अमरिका और चीन को मिलाने में बिचौलिया का कार्य अदा किया था। इसलिए भारतीय नेता कुछ भयभीत अवश्य हुए। उनका अनुमान था कि बंगला देश की स्थिति पर चीन अमरिका मेल मिलाप का तत्काल प्रभाव पड़ेगा। बदली हुई राजनयिक परिस्थिति में चीन के साथ संबंध को सामान्य करने के प्रश्न पर भारत में विचार होने लगा। भारतीय समाचार-पत्र यह मांग करने लगे कि भारत को भी चीन की नवीन स्थिति को मान्यता देनी चाहिए और अपने विवादों के संबंध में समझौता करने के लिए वार्ता प्रारंभ करनी चाहिए। यह कहा गया कि 1969 के चौथा कम्युनिस्ट पार्टी की नौवीं कांग्रेस के बाद से चीनी सरकार का रुख भारत के प्रति बहुत विद्वेषपूर्ण नहीं रहा है। भारत विरोधी प्रचार की भाषा की कटुता, क्रोध तथा आरोपों की गम्भीरता क्रमशः कम होती गयी है। भारत के प्रति चीन का रुख कुछ नरम अवश्य हुआ है। भारत के आमंत्रण पर चीनी राजदूत राष्ट्रीय उत्सवों तथा राजनयिक अवसरों में शामिल होने लगे हैं। विदेशों की राजधानियों में भारतीय तथा चीनी राजदूतों का सामाजिक सम्पर्क बढ़ा है। भारत सोवियत मैत्री संधि सम्पन्न होने के केवल एक सप्ताह पूर्व मास्को में भारतीय और चीनी राजदूत एक दिन में दो बार मिले। निश्चय ही यह एक राजनयिक औपचारिकता थी। फिर भी इसका महत्व कम नहीं है। इसका इतना महत्व तो अवश्य है कि पिछले कई वर्षों से जो चीनी राजदूत इस राजनयिक औपचारिकता को नहीं बरतते थे वे इसको अब आवश्यक मानने लगे हैं। चीन के इस बदले हुए दृष्टिकोण से भारत को लाभ उठाना चाहिए। भारत सरकार भी इस आवश्यकता को महसूस करती थी और इसलिए पिछले दो वर्षों में यह कई बार कह चुकी थी कि यदि चीन से उचित प्रत्युत्तर मिले तो भारत उससे सामान्य संबंध बनाने के लिए कदम उठाने को तैयार है। 4 अगस्त 1971 को राज्य सभा में एक प्रश्न के उत्तर में विदेश मन्त्री स्वर्ण सिंह ने कहा था "भारत की आम नीति चीन के संबंधों में सुधार का स्वागत करना है लेकिन जब तक चीन से उचित प्रत्युत्तर नहीं मिलता हम अकेले कुछ नहीं कर सकते।"

कुछ लोगों का कहना था कि भारत और चीन के संबंध में सीमा विवाद को जरूरत

बाद में दोनों देशों ने अपने राजदूतों को वापस बुला लिया था। यहाँ राजदूतों को फिर से नियुक्त करने की बात उठी। चीन के प्रधान मन्त्री ने भारतीय प्रस्ताव का स्वागत किया और सुझाव दिया कि चूंकि पहले भारत ने ही अपने राजदूत को वापस बुलाया था इसलिए उनके फिर से नियुक्ति के सम्बन्ध में भारत को ही पहल करनी चाहिए। इसी बीच भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई छिड़ गयी और यह बात आगे नहीं बढ़ सकी।

बांग्ला देश की समस्या और भारत पाक युद्ध के प्रति चीन का रुख

मार्च 1971 ई० में पूर्वी पाकिस्तान की जनता ने शेख मुजिबुरहमान के नेतृत्व में पश्चिमी पाकिस्तान द्वारा उनके आर्थिक शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जनवादी चीन आरम्भ से ही पददलित मानवता का मुख्य प्रवक्ता रहा है। अतः जब बंगालियों ने औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध विद्रोह किया और पाकिस्तान ने उसका क्रूरतापूर्ण दमन शुरू किया तब यही उम्मीद थी कि चीन उन असहाय बंगालियों के साथ केवल सहानुभूति ही प्रकट नहीं करेगा वरन् उनका सक्रिय समर्थन भी करेगा। लेकिन इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विचित्र करवट ले रही थी और चीन ने बंगला देश के प्रश्न को समाजवादी सिद्धान्त के दृष्टिकोण से नहीं वरन अपने राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से देखा। पश्चिमी पाकिस्तान के तानाशाहों की निन्दा करने के बजाय उसने उनका समर्थन करना शुरू कर दिया। भारत बंगला देश की स्वतन्त्रता सेनानियों की जो मदद कर रहा था चीन ने उसकी आलोचना की और इस पाकिस्तान के आन्तरिक मामले में भारतीय हस्तक्षेप बताया। यद्यपि चीन ने बंगला देश के संघर्ष पर कभी कोई टिप्पणी नहीं की लेकिन पश्चिमी पाकिस्तान का समर्थन करके उसने वही रवैया अपनाया जो संयुक्त राज्य अमरिका का था।

इतना होने पर भी जुलाई 1971 में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बंगला देश के बारे में चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई को एक पत्र लिखा और उन्हें बंगला देश की घटनाओं से अवगत कराने का प्रयास किया। मगर चीन से इस पत्र का कोई उत्तर नहीं आया। भारत और चीन के बीच लम्बी अवधि तक किसी प्रकार के संवाद के अभाव के कारण पत्र के उत्तर की आशा नहीं करनी चाहिए थी। इस बीच निक्सन को चीन द्वारा आमन्त्रित किये जाने की घोषणा हुई तथा अगस्त में भारत सोवियत सन्धि हुई। इन्हीं घटनाओं ने बंगला देश के प्रति चीनी दृष्टिकोण को बहुत हद तक प्रभावित किया और इस सन्दर्भ में चीन पूर्णतया भारत विरोधी बन गया। यह बराबर भारत पर आरोप लगाता रहा कि वह पाकिस्तान के अन्दरूनी मामले में हस्तक्षेप कर रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करने के उपरान्त संघ के मंच से चीनी प्रतिनिधि का जो पहला भाषण हुआ उसमें पुनः इस आरोप को दुहराया गया। चीनी प्रतिनिधि ने कहा कि भारत पाकिस्तान के मामले में ठीक उसी तरह हस्तक्षेप कर रहा है जैसा उसने तिब्बत में किया था।

नवम्बर में भारत पाकिस्तान सीमा पर झड़पों के कारण तनाव बढ़ गया और युद्ध के आसार दिखाई पड़ने लगे। इस नाजुक समय में पाकिस्तान का एक शिष्टमंडल भुट्टो के नेतृत्व में चीनी नेताओं से परामर्श करने के लिए पेकिंग पहुँचा। पाकिस्तानी शिष्टमंडल के सम्मान में राजकीय भोज के अवसर पर चीन के कार्यवाहक विदेश मंत्री चि पेंग ने भारत पर आरोप लगाया कि वह पाकिस्तान के आंतरिक मामले में दखल दे रहा है। चीन ने भारत और पाकिस्तान से अपील की कि वे अपनी सीमाओं पर तनाव कम करने के लिए आपस में बातचीत करें।

श्री ची पेंग ने आरोप लगाया कि भारत पाकिस्तान को युद्ध की धमकी दे रहा है तथा दमनात्मक गतिविधियों में लगा हुआ है। उन्होंने कहा कि राष्ट्रों के बीच विवाद सम्बद्ध दोनों पक्षों द्वारा बातचीत से तय करने चाहिए न कि सैनिक बल से। श्री ची पेंग ने यह भी कहा कि पूर्व बंगाल की समस्या को हल करने के लिए पाकिस्तानी जनता का स्वयं का यथोचित रास्ता ढूँढना चाहिए। उन्होंने कहा कि उपमहाद्वीप में तनाव की स्थिति से चीन की सरकार तथा जनता काफी चिंतित है। यदि पाकिस्तान पर किसी देश का हमला हुआ तो चीन की सरकार तथा जनता पूरी तरह पाकिस्तान सरकार तथा जनता की सार्वभौमिकता और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए वहाँ की जनता द्वारा किये जा रहे संघर्ष का पूर्ण नीति समर्थन करेगी।

श्री ची पेंग ने कहा हमारा विश्वास है कि पाकिस्तान की अधिकांश जनता देशभक्त है तथा वह राष्ट्रीय एकता तथा देश की अखण्डता को कायम रखना चाहती है और आंतरिक फूट तथा बाह्य हस्तक्षेप का विरोध करती है। कार्यवाहक विदेश मंत्री ने कहा कि हमारा मत है कि किसी देश के आंतरिक मामलों का उसकी अपनी जनता द्वारा हल किया जाना चाहिए। श्री पेंग ने कहा चीन राष्ट्रपति याह्या खाँ के इस तर्कसंगत प्रस्ताव का समर्थन करता है कि भारत और पाकिस्तान की सेना सीमाओं से उचित दूरी तक हट जाय।

इसी बीच सन् दिसम्बर में भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई छिड़ गयी। 5 दिसम्बर को अमरीका के अनुरोध पर सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई। बैठक में अमरीकी प्रस्ताव पर बहस के दौरान चीनी प्रतिनिधि ने बड़े जोर-शोर के साथ पाकिस्तान का साथ दिया। चीनी प्रतिनिधि ह्वांग हुआ ने पाकिस्तान के मत को सही बताते हुए भारत को आक्रमणकारी घोषित किया। उसके अनुसार भारत ने यह आक्रमण सोवियत संघ के इशारे पर किया था। बैठक की समाप्ति पर चीनी प्रतिनिधि ने पूछा कि शरणार्थियों का बहाना लेकर क्या भारत तिब्बत पर भी आक्रमण करेगा ?

जब 6 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक हुई तो उसमें चीन ने नया एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसमें भारत पर आक्रमणकारी होने का आरोप लगाया गया था। इसी आशय का एक प्रस्ताव चीन ने साधारण सभा के अधिवेशन (8 दिसम्बर) में

भी पेश किया। इस प्रस्ताव पर यद्यपि बहस नहीं हुई फिर भी इसने चीन के भारत विरोधी रुख को प्रकट कर दिया। मुख्य प्रस्ताव (जो पारित हो गया) पर बोलते हुए चीनी प्रतिनिधि ने कहा कि उसने युद्धविराम प्रस्ताव के पक्ष में वोट तो दे दिया है लेकिन चीन प्रस्ताव को सन्तोषजनक नहीं मानता क्योंकि इसमें हमलावर और पीड़ित में अन्तर नहीं किया गया है और हमलावर का नाम भी नहीं लिया गया है। किसी भी राष्ट्र के अन्दरूनी मामले में हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। चीनी प्रतिनिधि ने भारतीय कार्यवाही की तुलना 1931 ई. के जापानी कार्यवाही से की जब जापान ने चीन के एक प्रान्त मंचूरिया पर आक्रमण किया था।

10 दिसम्बर को चीन के समाचार पत्र पिपुल्स डेली ने भारत को चेतावनी देते हुए लिखा— भारत साधारण सभा के प्रस्ताव को मानकर युद्ध बन्द कर दे नहीं तो उसे एक घोर लज्जाजनक पराजय का मुंह देखना पड़ेगा। यदि तुम विश्व जनमत की उपेक्षा करना चाहते हो और सोवियत साम्राज्यवादियों की मदद से यह सोचते हो कि तुम दुनिया में जो चाहोगे कर लोगे तो यह तुम्हारी भारी भूल है। इसमें अन्ततः तुम्हारी पराजय निश्चित है। चीन की जनता पाकिस्तान की जनता के साथ है।

चीन का जी इतने से ही नहीं भरा। 16 दिसम्बर को उसने आरोप लगाया कि सिक्किम सीमा की ओर से कुछ भारतीय सैनिक तिब्बत में घुस आये हैं। यह सरासर गलत आरोप था। लेकिन इसके कुछ उद्देश्य थे। अमरिका के सातवें बेड़े का आगमन हो चुका था। चीन की धमकी का पाकिस्तान के साथ एकता प्रदर्शित करके उसके मनोबल को उठाना और भारत को परेशानी में डालना था।

भारत की प्रतिक्रिया —संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच से अथवा रेडियो प्रसारण में चीन का रुख स्पष्टतया भारत विरोधी था और अमरिका से किसी तरह कम नहीं था। लेकिन चीन के सन्दर्भ में भारत का रुख बराबर नरम बना रहा। अमरिका की नीति और उसके रवैये की तो खूब आलोचना हुई लेकिन चीन के सम्बन्ध में संयम से काम लिया गया। इसका कारण यह था कि चीन बिल्कुल पड़ोस में था और युद्ध के पहले उसके साथ सम्बन्ध सामान्य करने की बात थी। ऐसी हालत में चीन जबतक कोई विरोधी कदम नहीं उठाता तबतक उसके साथ मौखिक संघर्ष में उलझना एकदम बेकार था। इसलिए 2 जनवरी 1972 को एक प्रेस सम्मेलन में बोलते हुए प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने कहा भी कि चीन द्वारा पाकिस्तान के समर्थन के बावजूद भारत के सम्बन्ध चीन से बेहतर हो सकते हैं। युद्ध के दिनों में चीन के रवैये पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि चीनी दृष्टिकोण के बारे में जो अनुमान लगाया गया था कि वह सही निकला। चीन ने भारत पाकिस्तान-युद्ध पर एक नपी तुली प्रतिक्रिया की जो हमारी कल्पना से परे नहीं थी यानी चीन ने न तो हमारी प्रत्याशा से अधिक पाकिस्तान का समर्थन किया न उससे कम।

भारत पाकिस्तान युद्ध में चीन के रवैये को देखकर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है। चीन क्या संकट की घड़ी में चुपचाप खड़ा देखता रहा और व्यर्थ का आनाद व्यक्त कर पाकिस्तान को तसल्ली देता रहा। अनेक बार चीन की ओर से कहा गया था कि हम पूरी तरह पाकिस्तान के साथ हैं और याह्या खाँ भी पूर्व में फंसी सेना को तसल्ली दिलाते रहे कि अमरिका और चीन हमारी मदद में आना ही चाहते हैं।

चीन के अलग खड़े रहने के कारण कई हो सकते हैं। लगता है कि उसे सोवियत संघ का भय था कि इस लड़ाई में चीन के कूदने से ही सोवियत संघ सिंकियांग की ओर से सैनिक दबाव डाल सकता था क्योंकि सोवियत संघ युद्ध में बाहरी हस्तक्षेप के खिलाफ आम चेतावनी दे चुका था। इसके अतिरिक्त किसी भी हारते हुए देश को जितना समय अपने दोस्त को मैदान तक आने के लिए देना चाहिए वह पाकिस्तान नहीं दे पाया। यदि पाकिस्तान कुछ दिनों के लिए और युद्ध चलाता तो सम्भव था कि चीन उसके पक्ष में मैदान में कूदता।

भारत के प्रति चीन का नवीन दृष्टिकोण—स्वतन्त्र बंगला देश की स्थापना के बाद भी भारत के प्रति चीनी रवैये में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। फरवरी 1972 में पोलैंड में चीन के राजदूत ने भारतीय राजदूत से मुलाकात की। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार इस मुलाकात में दोनों राजदूतों के बीच कोई ऐसी बातचीत नहीं हुई जिसका राजनीतिक महत्व हो। इसके बाद 15 अगस्त 1972 को लाल किला के समारोह में चीनी दूतावास के कुछ प्रतिनिधि भी उपस्थित थे लेकिन इस उपस्थिति का भी कोई राजनीतिक अर्थ नहीं निकाला जा सकता। कारण अबतक चीन ने कोई ऐसी बात नहीं कही है या कोई ऐसा कदम नहीं उठाया है जिससे कि हम नतीजे पर पहुंचा जाय कि वह भारत के साथ अपने सम्बन्ध सुधारना चाहता है। इसके विपरीत भारत ने सरकारी स्तर पर कई बार इस बात का संकेत दिया कि वह चीन के साथ मैत्री रखना चाहता है। 19 अगस्त 1972 को कुछ अमरिकी संवाददाताओं के साथ बातचीत के दौरान प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने कहा था कि भारत चीन के साथ अपने सम्बन्ध बेहतर करना चाहता है लेकिन चीन ने अब तक इस सम्बन्ध में कोई उत्सुकता नहीं दिखायी है।

शिमला समझौते के बावजूद भारत के प्रति चीन के रवैये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ में बंगला देश के प्रवेश को रोकने के लिए चीन ने वीटो का प्रयोग किया। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि चीन इस उपमहाद्वीप में हुए परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। भारत के प्रति चीन का दृष्टिकोण इस प्रकार क्यों जटिल होता जा रहा है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भारतीय उपमहाद्वीप के प्रति चीन की नीति का सबसे बड़ा निर्णायक तत्व भारत सोवियत मैत्री सन्धि हो गया है। इस सन्धि में कई सी बातें जुड़ी हुई हैं। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह मैत्री सन्धि सामूहिक सुरक्षा के उस अनेक सिद्धांत

अध्याय : 10

भारत और पाकिस्तान

अगस्त, 1947 में दो टुकड़ों में भारत का विभाजन करके भारत और पाकिस्तान नाम के राज्यों का निर्माण हुआ। पाकिस्तान का जन्म साम्प्रदायिकता के आधार पर हुआ था। भारतीय मुस्लिम लीग ने 'दो राष्ट्रों के सिद्धांत (Two nations theory)' का प्रतिपादन करते हुए भारतीय मुसलमानों के लिए एक पृथक राज्य की माँग रखी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस माँग का प्रबल विरोध किया और जब कोई दूसरा विकल्प नहीं रहा तभी उसने देश विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार किया। इस कारण मुस्लिम लीग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बीच काफी कटुता बढ़ी। देश के विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान में मुस्लिम लीग को और भारत में कांग्रेस को शासन की बागडोर मिली। विभाजन के बाद यह उम्मीद की गयी थी कि भारतीय उपमहाद्वीप के ये दोनों राज्य पुरानी बातों को भूलकर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे। दोनों गरीब मुल्क थे और दोनों के समक्ष लगभग एक-सी ही समस्याएं थीं। लेकिन इन सामान्य समस्याओं ने उनके पारस्परिक सम्बन्ध को किसी तरह प्रभावित नहीं किया और ब्रिटिश शासनकाल में जो कटुता उत्पन्न हुई थी वह ज्यों-की-त्यों बनी रही। शंका और सन्देह के वातावरण में उनका जन्म हुआ था और दोनों देशों के सम्बन्ध में सार तत्व विद्यमान रहे। ऐसी हालत में दोनों देशों का सम्बन्ध खराब रहे यह बिल्कुल स्वाभाविक था।

इस प्रकार के वातावरण को विभाजन की प्रतिक्रिया और उनसे उत्पन्न समस्या ने और भी पुष्ट कर दिया। 1947 के साम्प्रदायिक दंगा तथा अराजकता से जल्दी छुटकारा पाने के लिए देश का विभाजन बहुत ही अल्प समय में कर दिया गया। बहुत सी समस्याओं को बाद में निश्चित करने के नाम पर छोड़ दिया गया। स्मरणीय है कि ब्रिटिश काल में राजनीतिक दृष्टि से भारत दो भागों में बंटा हुआ था —ब्रिटिश भारत और देशी राज्य। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम में देशी राज्यों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी थी कि वे अपनी इच्छानुसार किसी भी नव निर्मित डोमिनियन में शामिल हो सकते थे। इस व्यवस्था का दोनों देशों ने भिन्न भिन्न अर्थ लगाया और झगड़े की शुरुआत यहीं से शुरू हो गयी।

देशी राज्यों की समस्या —देशी रियासतों के सम्बन्ध में भारत और पाकिस्तान का झगड़ा मुख्य रूप से तीन रियासतों को लेकर हुआ जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर। जूनागढ़ और हैदराबाद दोनों के नरेश मुसलमान थे, लेकिन उनकी

बहु स ख्यक प्रजा हि दू थी। जूनागढ़ के नवाब ने अपनी रियासत को पाकिस्तान म मिलाने का निणय किया। भारत ने इसका विरोध किया और सनिक कारवाई करके नवाब को पाकिस्तान भागने के लिए विवश कर दिया। रियासत के दीवान और वहाँ की पुलिस ने जिसके हाथ में वहाँ का प्रशासन था भारत सघ मे जूनागढ़ के मिलने की घोषणा की। 9 नवम्बर 1947 को भारत सरकार ने रियासत का प्रशासन अपने हाथ मे ले लिया। फरवरी 1948 में जूनागढ़ मे रा य के विलयन के प्रश्न पर जनमत सग्रह कराया गया जिसमे भारत के विरोध मे केवल 91 मत पड़।

भारत की इस कारवाई का पाकिस्तान ने बड़ा विरोध किया और जनमत सग्रह को ढोंग कहते हुए इस प्रश्न को सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिष मे उठा या।

हैदराबाद रा य का शासक निजाम अपने को स्वतन्त्र रखना चाहता था लेकिन भौगोलिक स्थिति के कारण भारत सरकार इस बात को नहीं मान सकती थी। हैदराबाद के रजाकारो के साम्प्रदायिक सगठन ने स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया। फलत सितम्बर 1948 म भारत को हैदराबाद के खिलाफ भी सनिक कारवाई करनी पडी। इस प्रश्न पर पाकिस्तान ने हैदराबाद के निजाम का समथन किया। है राबाद का प्र न भी सुरक्षा परिषद म ठा। लकिन इस प्रश्न पर भी सुरक्षा परिषद का कोई निणय नहीं हुआ। भारतीय प्रतिनिधि ने स्पष्ट श दो मे यह घोषणा कर दी कि वह इस प्र न पर किसी वाद विवाद में भाग नही लेगा।

देशी रियासतो के सम्बध मे क मीर को लेकर जो विवाद उठा उसने भारत पाकिस्तान के पारस्परिक सम्बन्धो को स्थायी कर दिया। कश्मीर की समस्या को लेकर भारत और पाकिस्तान के मध्य जो विवाद उठ खडा हुआ उसने भारत पाकिस्तान सम्ब ध के सभी पहलुओ को प्रभावित किया। अतएव इसका वणन हम आगे विस्तार पूवक करेंगे।

देशी रियासतो की समस्या के अतिरिक्त भारत पाकिस्तान के सम्ब ध में और भी कई विवाद के कारण थे। उनका सक्षिप्त वणन नीचे दिया जा रहा है —

आर्थिक तनाव —विभाजन के उपरा त पाकिस्तान और भारत के बीच कई आर्थिक समस्याएं थीं। दोनों देशों के बीच आमदनी तथा कज का बटवारा एव साधन धन के सम्बध म सन्तोषजनक विभाजन करना था। मुद्रा क सम्बध मे निणय लेना था। भारत को अविभाजित भारत के नकद बकाया का पचपन करोड़ रुपया पाकिस्तान को देना था। इसी समय कश्मीर का युद्ध आरम्भ हुआ। भारत सरकार ने इस रुपया को अ ाय ी रोक रखने का निश्चय किया। लकिन महात्मा गांधी ने इस निणय का विरोध किया और तब भारत सरकार को अपना निश्चय बदलना पड़ा। इस म प्र म होनेवाले परिवर्तन के ब ारे कहा इस इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि हमारे इस व्यवहार रखने से जो भारत के उच्च आदर्शों और गांधीजी के पुनीत मान ओ के अनुरूप है विश्व को वि वास हो जायगा कि हम पूर तौर स शान्ति और सद्भावना के इच्छुक हैं। लेकिन पाकि तान को भारत के इस उच्च आदर्श पर वि वास नहीं हुआ और कुछ ही दिनों क भीतर व्यापारिक

हमलावर कबायलियों को युद्धोपयोगी सामग्रिया से सहायता कर रहा था। इस हालत म भारत सरकार ने सयुक्त राष्ट्रसघ चार्टर की धारा 34 और 35 के अन्तगत सुरक्षा परिषद से यह शिकायत की कि पाकिस्तान से सहायता पाकर कबायली लोग भारत के एक अग कश्मीर पर आक्रमण कर रहे हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भग होने का भय है। अतएव सुरक्षा परिषद इस आक्रमण को बन्द कराने के लिए कदम उठावे। पाकिस्तान ने भारत के आरोपो का खण्डन किया और उस पर अनेक प्रत्यारोप लगाते हुए कहा कि भारत म कश्मीर का विलयन अवध है।

भारत की शिकायत पर सुरक्षा परिषद को कोई निश्चित निणय करना चाहिए था। उसको आक्रमण करने वाला के विरुद्ध तत्काल कारवाई करनी चाहिए थी। लकिन ऐसा नहा हुआ। बात य थी कि सुरक्षा परिषद म आग्ल अमरिकी गुट का बहुमत था और भारत शीत युद्ध के क्षत्र म असलग्नता की नीति का अवलम्बन कर रहा था जो अमरिका को फटी आँखों भी नहीं सुहाता था। इसके विपरीत पाकिस्तान इस गुट का एक पिछलगुआ था। अतएव अमरीकी गुट ने टाल मटोल की नीति अपना कर वास्तविक प्रश्न को ओझल करने का य न किया। 20 जनवरी को सुरक्षा परिषद ने तीन सदस्या के एक आयोग की स्थापना का फसला किया जिसका एक सदस्य भारत की सिफारिश पर दूसरा पाकिस्तान की सिफारिश पर तथा तीसरा इन दोनो की सिफारिश पर नियुक्त होता। आयोग को जाँच पडताल और मध्यस्थता का काम सौंपा गया। भारत ने इस आयोग के लिए चेकोस्लोवाकिया को और पाकिस्तान ने अर्जेण्टाइना को चुना पर ये दोना राज्य तीसरे नाम के लिए सहमत नहीं हो सके। इस कारण सुरक्षा-परिषद के अध्यक्ष ने सयुक्त राज्य अमरिका को आयोग का तीसरा सदस्य मनोनीत कर दिया। 21 अप्रिल को सुरक्षा परिषद ने आयोग म दो और सदस्य बढ़ा दिये। ये सदस्य कोलम्बिया और बेल्जियम थ। इन पाँच राज्यों से आयोग बना और उसका नाम भारत और पाकिस्तान के लिए सयुक्त राष्ट्र का आयोग (United Nation Commission for India and Pakistan) पडा। इसी बीच सुरक्षा परिषद ने एक और प्रस्ताव पास किया और यह सिफारिश की कि कश्मीर से विदेशी कबायली पाकिस्तान के नागरिक और भारतीय सना हट जाय और भारत शासन लेकर को स्था ना प्र ान करके जनमत सग्रह के लिए उचित वातावरण तयार करे।

सयुक्त राष्ट्र आयोग (U N C. I P) के काय —सयुक्त राष्ट्र आयोग ने अपना काम तुरत शुरू कर दिया। विवाद के दोनो पक्षा स मिलने और उनके विचारों से अवगत होने के पश्चात् उसने दोनों पक्षो स युद्ध बन्द करने को कहा और समझौता करने के लिए एक प्रस्ताव रखा जिसके मुख्य सिद्धांत निम्नलिखित थ (1) पाकिस्तान कश्मीर से अपनी सेना हटा ले तथा विदेशी कबायलियों और कश्मीर म सामान्य रूप से न रहने वाले पाकिस्तानी नागरिको को वहाँ से हटाने का प्रयास करें (2) इस प्रकार के क्षेत्र को जिसको पाकिस्तानी सेना ने खाली कर दिया है उसका शासन प्रबन्ध आयोग के निरीक्षण म स्थानीय अधिकारी करें (3) जब पाकिस्तान इन दोना

शर्तों को पूरा कर ल ओर आयोग इसकी सूचना भारत को दे दे तो भारत भी अपनी सेना का अधिकांश भाग कश्मीर से हटा ले (4) अन्तिम समझौता होने तक भारत युद्ध विराम की सीमाओं के भीतर उतनी ही सेनाएं रखे जितनी इस प्रदेश में कानून और व्यवस्था के लिए आवश्यक है ।

बाद में पाकिस्तान ने इन शर्तों को मानने में टालमटोल की पर बाद में कुछ शर्तों के साथ इस प्रस्ताव को मान लिया । इसके बाद लम्बी वार्ता के बाद 1 जनवरी 1949 को दोनों पक्ष युद्ध बन्द करने पर सहमत हो गये । एक युद्ध विराम रेखा निश्चित की गयी और इसकी देख भाल के लिए आयोग द्वारा विभिन्न राष्ट्रों के निरीक्षक नियत किये गये । कश्मीर का अन्तिम फैसला जनमत संग्रह द्वारा होना था । अतएव जनमत संग्रह के प्रशासक के लिए अमरीकी नागरिक श्री चैस्टर निमिट्ज को नियुक्त किया गया । प्रशासक बनकर वह कश्मीर पहुँचा और भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों से जनमत संग्रह के सिद्धान्तों पर बात करने लगा । पर दोनों दल इस प्रश्न पर राजी नहीं हो सके । चैस्टर निमिट्ज ने तब पदत्याग कर दिया ।

मैकनाटन योजना —इसके बाद पाकिस्तान के आक्रामक इरादों के कारण कश्मीर की समस्या पुनः गम्भीर होने लगी । इस हालत में 29 दिसम्बर 1949 को सुरक्षा परिषद के कनाडियन अध्यक्ष जनरल मैकनाटन ने समस्या को सुलझाने के लिए एक प्रस्ताव रखा जिसको मैकनाटन योजना (Mc Naughton plan) कहते हैं । इस योजना में भी पाकिस्तानी आक्रमण की कोई चर्चा नहीं थी और आक्रान्त तथा आक्रान्ता को एक ही स्तर पर रखा गया था । इसमें पाकिस्तानी सेना को हटाने के साथ साथ भारतीय सेना को हटाने की बात भी थी । इस प्रकार कश्मीर का असैनीकरण करके जनमत संग्रह का प्रस्ताव किया गया था । इन कारणों से भारत को यह प्रस्ताव मान्य नहीं था ।[1] इसलिए उसने इस योजना को अस्वीकृत कर दिया ।

डिक्सन मिशन —मैकनाटन योजना के विफल होने पर 24 फरवरी 1950 को सुरक्षा परिषद ने एक और प्रस्ताव स्वीकार किया जिसका आशय पाँच महीने के भीतर कश्मीर से दोनों पक्षों की सेनाएं हटाने का था । इस काम को आस्ट्रेलिया के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सर ओवन डिक्सन को सौंपा गया । मई 19 0 में

1 मैकनाटन योजना पर बोलते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधि श्री बेनेगल नरसिंह राव ने कहा Today the position is that Pakistan wh ch throughout 1) 8 denied giving any aid either to the invaders or to the Azad Kashmir forc i no itself not only an invader but in actual occupation f nearly half the ar of the state without any lawful authority fr m any source This is naked aggression of which no one can approve but there is no sign of disapproval in thep resent proposal the Mc Naughton p opo al

डिक्सन ने अपना काम शुरू किया। उसने कश्मीर से दोनों पक्षों की सेनाएं हटाने पर जोर दिया। डिक्सन की अन्तिम योजना सम्पूर्ण कश्मीर में जनमत संग्रह के स्थान पर इसका विभाजन करने की थी। उसका यह प्रस्ताव था कि जो क्षेत्र पाकिस्तानी अधिकार में है वह उसके साथ रहे, जो भारतीय सेना द्वारा अधिकृत क्षेत्र है भारत में रहे और कश्मीर घाटी का भाग्य निर्णय जनमत संग्रह द्वारा हो। लेकिन यह योजना दोनों पक्षों में किसी को भी मान्य न हुई। भारत अपनी सेना हटाने पर भी नहीं राजी हुआ क्योंकि उसके विचार में पाकिस्तान की सेना कश्मीर में आक्रमण करने के लिए आयी थी और भारतीय सेना कश्मीर सरकार के अनुरोध पर उसकी रक्षा के लिए गया थी। सबसे आश्चर्य की बात तो यह थी कि यद्यपि डिक्सन ने यह स्वीकार किया था कि कश्मीर में विरोधी कबायलियों तथा मई 1948 में पाकिस्तान की नियमित सेनाओं का प्रवेश अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन था। फिर भी उसने भारत और पाकिस्तान दोनों को एक ही स्तर पर रखा। इस हालत में डिक्सन यह समझ गया कि कश्मीर की समस्या उससे नहीं सुलझ सकती है। अतएव उसने सुरक्षा परिषद से अनुरोध किया कि उसे उसके पद भार से मुक्त कर दिया जाय। सुरक्षा-परिषद को उसने यह भी परामर्श दिया कि दोनों पक्षों को प्रत्यक्ष वार्ता करके इस प्रश्न को हल करना चाहिये।

ग्राहम मिशन —सर ओवेन डिक्सन की विफलता के बाद संयुक्त राष्ट्र मण्डलीय सम्मेलन ने कश्मीर समस्या का समाधान का एक और यत्न किया। इसमें असैनिकीकरण तथा पंचायती फैसले का प्रस्ताव रखा गया। लेकिन भारत को इस तरह का कोई भी प्रस्ताव मान्य नहीं हो सकता था। इसी समय कश्मीर की सरकार ने संविधान बनाने के लिए एक संविधान परिषद के निर्वाचन की योजना बनायी। इस पर फरवरी 1951 में पाकिस्तान ने कश्मीर के प्रश्न को पुनः सुरक्षा-परिषद के सम्मुख प्रस्तुत किया। परिषद ने ब्रिटेन और अमरिका के एक संयुक्त प्रस्ताव को पास करके सर ओवनडिक्सन के एक उत्तराधिकारी को नियत करने का फैसला किया जो कश्मीर से दोनों पक्षों की सेनाओं को हटाकर जनमत संग्रह का रास्ता तैयार कर सके। 20 अप्रिल को फिर एक अमरीकी नागरिक डा. फ्रैंक ग्राहम को इस पद पर नियत कर दिया गया।

ग्राहम अगले दो वर्षों तक इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करता रहा। इसके लिए उसने अनेक प्रस्ताव रखे। पर कोई भी प्रस्ताव दोनों पक्षों को मान्य नहीं था। मार्च 1953 को ग्राहम ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में डिक्सन की भांति यह सुझाव दिया कि इस समस्या के समाधान के लिए भारत और पाकिस्तान में प्रत्यक्ष वार्ताएं होनी चाहिए।

प्रधान मन्त्रियों की वार्ता —ग्राहम के उपयुक्त सुझाव के अनुसार दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों ने लन्दन, कराँची और नयी दिल्ली में कश्मीर के सम्बन्ध में वार्तालाप किया जिसमें उन्होंने यह तय किया कि जनमत संग्रह 1954 में कराया जाय और उसकी देख रेख के लिए प्रशासक नियुक्त कर दिया जाय। परन्तु जनमत संग्रह के

प्रशासक के नाम पर दोनों के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। फिर भी दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों के बीच पत्र व्यवहार होता रहा।

पाकिस्तान अमरीकी सैन्य सन्धि और कश्मीर समस्या के स्वरूप में परिवर्तन—इसी बीच कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिसके फलस्वरूप कश्मीर समस्या के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया। 1953-54 में पाकिस्तान पाश्चमी गुट में शामिल हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका से उसका गुप्त समझौता हुआ जिसके अनुसार पाकिस्तान ने सैनिक सहायता लेना स्वीकार किया। 22 फरवरी, 1954 को पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री मोहम्मद अली ने स्वयं यह घोषणा की कि संयुक्त राज्य अमरीका पाकिस्तान को संयुक्त राज्य सैनिक सुरक्षा कानून के अन्तर्गत सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया है। भारत ने पाकिस्तान को अमरीका द्वारा सैन्य सहायता दिये जाने का तीव्र विरोध किया तथा अमरीका के नागरिकों को जो कश्मीर में काम कर रहे थे अड़तालीस घण्टे में निकल जाने के आदेश दे दिये। यद्यपि अमरीका ने अपने स्पष्टीकरण में कहा कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का उद्देश्य भारत को क्षति पहुँचाना नहीं है किन्तु अमरीका के इस स्पष्टीकरण की पोल उस समय तुरत ही खुल गयी जब पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा की कि सैनिक सहायता से उन्हें कश्मीर की समस्या को सुलझाने में सहायता मिलेगी। अब भारत में अमरीका के प्रति एक जबरदस्त क्षोभ की लहर व्याप्त हो गया। भारत ने अमरीका की आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया और इसीलिए उसे अमरीका विरोधी रूस समर्थक होने का खिताब दिया जाने लगा।

अमरीका द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सैन्य सहायता का कश्मीर की समस्या पर अवश्य ही बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा समर्थित सैन्य सङ्गठनों में पाकिस्तान के शामिल हो जाने से कश्मीर की समस्या शीत युद्ध के क्षेत्र में आ गया। कश्मीर स्थित गिलगिट में अमरीका हवाई अड्डा बनाना चाहता था। गिलगिट सोवियत संघ के बहुत निकट पड़ता है इस हालत में वह कैसे इसको बर्दाश्त कर सकता था। यों तो पहले से ही साम्यवादी जगत की सहानुभूति भारत के प्रति रही है पर अब तो सोवियत-संघ कश्मीर के मामले पर खुलेआम भारत का पूर्ण समर्थन करने लगा। 1956 में सोवियत रूस के प्रधान मन्त्री बुल्गानिन तथा पार्टी के सेक्रेटरी ख्रुश्चेव भारत आये। कश्मीर भ्रमण के समय उन्होंने घोषणा की कि सोवियत संघ कश्मीर को भारत के अभिन्न अंग मानता है—यदि आवश्यकता पड़े तो आप पहाड़ की चोटी से आवाज दे दीजिएगा और हम आपकी सहायतार्थ आ जायेंगे।

युद्ध-वर्जन का प्रस्ताव—अमरीका से सैनिक सहायता लेने का औचित्य ठहराने के लिए पाकिस्तान यह कहा करता था कि उसे सदा अपने शक्तिशाली पड़ोसी भारत के आक्रमण का डर बना रहता है। इस कारण भारतीय प्रधान मन्त्री ने पाकिस्तान के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि दोनों देश एक समझौता करें यह मान लें कि आपसी विवादों को तय करने के लिए वे युद्ध का सहारा नहीं लेंगे। वस्तुतः यह प्रस्ताव

पहल पहल 1949 में ही रखा गया था। 22 दिसम्बर 1949 को भारत न पाकिस्तानी उच्चायुक्त को एक प्रस्तावित संयुक्त घोषणा का मसविदा थमाया और इसके कुछ दिनों बाद ही श्री नेहरू ने पाक प्रधानमंत्री को अपने पत्र में लिखा भौगोलिक और बहुत से अन्य कारणों से यह अत्यंत आवश्यक है कि दोनों देशों के बीच जो अनेक मसले उठ खड़े हुए हैं उनका निबटारा हो। इस आशय की तब दन घोषणा करने पर हम किसी भी हालत में शांतिपूर्ण तरीकों से तय करेंगे अपने दोनों देशों के साथ साथ हम तमाम दुनिया की बहुत बड़ी सेवा करेंगे क्योंकि इससे हम लोगों के दिमाग से युद्ध का भय जाता रहेगा।

नेहरू बार बार आशावान रहे लेकिन पाकिस्तान ने वर्षों तक सद्भावना का पाठ नहीं सीखा। इस पर 1956 में नेहरू ने पुन निम्नलिखित शब्दों में पाकिस्तान से युद्ध-वर्जन समझौते की अपील की मैं समझता हूँ कि अगर पाकिस्तान और भारत दोनों इस बात के लिए सहमत हो जाय कि किसी भी कारणवश हम लोग परस्पर युद्ध नहीं करेंगे और शांतिपूर्वक अपनी समस्याओं को हल कर लेंगे तो हो सकता है कि वे कुछ समय के लिए हल न भी हों लेकिन उनके लिए लड़ाई करने के बजाय उन समस्याओं को विचाराधीन बनाये रखना अधिक अच्छा होगा। इसलिए युद्ध वर्जन घोषणा अत्यन्त वाछनीय है इससे हमें सहायता मिलेगी।

पाकिस्तान इस तरह के किसी समझौता को करने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था कि पहले भारत और पाकिस्तान के विवादों का समझौता होना चाहिए तभी किसी तरह का युद्ध-वर्जन समझौता कारगर हो सकता है।

कश्मीर संविधान सभा द्वारा राज्य के विलयन का अनुमोदन —इसी बीच 1954 में कश्मीर संविधान-सभा ने कश्मीर के भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया और 1956 में उसने राज्य के लिए एक नये संविधान को स्वीकृत तथा अंगीकृत किया जिसके द्वारा कश्मीर प्रत्येक दृष्टिकोण से भारत का अभिन्न अंग बन गया। इस संविधान को 26 जनवरी 1957 को लागू करने का निर्णय लिया। इस तरह अब कश्मीर समस्या का स्वरूप बिलकुल बदल गया और जनमत संग्रह का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमरीकी सैन्य गुट में शामिल हो जाने के कारण जनमत संग्रह की बात पहले ही निरर्थक हो चुकी थी। 15 अप्रैल 1956 को प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने अपने एक भाषण में इसे स्पष्ट करते हुए कहा था यह जनमत संग्रह का प्रश्न स्पष्ट रूप से इस शर्त के साथ सम्बद्ध था कि पाकिस्तान कश्मीर से अपनी सेनाएँ हटा लेगा। पिछले नौ वर्षों में पाकिस्तान मुक्त पूरा करने में असमर्थ रहा है। इस बीच में कश्मीर का स्वरूप बिलकुल बदल गया है और कई नई घटनायें हुई हैं। पाकिस्तान को दी जानेवाली अमरीकी सहायता ने इसका स्वरूप बिलकुल बदल दिया है क्योंकि अब यदि पाकिस्तानी सेनायें कश्मीर की भूमि से निष्क्रमण कर सीमा से बीस-तीस मील के अन्दर अपनी तैनाती करती हैं तो भी नई सहायता से उनकी संहारक और मारक शक्ति पहले से बहुत अधिक बढ़ गयी है। पाकिस्तान

ने भारत को दोषी बतलाया। कराची भारत की कठिनाइयों से नाजायज फायदा उठाना चाहता था। इसलिए पकिंग के साथ नये सिरे से उसने मित्रता शुरू की। नवम्बर में जब बहुत बड़े पैमाने पर भारत और चीन के बीच युद्ध शुरू हुआ तो भारत ने अमरिका और ब्रिटेन से सैनिक सहायता की याचना की। तुरत ही इन देशों से युद्धोपयोगी सामान भारत पहुंचने लगे। पाकिस्तान ने इसका बड़ा विरोध किया। उसने कहा कि चीन की ओर से भारत पर ऐसा कोई हमला नहीं हुआ है कि इतने बड़े पैमाने पर उसे सैनिक सहायता दी जाय। पर पाकिस्तान के विरोध का कोई असर नहीं पड़ा और भारत को सैनिक सहायता मिलती रही।

स्वर्ण सिंह भुट्टो वार्ता—भारत की सैनिक आवश्यकताओं से परिचित होने के लिए अमरीका से श्री एवरेल हैरीमन और ब्रिटेन से श्री डकन सैंडिस नवम्बर 1962 में भारत आये। इस अवसर से लाभ उठाकर उन्होंने पाकिस्तान और भारत में मेल मिलाप कराने का यत्न किया। इसके फलस्वरूप प्रधान मन्त्री नेहरू और राष्ट्रपति अयूब खाँ का 29 नवम्बर 1962 को एक संयुक्त वक्तव्य निकला जिसमें कहा गया था कि दोनों व्यक्ति उपयुक्त समय पर भारत पाकिस्तान मतभेद को सुलझाने के लिए वार्ताएं करेंगे। साथ ही यह तय हुआ कि इस शीर्ष सम्मेलन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए मन्त्रियों के स्तर पर पहले कुछ वार्ताएं हों। 29 दिसम्बर 1962 को मन्त्रियों के स्तर पर पहला सम्मेलन रावलपिंडी में हुआ। जनवरी और फरवरी 1963 में और सम्मेलन हुए और यह निश्चय हुआ कि मध्य मार्च में कलकत्ता में भारत और पाकिस्तान के मन्त्रियों की वार्ता हो।

लेकिन आयोजित कलकत्ता सम्मेलन के पूर्व ही पाकिस्तान ने चीन के साथ एक समझौता कर लिया। पेकिंग में दोनों देशों के बीच जो समझौता हुआ उसके फलस्वरूप पाकिस्तान द्वारा अधिकृत कश्मीर का एक बहुत बड़ा भाग पाकिस्तान ने चीन को दे दिया। भारत ने इस समझौते पर बड़ा कड़ा विरोध प्रकट किया। इसी पृष्ठाधार में 10 मार्च 1963 को कलकत्ता में भारत-पाक वार्ताएं पुनः प्रारम्भ हुई पर इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकला। इसके बाद नाना देशों के प्रतिनिधियों के दो और सम्मेलन हुए। अन्तिम सम्मेलन दिल्ली में मई 1963 में हुआ। पर वहाँ भी कोई समझौता नहीं हो सका और वार्ताओं का यह सिलसिला समाप्त कर दिया गया।

पाकिस्तान का जासूसी षड्यन्त्र—सितम्बर 1964 में भारत में पाकिस्तानी दूतावास द्वारा फैलाये गये एक जासूसी जाल का पता भारत सरकार को लगा। नयी दिल्ली स्थित पाकिस्तान का दूतावास इस षड्यन्त्र का केन्द्र था जिसका उद्देश्य भारत की गुप्त सामरिक बातों का पता लगाना था। इसमें दूतावास के उच्च पदाधिकारी सम्मिलित थे। षड्यन्त्र का पता लग गया तो भारत सरकार ने जासूसी से सम्बद्ध अधिकारियों को भारत से हटाने का निश्चय किया। लेकिन इसी समय भारत स्थित

पाकिस्तान के उच्चायुक्त के व्यक्तिगत अनुरोध पर भारत सरकार ने अपने निश्चय की घोषणा को पाँच दिनों के लिए स्थगित कर दिया। इसी बीच पाकिस्तान सरकार ने कराँची स्थित भारतीय दूतावास के कुछ प्रमुख अधिकारियों पर जासूसी करने का दोषारोपण करके उन्हें पाकिस्तान छोड़ देने की आज्ञा दे दी। पाकिस्तान की इस घोषणा के बाद भारत सरकार ने भी पाकिस्तानी अधिकारियों को भारत छोड़ने की आज्ञा दे दी। इन घटनाओं को लेकर दोनों देशों के बीच तनाव बना।

24 अक्टूबर 1963 को पाकिस्तान सरकार के आदेश से ढाका और राजशाही में भारतीय पुस्तकालय बन्द कर दिये गये। 21 नवम्बर को राजशाही में भारतीय हाई कमीशन का कार्यालय बन्द कर दिया गया। इसी दिन पाकिस्तानी समाचार पत्रों ने यह समाचार छापा कि कश्मीर 1949 का युद्ध विराम रेखा को पाकिस्तान मान्यता नहीं देता। 4 दिसम्बर को पाक अधिकृत कश्मीर के राष्ट्रपति श्री के० एच० खुर्शीद ने कहा कि युद्ध विराम रेखा के समीप बसने वाले नागरिकों के बीच दस हजार राइफलें बाँटी गयी हैं तथा और बाँटी जायगी।

हजरतबाल घटना और भारत पाक सम्बन्ध —28 दिसम्बर 1963 को श्रीनगर की हजरतबाल मस्जिद से पैगम्बर साहब का पवित्र बाल चोरी चला गया। इस घटना को लेकर पाकिस्तान के समाचार पत्रों ने भारत के विरुद्ध खूब प्रचार किया और साम्प्रदायिक घृणा विद्वेष फैलाया। फलत पूर्वी पाकिस्तान में बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो गया। इस दंगा में कई हजार व्यक्ति मरे और कई हजार शरणार्थी भारत भाग आये। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारत के कुछ जगहों पर दंगे हुए। इसके कारण भारत और पाकिस्तान का सम्बन्ध और भी बिगड़ गया। लेकिन साम्प्रदायिक दंगे की आग को बुझाना उस समय सबसे अधिक आवश्यक था। अतएव इस समस्या के समाधान के लिए फरवरी 1964 में भारत और पाकिस्तान के स्वराष्ट्र मंत्रियों (Home Ministers) का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। इस सम्मेलन का कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ लेकिन अल्पसंख्यकों का उत्साह तो कुछ अवश्य बढ़ा। इसी सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि स्वराष्ट्र मंत्रियों का एक दूसरा सम्मेलन सितम्बर 1964 में रावलपिंडी में हो जिसमें अल्पसंख्यकों की रक्षा के उपाय निर्धारित किये जाय।

कश्मीर पुन सुरक्षापरिषद में —पाकिस्तान इस स्थिति से लाभ उठाने का निश्चय किया और अप्रिल 1964 में कश्मीर की समस्या को पुन सुरक्षा परिषद् में ले गया। हजरतबाल कांड को लेकर कश्मीर में जो सरगर्मी आयी उसको पाकिस्तान ने कश्मीरियों का विद्रोह बतलाया और संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप की माँग की। लेकिन बैठक में सुरक्षा-परिषद कुछ न कर सकी और यह निश्चय किया गया कि 5 मई 1964 के दिन कश्मीर समस्या पर परिषद विचार करे।

शुरू मई में कश्मीर की सरकार ने शेख अब्दुल्ला को जेल से मुक्त कर दिया। बहुत दिनों से पाकिस्तान यह प्रचार कर रहा था कि कश्मीर के एकमात्र नेता शेख अब्दुल्ला को जेल में बन्द करके भारत सरकार कश्मीर की जनता को कुचल रही है।

नहीं मानती। उसका कहना है कि 24 अक्षांश के उत्तर में पतीस सौ वर्गमील का क्षेत्र पुराने सिंध प्रदेश के अन्दर था और विभाजन के बाद पाकिस्तान को मिलना चाहिए था और भारत ने जबरदस्ती इस पर अपना अधिकार जमा लिया है। भारत सरकार इस मत से सहमत नहीं था। उसका कहना था कि यह सम्पूर्ण इलाका कच्छ के राजा के मातहत था और स्वभावतः भारतीय क्षेत्र है।

1965 की अप्रैल में कच्छ के प्रश्न को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष हो गया। पाकिस्तानी सेना की दो टुकड़ी भारतीय क्षेत्र में घुस गयी और कच्छ के कई स्थानों पर अधिकार कर लिया। भारत को यह अनुमान नहीं था कि पाकिस्तान एकाएक इस तरह की आक्रमण कारवाई करेगा। 9 अप्रैल को यह लड़ाई शुरू हुई और अनियमित रूप से जून तक चलती रही। ब्रिटिश प्रधान मंत्री विल्सन की मध्यस्थता में 30 जून को युद्ध विराम हो गया और समझौता के द्वारा यह तय हुआ कि दोनों पक्ष 1 जनवरी 1965 की स्थिति में वापस चले जायं तथा तीन व्यक्तियों को मिलाकर एक ट्रिब्यूनल बने जो (यदि दोनों देशों के मंत्रियों के स्तर पर कोई समझौता न हो सके तो) इस विवाद पर अपना फैसला दे। ट्रिब्यूनल का काम होगा कि दोनों पक्षों के दावा की जाँच करे, एक रिपोर्ट दे तथा इसका निर्णय दोनों पक्षों को मान्य हो। युद्ध विराम के चार महीनों के बाद ट्रिब्यूनल का संघटन हो जाना था। भारत और पाकिस्तान को ट्रिब्यूनल में एक एक सदस्य को मनोनीत करना था और वे दोनों सदस्य एक तीसरे व्यक्ति का अध्यक्ष चुनते। इसमें से कोई व्यक्ति भारत या पाकिस्तान का नहीं हो सकता था। यदि ट्रिब्यूनल के सदस्यों का चुनाव करने में कोई मतभेद हुआ तो समझौता के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव को उनको मनोनीत करने का अधिकार दिया गया।

कच्छ के इस समझौते की भारत में बड़ी आलोचना हुई। यद्यपि आक्रामक को उन क्षेत्रों को खाली कर देना पड़ा जिनपर उसने अधिकार कर लिया था, लेकिन भारत और पाकिस्तान मतभेद में पंचायती फैसले का सिद्धान्त मानना गलत था। कुछ लोगों का ख्याल था कि पाकिस्तान कच्छ की तरह ही कश्मीर में स्थिति उत्पन्न करके इसी नमूने पर कश्मीर समस्या को पंच निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर निर्णित करने की माँग कर सकता है।

जुलाई 29 को भारत और पाकिस्तान के विदेश मंत्रियों ने यह तय किया कि वे दोनों कच्छ पर अन्तिम समझौता करने के लिए 20 अगस्त को दिल्ली में मिलें। लेकिन तब तक पाकिस्तानी घुसपैठियों ने कश्मीर में गड़बड़ पैदा कर दी और इस हालत में विदेश मंत्रियों की वार्ता सम्भव नहीं रही। अतएव भारत ने प्रस्ताव किया कि कच्छ का प्रश्न अब सीधे ट्रिब्यूनल में रख दिया जाय। पाकिस्तान ने ईरान के एक न्यायाधीश तथा भारत ने यूगोस्लाविया के एक नागरिक को ट्रिब्यूनल में अपना प्रतिनिधि मनोनीत किया। इन दोनों ने मिलकर एक स्वेडिश को चुना। सितम्बर 1965 ई० में ट्रिब्यूनल ने अपना काम शुरू किया। ट्रिब्यूनल द्वारा दोनों

देशों को आदेश दिया गया कि वे कच्छ के सम्बन्ध में अपने अपने दावे प्रस्तुत करें ताकि उन पर विचार करके वह अपना निर्णय दे सके।

19 फरवरी 1968 को ट्रिब्यूनल ने अपना निर्णय दे दिया। इसने अपने निर्णय में विवादग्रस्त क्षेत्र का नब्बे प्रतिशत भाग भारत को दिया और शेष तीन सौ बीस वर्गमील का इलाका पाकिस्तान को दिया गया। इस इलाके में कंजरकोट का वह ध्वस्त किला भी है जहाँ से 1965 की लड़ाई शुरू हुई थी। इसके अलावा छाडबेट की ऊँची भूमि और नगरपार्कर के क्षेत्र भी पाकिस्तान को दिये गये इलाके में शामिल थे।

यद्यपि दृष्टि से यह निर्णय भारत के पक्ष में होते हुए भी भारत में इसकी प्रतिक्रिया बहुत रोषपूर्ण हुई। रहीम बाजार से दक्षिणी इलाके को पाकिस्तान को देने का कोई कारण नहीं था। ट्रिब्यूनल के अध्यक्ष स्वीडन के जज गुन्नार लागरग्रेन ने अपने फैसले में कहा कि इस इलाके में शान्ति और स्थायित्व बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि इस पर पाकिस्तान का दावा स्वीकार किया जाय। इसका मतलब यह था कि इस क्षेत्र पर पाकिस्तान का कोई कानूनी अधिकार नहीं है लेकिन राजनीतिक दृष्टिकोण से उसको यह इलाका देना उचित होगा।

प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने इस निर्णय को राजनीतिक कारणों से प्रेरित बताकर इसकी निन्दा की। भारत के कुछ राजनीतिक दलों ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनके ट्रिब्यूनल का निर्णय मान्य नहीं है और वे इसके कार्यान्वयन का विरोध करेंगे। लेकिन युद्ध विराम के दौरान में कच्छ के मामले को ट्रिब्यूनल को सौंपते समय भारत ने यह शर्त मान ली थी कि ट्रिब्यूनल का फैसला उसे मान्य होगा। इस कारण भारत के समक्ष कोई दूसरा विकल्प नहीं रह गया। भारत-सरकार ने देश में प्रबल विरोध के बावजूद फैसले को मान लिया और उसे कार्यान्वित किया। ट्रिब्यूनल ने जिन क्षेत्रों को पाकिस्तान का माना वह क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में चला गया।

1965 का भारत पाकिस्तान युद्ध

कश्मीर में पाकिस्तान की घुसपैठ —अभी कच्छ समझौते की स्याही सूखने भी न पायी थी कि पाकिस्तान ने कश्मीर में अपनी हरकत शुरू कर दी। इस बार की पाकिस्तानी योजना 1947 के आक्रमण से बढ़-चढ़ कर थी। इसके लिए पाकिस्तान वर्षों से तैयारी कर रहा था। चीन की सहायता से हजारों पाकिस्तानी सैनिकों को छापामार युद्ध का प्रशिक्षण दिया गया था और योजना यह थी कि यह छापामार दस्ता असैनिक वेश में आधुनिक हथियार से लैस होकर कश्मीर में घुसेगा और कश्मीर के अन्दर उपद्रव तथा तोड़फोड़ करके ऐसी स्थिति पैदा कर देगा जिसमें भारतीय सेना को कश्मीर से भागना पड़े। पाकिस्तानी शासकों का विश्वास था कि कश्मीर की मुस्लिम जनता इन छापामारों के साथ सहयोग करेगी।

4-5 अगस्त की रात्रि में इस तरह के हजारों पाकिस्तानी छापेमार कश्मीर में घुस गये। पाकिस्तानी रेडियो ने दावा किया कि कश्मीर की जनता ने बड़े पैमाने पर

विद्रोह कर दिया है, मुजाहिदों ने रेडियो स्टेशन हवाई अड्डा आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया है और श्रीनगर का पतन होने ही वाला है। वास्तव यह थी कि भारतीय अधिकारियों को पाकिस्तानी छापामारों की घुसपैठ की खबर बाद में लगी तबतक इन मुजाहिदों ने कश्मीर में उपद्रव आरम्भ कर दिया था। भारतीय सेना ने शीघ्र कारवाई शुरु कर दी और सैकड़ों मुजाहिद पकड़ लिए गए या मार डाले गए।

जब भारतीय सेना घुसपैठियों के पहले जत्था का सफाया कर दिया तो पाकिस्तान ने दूसरे जत्था को भेजा। दूसरे जत्थे के प्रवेश ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया कि विराम रेखा के आसपास ऐसे कितने पहाड़ी जगहों इलाके हैं जिनसे होकर पाकिस्तानी घुसपैठी भारतीय कश्मीर में पहुँचते हैं। अतएव भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि पाकिस्तान की इन हरकतों का मुकाबला करने के लिए रोकने के लिए इन स्थानों पर अधिकार कर लिया जाय। इस निर्णय के बाद अगस्त के तीसरे सप्ताह में भारतीय सेना ने कारगील में क्षेत्र में उन तीन पाकिस्तानी प्रतिष्ठानों पर आधिपत्य कर लिया जहाँ से घुसपैठी भारतीय क्षेत्र में घुसा थे। 25 अगस्त को तिथवाल क्षेत्र में भारतीय सेना ने दो पाकिस्तानी प्रतिष्ठानों पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उरी-पुंछ क्षेत्र में सैनिक कारवाई की गयी और हाजीपीर के दर्रे पर भी भारतीय सेना का अधिकार हो गया। हाजीपीर पर कब्जा हो जाने से घुसपैठियों का रास्ता एकदम बन्द हो गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकारी इस समय युद्ध विराम रेखा का पहरा दे रहे थे। उन्होंने इन सारी घटनाओं को देखा और जनरल निम्मो ने सारी घटनाओं की सूचना महासचिव यू थान्ट को दे दी। स्थिति बिगड़ते देख महासचिव ने भारत और पाकिस्तान दोनों को संयम से काम लेने को कहा। लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला।

युद्ध का आरम्भ —भारत द्वारा विराम रेखा को पार करने की प्रतिक्रिया पाकिस्तान में स्वाभाविक रूप से हुई। 25 अगस्त के बाद से भारतीय और पाकिस्तानी सेनाओं में कई जगह प्रत्यक्ष मुठभेड़ हो गयी और यह निश्चय सा प्रतीत होने लगा कि भारत और पाकिस्तान में अब युद्ध छिड़ जायगा। अधिक पाकिस्तानी क्षेत्र को भारतीय अधिकार में जाने से रोकने के उद्देश्य से पाकिस्तान ने प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करने का निश्चय किया। छम्ब जौरियां क्षेत्र इसके लिए बहुत उपयोगी था क्योंकि पाकिस्तान इस क्षेत्र में आसानी से हमला कर सकता था और अखनूर पर कब्जा करके सारे कश्मीर को जम्मू से अलग कर भारतीय क्षेत्र पर अधिकार कर सकता था। हिटलर के विद्युत प्रहार के तर्ज पर सितम्बर को तड़के ही टैंक और आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से लैस पाकिस्तानी सेना ने अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा पार करके छम्ब क्षेत्र [illegible] भारत के लिए जीवन मरण का प्रश्न हो गया। इसके प्रतिरोध में भारतीय वायु सेना से मदद ली गयी और कुछ समय के लिए आक्रमण को रोक दिया गया। लेकिन शत्रु का दबाव घटा नहीं और ऐसा प्रतीत होने लगा कि इस क्षेत्र पर किसी भी क्षण पाकिस्तान का अधिकार हो सकता है।

5 सितम्बर को पाकिस्तानी वायुसेना ने अमृतसर पर हमला किया। इस घटना से यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं था कि पाकिस्तान संघर्ष के क्षेत्र को विस्तृत करके पंजाब पर आक्रमण करने का इरादा रखता है। पाकिस्तान की इस योजना को कुचलने और छम्ब-जूरियां क्षेत्र में पाकिस्तानी सैनिक दबाव को कम करने के उद्देश्य से भारत ने 6 सितम्बर को पाकिस्तान के पंजाब प्रदेश पर तीन तरफ से आक्रमण कर दिया और भारतीय सेना लाहौर की ओर बढ़ने लगी। पाकिस्तानी रेडियो से बोलते हुए राष्ट्रपति अयूब खाँ ने कहा कि "हम लोग अब युद्ध की स्थिति में हैं।" यह सचमुच भारत और पाकिस्तान के बीच एक अघोषित युद्ध था जो समस्त सीमान्त पर बड़े पैमाने पर लड़ा जा रहा था। दोनों देश पूरी शक्ति के साथ युद्ध में जुटे हुए थे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत पाक युद्ध का मामला

जैसा कि हम कह चुके हैं कि 5 अगस्त 1965 को तीन हजार के लगभग पाकिस्तानी कश्मीर युद्ध विराम रेखा को पार करके भारतीय क्षेत्र में घुस आये थे। इनमें से अधिकांश आजाद कश्मीर सेना के सैनिक थे लेकिन वे असैनिक पोशाक में घुसे थे। ये घुसपैठिये आधुनिकतम अस्त्र शस्त्रों से लैस थे और इनका उद्देश्य भारतीय क्षेत्र में तोड़-फोड़, लूट और आतंक फैलाना था। सम्भवतः पाकिस्तान का इरादा 1947 के इतिहास को दुहराना था। 9 अगस्त को शेख अब्दुल्ला के कैद की वर्षगाँठ के अवसर पर कश्मीर जनमत संग्रह दल ने एक विशाल प्रदर्शन का आयोजन किया था। उसी दिन घुसपैठिया को अपनी कार्यवाही शुरू करनी थी ताकि पाकिस्तान को यह कहने का मौका मिल जाय कि कश्मीर की जनता ने भारत के विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। भारत सरकार ने इस घटना की सूचना विराम रेखा पर स्थित संयुक्त राष्ट्रसंघ के पर्यवेक्षकों को दे दी। इन पर्यवेक्षकों ने स्थिति की जाँच पड़ताल की और संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य सैनिक पर्यवेक्षक जेनरल निम्मो (General Nimmo) ने महासचिव को इस बात की सूचना दी कि असैनिक पोशाक में बहुत से लोग सीमा के उस पार से भारतीय क्षेत्र में घुसे हैं। 10 अगस्त को महासचिव यू थान्त ने भारतीय और पाकिस्तानी प्रतिनिधियों से बातचीत करते हुए कहा कि वे अपनी सरकारों को संयम से काम लेने की सलाह दें।

इसी बीच भारतीय सेना ने घुसपैठियों को घर पकड़ शुरू की और कश्मीर में शान्ति-स्थापना के काम में संलग्न हो गयी। भारत सरकार ने स्पष्ट कर दिया कि वह घुसपैठियों का सामना करने के लिए तैयार है तथा महासचिव को पाकिस्तान से अनुरोध करना चाहिए कि वह इन व्यक्तियों को वापस बुला ले। पाकिस्तान के विदेश मन्त्री जेड० ए० भुट्टो ने कहा कि उनका देश किसी तरह इन घुसपैठियों से सम्बद्ध नहीं है। 18 अगस्त को यह सुनने में आया कि महासचिव ने कश्मीर की स्थिति पर एक वक्तव्य तैयार किया है जिसमें वर्तमान स्थिति के लिए पाकिस्तान को जिम्मेदार बताया गया है लेकिन पाकिस्तान तथा अमरीकी गुट के दबाव में आकर महासचिव ने उस वक्तव्य को प्रकाशित नहीं कराया। यू थान्त ने स्पष्ट

यू थे को भारतीय उपमहाद्वीप में भेजने का विचार किया लेकिन यह इरादा भी त्याग दिया गया।

इसके उपरान्त महासचिव ने जनरल निम्मो को न्यूयार्क बुलाया। 26 अगस्त को जेनरल निम्मो न्यूयार्क पहुँचे और महासचिव को उन्होंने कश्मीर की स्थिति के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट पेश की। कश्मीर के प्रश्न पर अपनी मन्त्रणा का दौरा पूरा करने के बाद महासचिव समस्या के समाधान के लिए नये सिरे से कदम उठाने पर विचार करने लगे। उन्होंने यह बतलाया कि कश्मीर की लड़ाई के बारे मे जनरल निम्मो ने जो रिपोर्ट दी है उसको अभी वे प्रकाशित नहीं करेंगे। सुरक्षा परिषद् की बैठक में इसको पेश किया जायगा।

भारत पाक युद्ध—1 सितम्बर को पाकिस्तान की नियमित सेना ने अन्त र्राष्ट्रीय सीमा रेखा को पारकर भारतीय भू भाग पर आक्रमण कर दिया। इसके प्रतिरोध में भारत को बहुत बड़े पमाने पर सैनिक कारवाई करनी पड़ी। युद्ध की अग्नि फैलने की सम्भावना बहुत बढ़ गयी। महासचिव ने सुरक्षा परिषद के सदस्यों से मन्त्रणा की और पाकिस्तान और भारत दोनों से युद्ध बन्द करने की अपील की। 4 सितम्बर को भारत ने इसका जवाब दिया। उसका कहना था कि जबतक पाकिस्तान घुसपैठियों को वापस नहीं बुला लेता और आक्रमण बन्द नहीं कर देता तबतक भारत युद्ध ब द करने में लाचार है।

सरक्षा परिषद की बठक—उसी दिन 4 सितम्बर को सुरक्षा परिषद् की बैठक हुई। कश्मीर की समस्या पर विचार करने के लिए परिषद् की यह 125 वीं बठक थी। भारत ने परिषद से यह मांग की कि वह पाकिस्तान को कश्मीर में आक्रामक घोषित कर और पाकिस्तान से यह मांग करे कि वह कश्मीर के सब भागों से अपनी सेना हटा ले। भारतीय प्रतिनिधि पार्थसारथी ने कहा कि पाकिस्तान न अपने आक्रमण के द्वारा 1949 में करांची में हुए युद्ध विराम समझौते को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है और युद्ध विराम रेखा को बनाईसान के रूप में परिवर्तित कर दिया है। बहस का प्रारम्भ करते हुए पार्थसारथी न कहा कि सुरक्षा-परिषद् पिछले अठारह वर्षों से कश्मीर समस्या को सुलझाने में असफल रही है क्योंकि वह इस समस्या के साथ तथ्य कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया है मानने से हमेशा इनकार करती रही है। उन्होंने कहा कि कश्मीर में आजकल जो हो रहा है वह पुन एक भारी आक्रमण है। न्यायविहीन पाकिस्तानी दावे से सुरक्षा-परिषद् पथभ्रष्ट भ्रम और बहकावे में पड़ गयी है।

पाकिस्तानी प्रतिनिधि सैयद अमजाद अली न कहा कि भारतीय प्रतिनिधि द्वारा दिया हुआ एक भी वक्तव्य ऐसा नहीं है जो कि मनगढ़त न हो और तथ्यों के आधार पर तक वितर्क नहीं किया जा सकता है। इसके बाद छ निर्वाचित सदस्यों की ओर से मलयेशिया ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें कश्मीर में अविलम्ब युद्ध विराम लागू करने के लिए भारत और पाकिस्तान से मांग की गयी थी। इसमें सम्मान करने

और युद्ध विराम रेखा के अपने भागों में सब सैनिकों को वापस बुला लेने के लिए वह आग्रह करती है।

मलयेशियाई प्रतिनिधि राधाकृष्ण रमानी ने कहा कि प्रस्ताव इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता उसमें केवल अविलम्ब युद्ध को बंद करने की माग की गयी है। परिषद ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

परिषद का यह प्रस्ताव अनेक त्रुटियों से भरा पड़ा था। इसमें कश्मीर में पाकिस्तान के नये आक्रमण की निन्दा न करके पुन उस एतिहासिक भूल को दुहराया गया जो 1947 में पाकिस्तानी आक्रमण के समय की गयी थी। इस बार जब कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव स्पष्ट रूप से पाकिस्तान को वर्तमान हमले के लिए दोषी बताया था तो सुरक्षा परिषद की यह उपेक्षा न्याय का गला घोंटने के समान थी। सुरक्षा परिषद की उक्त बैठक महासचिव यू थांत की रिपोर्ट पर विचार के लिए जब बुलायी गयी थी तब उस पर कोई विचार ही न किया जाना विस्मयकारी था। यह विस्मय उस समय और अधिक हो जाता है जब कि मूल प्रश्न पर विचार न कर आक्रामक पाकिस्तान तथा आक्रान्त भारत को समान कोटि में रखने का प्रयत्न किया गया। सुरक्षा परिषद में जो प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत बताया जाता है उसमें भारत तथा पाकिस्तान दोनों से तत्काल युद्ध विराम करने की अपील की गयी। लेकिन वास्तविकता की घोर उपेक्षा कर केवल औपचारिक कारवाई से कोई लाभ नहीं हो सकता। सुरक्षा परिषद के सदस्यों ने इसपर तनिक भी विचार नहीं किया। युद्ध विराम का प्रस्ताव स्वीकार कर फर्ज अदायगी तो कर दी गयी किन्तु इस बार तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया कि आक्रमणकारी पाकिस्तान का अपनी सेना पीछे हटाने का आदेश दिया जाय। जबतक कश्मीर पर नया हमला करने वाले दल को न रोका जायगा तबतक आखिर युद्ध बन्द भी कैसे हो सकता है? इस बात की ओर सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष तथा सदस्यों का ध्यान न जाना खेदजनक था।

यह स्थिति उस समय और भी गम्भीर चिन्ता का कारण बनी जब कि महासचिव यू थांत की कश्मीर सम्बन्धी रिपोर्ट पर कोई ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। एक ओर तो महासचिव श्री यू थांत की पहली रिपोर्ट तथा उनके कश्मीर सम्बन्धी रिपोर्ट को प्रकाशित नहीं होने दिया गया और फिर जब तत्सम्बन्धी गोपनीय रिपोर्ट उपस्थित की गयी तब भी उस पर ध्यान न दिया जाना आश्चर्यजनक ही नहीं घोर अनपकारी भी था। इस रिपोर्ट में महासचिव यू थांत ने जब पाकिस्तान को वर्तमान संघर्ष के लिए दोषी ठहराया तो फिर सुरक्षा-परिषद के अध्यक्ष और सदस्य को इस कहने में संकोच क्यों हुआ?

6 सितम्बर को युद्ध की स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा-परिषद की दूसरी बैठक हुई। यू थान्त ने परिषद को सूचित किया कि भारत और पाकिस्तान दोनों ने युद्ध बंद करने से इन्कार कर दिया है। उस रात सुरक्षा-परिषद् ने सर्वसम्मति से एक संकटकालीन प्रस्ताव पास किया जिसमें भारत और पाकिस्तान को तत्काल युद्ध बन्द करने के लिए कहा गया। उनसे यह भी अनुरोध

किया गया कि वे अपने समस्त सैनिकों को उन स्थानों पर लौटा लें जहाँ वे गत 5 अगस्त को थे। प्रस्ताव में महासचिव से प्रार्थना की गयी थी कि वे इस प्रस्ताव को तथा 4 सितम्बर के प्रस्ताव को मनवाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न का उपयोग करें।

उसी समय महासचिव ने यह घोषणा की कि वे बहुत शीघ्र युद्ध बन्द कराने के लिए पाकिस्तान और भारत जायेंगे।

यू थान्त का शान्ति अभियान—सुरक्षा परिषद के इस प्रस्ताव के आधार पर 9 सितम्बर को यू थान्त कराँची पहुँचे। तीन दिनों तक पाकिस्तानी नेताओं से उन्होंने बातचीत की। पाकिस्तान ने युद्ध विराम के प्रस्ताव को मंजूर करने के लिए तीन शर्तें रखीं

1 युद्ध विराम के बाद सम्पूर्ण कश्मीर से भारत और पाकिस्तान अपनी सेनाओं को पूरी तरह हटा लें।

2 जनमत संग्रह होने तक कश्मीर में शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए अफ्रीकी एशियाई देशों की सेना रखी जाय।

3 तीन महीनों के भीतर कश्मीर में सुरक्षा परिषद के 5 जनवरी 1949 के प्रस्ताव के अनुसार जनमत संग्रह के लिए मतदान किया जाय।

इन शर्तों ने स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान युद्ध बन्द करने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि ये तीनों शर्तें ऐसी थीं जिनको भारत किसी हालत में नहीं मान सकता था। 12 सितम्बर को महासचिव दिल्ली पहुँचे। दिल्ली में भारतीय प्रधान मन्त्री से उन्होंने तुरत युद्ध बन्द कर देने का प्रस्ताव रखा। भारत इस प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार था लेकिन साथ ही उसने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अपनी प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने के लिए स्वतन्त्र है। 15 सितम्बर को राष्ट्रपति अयूब खाँ ने युद्ध विराम के प्रस्ताव को अंतिम रूप से अस्वीकार कर दिया। यू थान्त अपने शांति अभियान में विफल होकर न्यूयार्क लौट गया।

न्यूयार्क पहुँच कर 15 सितम्बर को महासचिव ने सुरक्षा-परिषद में अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट पेश की। इस प्रारम्भिक रिपोर्ट में बताया गया था कि यदि पाकिस्तान राजी हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बन्द करने का सुझाव मानने को तैयार था। लेकिन पाकिस्तान ने इस प्रस्ताव के स्वीकार करने की सूचना नहीं दी है और वस्तुतः उसने प्रस्ताव को अप्रत्यक्ष रूप से ठुकरा दिया है।

सुरक्षा परिषद् की तीसरी बैठक—18 सितंबर को यू थान्त की भारत-पाकिस्तान यात्रा की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की बैठक फिर हुई। यू थान्त ने परिषद से माँग की कि चार्टर की धारा 40 के अधीन सुरक्षा परिषद भारत और पाकिस्तान को लड़ाई बन्द करने का आदेश दे और यदि वे युद्ध विराम न करें तो चार्टर की 39 वीं धारा के अधीन उनके विरुद्ध कारवाई की जाय। महासचिव ने कहा कि चार्टर की 40 वीं धारा के अनुसार सुरक्षा परिषद भारत पाकिस्तान को और आगे सैनिक कारवाई से विरत होने तथा युद्ध विराम के लिए आदेश दे सकती है। 1948 में सुरक्षा-परिषद् ने फिलिस्तीन के प्रश्न पर इसी प्रकार

का आदेश दिया था। यू था त ने कहा कि दोनों दशों के नेताओं स तुरत एक गोष्ठ सम्मेलन करने के लिए परिषद अपना कर सकती है। यह सम्मेलन सम क सहयोग स किसी तटस्थ देश में हो सकता है।

भारतीय प्रतिनिधि एम सी० छागला न परिषद स कहा कि पहले वह यह निश्चित कर कि भारत पाकिस्तान युद्ध में कौन आक्रामक है। उन्होंने घोषणा की कि मौलिक प्रश्न यह है कि आक्रामक कौन है? यही उपयुक्त समय है जब कि आक्रमणकारी को कहा जाय। उन्होंने कहा कि राष्ट्रसंघीय पयवेक्षकों की रिपोर्ट में यह बात साफ-साफ कहा गया है कि 5 अगस्त को कश्मीर में सशस्त्र अतिक्रमणकारी सीमा पार करके पाकिस्तान स भारत में घुस। श्री छागला न कहा कि राष्ट्रपति अयूब खां का कट्टर और दुराग्रहपूर्ण रुख इसीलिए था कि व चीन की पिकिंग की धमकी के बारे में पहले म ही जानते थ। अयूब खां चाहते हैं कि भारत दोनों मोर्चों पर लडे। वे चाहते हैं कि चीन भारत पर हमला बोल द। उन्होंने कहा कि जान बूझकर राष्ट्रपति अयूब खां का नवीनतम पत्र यू थान्त को उसी समय दिया गया जब कि चीन ने भारत को चुनौती दी। चीन न भारत को चुनौती दी थी यदि वह तिब्बत-सिक्किम सीमा के अपने सैनिक ठिकानों को नष्ट नहीं करता तो इसका परिणाम भयानक होगा। छागला ने कहा कि हमारी सरकार कश्मीर में किसी भी विदेशी सेना भेजने का विरोध करेगी। कश्मीर में जनमत संग्रह का भी भारत विरोध करेगा।

मलयेशिया के प्रतिनिधि राधाकृष्ण रमानी न बहस में भारत का समर्थन किया और कहा कि परिषद को एक चतुर्सूत्रीय प्रस्ताव पास करना चाहिए जिसमें युद्ध-विराम के लिए महासचिव की अपील स्वीकार करने की भारतीय तत्परता की सराहना की जाय शर्तों की स्वीकृति बिना पाकिस्तान द्वारा उस न मानने के हठ पर खेद प्रकट किया जाय कश्मीर में पाकिस्तान के सशस्त्र अतिक्रमण की भर्त्सना की जाय तथा पाकिस्तान स लडाई बन्द करने को कहा जाय।

रूसी प्रतिनिधि ने भारत पाकिस्तान संघर्ष स लाभ उठानेवाले पक्षों को चेतावनी दी और कहा कि ये पक्ष अपने विस्तारवादी इरादों और नापाक नीतियों के कारण यह सब युद्ध कर रहे हैं। भारत-पाकिस्तान क संघर्ष में केवल उन्हीं लोगों को लाभ पहुँच सकता है जो विश्व की जनता में नापाक इरादों स फूट डालना चाहते हैं तथा जिनके विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी इरादे हैं। सुरक्षा परिषद का इस बात पर जोर देना है कि जो प्रस्ताव पास हुए हैं उनपर तुरत अमल किया जाय। वियतनाम में अमरिकी आक्रमण स गम्भीर बनी स्थिति भारत पाकिस्तान के संघर्ष स और गम्भीर हो उठी है और एशिया में तनाव बढ़ गया है। संघर्ष रूस की सीमा के और निकट आ गया है। अतः रूस और ज्यादा चिन्तित है। अमरिका और ब्रिटेन ने भी युद्ध विराम का समर्थन किया।

सुरक्षा-परिषद के सदस्यों में केवल जोर्डान ही अकेला वह देश रहा जिसने पाकिस्तान का समर्थन करते हुए कहा कि सुरक्षा परिषद् को कश्मीर का प्रश्न हल करने के लिए अग्रसर होना चाहिए जो चल रहे संघर्षों की जड़ है। सुरक्षा परिषद

को कश्मीर का प्रश्न सुलझाने में अन्तिम निर्णय के अधिकार पर बल देने की जरूरत है। बिना इसके भारत पाकिस्तान के बीच वार्ता के लिए कोई समान आधार नहीं दिखाई पड़ता।

सुरक्षा परिषद ने अपनी 20 सितम्बर की बैठक में दस मतों से निम्न द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव पास किया। जोर्डन ने मत दान में भाग नहीं लिया। प्रस्ताव में परिषद ने भारत और पाकिस्तान को आदेश दिया कि वे बुधवार को साढ़े बारह बजे से युद्ध बन्द करने का आदेश जारी करें और बाद में अपने सारे सैनिक उन स्थानों पर वापस हटा लें जहाँ वे अगस्त 1965 में थे। महासचिव से कहा गया कि वे युद्ध विराम के निरीक्षण और सेनाओं की वापसी के निगरानी के लिए आवश्यक सहायता की व्यवस्था करें। साथ ही सभी देशों से कहा गया कि वे ऐसी कोई कारवाई न करें जिससे स्थिति और बिगड़े। परिषद ने इस बात पर विचार करने का भी निश्चय किया कि वर्तमान झगड़े में निहित राजनीतिक समस्या के हल के लिए युद्ध विराम के बाद क्या कदम उठाये जाय।

प्रस्ताव की समीक्षा—सुरक्षा परिषद् का यह प्रस्ताव भारत के साथ एक अन्याय था। इसके द्वारा भारत और पाकिस्तान को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया गया था। लेकिन उक्त आदेश केवल पाकिस्तान को दिया जाना चाहिए था कारण पाकिस्तान ने ही सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव को अस्वीकार किया था। भारत ने तो उसे पहले ही बिना शर्त मान लिया था। भारत जब युद्धबन्दी के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तयार था तो कोई कारण नहीं कि उसे भी उक्त आदेश दिया जाय। आक्रमणकारी तथा आक्रान्त दोनों के साथ एक प्रकार का यह व्यवहार बहुत ही खटकनेवाला था। युद्ध बन्द करने का आदेश तो उस देश को दिया जाना चाहिए जिसने युद्ध शुरू किया हो। पाकिस्तान ने ही भारत पर आक्रमण किया था और वह सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव को भी मानने के लिए तयार नहीं था। ऐसी स्थिति में भारतीय प्रतिनिधि श्री छागला का यह कथन सर्वथा उचित एवं युक्तियुक्त रहा कि युद्धबन्दी का आदेश केवल पाकिस्तान को ही दिया जाय जिसने भारत पर आक्रमण किया है। प्रस्ताव में भारत को आदेश देने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं थी। वह तो पहले से ही इसके लिए तयार था बशर्ते पाकिस्तान भी इसे स्वीकार करे।

प्रधान मन्त्री शास्त्री तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यू थान्त के बीच जो पत्र व्यवहार हुआ था उससे स्पष्ट है कि भारत तो शान्ति के निमित्त युद्ध विराम के लिए प्रस्तुत था किन्तु पाकिस्तान की दुराग्रही शर्तों के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। भारत महासचिव यू थान्त के प्रस्ताव को मान लेने के लिए प्रस्तुत था किन्तु जब पाकिस्तान बिना शर्त युद्ध विराम के लिए तयार ही नहीं हुआ तो क्या किया जाता। इस प्रकार महासचिव यू थान्त को असफल बनाने का सारा दोष पाकिस्तान तथा उसे प्रोत्साहन देने वाले देशों पर था। शुक्रवार की रात को सुरक्षा परिषद की बैठक में महासचिव यू थान्त ने अपने इस प्रयास के बारे में जो रिपोर्ट दी उससे भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है। सुरक्षा परिषद को पहले ही महासचिव की रिपोर्ट

पर विचार कर पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित करना चाहिए था। यह न कर बहुत बड़ी गलती की गयी। यू थान्त के प्रयास को विफल कर पुनः पाकिस्तान ने हिमाकत की और शान्तिप्रिय देशों की इच्छा एवं आग्रह को ठुकराया। यही नहीं पाकिस्तान राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में भी जिस प्रकार की बातें करने लगा था वह उसके औद्धत्य का सूचक था।

इस बार भी सुरक्षा परिषद ने मूल प्रश्न को उठा कर पाकिस्तान के आक्रमणकारी स्वरूप पर पर्दा डालने की कोशिश की। यह पहला अवसर नहीं जबकि पाकिस्तान ने कश्मीर पर हमला किया हो। 1947 में भी उसने यही काम किया था। अब जब कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के कश्मीर स्थित प्रधान पर्यवेक्षक जनरल निम्मो ने स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान को हमला करनेवाला घोषित किया और उसकी पुष्टि महासचिव यू थान्त ने भी अपनी सुरक्षा-परिषद की रिपोर्ट में की इसके बाद भी पाकिस्तान को हमलावर घोषित न करना भारत के साथ सरासर अन्याय करना था। प्रस्ताव में यदि युद्धबन्दी का ही आदेश होता तो बात दूसरी होती। इसमें कश्मीर की राजनीतिक समस्या के समाधानों की भी चर्चा की गयी थी। प्रस्ताव में इसका उल्लेख अप्रासंगिक एवं अनावश्यक था। कारण कश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं उठाया जा सकता। 1947 में भी भारत ने ही कश्मीर पर पाकिस्तानी हमले की फरियाद की थी उस समय भी भारत को न्याय नहीं मिला और पाकिस्तान के आक्रमणकारी रूप प्रकट होने पर भी वह किसी प्रकार लांछित एवं दण्डित नहीं हुआ। इस बार जब कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधितया सर्वोच्च अधिकारी की यह रिपोर्ट थी कि पाकिस्तान ने कश्मीर पर हमला किया है उस समय भी पाकिस्तान को आक्रमणकारी न घोषित करना बड़े ही आश्चर्य की बात है। स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद् गुटों के आधार पर बटी हुई है तथा वहाँ राजनीतिक स्वार्थों के अनुसार निर्णय हुआ करते हैं। न्याय तथा सत्य का परिषद के निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह बात सुरक्षा परिषद के नये आचरण से स्पष्ट हो जाती है। सुरक्षा परिषद की बैठक में युद्ध विराम के बाद वर्तमान संघर्ष की मूल समस्या के समाधान की जो बात कही गयी वह बड़ा ही अनर्थमूलक था।

युद्ध विराम —यद्यपि भारत के लिए इस प्रस्ताव को स्वीकार करना सहज था लेकिन शान्ति के नाम पर उसने इसे स्वीकार कर लिया। पाकिस्तान ने 22 सितम्बर को इस प्रस्ताव को स्वीकार किया अतएव युद्ध विराम का समय सुरक्षा परिषद द्वारा बढ़ा दिया गया। 23 सितम्बर को सुबह तीन बजकर तीस मिनट पर दोनों पक्षों ने युद्ध बन्द कर दिया।

यद्यपि सुरक्षा-परिषद ने इस प्रस्ताव के द्वारा भारत के साथ न्याय नहीं किया लेकिन भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध बन्द करा देना उसकी एक बड़ी सफलता मानी जायगी। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव यू थान्त के प्रयास भी सराहनीय माने जायेंगे।

युद्ध के परिणाम—पाकिस्तान को यह आशा थी कि चीन उसकी सहायता करेगा लेकिन उसे निराश होना पड़ा। उसने सिआटो और सेंटो संगठनों से सहायता की याचना की किन्तु वहाँ से भी उसे निराश होना पड़ा। भारतीय सेना ने पाकिस्तान के एक बहुत बड़े भू भाग पर अधिकार कर लिया। युद्ध के खत्म होने पर सात सौ चालीस वर्गमील का पाकिस्तानी क्षेत्र भारतीय कब्जे में था और दो सौ चालीस वर्गमील के लगभग भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान के कब्जे में थे। जन धन और सैनिक साजो सामान में दोनों पक्षों की अपार क्षति हुई।

भारत और पाकिस्तान के कटु सम्बन्धों के इतिहास में सितम्बर 1965 का युद्ध एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह उस मनमुटाव और कटुता की भावना का चरम विकास था जिसको सदा से पाकिस्तानी अधिकारी 1947 से पालते आ रहे थे। पाकिस्तान के लिए एक धार्मिक सीमा स्थापित करने तथा भारत को नीचा दिखाने का यह एक प्रबल प्रयास था। लेकिन युद्ध में पाकिस्तान की पराजय ने यह सिद्ध कर दिया कि अंतर्राष्ट्रीय झगड़े का निबटारा शक्ति द्वारा करने का प्रयास व्यर्थ होता है और जो लोग पहले तलवार उठाते हैं वे तलवार से ही नष्ट हो जाते हैं। भारत के लिए यह विजय धर्म निरपेक्षता समाजवाद और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की विजय थी। इसने सिद्ध कर दिया कि भारत अपनी प्रादेशिक अखण्डता बचाये रखने के लिए कटिबद्ध है और संसार की कोई भी शक्ति उसके अभिन्न अंग कश्मीर को उससे विलग नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त इस युद्ध के निम्नलिखित परिणाम हुए —

1 पाकिस्तान हमेशा कहा करता था कि यदि कश्मीर की समस्या का शांतिपूर्ण ढंग से समाधान नहीं हुआ तो वह दूसरे तरीकों को अपनायगा। "दूसरे तरीके" का तात्पर्य शक्ति अर्थात् युद्ध का सहारा लेना था। इसलिए पाकिस्तान 1954 से ही अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। सितम्बर 1965 में उसने इस दूसरे तरीके का अवलम्बन किया लेकिन उसकी मनोकामना पूरी नहीं हुई। अतः उम्मीद की जा सकती है कि भविष्य में अब पाकिस्तान इस तरह की धमकी न दे।

2 पाकिस्तान के शासकों का विश्वास था कि भारत के साथ युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में कश्मीर की मुस्लिम जनता उसका साथ देगी और भारत के खिलाफ विद्रोह कर देगी। उन्हें यह भी विश्वास था कि धर्म के नाम पर भारत के मुस्लिम नागरिक पाकिस्तान का समर्थन करेंगे और पांचवें स्तम्भ (fifth column) का काम करेंगे। लेकिन युद्ध के दिनों में भारत के मुसलमानों ने जिस देशभक्ति का प्रदर्शन किया उसने यह सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तान की सारी उम्मीद बेकार थी और भारतीय धर्मनिरपेक्षता का आधार अत्यन्त ठोस है।

3 इस युद्ध ने भारत में एक अपूर्व स्वाभिमान पैदा किया और देश को आत्मनिर्भर बनाने की भावना बलवती हुई। पाकिस्तान युद्ध में अमरिका द्वारा मुफ्त में दिये गये हथियार टैंक और बम-वर्षकों का प्रयोग कर रहा था लेकिन भारत के अधिकांश हथियार स्वदेशी थे। भारत में बने विमान की उपलब्धियों ने प्रत्येक भार

शौय का सिर ऊंचा कर दिया और सम्पूर्ण युद्ध की अवधि में नागरिकों तथा सैनिकों का मनोबल ऊंचा रखा।

4 सैनिक विशेषज्ञों का कहना था कि इस युद्ध ने टैंक-युद्ध के तरीकों को भी प्रभावित किया। पाकिस्तान ने अमरिका में बने पैटन टैंक का प्रयोग युद्ध में किया था। इस टैंक की शोहरत सारे संसार में थी और दुनिया का यह सब शक्तिशाली युद्ध यन्त्र माना जाता था। लेकिन खेम करन में भारतीयों ने इसका सफाया किया उसके कारण पैटन टैंकों की शक्ति में युद्ध विशेषज्ञों का विश्वास घट गया।

5 भारत-पाकिस्तान युद्ध ने भारत को एक शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व प्रदान किया। पंडित जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद लाल बहादुर शास्त्री देश के प्रधान मंत्री अवश्य बन गये थे लेकिन नेतृत्व के रूप में उनके नेतृत्व का प्रभाव नाममात्र का था। पाकिस्तान के साथ युद्ध के समय शास्त्री ने जिस दृढ़ नीति का अवलम्बन किया उसने यह सिद्ध कर दिया कि वे पं नेहरू के योग्य उत्तराधिकारी हैं और सम्पूर्ण देश का विश्वास उनमें जम गया।

6 पाकिस्तान के लिए यह युद्ध बड़ा घातक सिद्ध हुआ। इसने पाकिस्तान के सभी विश्वासों और मान्यताओं को चकनाचूर कर दिया। 1954 से पाकिस्तान स्वी दिन के लिए सभी साजो का परित्याग कर अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा था, लेकिन युद्ध में पराजय ने सैनिक तानाशाही के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया। जनता के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था। क्या इसीलिए सभी स्वतंत्रताओं का बलिदान किया गया था? इसमें कोई सन्देह नहीं कि युद्ध में पराजय अयूब की सैनिक तानाशाही के लिए बड़ा घातक हुआ। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान का शासक वर्ग भी देश की विदेश-नीति के पुनर्निर्धारण के सबंध में सोचने लगा है।

7 भारत पाकिस्तान ने युद्ध विराम स्थिति जकार्ता द्वारा के टूटने हुए देश का अन्तिम तो था। युद्ध के समय पाकिस्तान चीन और इण्डोनेशिया का सहयोग एशिया की शान्ति के लिए बहुत खतरनाक हो गया था। इन देशों ने अपूर्व एकता और सम्पर्क का परिचय दिया और यह सहयोग चलकर सीमा पार तक पहुंचा जब पाकिस्तान ने चीन और इण्डोनेशिया के मित्र राष्ट्र मलयेशिया के साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। पाकिस्तान का कदम भुलाया नहीं जा सकता में मलयेशिया प्रतिनिधि द्वारा कश्मीर प्रश्न पर रखे के विरोध में उठाया गया था।

8 भारत पाकिस्तान युद्ध ने आधुनिक विश्व राजनीति में संयुक्त राष्ट्र संघ की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया। इण्डोनेशिया द्वारा संघ से निकल जाने से संघ के भविष्य के सम्बन्ध में तरह-तरह की आशंकाएं उत्पन्न होने लगी थीं। लेकिन सुरक्षा परिषद ने बड़ी तत्परतापूर्वक हस्तक्षेप करके इस युद्ध को बन्द कराया। इस घटना से यह भी सिद्ध हो गया कि यदि अन्तरराष्ट्रीय महत्तों पर महाशक्तियां से योग से काम करें तो संघ को पूरी सफलता मिल सकती है। भारत-पाकिस्तान युद्ध को

बन्द कराने में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरिका ने अपूर्व सहयोग का प्रदर्शन किया और इसी कारण परिषद को शान्ति-स्थापना के काय में सफलता मिली।

भारत-पाकिस्तान युद्ध ने सोवियत राजनय को एक नया मोड़ लेने का अवसर प्रदान किया। दो राष्ट्रों के झगड़ों को सुलझाने में सोवियत संघ ने आज तक कभी अपनी सेवाए अर्पित नहीं की थीं। वस्तुत सोवियत राजनय का इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं था। लेकिन भारत और पाकिस्तान के झगड़ों को सुलझाने में उसने अपनी सेवाए अर्पित कीं और ताशकन्द में सम्मेलन का आयोजन किया। सोवियत राजनय के लिए यह बिल्कुल नवीन चीज थी और विश्व राजनीति पर इसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था।

युद्ध विराम का उल्लंघन—संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से 23 सितम्बर 1965 को युद्ध विराम हो गया तथा भारत और पाकिस्तान ने युद्ध बन्द कर दिये लेकिन युद्ध के क्षेत्रों में पूर्ण शान्ति नहीं आयी। दोनों ओर से युद्ध विराम का उल्लंघन होता रहा। संयुक्त राष्ट्रसंघ का पर्यवेक्षक दल इन उल्लंघनों को रोकने का प्रयास करता रहा लेकिन यह सम्भव नहीं था। दोनों देशों की सेनाएं आमने सामने खड़ी रहती थीं और इस हालत में मामूली झड़प पर गोली चल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। संघ के महासचिव ने इन उल्लंघनों को बन्द करने के कुछ सुझाव दिये पर उनका कोई परिणाम नहीं निकला और दोनों ओर से प्रतिदिन युद्ध विराम के उल्लंघन होते रहे।

ताशकन्द सम्मेलन

इस भयानक स्थिति को समाप्त करने के लिए सोवियत राजनय काफी सक्रिय था। सोवियत प्रधान मंत्री का विचार था कि इन सारे झगड़ों का अन्त दोनों देश के नेता प्रत्यक्ष वार्ता करके कर सकते हैं। अतएव सोवियत संघ ने विशेष दिलचस्पी लेकर ताशकन्द सम्मेलन की व्यवस्था की और 4 जनवरी को ताशकन्द में राष्ट्रपति अयूब खां तथा प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री का ऐतिहासिक सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। लेकिन ताशकन्द सम्मेलन में समझौता होना कोई आसान नहीं था। दोनों देशों की शत्रुता अठारह वर्ष पुरानी थी और हाल ही में दोनों के बीच जीवन मरण का युद्ध हुआ था। लेकिन सोवियत राजनय का जादू दोनों के बीच समझौता करने में सफल रहा और 10 जनवरी 1966 को हर और उल्लास के बीच ऐतिहासिक ताशकन्द समझौते पर हस्ताक्षर हुआ। इस समझौते की शर्तें निम्न लिखित थीं —

भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर सहमत हैं कि दोनों पक्ष जोरदार प्रयत्न करेंगे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र के अनुसार भारत और पाकिस्तान में अच्छे पड़ोसियों का सम्बन्ध निर्मित हो। वे राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र के अन्तर्गत पुनः दुहराते हैं कि बल प्रयोग का सहारा न लेंगे और अपने विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझायेंगे।

वे समझते हैं कि उनके क्षेत्र में विशेषकर भारत पाकिस्तान उप महाद्वीप में और भारत तथा पाकिस्तान के जनता के हित में यह नहीं है कि दोनों देशों में तनाव बना रहे। इसी पृष्ठभूमि में जम्मू और कश्मीर के मसले पर विचार किया गया और दोनों देशों ने अपना अपना पक्ष उपस्थित किया।

(2) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस बात पर सहमत हैं कि दोनों देशों के सभी सशस्त्र व्यक्ति 25 फरवरी 1966 के पूर्व उस स्थान पर वापस लिए जायेंगे जहाँ वे 5 अगस्त के पूर्व थे और दोनों पक्ष युद्ध विराम रेखा पर युद्ध विराम की शर्तों का पालन करेंगे।

(3) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति राजी हुए हैं कि भारत और पाकिस्तान के बीच का सम्बन्ध एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त पर आधारित होगा।

(4) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि दोनों पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध किसी प्रकार के प्रचार को निरुत्साहित करेंगे और ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देंगे जो दोनों देशों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध को बढ़ाता है।

(5) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि पाकिस्तान के लिए भारत के उच्चायुक्त और भारत के लिए पाकिस्तान के उच्चायुक्त अपने-अपने पदों पर वापस आयेंगे और दोनों देशों में राजनीतिक सम्बन्ध पुनः सामान्य रूप से स्थापित होगा। दोनों देशों की सरकारें राजनीतिक सम्बन्ध के मामले में 1961 के वियना नियमों का पालन करेंगी।

(6) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि वे आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धों को यातायात सम्बन्धों को और भारत पाकिस्तान के बीच सांस्कृतिक आदान प्रदान को पुनः स्थापित करने के सम्बन्ध में विचार करेंगे और भारत-पाकिस्तान के बीच जो वर्तमान समझौते हैं उनको कार्यान्वित करने का उपाय करेंगे।

(7) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति राजी हुए हैं कि वे अपने अपने अफसरों को आदेश देंगे कि वे युद्ध बन्दियों की अदला-बदली का काम करें।

(8) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि दोनों पक्ष शरणार्थियों की समस्याओं से तथा अवैध रूप से घुसे व्यक्तियों को निकालने से सम्बन्धित प्रश्नों पर आपस में विचार विमर्श जारी रखेंगे। वे इस बात पर भी राजी हुए हैं कि दोनों पक्ष ऐसी स्थिति उत्पन्न करेंगे जिससे जनता का पलायन रुकेगी।

भारत पाकिस्तान संघर्ष के दौरान में एक पक्ष के द्वारा दूसरे पक्ष की ली गयी सम्पत्ति आदि की वापसी के बारे में वार्ता करने के लिए सहमत हुए हैं।

(9) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए हैं कि दोनों देशों से सीधे सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर विचार करने के लिए दोनों पक्ष

सर्वोच्च स्तर पर तथा अन्य स्तरों पर आपस में मिलना जारी रखेंगे। दोनों पक्षों ने इस बात की आवश्यकता को महसूस किया है कि भारतीय और पाकिस्तानियों की संयुक्त समितियाँ बनें जो अपने देशों की सरकारों को सूचना दें कि आगे क्या कदम उठाये जाने चाहिए।

(10) भारत के प्रधान मन्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सोवियत संघ के नेताओं के प्रति सोवियत सरकार के प्रति और व्यक्तिगत रूप से रूस के प्रधान मन्त्री श्री कोसीजिन के प्रति उनके रचनात्मक मित्रतापूर्ण और सुन्दर कार्यों के प्रति कृतज्ञता और प्रशंसा की गहरी भावना व्यक्त करते हैं। जिनके सदप्रयत्नों से वर्तमान सम्मेलन हो सका और जिसका परिणाम दोनों पक्षों के लिए सन्तोषप्रद रहा।

ताशकन्द समझौते का महत्त्व —ताशकन्द समझौते का चीन में छोड़कर सर्वत्र स्वागत हुआ। यह सत्य है कि ताशकन्द समझौते से भारत और पाकिस्तान के मौलिक मतभेदों का अन्त नहीं हुआ लेकिन उस समय यह उम्मीद करना कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों की सारी समस्याओं का समाधान हो जायगा गलत था। ताशकन्द का महत्त्व इस बात में है कि इसने पहले-पहल भारत और पाकिस्तान के नेताओं को अपने झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए प्रत्यक्ष वार्त्ता का अवसर दिया। इसमें इस बात की सम्भावना बढ़ गयी। भारत और पाकिस्तान सम्बन्ध में एक नया युग शुरू होगा और दोनों देश अपनी मित्रता का सुन्दर मैत्री रास्ता अपनायेंगे। ताशकन्द समझौते का स्वागत दुनिया ने शान्ति की विजय के रूप में तथा चीन की उग्रवादी नीति की पराजय के रूप में किया।[1]

ताशकन्द समझौते के महत्त्व पर बोलते हुए सोवियत प्रधान मन्त्री ने सत्य ही कहा था ताशकन्द घोषणा भारत तथा पाकिस्तान के सम्बन्धों में नया मोड़ है। घोषणा से दोनों देशों के सैनिक संघर्षों का अन्त हो गया तथा उसने दो मुख्य एशियाई देशों के बीच विद्यमान कठिनाइयों को समाप्त करने का मार्ग प्रशस्त हुआ है। मेरे विचार से एशिया के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में शान्ति रखने के लिए उक्त घोषणा ने एक वास्तविक आधारशिला की नींव रखी है।[2]

समझौते पर हस्ताक्षर करने के उपरान्त लाल बहादुर शास्त्री ने कहा था अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ताशकन्द सम्मेलन एक विशिष्ट प्रयास है। उन्होंने प्रकट की थी कि सम्पूर्ण विश्व ताशकन्द घोषणा को काफी लम्बी अवधि की को सुलझाने का एक उदाहरण मानकर उसका स्वागत करेगा। वस्तुतः ताशकन्द

1 The Tashkent Declaration has been generally welcomed as one paving the way for better relations India and Pakistan and ushering in new era of friendship between the two countries The Declaration was held as a triumph for forces of peace and a defeat to China which had been its utmost to wreck this summit talks —*Hindustan Times* (Delhi) 11 January 1966

2 आज (वाराणसी) 12 जनवरी 1966

समझौता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकार्नो, जेनेवा और वियना की शृंखला में एक कड़ी है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के विकास में समय समय पर काफी सहायता मिली है। यही कारण है कि यह सुझाव दिया जाता है कि समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान ताशकन्द की भावना (Spirit of Tashkent) में किया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आने वाले कई वर्षों तक ताशकन्द की भावना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करती।

ताशकन्द समझौते के बाद —ताशकन्द घोषणा के बाद दोनों देशों में इसको कार्यान्वित करने के लिए तत्काल कदम उठाये गये और दोनों देशों के सैनिक अपने स्थान पर लौट आये जहाँ वे 5 अगस्त 1965 को थे। दोनों देशों ने एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार करना भी बन्द कर दिया। ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध में सचमुच ही एक नया अध्याय प्रारम्भ हो गया।

लेकिन अभी ताशकन्द की स्याही सूखने भी न पायी थी कि सीमाओं पर पाकिस्तानी सैनिकों की हलचल पुनः शुरू (जुलाई-अगस्त 1966) हो गया। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि ताशकन्द समझौता का अन्त होने वाला है लेकिन दोनों ने बुद्धिमत्ता से काम लिया। सितम्बर 1966 में भारत और पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों के बीच एक समझौता हुआ और यह निश्चय किया गया कि वे अपने सीमाओं पर यदि कोई सैनिक गतिविधि करें तो इसकी पूर्व सूचना एक दूसरे को दे दें। इस समझौता से वातावरण अवश्य ही कुछ शान्त हुआ। 1967 के प्रारम्भ में भारतीय क्षेत्र में एक पाकिस्तानी हवाई जहाज को भारत द्वारा मार गिराये जाने से दोनों देशों के बीच फिर कुछ तनाव बढ़ गया। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण घटना मई 1967 में घटी जब लखनूर क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान के सैनिकों के बीच एक मामूली झड़प हो गयी जिसके परिणामस्वरूप एक भारतीय सैनिक मारा गया।

ताशकन्द सम्मेलन से दिसम्बर 1970 तक भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में कोई विशेष घटना नहीं घटी। जुलाई, 1968 में सोवियत संघ ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। भारत में इसका बड़ा विरोध हुआ। लेकिन पाकिस्तान में इस विरोध के प्रति कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। इसका एक कारण पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीति में उथल पुथल था जो नवम्बर 1968 में शुरू हुआ और अप्रैल 1969 में लगभग समाप्त हुआ। पाकिस्तान में अयूब खाँ के विरोध में जनजागरण शुरू हुआ। विग्रह जोर पकड़ते हुए और इन्होंने इतना भयंकर रूप धारण कर लिया कि अयूब खाँ को राष्ट्रपति के पद से हट जाना पड़ा। उनका स्थान जनरल याह्या खाँ ने ले लिया। भारत के राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन की मृत्यु पर पाकिस्तान ने भी तीनों के लिए राजकीय शोक मनाया। वहाँ राष्ट्रीय झण्डे झुका दिये गये और शव यात्रा में शामिल होने के लिए मार्शल नूर खाँ भेजे गये। इस घटना से दोनों देशों में सद्भावना बनी थी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। बाद में (जनवरी 1969 में) इसी आधार पर जनरल याह्या खाँ तथा इन्दिरा गांधी में कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ। लेकिन जहाँ तक

मौलिक प्रश्नों पर मतभेद का प्रश्न है दोनों दश अपने अपने स्थान पर अभी भी अडिग रहे।

विमान अपहरण काड और भारत-पाक सम्ब ध —30 जनवरी 1971 को इण्डियन एयरलाइन्स का एक यात्री विमान श्रीनगर से दिल्ली के लिए चला। रास्ते में ही दो अपहरणकर्त्ताओं ने जहाज के चालक को बाध्य किया कि विमान को पाकिस्तान ले चले। विमान को जबरन लाहौर के हवाई अड्डा पर उतारा गया। अपहरणकर्त्ताओं ने अपने को कश्मीरी अलफतह सगठन का सदस्य बताया। कश्मीर मुक्ति मोर्चा के नेता मकबल अहमद ने दावा किया कि मुक्ति मोर्चे के आदेश पर ही विमान का अपहरण किया गया था। लाहौर में उतरने के बाद मोर्चे की ओर से वायुयान को बिना क्षति छोड़ने के लिए तीन शर्तें रखी गयीं। अपहरणकर्त्ताओं को पाकिस्तान में राजनीतिक शरण दी जाय उनके परिवारों तथा मुक्ति मोर्चे के अन्य बन्दियों के परिवारों के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न किया जाय तथा भारतीय विमान के बदले मुक्ति मोर्चे के बन्दी सदस्यों को मुक्त कर दिया जाय। पाकिस्तान ने राजनीतिक शरण की मांग तुरत स्वीकार कर ली और अपहरणकर्त्ताओं की शर्तों की सूचना भारत सरकार को दे दी। भारत सरकार ने इन मांगों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। भारत के विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह ने पाकिस्तान से मांग की कि भारतीय विमान को तुरत लौटा दिया जाय। लेकिन पाकिस्तान सरकार ने इस पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। एक दिन बाद विमान के यात्री तो लौटा दिये गये लेकिन 2 फरवरी को अपहरणकर्त्ताओं ने विमान में आग लगाकर ध्वस्त कर दिया। जिस समय विमान को जलाया जा रहा था उस समय पाकिस्तान सरकार के उच्च अधिकारी और सैनिक हवाई अड्डा पर खड़े होकर तमाशा देख रहे थे। इस घटना को पाकिस्तानी टेलीविजन से प्रसारित भी किया गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण अपहरणकांड के पीछे पाकिस्तान सरकार का प्रायश हाथ था। कुछ दिन पहले पाकिस्तान में चुनाव हुआ था और पूर्व पाकिस्तान में अवामी लीग को अप्रत्याशित सफलता मिली। अवामी लीग की यह सफलता पाकिस्तान में उभरते हुए लोकतन्त्र समाजवाद और धर्म निरपेक्षता की सफलता थी। पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहों ने यह कल्पना नहीं की थी कि चुनाव का परिणाम इस प्रकार निकलेगा। अतएव उनका लक्ष्य अब यह हो गया कि किसी तरह अवामी लीग को सत्ता प्राप्त करने से रोका जाय। इसके लिए भारत के साथ तनाव और युद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न करना आवश्यक था। इसी भावना से प्रेरित होकर पाकिस्तानी अधिकारियों ने विमान अपहरण का षड्यन्त्र रचा और सीमा पर तनातनी पैदा करने की पूरी कोशिश की।

लाहौर में भारतीय विमान के ध्वंस से भारत भर में आक्रोश का तूफान उठ खड़ा हुआ। नयी दिल्ली स्थित पाकिस्तानी उच्चायुक्त के दफ्तर के सामने कई दिनों तक प्रदर्शन होते रहे। इसके प्रत्युत्तर में पाकिस्तान में भी भारतीय उच्चायुक्त के दफ्तर के समक्ष प्रदर्शन हुए। भारत सरकार ने विमान के अपहरण और उसके ध्वंस

किये जाने के लिए पाकिस्तान सरकार को उत्तरदायी माना और पाकिस्तान की असैनिक विमान उड़ानें भारत के आकाश में निषिद्ध कर दीं । भारत सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय वायु प्रदेश के ऊपर से होकर पाकिस्तानी विमानों की सीधी उड़ानों पर तबतक प्रतिबंध लगा रहेगा जबतक पाकिस्तान ध्वस्त किये गये विमान का मुआवजा नहीं देता तथा अपहरणकर्ताओं को लौटा नहीं देता । भारत का कहना था कि विमान अपहरण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध घोषित किया जा चुका है । राष्ट्रों के टोकियो सम्मेलन में जिसमें पाकिस्तान भी शामिल था इस बात पर निर्णय हो चुका है और पाकिस्तान अपहरणकर्ताओं को लौटाने के लिए वचनबद्ध है । लेकिन पाकिस्तान सरकार पर इन कारवाइयों तथा तर्कों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । वह मुआवजा देने तथा अपहरणकर्ताओं को भारतीय अधिकारियों के सुपुर्द करने से इन्कार करती रही ।

जिस दिन भारत सरकार ने पाकिस्तान की असैनिक उड़ानें भारतीय आकाश में निषिद्ध कर दी थीं उसी दिन सीमा के दोनों ओर प्रतिरोध का वातावरण और अधिक गहरा हो गया । लाहौर में नागरिक सुरक्षा के अभ्यास हुए जिन्हें हजारों लोगों ने देखा और पंजाब के गवर्नर ने लोगों से युद्ध का प्रशिक्षण लेने का आग्रह किया । साथ ही रेडियो पाकिस्तान की धमकियों को देखते हुए लगा कि दोनों देशों के बीच यदि कोई छोटी-मोटी झड़प हो जाय तो ताज्जुब नहीं । इसी बीच पूर्वी पाकिस्तान में गृह युद्ध छिड़ गया जिससे विमान अपहरण काण्ड को लेकर सीमा पर तनाव कम हो गया । पाकिस्तान सरकार का सारा ध्यान पूर्वी बंगाल पर केन्द्रित हो गया । इस बीच भारत सरकार ने कई बार यह स्पष्ट कर दिया कि भारत अपने ऊपर से पाकिस्तानी विमानों को उड़ान की इजाजत तबतक नहीं देगा जबतक ध्वस्त विमानों का मुआवजा और अपहरणकर्ताओं को भारतीय अधिकारियों के सुपुर्द नहीं किया जाता।

पाकिस्तान का गृहयुद्ध और भारत

पाकिस्तान में निर्वाचन —31 मार्च 1969 को पाकिस्तान के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ जब राष्ट्रपति अयूब खां ने पदत्याग कर दिया और उनकी जगह पर याह्या खां पाकिस्तान के राष्ट्रपति बने । अयूब खां के सैनिक शासन के विरुद्ध पाकिस्तान में विशेषकर पूर्वी पाकिस्तान में भयंकर जन आन्दोलन हुआ था जिसका उद्देश्य पाकिस्तान में प्रजातांत्रिक शासनव्यवस्था स्थापित करना था । इस पृष्ठभूमि में अयूब खां को अपदस्थ कर जब याह्या खां ने पाकिस्तान के राष्ट्रपति का पद संभाला तो उन्होंने वादा किया कि वे शीघ्र ही देश में चुनाव की व्यवस्था करायेंगे और शासन सत्ता जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों को सुपुर्द कर देंगे । 7 दिसम्बर 1970 में यह चुनाव सम्पन्न हुआ । 300 सदस्यीय राष्ट्रीय एसेम्बली में मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग को 160 स्थान तथा जुल्फिकार अली भुट्टो की पिपुल्स पार्टी को 84 स्थान मिले । 17 दिसम्बर को प्रादेशिक विधान सभाओं के चुनाव हुए । इस चुनाव में भी पूर्वी पाकिस्तान में शेख मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग और पश्चिमी पाकि

स्तान में भुट्टो की पिपुल्स पार्टी को सफलता मिली। चुनाव के परिणामों के विश्लेषण से पता चलता है कि पश्चिमी ढंग के सैनिक शासन से ऊबे मतदाताओं ने परिवर्तन लोकतन्त्र प्रगतिशील नीतियों और जनता के प्रति उत्तरदायी राजनीतिक व्यवस्था के लिए मतदान किया।

राष्ट्रीय एसेम्बली में यद्यपि अवामीलीग को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया किन्तु पाकिस्तान का राजनीतिक भविष्य अन्धकार में ही पड़ा रहा। नव निर्वाचित एसेम्बली को 120 दिनों के अन्दर पाकिस्तान के लिए संविधान तैयार करना था। राष्ट्रपति याह्या खाँ ने यह भी धमकी दी थी कि यह संविधान देश की एकता नष्ट करने वाला हुआ तो वह उसे अस्वीकार कर सकते हैं दूसरे शब्दों में वह चाहें तो अनिश्चित काल तक पाकिस्तान में सैनिक शासन बनाये रख सकते हैं।

अवामी लीग के कार्यक्रम —शेख मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग छः सूत्री कार्यक्रम के आधार पर चुनाव में कूदी थी। इसमें सबसे प्रमुख बात थी पूर्वी पाकिस्तान की स्वायत्तता। पूर्वी पाकिस्तान की जनता यह महसूस करने लगी थी कि पश्चिमी पाकिस्तान के पूंजीपति वहाँ की साढ़े सात करोड़ आबादी का शोषण करते हैं और उनका दृढ़ विश्वास था कि इस शोषण का अन्त तभी हो सकता है जब पूर्वी पाकिस्तान को स्वायत्तता मिल जाए।

यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि पश्चिमी पाकिस्तान के निहित स्वार्थ वाले इस तरह की किसी भी प्रवृत्ति का विरोध करें। अतएव पिपुल्स पार्टी के अध्यक्ष ने यह स्पष्ट कर दिया कि 3 मार्च 1971 में ढाका में शुरू होने वाले राष्ट्रीय एसेम्बली के अधिवेशन का उनका दल बहिष्कार करेगा। स्थिति स्पष्ट थी, राष्ट्रीय एसेम्बली में अवामी लीग का बहुमत था और इस बहुमत के आधार पर वह अपने विचारों के अनुसार संविधान बना लेती। भुट्टो अवामी लीग के छःसूत्री कार्यक्रम का कट्टर विरोध करते रहे। चुनाव के पहले ही शेख मुजीबुर्रहमान कहा करते थे कि यदि वे चुनाव में जीते तो वह अपने पड़ोसी देशों के साथ अच्छा सम्बन्ध कायम करेंगे। सीएटो तथा सेंटो से पाकिस्तान को निकाल लेंगे और गुरबत निकालने का हरसम्भव प्रयास करेंगे। शेख रहमान की पार्टी लोकतन्त्र समाजवाद और धर्म निरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित थी। लेकिन पिपुल्स पार्टी का वैचारिक आधार इससे एकदम भिन्न था। भुट्टो सबल केन्द्र और इस्लामी समाजवाद के हामी रहते थे। ऐसी दशा में गतिरोध का उत्पन्न हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक था।

उधर राष्ट्रीय एसेम्बली के लिए चुने गये अवामी लीग के सदस्यों ने शेख मुजीबुर्रहमान को सर्वसम्मति से अपना नेता चुन लिया तथा उन्हें देश का भावी संविधान तैयार करने की भी पूरी आजादी दे दी। नेता चुने जाने के बाद शेख ने अपने समर्थकों के समक्ष भाषण देते हुए देश की अखण्डता की बात कही। उन्होंने देश के पश्चिमी भाग द्वारा पूर्वी भाग के शोषण का जिक्र भी किया और कहा कि अवामी लीग अब इसको सहन नहीं करेगी।

इसी बीच अवामी लीग ने संविधान की रूपरेखा भी तैयार कर ली जो मोटे तौर पर छह-सूत्री कार्यक्रम के अनुसार था। दस्तावेज में केन्द्रीय सरकार को प्रतिरक्षा, विदेशी मामले और वित्त की जिम्मेदारी दी गयी। विदेशी व्यापार और सहायता राज्यों के लिए छोड़ दिया गया। केन्द्र को कर लेने का अधिकार नहीं रहा। प्रान्तों को विदेशों से स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करने की छूट दी गयी। यह संविधान पाकिस्तान को इस्लामी गणराज्य न मानकर केवल पाकिस्तान संघीय गणराज्य का होता।

3 मार्च 1971 से ढाका में राष्ट्रीय एसेम्बली का अधिवेशन शुरू होने वाला था। अवामी लीग के रुख को देखकर पीपुल्स पार्टी के अध्यक्ष जुल्फिकार अली भुट्टो ने इसके बहिष्कार की धमकी देकर गतिरोध उत्पन्न कर दिया। भुट्टो ने माँग की कि एसेम्बली की बैठक स्थगित कर दी जाय और यह तब तक शुरू नहीं हो जब तक प्रमुख राजनीतिक दलों में कोई समझौता नहीं हो जाता। उन्होंने यह धमकी भी दी कि यदि 3 मार्च से एसेम्बली का अधिवेशन शुरू किया गया तो पूरे पश्चिमी पाकिस्तान में हड़तालों का दौर शुरू हो जायगा और एक ऐसा विस्फोटक वातावरण बन सकता है जिसमें आम चुनाव का [illegible] हो जायगा। जानकार सूत्रों में यह आशंका व्यक्त की जा रही थी कि भुट्टो और याह्या में एक ऐसी साँठ-गाँठ और षड्यन्त्र होता जा रहा है जिसकी मंशा पूर्वी पाकिस्तान के हाथ में सत्ता न जाने देना है। राष्ट्रीय एसेम्बली को स्थगित करने का निर्णय लेने से पहले राष्ट्रपति याह्या खाँ ने भुट्टो से एक दिन पहले एक लम्बी वार्ता की थी। सम्भवतः इसी वार्ता में यह निर्णय लिया गया। 1 मार्च को राष्ट्रपति ने एक वक्तव्य दिया और कहा कि 3 मार्च को ढाका में शुरू होने वाले राष्ट्रीय एसेम्बली के अधिवेशन को अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित किया जाता है।

याह्या खाँ की इस घोषणा से अवामी लीग के नेता शेख मुजीबुर्रहमान ने अपनी नाराजगी का इजहार करते हुए कहा कि 3 मार्च को सारे पूर्वी पाकिस्तान में हड़ताल रहेगी और विरोध का स्वर हड़ताल तक ही सीमित नहीं रहेगा। 3 मार्च को हड़ताल हुई और इसके बाद हड़तालों का ताँता लग गया। इतने व्यापक पैमाने पर लगातार कई दिनों तक हड़ताल होने का यह अभूतपूर्व उदाहरण था। हड़ताल को दबाने के लिए सेना अपने बैरकों से निकली और कई बार गोलियाँ चलाकर सैकड़ों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया। फिर भी जनता का मनोबल नहीं गिरा। पूर्वी पाकिस्तान के व्यापक जनआन्दोलन को देखकर याह्या खाँ को झुकना पड़ा। 6 मार्च को एक रेडियो प्रसारण में उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय एसेम्बली का अधिवेशन अब 25 मार्च से शुरू होगा लेकिन अधिवेशन कहाँ होगा इसका जिक्र उन्होंने नहीं किया।

बंगालियों का मुक्ति संग्राम—7 मार्च 1971 को ढाका के रेसकोर्स मैदान में लाखों नागरिकों के बीच भाषण करते हुए शेख मुजीबुर्रहमान ने कहा कि राष्ट्रपति याह्या खाँ ने 25 मार्च को अधिवेशन बुलाया है। वहाँ [illegible] पता नहीं लेकिन हम उसमें तभी शामिल होंगे जब हमारी चार माँगें मान ली जायेंगी। मार्शल लॉ की समाप्ति, सेना की बैरकों में वापसी, पिछले कई हफ्तों में पूर्व पाकिस्तान में बलात् मारे जाने वाले लोगों की न्यायिक जाँच तथा शासन की बागडोर को जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि

का सौंपने का यकीन। 8 मार्च से सरकार को न करों की अदायगी और न राजस्व मिलेगा। सरकारी दफ्तर न्यायालय और स्कूल बन्द रहेंगे। सिर्फ दो घण्टे के लिए बैंक खुलेंगे। यदि हम पर एक गोली बरसायी जायेगी तो हम घर घर को किला बना देंगे। शेख ने जनता के समक्ष एक असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम रखा। इसके द्वारा उन्होंने यह आदेश दिया कि पूर्वी पाकिस्तान की सभी इमारतों पर काले झण्डे फहराये जायेंगे सभी गाँवों और शहरों में संग्राम समितियों का गठन होगा सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी दफ्तर एवं न्यायालय बन्द रहेंगे रेल सेवाओं तथा बंदरगाहों का सामान्य तौर पर संचालन होगा लेकिन सेना के लिए आये साज सामान को नहीं उतारा जायगा। यदि सेना शक्ति का प्रयोग करेगी तो कर्मचारी काम करने से इंकार कर देंगे। बैंकों में काम होगा लेकिन पूर्व से पश्चिम पाकिस्तान जानेवाली निधि का हस्तांतरण नहीं किया जायगा।

8 मार्च से पूर्व पाकिस्तान से अवामी लीग के आदेशों से काम चलने लगा। पाकिस्तान रेडियो के ढाका केन्द्र ने अवामी लीग का समर्थन किया और शेख मुजीबुर्रहमान के भाषण का प्रसारण करने लगा। रेडियो ढाका का नाम बदलकर ढाका बेतार केन्द्र कर दिया गया। पहली बार ढाका रेडियो से स्वाधीनता पूर्व के देशभक्ति के गीत गाये गये। गवर्नर के बंगाली रसोइये सरकारी गृह छोड़कर चल गये। पूर्वी पाकिस्तान के न्यायाधीशों ने मनोनीत गवर्नर टिक्का खाँ को शपथ ग्रहण कराने से इंकार कर दिया। पूर्व पाकिस्तान राइफल और बंगाल राइफल के सैनिकों ने अपने पश्चिमी पाकिस्तानी हुक्मरानों के आदेशों का उल्लंघन करना शुरू कर दिया। वस्तुतः पूर्वी पाकिस्तान में मुक्ति के लिए संघर्ष शुरू हो चुका था।

राष्ट्रपति याह्या खाँ पूर्वी पाकिस्तान में घटनेवाली घटनाओं की संभावना से पूर्णतया अवगत थे। 25 मार्च को अधिवेशन की नयी तारीख तय करने से पहले याह्या खाँ ने भुट्टो से एक लम्बी बातचीत की थी। शुरू से ही इस बात की आशंका की जा रही थी कि राष्ट्रपति याह्या खाँ भुट्टो से साँठगाँठ करके नयी तारीख का जो एलान किया था वह मात्र दिखावा था। प्रेक्षकों का कहना था कि पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्वी पाकिस्तान जहाज से जाने के लिए लगभग उन्नीस दिन लगते हैं। याह्या खाँ चाहते थे कि इन उन्नीस दिनों के बीच पूर्वी पाकिस्तान को पश्चिम पाकिस्तानी सेनाओं से इस प्रकार भर दें कि वहाँ के लोग सिर नहीं उठा सकें। पूर्वी पाकिस्तान की सात करोड़ की आबादी में सैनिकों की संख्या मात्र चालीस हजार थी। दंगों को दबाने में बरतते बरतते चालीस हजार सैनिक कभी भी हिंसक लोगों के गिरफ्त में आ सकते थे। अतएव और अधिक सैनिकों को ले जाना आवश्यक समझा गया। यह निश्चित था कि यदि बहुत बड़ी तादाद में पश्चिमी पाकिस्तान सैनिक पूर्वी पाकिस्तान पहुँच गये तो वहाँ काफी रक्तपात होगा। इसी डर को ध्यान में रखकर विदेशी नागरिकों ने ढाका छोड़ना भी शुरू कर दिया।

पाकिस्तान द्वारा दमन—5 मार्च को शेख मुजीबुर्रहमान ने स्वाधीन बंगला देश की घोषणा कर दी और प्रशासन का कार्यभार सम्हालते हुए पतीस आदेश जारी

प्रतिक्रिया जाहिर नहीं करने का ही निश्चय किया। केवल सोवियत संघ ने पाकिस्तान सरकार को पत्र लिखकर पूर्वी बगाल मे उसके द्वारा किये जानेवाली कारवाई पर अपना खेद व्यक्त किया और यह आशा व्यक्त की कि पाकिस्तान के सनिक तानाशाह सयम से काम लेंगे तथा जनता की जनतांत्रिक भावना का आदर करेंगे। लेकिन पाकिस्तान के तानाशाहो पर इसका कोई असर नही पडा और वे बगाल की जनता को कीडे मकोड की तरह मारते रहे।

12 अप्रिल 1971 को स्वाधीन बगला देश की सरकार का गठन कर लिया गया। लेकिन किसी देश ने इस सरकार को राजनयिक मान्यता प्रदान नही की। बगला देश का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न नहा बनने पाये इस प्रयास म पाकिस्तान सरकार को पूरी सफलता मिली। सनिक दृष्टिकोण से पाकिस्तान ने तत्काल के लिए बगाल के विद्रोह को कुचल दिया। इस हालत म लाखों लाख की सख्या म शरणार्थी लोग भागकर भारत आये और भारत में समस्त विस्थापितों ने एक भयकर समस्या पदा कर दी। चूकि भारत न शुरू से ही पूर्वी बगाल के लोगों की आकांक्षा के प्रति अपनी सहानुभूति दी थी इस कारण पाकिस्तान तथा भारत का सबध बहुत ही बिगड गया।

भारत का दृष्टिकोण—पूर्वी पाकिस्तान में एक अत्यत ही विशाल पमाने पर नरसंहार हुआ तथा लोकतन्त्र का गला घोटा गया। लेकिन सोवियत सघ छोड़कर किसी देश की सरकार ने इसकी आलोचना नहीं की। अरब देश इसे पाकिस्तान का आतरिक मामला मानते हुए मौन रह तथा अमरिका और ब्रिटेन ने इस घटना के प्रति तटस्थता का दृष्टिकोण ही अपनाया। लेकिन पडोसी देश होने के नाते भारत इन घटनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता था। पूर्वी पाकिस्तान के चुनाव म जब शेख मुजीबुरहमान के नेतृत्व मे अवामी लीग को सफलता मिली थी तो भारत ने इसका खुले दिल से स्वागत किया था। शेख लोकतन्त्र धर्म निरपेक्षता समाजवाद तथा पडोसी देशों के साथ मत्री के प्रवक्ता थे और भारत का यह आशा थी कि उनके हाथ में सत्ता आने पर भारत पाकिस्तान सम्बन्ध म मत्री का एक नया अध्याय शुरू होगा। इसलिए प्रारम्भ से ही भारत सरकार और प्रगतिशील भारतीय लोकमत की सहानुभूति अवामी लीग के साथ थी। लेकिन जब पाकिस्तान के सनिक शासकों ने लोकतन्त्र का गला घोटना शुरू किया। भुट्टो के साथ साँठ गाँठ करके इस्लामाबाद म पूर्वी पाकिस्तान की जनता की आकांक्षा का कुचलना शुरू किया तो भारत में घोर निराशा और चिन्ता हुई। इसलिए जब पाकिस्तान में गृह युद्ध का सूत्रपात हुआ तो भारत ने पूर्वी बगाल को अपना पूरा नतिक समथन दिया। भारतीय समाचार-पत्र राजनीतिक पार्टियो और सरकार सबा न एक स्वर से इस्लामाबाद की कारवाई की निन्दा की और पूर्वी बगाल के लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। कुछ लोगों ने आवामी लीग की अस्थायी सरकार को तुरत मान्यता देकर सनिक सहायता देने की माग की। भारतीय ससद मे इस विषय पर सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस प्रस्ताव में यह दृढ विश्वास व्यक्त किया गया था कि बगला देश की साढ़े सात करोड जनता का ऐतिहासिक मुक्ति सघर्ष अततः सफल होगा। प्रस्ताव में पश्चिमी पाकिस्तान पर यह आरोप लगाया गया था कि उसने दिसम्बर 1970 म सम्पन्न

आम चुनाव में पूर्वी बंगाल की जनता के अभिमत की सरासर उपेक्षा की और राष्ट्रीय एसेम्बली को अपने अधिकार और सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न भूमिका से वंचित रखा।

इसके कुछ ही दिन बाद दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा कि यद्यपि भारत के लिए न तो यह उचित है और न सम्भव ही है कि बंगला देश में पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहों के नृशंस कारनामों को मूक दर्शक बनकर देखता रहे किन्तु बंगला देश में ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे मामला और पेचीदा हो जाय तथा बंगला देश की जनता की समस्याएं और उनका सन्ताप बढ़ जाय। भारत ने बंगला देश की जनता पर ढाये गए जुल्म के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की है और आशा की है कि संसार के अन्य देश भी पूर्वी बंगाल के स्वतन्त्रता सेनानियों का समर्थन देंगे। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें बंगला देश पर ढाये गये जोरजुल्म की तीव्र भर्त्सना की गयी और विश्व भर की जनता और सरकारों से यह अनुरोध किया गया कि वे वहाँ की जनता के क्रमिक संहार से पाकिस्तान सरकार को रोकने के लिए तुरन्त ठोस कदम उठावें। यह प्रस्ताव विदेश मन्त्री स्वर्ण सिंह ने पेश किया। उन्होंने आश्वासन दिया कि बंगला देश की अस्थायी सरकार को मान्यता दिए जाने की माँग पर सरकार गम्भीरतापूर्वक गौर कर रही है।

इसी तरह कई प्रस्ताव भारत की भी राजनीतिक पार्टियों ने पारित किए। बंगाल की घटनाओं की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित करने के लिए आल इण्डिया रेडियो (आकाशवाणी) ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। पाकिस्तानी सैनिक शासकों ने इस बात का पूरा प्रबन्ध कर लिया था कि पूर्वी बंगाल में जन विद्रोह और सेना द्वारा कुचले जाने की भनक दुनिया को न मिले। लेकिन रेडियो और समाचार-पत्रों के संवाददाताओं ने इस प्रयास को नाकामयाब कर दिया। ऐसी हालत में पाकिस्तान की सरकार ने भारत पर आरोप लगाया कि वह पाकिस्तान के अन्दरूनी मामले में हस्तक्षेप कर रहा है और इसके विरुद्ध कड़ा विरोध-पत्र भेजा। पाकिस्तानी रेडियो और वहाँ के नियन्त्रित समाचार-पत्र हमेशा यही राग अलापते रहे। ऐसी स्थिति में दोनों देशों के सम्बन्ध में पुनः जोरों का तनाव आ गया।

राजनयिक तनाव—यह तनाव तब और अधिक बढ़ गया जब कुछ पाकिस्तान के दिल्ली स्थित पाकिस्तानी उच्चायुक्त से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके भारत में राजनीतिक शरण की माँग की और भारत सरकार ने उनके अनुरोध को तत्काल स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् १८ अप्रैल १९७१ को कलकत्ता स्थित पाकिस्तानी उप-उच्चायुक्त हुसेन अली तथा उनके कर्मचारियों ने पाकिस्तान से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया तथा अपने को स्वाधीन बंगला देश का दूतावास घोषित कर दिया। पाकिस्तान सरकार भारत सरकार से यह आशा करती थी कि वह उप-उच्चायुक्त के भवन को पाकिस्तान सरकार को सुपुर्द करने में उसकी मदद करेगा, लेकिन यह सम्भव नहीं था। इसलिए ढाका स्थित भारतीय उप-उच्चायुक्त के साथ पाकिस्तान सरकार के बुरे बर्ताव की आशंका बढ़ गयी। इस सम्भावना से बचने के लिए भारत सरकार ने ढाका स्थित अपने उप-उच्चायुक्त के कर्मचारियों और उनके

परिवार के सदस्यों को निकालने का फैसला किया। लेकिन पाकिस्तान सरकार ने इसकी सुविधा नहीं दी तथा कलकत्ता स्थित पाकिस्तान उप उच्चायुक्त की इमारत न मिलने पर भारत को गंभीर परिणामों की धमकी दी। जब पाकिस्तान के नव नियुक्त उप उच्चायुक्त मेहदी मसूद कलकत्ता आये तो नगर के लोगों ने उनके विरुद्ध घोर प्रदर्शन किया। इस पर पाकिस्तान ने यह प्रस्ताव रखा कि भारत अपने ढाका स्थित उप उच्चायुक्त के कार्यालय को बंद कर दे। इसके तुरंत ही बाद भारतीय उप उच्चायुक्त के पदाधिकारियों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगा दिये गये। इसके प्रत्युत्तर में भारत ने भी पाकिस्तानी राजनयिकों को देश से बाहर जाने पर प्रतिबंध लगा दिया। पाकिस्तानी की अड़ंगेबाजी के कारण ढाका स्थित भारतीयों को निकालने में बड़ी कठिनाई हुई। सोवियत संघ और स्विट्जरलैंड की सरकार की मध्यस्थता के फलस्वरूप भी इसका कोई समाधान नहीं हो सका। राजनयिक स्तर पर दोनों देशों का तनाव बढ़ता ही गया। इसी बीच पूर्वी पाकिस्तान से भारत आनेवाले विस्थापितों की संख्या लगातार बढ़ती रही। इससे भारत का चिंतित होना स्वाभाविक था।

मान्यता का प्रश्न—17 अप्रिल 1971 को बंगला गणराज्य की विधिवत स्थापना होते ही भारत में इस नये राज्य को मान्यता देने का प्रश्न और मुखर हो गया। भारत के सभी राजनीतिक दलों ने जोरशोर से मांग शुरू कर दी कि भारत सरकार को इस नवीन गणराज्य को तुरंत राजनीतिक मान्यता प्रदान कर देनी चाहिए। भारतीय लोकमत का यह दृष्टिकोण था कि प्रभुसत्ता के लिए लड़ रहे कौम को बिल्कुल मान्यता न देने का अर्थ यही होता है कि आप उसे देशद्रोही मानते हैं और अंतर्राष्ट्रीय विधि की भाषा में वह उचित दंड का पात्र बन जाता है। कुछ लोगों ने यह मांग भी रखी कि यदि कानूनी मान्यता (de jure recognition) देने में कठिनाई है तो कम से कम तथ्येन मान्यता (de facto recognition) तो देना ही चाहिए। लेकिन भारत सरकार इस प्रश्न पर संयम से काम लेती रही। सरकारी नीति का निर्धारण लोकमत के निर्धारण की तरह भावावेश से प्रेरित होकर नहीं किया जाता। व्यवहार में किसी देश को मान्यता देने न देने का प्रश्न अंतर्राष्ट्रीय विधि का न होकर राज्य की नीति का प्रश्न होता है। कई सरकारों को अस्तित्व में आने से पहले ही मान्यता दे दी जाती है और कई सरकारों के अस्तित्व में होने पर भी मान्यता नहीं दी जाती। निर्णायक बात किसी सरकार की अपनी नीति होती है। जहाँ तक बंगला देश की मान्यता का सवाल था ऐसा कदम गम्भीर और सर्वांगीण सोच विचार के बाद उठाना था क्योंकि इससे चीन और पाकिस्तान के साथ हमारे भावी संबंध तथा युद्ध की सम्भावना सीधे जुड़े थे।

भारत ने संसद में अपने एक प्रस्ताव के माध्यम से यह घोषित कर दिया था कि वह बंगला देश के साथ है परंतु यह मान्यता देने से इसलिए बचता रहा है कि कहीं उसी का आश्रय लेकर पाकिस्तान को भारत को बदनाम करने और उस पर हमला करने का अवसर न मिल जाय। बदनाम तो वह यह कहकर पहले भी कर रहा था

कि बंगला देश की लड़ाई में भारत का हाथ है परन्तु मान्यता देने से वह उस उसके प्रमाण के रूप में पा रहा सकता था। भारत से चता था कि मनि बिना मान्यता दिये ही काम चल सकता हो और बंगला देश में लोकतन्त्र एवं मानवता का जो हत्या हो रही है वह बन्द हो सकती हो तो मान्यता देकर इस महाद्वीप में ऐसी स्थिति का खतरा मोल लेने का क्या फायदा जो शांति को नष्ट कर दे और दोनों देशों के बीच द्व का अवकाश बना दे। इसलिए उसके प्रयत्न की दिशा निरन्तर यही रही कि पाक को भारत को झूठा बदनाम करने तथा उस पर हमला करने का बहाना न मिले और मामला आसानी से सुलझ जाय।

इसके लिए उसने विश्व भर के बड़े देशों से सम्पर्क स्थापित किया उनके बीच एक ऐसा वातावरण बनाने की कोशिश की कि वे बांग्ला की वास्तविकता से परिचित हो सकें और उनके बाद वहाँ जो नर-संहार हो रहा है उसे रोकने में अपने प्रभाव का प्रयोग करें। उसने उनसे आग्रह किया कि वे उसे सैनिक और आर्थिक मदद एकदम बन्द कर दें। उसका यह ख्याल ठीक हो था कि आर्थिक दृष्टि से पंगु हो रही पाकिस्तान-सरकार को ऐसी स्थिति में बंगला देश में नर-संहार बन्द करने और किसी राजनीतिक समझौते पर पहुँचने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है। उसमें उसे बहुत अधिकसफलता नहीं मिली। सोवियत रूस को छोड़कर न केवल किसी बड़े देश ने याह्या-सरकार के प्रति कठोरता की निन्दा नहीं की अपितु अमरिका ने यह कहकर उसे सैनिक सहायता देना जारी रखा कि वह पहले ही स्वीकृत हो चुकी है। इसके अलावा कुछ अरब देशों से भी उसे मदद का क्रम जारी रहा। विभिन्न देशों के प्रधानमन्त्रियों संसद सदस्यों तथा अन्य लोगों के वक्तव्यों और लेखों का भी पाकिस्तान तथा उनपर कोई असर नहीं पड़ा। उधर मान्यता देने के प्रश्न पर भारत का लोकमत भारत सरकार पर निरंतर दबाव डालता रहा। सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण ने विश्व लोकमत को मान्यता के पक्ष में करने तथा बंगला देश में हो रहे भीषण नरसंहार की ओर संसार का ध्यान आकृष्ट कराने के लिए कई देशों की भ्रमण किया तथा बंगला देश के समर्थन में राष्ट्रीय एकता को प्रदर्शित करने के लिए दिल्ली में दस लाख लोगों की एक विशाल रैली की। लेकिन विश्वजनमत की प्रतिकूल प्रतिक्रिया की सम्भावना के डर से भारत सरकार मान्यता देने से कतराती रही। जो लोग मान्यता देने के पक्ष में आन्दोलन कर रहे थे वे भारत सरकार की इस नीति से बड़े नाराज थे। उनका कहना था कि यदि बंगला देश पर पाकिस्तानी आक्रमण के तुरत बाद ही शरणार्थियों को भारत में आने से रोकने के लिए सबर भारत ने अपनी फौजें पूर्वी बंगाल भेज दी होती तो समस्या इतना विकराल रूप धारण नहीं कर पाती। मगर विश्व जनमत के नाम पर निर्णय को बराबर स्थगित करने में अक्षम्य भारत सरकार ने भारतीय जनमत की पूरी तरह उपेक्षा करते हुए इस अवसर को हाथ से निकल जाने दिया। उनका आरोप था कि राष्ट्रीय हित के प्रश्न पर विश्वजनमत की दुहाई जनमत का अपमान है। उनका यह भी कहना था कि याह्या सरकार ने अपने रुख और कार्रवाई से भारत के सामने बंगला देश को मान्यता देने के सिवा और कोई रास्ता

नहीं छोड़ा है। वह वहाँ लोकतन्त्र और मानवता की निरंतर हत्या कर रही है। भारत की ओर शरणार्थियों का अथाह प्रवाह जारी है। वह भारत पर आक्रांता होने का आरोप लगाकर हमला करने का बहाना ढूंढ रही है। वह सोचती है कि अमरिका और चीन उसकी पीठ पर हैं। वह यह भी अनुमान करता है कि अगर युद्ध होता है तो अनेक बड़े देशों के राजनीतिक स्वार्थ फसे होने के कारण वह उसके विपरीत नहीं पड़ेगा। यही कारण है कि सन्ट याह्या की ओर से न केवल घोषणा किया गया कि युद्ध बहुत नजदीक है अपितु पश्चिमी और पूर्वी सीमा पर उसने उसके लिए आवश्यक तैयारियाँ भी शुरू कर दी। मतलब यह है कि उसका इस मामला सुलझाने का नहीं अपितु किसी बहाने भारत से लड़ाई मोल लेने का था। जब ऐसी हालत थी तो मान्यता को अधिक देर तक रोकने का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

2 अगस्त 1971 को मास्को स्थित भारत के भूतपूर्व राजदूत श्री पी॰ धर एकाएक रहस्यमय ढंग से मास्को गये। समाचार पत्रों में अटकलबाजियाँ हुई कि वे बगला देश की मान्यता के प्रश्न पर विचार विमर्श करने के लिए भारत-सरकार द्वारा भेजे गये हैं। इसी बीच राष्ट्रपति याह्या खाँ भारत को युद्ध की धमकी कई बार दे चुके थे। कम से कम तीन बार उन्होंने यह वक्तव्य दिया था कि यदि भारत ने पूर्वी पाकिस्तान के विद्रोहियों का हौसला बढ़ाने का यत्न किया तो भारत के साथ पाकिस्तान की पूरी लड़ाई छिड़ सकती है और इस युद्ध में हम अकेले नहीं रहेंगे इसका मतलब था कि पाकिस्तान को चीन का समर्थन प्राप्त होगा। इसी समय अमरिका ने भी कह दिया कि यदि भारत पाकिस्तान में युद्ध छिड़ेगा और चीन ने पाकिस्तान का साथ दिया तो वैसी स्थिति में भारत को अमरिकी सहायता की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। याह्या खाँ की धमकी तथा चीन और अमरिका के भारत विरोधी दृष्टिकोण से भारत उप महाद्वीप की स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गयी और युद्ध का आशंका बहुत बढ़ गयी।

श्वेत पत्र का प्रकाशन—इसी बीच पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार ने पूर्वी बगाल की घटनाओं पर एक श्वेतपत्र का प्रकाशन किया। यह श्वेतपत्र एक झूठ का पुलिन्दा था। इसके पूरे एक अध्याय में बगला देश की समस्या का जनक भारत को बताने का भौंडा प्रयास किया गया था। श्वेत-पत्र में विमान अपहरण काड के समय से ही भारत पाकिस्तान सम्बन्धों का विश्लेषण करके यह बताया गया कि भारत ने पाकिस्तानी विमानों की भारतीय क्षेत्र पर से होकर उड़ाने पर प्रतिबंध लगाने और याह्या खाँ तथा शेख मुजीबुर्रहमान के बीच हो रही राजनैतिक और संवैधानिक समझौता वार्ता में गतिरोध पैदा करने के उद्देश्य पर किया। पूर्वी बगाल की घटनाओं के लिए शासन को उत्तरदायी ठहराते हुए यह कहा गया कि यह भारत मुजीब साँठ गाँठ का परिणाम है जो 1968 के अगरतल्ला षड्यन्त्र के समय से ही चल रहा था।

भारत-सोवियत संधि—बगला देश में नर-संहार, शरणार्थियों की बाढ़ बगला देश की मान्यता का प्रश्न तथा पाकिस्तान की धमकियों के कारण भारत और

पाकिस्तान का सबंध बहुत बिगड़ गया। भारत ने विश्व लोकमत को जाग्रत करने के लिए बहुत प्रयास किया लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं निकला। पाकिस्तान की धमकियों के सम्बन्ध में भारत अपने को एकदम अकेला महसूस करने लगा और इस अकेलेपन को समाप्त करने के लिए सोवियत संघ के साथ एक संधि करने के सिवा उसके समक्ष कोई विकल्प नहीं रहा। फलस्वरूप 9 अगस्त 1971 को भारत और सोवियत संघ के बीच एक संधि हो गयी। इस संधि से तत्काल लाभ यह हुआ कि भारत पर पाकिस्तानी आक्रमण का भय कुछ समय के लिए टल गया।

राजनयिकों का प्रत्यावर्तन—इसी बीच 11 अगस्त 1971 को भारतीय राजनयिकों और उनके परिवारों की वापसी के सम्बन्ध में पाकिस्तान से चल रहे विवाद का समाधान हो गया। पाकिस्तान के कलकत्ता स्थित उप उच्चायुक्त के बंगाली सदस्य बड़ी संख्या में बंगला देश के प्रति निष्ठा की शपथ ले चुके थे। इस कारण पाकिस्तान ने ढाका स्थित भारतीय उप उच्चायुक्त के कर्मचारियों को रोक रखा था। स्विस तथा सोवियत सरकारों के मध्यस्थता से इस प्रश्न पर समझौता हो गया। स्विस तथा सोवियत विमानों से ढाका में रहनेवाले भारतीय राजनयिक एवं उनके परिवार तथा कलकत्ता में रहने वाले पाकिस्तानी राजनयिकों का प्रत्यावर्तन हो गया।

पुनः मान्यता का प्रश्न—भारत सोवियत संधि के बाद पाकिस्तान के सम्भावित आक्रमण का खतरा टल गया और यह उम्मीद की गयी कि बंगला देश को तुरंत ही भारत सरकार की मान्यता मिल जायगी। लेकिन संधि के बाद जो भारत सोवियत संयुक्त विज्ञप्ति निकली उसने इस आशा पर पानी फेर दिया। इसमें बंगला देश' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। पूर्वी पाकिस्तान शब्द के प्रयोग से यह आशंका उत्पन्न हो गयी कि मान्यता के प्रश्न पर निर्णय लेना उतना ही कठिन था जितना कठिन वह भारत सोवियत संधि के पूर्व था।

मुक्ति सेना की गतिविधि में तेजी—इसी बीच पाकिस्तानी सेना के विरुद्ध मुक्तिवाहिनी का अभियान उत्तरोत्तर तीव्र होता रहा और उनके चौतरफा हमलों से संत्रस्त पाकिस्तानी सैनिक फिर छावनियों में सिमटने लगे। सिलहट नोआखाली कुमिल्ला कुष्टिया राजशाही चांदपुर आदि इलाके मुक्तिवाहिनी की कारवाइयों के प्रमुख केन्द्र थे। इन इलाकों में उसने न केवल संचार साधनों को क्षतिग्रस्त करके पाकिस्तानी सेना की मुख्य छावनियों से अलग-अलग कर दिया बल्कि छापामार लड़ाइयों में सैकड़ों पाक सैनिकों को मौत के घाट भी उतार दिया। इस सिलसिले में पाकिस्तानी प्रचारकों ने अपनी पूरी ताकत से यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि मुक्तिवाहिनी को भारत केवल शस्त्रास्त्रों से ही सहायता नहीं करता बल्कि उसने उसे सेनानियों को प्रशिक्षण भी दे रखा है।

याह्या की घोषणा—12 अक्टूबर 1971 को राष्ट्रपति याह्या खां का महत्वपूर्ण वक्तव्य हुआ जिसमें उन्होंने 27 दिसम्बर को राष्ट्रीय असेम्बली का अधिवेशन बुलाने की घोषणा की। इसके साथ ही उन्होंने एक नये संविधान की घोषणा की जिससे उन्हें निर्वाचित प्रतिनिधियों को अधिकार हस्तान्तरित करने में सुविधा हो।

याह्या खाँ ने जहाँ इस बात का दावा किया कि उन्होंने प्रस्तावित संविधान और भावी सरकार की रचना के बारे में राजनीतिक नेताओं से परामर्श किया है और वे प्रजातान्त्रिक पद्धति में विश्वास करते हैं वहीं उन्होंने इस बात की भी धमकी दी कि पाकिस्तान की एकता का विरोध करने या उनके उद्देश्यों की आलोचना करने वाले व्यक्तियों को सहन नहीं किया जायगा।

इस भाषण के दौरान पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने दावा किया कि अन्त राष्ट्रीय जनमत उनके पक्ष में है। विशेषकर उन्होंने मुस्लिम देशों की सहायता और संयुक्त राज्य अमरिका तथा जनवादी चीन के समर्थन के बारे में प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होंने भारत के विरुद्ध यह आरोप लगाया कि भारत लगातार पाकिस्तान के साथ दुश्मनी का बर्ताव करता रहा है और पूर्व बंगाल में विद्रोह की जितनी भी घटनाएं घटी हैं उनके पीछे भारत का ही हाथ है। याह्या खाँ के अनुसार भारत पाकिस्तान के बहुत से क्षेत्रों में तनाव पैदा करने की कोशिश करता रहा है और इस बात की योजनाएं बनायी गयी हैं कि पूर्वी बंगाल को पाकिस्तान से अलग कर दिया जाय। उन्होंने पाकिस्तान की जनता को यह बताया कि पाकिस्तान का वर्तमान संकट पूर्ण रूप से भारत की कारवाइयों के कारण हुआ है। इसलिए उन्होंने इस्लाम पैगम्बर और इमाम का तकाजा देकर पाकिस्तान की जनता को किसी भी समय के लिए तैयार रहने को कहा। जनरल याह्या खाँ ने धमकी दी कि पूर्व बंगाल में वह अपनी योजनानुसार सरकार बनायेंगे चाहे उसके लिए उन्हें भारत के साथ युद्ध भी क्यों न करना पड़े। याह्या खाँ के भाषण का एक महत्त्वपूर्ण अंश बंगला देश से भारत आये हुए शरणार्थियों के बारे में था जिसमें पाकिस्तान के अधिनायक ने यह आरोप लगाया कि भारत शरणार्थियों की संख्या बढ़ा-चढ़ाकर बता रहा है ताकि विश्व के अन्य देशों से अधिक से अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त कर सके। याह्या के अनुसार भारत में केवल बीस लाख शरणार्थी थे।

सीमान्तों पर सेना का जमाव—अक्टूबर 1971 में मुक्तिवाहिनी की गतिविधि में अभूतपूर्व तेजी आयी। पाकिस्तानी सैनिक अधिकारियों के लिए एक बहुत बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुक्तिवाहिनी के छापामार भारत की भूमि को अपना अड्डा बनाये हुए थे और वहीं उन्हें प्रशिक्षण तथा हथियार मिलते थे। सीमान्त पर ही छापामारों को रोकने के उद्देश्य से पाकिस्तानी सेना का भारत-पूर्व बंगाल सीमा पर जमाव होने लगा। पश्चिमी सरहद पर भी बहुत बड़ी संख्या में पाकिस्तानी फौज तैनात कर दी गयी। युद्ध की सम्भावना को देखते हुए भारत सरकार को भी कई रक्षात्मक कदम उठाने पड़े और उसने भी सीमाओं पर अपनी सेनाओं का जमाव शुरू कर दिया। इस हालत में स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गयी। सैनिकों के जमाव के फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव की स्थिति इस हद तक पहुँच गयी कि कभी भी दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ सकता था।

इंदिरा गांधी द्वारा पश्चिमी देशों की यात्रा—इस नाजुक स्थिति में युद्ध को रोकने के उद्देश्य से प्रधान मन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कुछ पश्चिमी देशों की यात्रा की। इस विदेश यात्रा का स्पष्ट उद्देश्य बंगला देश की समस्याओं से उत्पन्न राजनीतिक, आर्थिक और प्रतिरक्षा सम्बन्धी कठिनाइयों के बारे भारत का दृष्टिकोण ऐसे देशों के सामने रखना था जो किसी-न-किसी नाते भारत उपमहाद्वीप के देशों में दिलचस्पी रखते थे। इसका कारण यह था कि पाकिस्तान बंगला देश के मुक्ति संग्राम को भारत और पाकिस्तान के बीच परम्परागत दुश्मनी के सन्दर्भ में प्रस्तुत करने की कोशिश कर रहा था। शरणार्थियों को भारत भेजकर पाकिस्तान ने जो आक्रामक कदम उठाया था उसे हल करने और भारतीय हितों की रक्षा करने के लिए कोई ठोस कदम उठाने के पहले प्रधानमन्त्री दूसरे देशों को आगाह कर देना चाहती थीं जिससे कि बाद में यह नहीं कहा जाय कि इस समस्या को दूसरी तरह सुलझाया जा सकता था। श्रीमती गांधी ने स्पष्ट कर दिया कि भारत को अपनी आजादी के लिए लड़नेवाले पूर्व बंगालियों के साथ सहानुभूति है और अबतक बंगला देश को भारत ने मान्यता नहीं दी है तो उसका केवल एक ही कारण है कि हम पाकिस्तान को भारत पर युद्ध छेड़ने का अवसर प्रदान करना नहीं चाहते। मगर यदि तुरन्त कोई कारगर हल नहीं निकला तो आवश्यकता पड़ने पर भारत बंगला देश को सर्वथा सर्वप्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्र के रूप में मान्यता प्रदान कर सकता है। श्रीमती गांधी ने पश्चिमी राजनेताओं को बताया कि सीमा पर अत्यन्त तनावपूर्ण स्थिति है और जबतक बंगला देश की समस्या का समाधान नहीं हो जाता तबतक सरहद से भारत अपनी सेना नहीं हटा सकता। भारतीय प्रधान मन्त्री ने उन देशों के नेताओं को बताया कि पाकिस्तान जिस तरह की उत्तेजनात्मक कारवाई कर रहा है उसकी पृष्ठभूमि में युद्ध छिड़ गया रहता लेकिन अभीतक ऐसा इसलिए नहीं हुआ है कि भारत अपना दृष्टिकोण संसार को बता देना चाहता था ताकि पश्चिमी नेताओं को यह कहने का मौका नहीं मिले कि भारत ने उतावलेपन से काम लिया है। प्रधान मन्त्री ने मुक्तिवाहिनी की गतिविधियों से भी पश्चिमी नेताओं को अवगत कराया और यह बताया कि मुक्तिवाहिनी का दमन कर सकने में असमर्थ पाकिस्तान म समग्र प्रश्न को भारत-पाक प्रश्न के रूप में परिणत करना चाहता है।

श्रीमती गांधी की विदेश यात्रा का उद्देश्य पश्चिम के प्रमुख देशों के नेताओं को अपने दृष्टिकोणों से अवगत कराना था कि वे बांग्ला देश की समस्या के राजनीतिक समाधान के लिए याह्या खां पर दबाव डालकर युद्ध को भड़कने से रोक सकें। लेकिन इस उद्देश्य में उनको कामयाबी नहीं मिली। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को छोड़कर अन्य देशों ने भारतीय दृष्टिकोण पर सहानुभूतिपूर्ण विचार अवश्य किया लेकिन याह्या पर कोई दबाव डालने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। कुल मिलाकर श्रीमती गांधी को निराश होकर ही इस दौर पर लौटना पड़ा।

पाकिस्तान में युद्ध उन्माद—प्रधान मन्त्री की विदेश यात्रा से युद्ध कुछ दिनों तक टल गया लेकिन सीमा पर तनाव बढ़ता गया। पाकिस्तान में युद्ध का उन्माद

बढ़ाया जाने लगा। समूचे पश्चिमी पाकिस्तान में 'भारत का दमन करो' की मांग की जाने लगी और जगह जगह इसी आशय के पोस्टर लगाये गये। पाकिस्तानी नेताओं ने स्थिति को भड़काने में कोई कसर नहीं छोड़ी। पाकिस्तानी पंजाब के गवर्नर ने लाहौर में एक रैली को सम्बोधित करते हुए कहा कि इस बार का युद्ध अंतिम होगा। याह्या खाँ ने भारत का नामोनिशान मिटा देने की धमकी दी। जस-जसे मुक्तिवाहिनी के छापामारों की गतिविधि बढ़ती गयी वसे वसे गुस्से में पाक नेताओं का उन्माद बढ़ता गया। इस तथ्य के बावजूद कि मुक्तिवाहिनी के पास पर्याप्त शस्त्रास्त्र तथा अन्य सामरिक साधन नहीं थे वह उत्तरोत्तर अपनी स्थिति सुदृढ़ करती जा रही थी। जो क्षेत्र उसके अधिकार में थे वहाँ तो वह निरन्तर बढ़ी हुई थी ही पाकिस्तान सेना द्वारा अधिकृत क्षेत्रों में भी उसका हौसला बुलंद था और उसने अपनी छापामार कारवाइयों से पाकिस्तानी सेना की नाक में दम कर रखा था। मुक्तिवाहिनी के संघर्ष के शुरू के चार पाँच महीने 'मारो और भागो' कार वाई करने में बीते किन्तु अब स्थिति सर्वथा बदल गई थी और वह एक व्यवस्थित सेना की तरह लड़ाई लड़ रही थी। उसका उद्देश्य पाकिस्तानी सेना पर आकस्मिक हमला करके उसे परेशान करना ही नहीं रह गया था बल्कि उसे खदेड़ कर अधिकाधिक क्षेत्र पर अधिकार करना अब उसका लक्ष्य बन गया था। वह बंगलादेश के किसी एक भाग में नहीं बल्कि रही थी। सारे बंगला देश में उसकी गतिविधियों की अनुगूंज सुनायी पड़ती थी। यहाँ तक कि ढाका में भी वह पाकिस्तानी सेना की नाक के नीचे सफल कारवाइयाँ कर रही थी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तानी सेना न केवल अपने कमजोर ठिकानों को छोड़ कर भागने लगी थी बल्कि अब छावनियों से बाहर निकलकर कारवाई करने में भी उसे डर लगने लगा था।

मुक्तिवाहिनी के संगठन में भारत का योगदान —जिस समय मुक्तिवाहिनी का गठन हुआ था उस समय उसमें पचास तीस हजार सैनिक होने का अनुमान लगाया गया था। इन सैनिकों में अधिसंख्यक पूर्व बंगाल रेजीमेंट, पूर्व पाकिस्तान रायफल और पूर्व पाकिस्तान पुलिस के जवान थे जो किसी तरह पाकिस्तानी सेना का शिकार होने से बच निकले थे। अब न केवल मुक्तिवाहिनी के सैनिकों की संख्या एक लाख से ऊपर पहुँच गयी थी बल्कि उसमें सभी वर्गों के लोग भी शामिल हो गये थे। अब उसके सैनिकों में किसान भी थे और छात्र भी, बुद्धिजीवी भी थे और मेहनत मजदूरी करके पेट भरनेवाले मजदूर भी और ये बंगला देश की मुक्ति के बिना किसी भेदभाव के कंधे-से-कंधा मिलाकर पाकिस्तानी सेना से लोहा ले रहे थे। पाकिस्तान का आरोप था कि इतने विशाल पैमाने पर मुक्तिवाहिनी का गठन स्वयं भारत ने किया है। मुक्तिवाहिनी के सैनिक बंगाली नहीं वरन् भारतीय सेना के लोग हैं जो पोशाक बदलकर मुक्तिवाहिनी के नाम पर पाकिस्तान के खिलाफ युद्ध लड़ रहे हैं। पाकिस्तान का आरोप कुछ अर्थों में ठीक था इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुक्तिवाहिनी को संगठित करने और शस्त्रास्त्रों से उसे लैस करने में भारत ने अपना पूरा योगदान दिया। छापामारों को भारतीय भूमि पर प्रशिक्षण दिया गया और उन्हें

आधुनिक शस्त्र भी दिए गए। राजकीय स्तर पर यह काम गुप्त था। लेकिन भारत के समक्ष कोई विकल्प नहीं था। वह शुरू से ही कह रहा था कि समस्या का शान्तिपूर्ण और राजनीतिक समाधान हो लेकिन पाकिस्तान इस किसी सलाह को मानने के लिए तैयार नहीं था। उधर एक करोड़ की संख्या में शरणार्थी [illegible] [illegible] भारत की स्थिति को चौपट करने में कोई कसर नहीं उठा छोड़ी थी। ऐसी हालत में भारत के सामने एक ही रास्ता था कि वह मुक्तिवाहिनी को हर प्रकार की मदद दे और बंगला देश की मुक्ति के लिए उनके साथ सहयोग करे।

1971 का भारत-पाकिस्तान युद्ध

युद्ध का विस्फोट—21 नवम्बर को भारत-पाकिस्तान की पूर्वी सीमा पर स्थिति एकाएक विस्फोटक बन गया। दोनों देशों की सेनाएं आमने-सामने खड़ी थीं। मुक्तिवाहिनी से उलझे हुए कुछ पाकिस्तानी टैंक भारतीय सीमा में प्रवेश कर गए। भारतीय सेना ने जवाबी कार्रवाई की और पाकिस्तानी सेना के साथ एक मामूली मुठभेड़ में उसके तेरह टैंक नष्ट कर दिए। इसके बाद 22 नवम्बर को पाकिस्तान के चार सेबर विमान कलकत्ता के पूर्वोत्तर क्षेत्र में लगभग तीन मील की दूरी पर भारतीय सीमा में पाँच मील भीतर तक घुस आए। भारत के चार नैट विमान उनका पीछा करने उड़ चले। थोड़ी देर तक दोनों तरफ से हवाई लड़ाई चली जिसमें भारतीय सैनिकों ने तीन सेबर विमानों को मार गिराया और उनके दो हवाबाजों को गिरफ्तार कर लिया। 18 नवम्बर को एक अन्य मामूली झड़प में पाकिस्तान के तीन और टैंक नष्ट कर दिए गए। उस दिन प्रधान मंत्री सीमा क्षेत्रों का दौरा कर रही थीं। युद्ध छिड़ने के आसार अब पूरी तरह नजर आने लगे थे।

इस युद्ध की शुरुआत की एक दिलचस्प कहानी है। 23 नवम्बर को पाकिस्तान के राष्ट्रपति याह्या खाँ ने घोषणा की थी कि वह दस दिनों के भीतर भारत के साथ निपट लेंगे। तीन दिसम्बर को दसवाँ दिन था यानी राष्ट्रपति याह्या खाँ की धमकी का दसवाँ दिन था। उसी समय भारत-सरकार ने सूचना दी कि भारत के पश्चिमी सीमा पर हमला करके पाकिस्तान ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया है। एक सरकारी प्रवक्ता ने बताया कि ऐसा लगता है कि राष्ट्रपति याह्या खाँ ने अपना वादा पूरा कर दिखाया है। श्रीनगर से आगरा तक पश्चिमी भारत के दस हवाई अड्डों पर पाकिस्तान की सेना ने बमबारी की। जम्मू कश्मीर के पुंछ क्षेत्र में युद्ध विराम रेखा पार करके बड़ी संख्या में पाकिस्तानियों के घुस आने तथा पश्चिमी सीमा की अनेक चौकियों पर गोलाबारी शुरू करने के साथ दोनों देशों के बीच युद्ध शुरू हो गया। पश्चिमी भारत के दस हवाई अड्डों पर एक ही साथ अचानक हमला करने का एक उद्देश्य था—भारतीय वायुसेना को पंगु बना देना। जिस तरह 1967 में इजरायल ने अरब राष्ट्रों के हवाई अड्डों पर एकाएक आक्रमण करके उनकी हवाई सेना को पूर्णतः नष्ट कर दिया था उसी तरह पाकिस्तान भी भारतीय वायुसेना को नष्ट करने का इरादा रखता था। लेकिन इसमें उसको सफलता नहीं मिली। भारत सरकार ने

एकाएक हमले (pre emptive attack) की सम्भावना के प्रति पूर्ण रूप से सतर्क थी और अपने वायुयानों को सुरक्षित स्थानों में रख छोड़ा था। इसलिए पाकिस्तान की आरम्भिक मनोकामना पूरा नहीं हो सकी।

भारतीय प्रतिक्रिया—जिस समय पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया उस समय देश का कोई वरिष्ठ नेता राजधानी में नहीं था। प्रधान मन्त्री कलकत्ता में थी और रक्षा मन्त्री तथा वित्त मन्त्री भी दिल्ली से बाहर थे। युद्ध छिड़ने के दिन इन वरिष्ठ नेताओं का दिल्ली से बाहर रहना ही इस बात का प्रमाण था कि युद्ध की पहल भारत ने नहीं की थी। समाचार मिलते ही प्रधान मन्त्री शीघ्र ही दिल्ली वापस आ गयी। इसी बीच राष्ट्रपति ने आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी थी। पर्याप्त विचार विमर्श के उपरान्त यह निर्णय लिया गया कि न केवल पाकिस्तान के हमले का डटकर मुकाबला किया जाय बल्कि उसकी युद्ध मशीनरी को तबाह कर दिया जाय ताकि हमेशा के लिए बखेड़ा ही दूर हो जाय। अगरतल्ला में इकट्ठी भारतीय सेनाओं को आदेश दिया गया कि वह बंगला देश में प्रवेश कर दुश्मन को परास्त करे। पश्चिमी क्षेत्र में भी सेना को इसी तरह के आदेश दिये गये। मध्यरात्रि के करीब भारतीय बमवारों ने पाकिस्तान की ओर उड़ानें शुरू की और पाकिस्तान के महत्वपूर्ण हवाई अड्डों और सैनिक ठिकानों पर बमबारी की। दो देशों के बीच बड़े पैमाने पर युद्ध छिड़ चुका था।

लगभग साढ़े बारह बजे रात को प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने राष्ट्र के नाम एक सन्देश प्रसारित किया। उन्होंने अपने प्रसारण में कहा कि पाकिस्तान ने भारत पर हमला किया है और अब हम निर्णायक लड़ाई लड़ेंगे। उन्होंने कहा कि भारत के पास युद्ध के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह गया है। पाकिस्तान ने भारत पर बड़े पैमाने पर हमला किया है और देश को कठिन संघर्ष के लिए तैयार रहना चाहिए।

पाकिस्तान का दावा—उधर पाकिस्तान का कहना था कि भारत ने पाकिस्तान पर बहुत बड़े पैमाने पर हमला कर दिया है। 4 दिसम्बर के पाकिस्तान गजट द्वारा यह घोषणा की गयी कि पाकिस्तान भारत के साथ युद्ध की स्थिति में है। रेडियो पाकिस्तान से बोलते हुए याह्या खाँ ने कहा कि यह पाकिस्तान का भारत से अंतिम युद्ध है। उन्होंने कहा हम अपने देश की स्वतन्त्रता और अखंडता के लिए लड़ रहे हैं। भारत ने हमेशा पाकिस्तान के नामोनिशान मिटाने का यत्न किया है। पाकिस्तान अब तक इन हरकतों को बर्दाश्त करता रहा है, लेकिन अब स्थिति असह्य हो गयी है। अल्लाह की मर्जी से हम इसका मुकाबला करेंगे और पाकिस्तान के मुजाहिद अपने देश की रक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगा देंगे। उन्होंने कहा कि पाकिस्तानी सेना को पूरा अधिकार दे दिया गया है कि भारतीय हमले का यह उचित जवाब दे।

क्या भारत आक्रामक था?—युद्ध के छिड़ते ही कुछ देशों द्वारा यह आरोप लगाया गया कि भारत ने पाकिस्तान पर आक्रमण किया है। इन राष्ट्रों में प्रमुख थे

पाकिस्तान पर बगला दश म राजनीतिक समझौते के लिए रूसी का दबाव कारगर हो सकता था। लकिन उसने ऐसा कोई काम नहीं किया। व टे वह भारत को ही सयम से काम लेने की सलाह देता रहा। 30 नवम्बर 1971 को राष्ट्रपति निक्सन ने प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी को जो पत्र लिखा उसका आशय यही था। सयम से काम लेने की यह सलाह बार्थ नहीं थी। इसके पहले भी भारत को अमरिका स इस विषय पर उपदेश मिल चुका था। सयम से उनका अभिप्राय था कि सीमा पर से भारत अपनी सेना हटा ले और एक करोड़ शरणार्थियो का भार वहन करता रहे। वस्तुतः तो बात यह थी कि अमरिका का कवल एक ही उद्देश्य था। वह अपने साथी पाकिस्तान का सम्पूर्ण स्थिति स बचाना चाहता था। उसका उद्देश्य बगला देश की समस्या का एक वास्तविक एव उचित हल निकालना उतना नहीं जितना इस सकट में पाकिस्तान को मदद करना था। वह जानता था कि यदि सीमा स भारतीय सेना हट गया तो पाकिस्तान की एकता कायम रह जाय। और बगला देश का उसक अमहूत हल निकल सकेगा। भारत को इस बात स कोई मतलब नहीं था कि वह एकता कायम रहती है या नहीं। पर यह कम हो सकता था कि बगला देश से शरणार्थियो का प्रवाह बना रहे—कोई ऐसा राजनीतिक समझौता न हो सके जिसस सब शरणार्थी वापस जा सकें और वह सीमा से अपनी सेना को हटा ले। यह तो उसक लिए आत्महत्या क समान होता। भारत युद्ध का इच्छा नहीं था परन्तु आत्म रक्षा का अधिकार तो उसे था ही।

युद्ध रोकने क लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रयास—भारत और पाकिस्तान के मध्य युद्ध रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की ओर स कुछ प्रयास अवश्य हुए लकिन वे सबके सब एकपक्षीय थे और इस कारण वे असफल रहे। एक ओर जहाँ इस बात पर जोर दिया गया कि बगला देश की समस्या का कोई राजनीतिक हल निकाला जाय तो दूसरी ओर कुछ देशों ने यह भी कहा कि सीमाओं पर स सेनाएं वापस हटा ली जाय। सीमाओं पर सयुक्त राष्ट्रीय पर्यवेक्षक भेजे जाने की बात भी कही गयी। याह्या खाँ ने इसके लिए उ थाँ को लिखा भी और अमरिका ने इसका समर्थन भी किया। लकिन प्रेक्षकों की तनाती का प्रस्ताव भारत को मान्य नहीं हुआ। इस सम्बन्ध म भारतीय प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हुए श्रीमती गांधी न कहा यदि याह्या खाँ उपमहाद्वीप पर छाए सकट का शान्तिपूर्ण हल चाहते हैं तो बगला देश से पाकिस्तानी फौजों को हटा लिया जाय। शान्ति भग का जो सकट पदा हुआ है उसका मूल कारण यह था कि याह्या की फौजों ने बगला देश की जनता की आकाक्षाओं को कुचल कर वहाँ नर सहार का नग्न ताण्डव किया इससे लाखों शरणार्थियों का प्रवाह भारत की ओर हो गया। यह प्रवाह न केवल इसकी सुरक्षा के लिए खतरा बन रहा था अपितु उसकी सामाजिक और आर्थिक कमर भी तोड़ रहा था। गत आठ महीने से भारत शान्ति की रक्षा की खातिर उसे बर्दाश्त करता रहा है पर आखिर कब तक? जब उसने यह देखा कि पाकिस्तान इससे बाज नहीं

आ रहा है और बगला देश में अपने शासन को कायम रखने और उसके युद्ध को भारत पर युद्ध में बदल देने को आमादा है तो उसके सिवा क्या रास्ता रह गया था कि वह भी सीमा पर अपनी सेना तैनात करे। अब यदि पाकिस्तान और उसके साथी देश इस फौजी जमाव और उत्तेजना युद्ध की आशंका को खत्म करना चाहते हैं तो उनका एक ही कर्तव्य है कि जिस कारण से यह जमाव हुआ है उसे खत्म कर दें। यदि बंगला देश में पाकिस्तानी फौजों ने तूफान खड़ा कर भारत के लिए शरणार्थियों की मुसीबत न खड़ी की होती तो उपमहाद्वीप में शान्ति भंग होने का खतरा पैदा न होता। इसलिए अब इस खतरे से बचने का एक ही रास्ता है कि पाक फौजें बंगला देश से चली जायें।

बंगला देश को मान्यता—भारत द्वारा बंगला देश को मान्यता देने के लिए पिछले तीन चार महीनों से जोरदार मांगें हो रही थीं। सभी राजनीतिक पार्टियाँ एक स्वर से लगातार इस मांग को दुहरा रही थीं। लेकिन प्रधान मन्त्री यह कहकर कि उपयुक्त समय में ही मान्यता के प्रश्न पर विचार होगा इस सवाल को टालती रहीं। भारत सोवियत सन्धि के बाद पुनः यह आशा जगी कि अब भारत बंगला देश को मान्यता दे देगा। लेकिन उस समय भी ऐसा नहीं हुआ। इस प्रश्न पर भारतीय लोकमत बड़ा अधीर हो रहा था। लेकिन प्रधानमन्त्री ने इस सम्बन्ध में बड़ा ही दूरदर्शिता का परिचय दिया। युद्ध छिड़ जाने पर अब मान्यता के सवाल को अनिश्चित काल तक टाला नहीं जा सकता था। युद्ध की अपनी शर्तें होती हैं। बंगला देश के युद्ध की और भी विशिष्ट शर्तें थीं। यदि बंगलादेश को लेकर केवल युद्ध चलता रहता और बंगलादेश को मान्यता न दी जाती तो शायद इस युद्ध के नतीजे बहुत सुगन्धित न होते। अतएव अब मान्यता के प्रश्न को एक क्षण के लिए भी नहीं टाला जा सकता था। मान्यता के साथ युद्ध का प्रश्न था और इसके दो रास्ते थे—या तो भारत सरकार मान्यता देकर बंगला देश को खुली मदद करे परिणामस्वरूप पाकिस्तान हमला करे या पाकिस्तान पहले हमला करे और फलतः भारत मान्यता प्रदान करे। दूसरा विकल्प ही ठीक था और युद्ध छिड़ जाने के उपरान्त इस रास्ते को अपनाना आसान था। उधर बंगला देश के नेता श्रीमती गांधी से निरंतर अनुरोध कर रहे थे कि भारत सरकार बंगला देश को मान्यता देने के बारे में पहल करे। इस अनुरोध पर विदेश मंत्रालय में अध्ययन हो चुका था। चार दिसम्बर को श्रीमती गांधी की कलकत्ता यात्रा के साथ ही लगभग तय हो गया था कि भारत बंगला देश को मान्यता देने जा रहा है। पांच दिसम्बर को एक सरकारी प्रवक्ता ने संवाददाताओं को इसका कुछ संकेत भी दे दिया। उसने कहा था कि बंगला देश के अस्तित्व को भारतीय जनता पहले ही मान्यता दे चुकी है। अब तो केवल राजनीतिक मान्यता देना ही शेष है।

छः दिसम्बर को सबेरे भारतीय लोकसभा की बैठक शुरू हुई। उधर अमरिका चीन तथा कुछ और बड़े राष्ट्र युद्ध विराम के नाम पर बंगला देश में पाकिस्तान के आधिपत्य को बनाये रखने का तथा अमृतसर के पश्चिम में याह्या खाँ की फौजों को पिटने से बचाने का प्रयत्न कर रहे थे कि श्रीमती गांधी ने बंगला देश

को मान्यता देने की घोषणा कर दी। लोकसभा में हर्ष और उल्लास का ऐसा दृश्य शायद ही कभी देखने को मिला हो जैसा कि इस घोषणा के तुरंत बाद दिखायी पड़ा। सभी पार्टियों के सदस्यों ने प्रधानमंत्री की घोषणा का अपूर्व स्वागत किया।

पाकिस्तान द्वारा भारत से सम्बन्ध विच्छेद—भारत द्वारा बंगला देश को मान्यता दिये जाने की प्रतिक्रिया पाकिस्तान में अत्यन्त उग्र रही। उसी दिन पाकिस्तान सरकार ने घोषणा कर दी कि वह भारत के साथ अपना दौत्य सम्बन्ध तोड़ रहा है। इस्लामाबाद से जारी की गयी एक सरकारी घोषणा में कहा गया कि तथाकथित बंगला देश को मान्यता देकर भारत ने पाकिस्तान के प्रति अपनी घृणा और पाकिस्तान को नष्ट करने की इच्छा का प्रदर्शन किया है। राजनयिक सम्बन्ध टूटने के उपरान्त दोनों देशों ने स्विट्जरलैण्ड को एक दूसरे देश में अपने-अपने हितों की देखभाल के लिए नियुक्त किया। स्विट्जरलैंड की देखरेख में ही दोनों देशों के दूतावासों के अधिकारियों को स्वदेश भेज दिया गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत-पाक युद्ध का प्रश्न

युद्ध की स्थिति—4 दिसम्बर में ही दोनों पक्षों में दोनों मोर्चों पर घमासान युद्ध शुरू हो गया था। भारतीय सेना को आदेश था कि वह मुक्तिवाहिनी के सहयोग से बंगला देश पर चौतरफा हमला कर दे। उधर पश्चिमी मोर्चे पर भी विशाल पैमाने पर युद्ध शुरू हो गया। कुछ ही घण्टों में निश्चित हो गया कि पाकिस्तान को सभी मोर्चों पर हार खानी पड़ेगी। इस कारण उसके मित्र राष्ट्रों विशेषकर अमरिका का चिन्तित होना स्वाभाविक था। पहले तो उसने भारत को डराया धमकाया पर जब इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो उसने युद्ध के मामले को संयुक्त राष्ट्रसंघ में पेश करने का निश्चय किया। वैसे भी युद्ध की स्थिति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ को विचार करना ही था।

सुरक्षा परिषद की पहली बैठक—पाकिस्तान को सम्पूर्ण पाकिस्तान की बर्बादी से बचाने के उद्देश्य से भारत पाक युद्ध के मामले को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में ले जाने की पहल संयुक्त राज्य अमरिका ने की। युद्ध शुरू होते ही अमरिकी प्रशासन ने भारत को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। विदेश सचिव विलियम रोजर्स ने कहा कि स्थिति जिस तरह बिगड़ती जा रही है उस पर काबू पाने के लिए सुरक्षा परिषद् की एक आपातकालीन बैठक शीघ्र बुलानी चाहिए। अमरिका के इस रवैये पर भारत में आश्चर्य व्यक्त किया गया। भारत का कहना था कि इस समय सुरक्षा परिषद की बैठक से कोई लाभ नहीं होनेवाला है। भारतीय प्रतिनिधि समर सेन ने अन्य प्रतिनिधियों से वार्ता की और उन्हें अपना पक्ष समझाने का यत्न किया। भारत का कहना था कि यदि सुरक्षा परिषद युद्धविराम की माँग करती है या सेनाओं की वापसी की बात करनी है तो उसे यह माँग पाकिस्तान से करनी चाहिए। आक्रमण पाकिस्तान ने किया है उसे बंगला देश से सेना हटाने का कहा जाय साथ ही भारत की पश्चिमी सीमा से भी। लेकिन भारतीय विरोध का कोई नतीजा नहीं निकला।

पांच दिसम्बर को अमरिका अर्जेन्टिना बेल्जियम ब्रिटेन इटली जापान निकारागुआ और सोमालिया की माग पर सुरक्षा परिषद की बठक बुला दी गया।

बगला देश के प्रतिनिधित्व का प्रश्न—बठक के प्रारम्भ में भारतीय प्रतिनिधि ने माग की कि पहले बगला देश के प्रतिनिधि की बात परिषद को सुननी चाहिए। उन्होंने कहा कि भारत इस बात के सख्त खिलाफ है कि उपमहाद्वीप की स्थिति को भारत-पाकिस्तान विवाद के रूप में प्रस्तुत किया जाय। यदि इस मामले पर विचार ही करना है तो इसपर पूर्व बगाल की स्थिति और उसके परिणाम शीषक के अन्तगत विचार किया जाय। भारत ने यह भी माग की कि परिषद की खुली बठक हो जिससे दुनिया जान सके कि सयुक्त राष्ट्र क्या कर रहा है। इसके पूर्व बठक जब आयोजित की जा रही थी तो बगला देश के प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष से अनुरोध किया कि परिषद में उन्हें भी अपना पक्ष रखने की अनुमति दी जाय। सोवियत सघ और पोलैंड ने उसका समथन किया लेकिन चीन ने तीव्र विरोध करते हुए कहा कि इस तरह एक एसी परम्परा स्थापित होगी जिसमें वत्तमान अन्त राष्ट्रीय मच का दूसरे देशों के आतरिक मामलों में दखल देने का अधिकार मिल जायगा। अध्यक्ष ने यह कहकर इस प्रश्न को आगे के लिए टाल दिया कि सुरक्षा परिषद की यह बठक प्रारम्भिक है।[1]

सुरक्षा परिषद में चार प्रस्ताव—बठक के आरम्भ होते ही अमरीकी प्रतिनिधि जार्ज बुश ने प्रस्ताव रखा जिसमें यह माग की गयी थी कि भारत और पाकिस्तान युद्ध विराम करें तथा तुरत अपनी अपनी सेनाए पीछे हटायें। बेल्जियम इटली और जापान ने एक दूसरा प्रस्ताव रखा जिसमें युद्ध विराम की बात तो कही गयी थी मगर सेनाए वापस हटाने का कोई उल्लेख नहीं था। इसके बदले इसमें भारत में शरण लेने वाले एक करोड़ शरणार्थियों को वापस घर भेजने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समाज के पूर्ण सहयोग का सुझाव दिया गया था। तीसरा प्रस्ताव अर्जेन्टिना बुरुंडी निकारागुआ सियरा लियोन और सोमालिया द्वारा प्रस्तुत था। इसमें तुरत युद्ध विराम कर सेनाए वापस हटाने की बात कही गयी थी। इसके अतिरिक्त भारत उपमहाद्वीप में तनाव की स्थितियों के सम्बन्ध में महासचिव उ थां को लगातार सूचना देने को कहा गया था। चौथा प्रस्ताव सोवियत सघ ने प्रस्तुत किया जिसमें कहा गया था कि पूर्वी पाकिस्तान में राजनीतिक हल निकाला जाय जो स्वाभाविक रूप से अन्त में सघर्ष समाप्त करेगा। सोवियत प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि पाकिस्तान से यह भी माग करे कि वह पूर्व बगाल में हिंसा के सभी कार्यों को बन्द करे जिसके कारण स्थिति इतनी बिगड़ी है।

---

1 यह प्रश्न पुन 14 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद की सभा में उठायी गयी। सोवियत प्रतिनिधि ने पुन यह माग रखी कि बगला देश के प्रतिनिधि को बहस में भाग लेने की इजाजत मिलनी चाहिए लेकिन परिषद के अध्यक्ष ने इस अपील को अस्वीकार कर दिया।

सोवियत प्रतिनिधि जकब मलिक ने अमरीकी प्रस्ताव को एकपक्षीय और अस्वीकार्य मसविदा बताया और कहा कि इस प्रस्ताव का उद्देश्य जिम्मेदारी सही पक्ष से गलत पक्ष की ओर डालना है। उन्होंने कहा कि पाकिस्तान और उसका महान रक्षक तथा पाकिस्तान के कतिपय मित्र देश (जो उसके सैनिक गुट में हैं) भारत और पाकिस्तान को एक ही स्तर पर रख रहे हैं। यह बहुत बड़ी गलती है। ऐसी भयंकर स्थिति की नौबत ही न आती यदि पाकिस्तान गत दिसम्बर के समझौते चनावों में चने गये पाक जनता के कानूनी प्रतिनिधियों से बातचीत करने से इन्कार न करता। श्री मलिक ने कहा कि भारत को दण्डित किया जा रहा है और उसको अपने प्रदेश में एक करोड़ शरणार्थियों का बोझ सहना पड़ रहा है।

पाकिस्तान के प्रतिनिधि आगा शाही ने धमकी देते हुए कहा कि यदि सोवियत संघ का प्रस्ताव स्वीकार किया गया और यदि बंगला देश के प्रतिनिधि को परिषद में बोलने दिया गया तो पाकिस्तान को गम्भीर रूप से अपनी संयुक्त राष्ट्रसंघीय सदस्यता पर पुनर्विचार करना होगा। उन्होंने पाकिस्तान की आन्तरिक स्थिति पर विचार करने के सुरक्षा परिषद के अधिकार को चुनौती दी। उन्होंने कहा कि भारत हमलावर है।

भारत के प्रतिनिधि समर सेन ने आगाशाही के आरोपों का खंडन करते हुए कहा कि पाकिस्तान के प्रतिनिधि 21 नवम्बर की बाद की घटनाओं का हवाला देते हैं जब कि समस्या का जन्म इससे बहुत पहले तब हुआ जब पाकिस्तान ने न केवल बंगला देश की जनता का नर संहार किया वरन भारत पर एक करोड़ शरणार्थी का बोझ डाल दिया। क्या यह अप्रत्यक्ष आक्रमण नहीं था?

बहस के बाद अमरिका के प्रस्ताव पर मतदान हुआ। प्रस्ताव के पक्ष में ग्यारह मत आये थे। ब्रिटेन और फ्रांस ने मतदान में भाग नहीं लिया तथा सोवियत संघ एवं पोलैंड ने प्रस्ताव के विरोध में वोट दिया। यह सोवियत संघ द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग था।

सोवियत संघ के वीटो प्रयोग ने भारत के समक्ष उपस्थित एक मन्यन संकट को टाल दिया। भारत-सोवियत संधि के सन्दर्भ में वीटो का प्रयोग वांछनीय था। इसके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद के माध्यम से अमरिका इस्लामाबाद की तानाशाही को बचाने की जो कोशिश कर रहा था सोवियत संघ ने उसे सही समय पर विफल कर दिया। याह्या खां ने भारत के श्रीनगर से लेकर जामनगर तक के एक दर्जन हवाई अड्डों पर हमला करके जिस बेशर्मी के साथ युद्ध का एलान किया था अमरिका की कोशिश बेशर्मी का उससे अगला कदम था जिसका उद्देश्य हमलावर को हमला करने और संयुक्त राष्ट्रसंघ के खाते में डिपाजिट आराम से बैठने का मौका देना था।

सुरक्षा परिषद की दूसरी बैठक—सम्भा पहिले की पहली बैठक के बाद चौबीस घंटे के भीतर परिषद की दूसरी बैठक 6 दिसम्बर को हुई। भारत पाकिस्तान युद्ध को रोकने के लिए आठ देशों ने फिर से प्रस्ताव रखा जिसमें युद्ध विराम के अतिरिक्त फौजों की वापसी की बात कही गयी थी। सोवियत संघ ने पुनः वीटो का प्रयोग

जा सकता है कि अधिकांश देशों ने सत्य के प्रति आँखें मूँद ली थीं और वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते थे जो अमरिका को नापसन्दगी और नाराजगी का कारण बन सकता था। इस प्रस्ताव पर जो मतदान हुआ था उससे यह नतीजा निकालना कि प्रस्ताव के पक्ष में मतदान करनेवाले सभी राष्ट्र भारत विरोधी थे गलत होगा। मान्यताओं के दबाव से प्रभावित होकर उन्होंने मतदान किया। उन राष्ट्रों की बात यदि अलग छोड़ दें जिन्होंने इस्लामी बिरादरी के कारण प्रस्ताव के समर्थन में मतदान किया तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत को बंगला देश से अपनी सेनाएं निकालने के पक्ष में मतदान करनेवाले राष्ट्रों को दो स्पष्ट वर्गों में बांटा जा सकता है—वे जिन्होंने अमरिका के आतंक में ऐसा किया और वे जिन्होंने चीन के आतंक से प्रभावित होकर ऐसा कदम उठाया। अनेक राष्ट्र ऐसे भी थे जो ईमानदारी के साथ यह मानते थे कि किसी प्रकार युद्ध बन्द हो जाय। अमरिका ने पाकिस्तान की मदद करने के उद्देश्य से अपनी बात मनवाने के लिए साधारण सभा के रूप में राष्ट्रों की पंचायत तो जरूर जुटाई और जो चाहता था वह स्वीकार करा लिया। किन्तु सवाल यह था कि यह पंचायत तब कहाँ थी जब याह्या की फौज बंगला देश में भीषण नरसंहार कर रही थी—वहाँ लोकतन्त्र और मानव अधिकारों की सुनेआम हत्या की जा रही थी? तब दुनिया सारा ध्यान खींचे जाने पर भी महासचिव उ थां क्यों मौन बने रहे और उन्होंने साधारण सभा की बैठक क्यों न बुलायी? तब संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपना कर्त्तव्य केवल शरणार्थियों को कुछ सहायता देने तक सीमित रखा और मानवता की रक्षा की चिन्ता क्यों नहीं की? सच तो यह है कि इस प्रस्ताव ने यह सिद्ध कर दिया कि साधारण सभा का अब कोई महत्त्व नहीं रह गया था अन्यथा वह भारी बहुमत से इस प्रस्ताव को स्वीकार न करती और किसी ऐसे प्रस्ताव पर ध्यान देती जो समस्या के मूल कारणों पर जाकर उन्हें दूर करता जिससे युद्ध की वर्तमान स्थिति स्वयं शांत हो जाता। इसी आधार पर भारत ने कहा कि वह इस

The resolution adopted by the UN General Assembly on Tuesday with as many as 104 affirmative votes is an act of international piety that makes no contribution whatsoever toward resolving or even understanding the problems to which it is supposed to be addressed. It is totally unrealistic, completely outdated, incomplete and biased. It ignores these absolutely vital and fundamental points. Firstly, there is but a crumbling Pakistani military presence left in East Bengal and no political presence whatsoever. Secondly, Bangla Desh is a reality that no one and nothing can now undo. Thirdly, the genesis of the problems has to be seen in Pakistan's brutal genocide. What did the UN or any of its organs say or do in face of this extraordinary tragedy and the mass migration to India of a number larger than the population of more than two third of the

प्रस्ताव को नहीं मानेगा और बंगला देश को आजाद करने का यत्न जारी रखेगा क्योंकि प्रस्ताव ने समस्या के मूल कारण को नहीं समझा है। भारत की दृष्टि में यह प्रस्ताव अव्यावहारिक था क्योंकि इसमें वास्तविकता की उपेक्षा की गयी थी।

सुरक्षा परिषद की तीसरी बैठक —साधारण सभा के प्रस्ताव को भारत ने मानने से इन्कार कर दिया। प्रस्ताव के पारित होने के उपरान्त श्रीमती गांधी ने उथाँ को एक पत्र लिखा और उन्हें बताया कि भारत का इरादा पाकिस्तान के साथ युद्ध में फँसे रहने या उसे बर्बाद करने का नहीं है और न उसकी भूमि पर कब्जा करना है। पर इस आश्वासन का पाकिस्तान के दाँतों पर कोई असर नहीं पड़ा और अमरीकी साजिश पुनः सक्रिय हो उठी। 14 दिसम्बर को अमरिका के अनुरोध पर सुरक्षा परिषद की तीसरी बैठक हुई। अमरिका ने पुनः युद्धविराम और सेनाओं की वापसी का प्रस्ताव पास करवाना चाहा। अमरिका के प्रतिनिधि जार्ज बुश ने माँग की कि भारत पर दबाव डाला जाय कि वह साधारण सभा के प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार करे।

प्रस्ताव पर बोलते हुए पाकिस्तानी प्रतिनिधि जुल्फिकार अली भुट्टो ने स्वीकार किया कि पाकिस्तान ने कुछ गलतियाँ की हैं मगर इसके बावजूद पाकिस्तान तबाह नहीं हो सकता। भुट्टो ने भारत को विस्तारवादी घोषित करते हुए कहा कि आज पाकिस्तान की बारी है—कल दूसरे देशों की बारी होगी। एशिया के अन्य देशों को उत्तेजित करने की दृष्टि से भुट्टो ने यह भी आरोप लगाया कि अफगानिस्तान लंका नेपाल बर्मा और ईरान पर भारत कब्जा करना चाहता है।

अमरीकी प्रस्ताव पर बोलते हुए सोवियत प्रतिनिधि ने कहा कि यह प्रस्ताव किसी हालत में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसने अमरिका के रुख और पक्षपातपूर्ण नीति की आलोचना करते हुए अमरीकी प्रस्ताव को वीटो कर दिया। इस पर अमरिका के हठधर्मी को सोवियत संघ ने तीसरी बार वीटो का प्रयोग करके उसे विफल कर दिया।

पोलैंड और जापान के प्रस्ताव —सुरक्षा परिषद में अमरीकी प्रस्ताव पर तीन बार सोवियत वीटो के प्रयोग से संयुक्त राष्ट्रसंघ में गतिरोध पैदा हो गया। इसके तुरन्त बाद पोलैंड और जापान ने भारत-पाकिस्तान-युद्ध को समाप्त करने के लिए मसौदा प्रस्ताव तैयार किया। वह एक नौसूत्री प्रस्ताव था जिसमें सुरक्षा परिषद के तीन सदस्यों की एक समिति बनाये जानेवाला था जिसका काम भारत और पाकिस्तान के बीच मध्यस्थता करा के समझौता कराना था। इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए परिषद की बैठक अभी बुलायी जानेवाली ही थी कि भारत ने एकतरफा युद्ध-बन्दी की घोषणा कर दी।

members of the General Assembly who voted on Tuesday. In the face of that fearful silence and indifference to human suffering with what conscience moral or political can the UN now presume to speak —*Hindustan Times December 8 1971*

संयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलता —संयुक्त राष्ट्रसंघ के दृष्टिकोण से भारत-पाक युद्ध के संदर्भ में संघ की भूमिका का विश्लेषण करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इसमें संघ को पूरी विफलता ही हाथ लगी। युद्ध से पहले जब बंगला देश में पाकिस्तान के अत्याचारों का सिलसिला शुरू हुआ और लाखों की संख्या में शरणार्थी भारत आ गये तो संघ से यह आशा थी कि वह दोनों देशों के बीच युद्ध की नौबत आने के पहले ही समस्या का कोई समाधान ढूंढ़ निकालेगा। यह आशा तो पूरी हुई नहीं लेकिन जब भारतीय उपमहाद्वीप में युद्ध की आग पूरी तरह भड़क उठी थी तब भी संयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध रोकने और शांति स्थापित करने के कार्य में सर्वथा असफल ही रहा। वह हस्तक्षेप कर कोई समाधान निकालने में सहायक नहीं हुआ। अन्ततः दोनों देशों की आपसी परिस्थितियों के कारण ही युद्ध बन्द हुआ। भारत का उद्देश्य बंगला देश को पाकिस्तानी चंगुल से छुटकारा दिलाना था। यह उद्देश्य पूरा हो गया तो उसने युद्ध बन्द करने का आदेश दे दिया। पाकिस्तान जो युद्ध में हार रहा था उसके समक्ष भी युद्ध बन्द कर देने के सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं था।

इस विफलता के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ स्वयं दोषी था। सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य देश इस अवसर पर अपने हितों और स्वार्थों से ऊपर न उठ सके। सोवियत संघ ने भारत का समर्थन करने के लिए युद्ध बन्द करने के प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग किया और उधर चीन तथा अमरिका पाकिस्तान के समर्थन में लगे रहे। कुल मिलाकर यह प्रमाणित हो गया कि युद्ध रोकने अथवा युद्ध न होने देने में सुरक्षा परिषद की क्षमता बहुत सीमित है। भारत को इसके लिए दोषी बतलाना गलत होगा। 26 मार्च से ही बंगला देश में नरसंहार शुरू हुआ था लेकिन संघ ने उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया। उसकी निष्क्रियता से उत्पन्न एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जिसमें भारत के लिए सैनिक कार्रवाई के सिवा कोई चारा नहीं रह गया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ को बंगला देश की फिक्र तब हुई जब पाकिस्तान के नष्ट होने में कोई कसर नहीं रह गयी।

युद्ध का विवरण

पाकिस्तान बड़े हौसले और पूरी तैयारी के साथ युद्ध में कूदा था। उसकी सेना और तैयारी की शोहरत सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में फैली हुई थी। लेकिन जब वास्तविक परीक्षा का अवसर आया तब पता चला कि पाकिस्तान किसी भी मोर्चे पर भारत का प्रतिरोध नहीं कर सकता है। पश्चिमी मोर्चे पर सबसे जबरदस्त प्रहार पाकिस्तान ने छम्ब के इलाके में किया। बंगला देश और राजस्थान तथा पंजाब सीमा पर काफी इलाका खोने के बाद पाकिस्तान का छम्ब में कार्रवाई करना स्वाभाविक था। इसे पाकिस्तान ने अपनी सामरिक सफलता का आवश्यक लक्ष्य बना। छम्ब में उसकी सफलता का अर्थ यह होता था कि राजौरी और पुंछ की ओर जानेवाली भारतीय संचार व्यवस्था पर उसका अधिकार हो जाता और इस प्रकार कश्मीर को

जानेवाली सड़क सनरे म पड़ जाती। छम्ब पर उसका आक्रमण बड़ा ही प्रबल था और उसस होनेवाली धन जन की हानि की भी उसन कोई परवाह नहा की। लेकिन इतने प्रयास के बाद पाकिस्तान को कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली। पश्चिमी क्षेत्र में अन्य सभी मोर्चों पर भी इसकी करारी हार होती गयी।

बगला देश में भारतीय सेना न थल जल और वायुसेना स सम्मिलित कार वाई की। वायुसेना ने निश्चित ठिकानों पर प्रहार करके बगला देश में पाकिस्तान वायुसेना के अस्तित्व का ही मिटा दिया। भारतीय नौसेना ने भी साहसिक कदम उठाकर बंगलादेश के पाकिस्तानी सेना के भागने के सभी जलमार्ग अवरुद्ध कर दिये। थल सेना को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सीमित सड़कें और इस पर नदीनालों को पार करने की कठिनाइयाँ स सेना का दबाव कुछ मन्द अवश्य रहा। भारतीय सेना को लगभग चार डिवीजन पाकिस्तानी सेना का मुकाबला करना था। लेकिन सही अर्थ में यह मुकाबला कभी नहीं हुआ। पाकिस्तानी सेना म भागदौड़ मच गयी और वह अब अपनी जान बचाने के उपाय म लग गयी।

पाकिस्तानी सेना का आत्मसमर्पण—इन हालत म पाकिस्तानी सेना का मनोबल टूटना स्वाभाविक था। इसका पता तब लगा जब पूर्व बगला के गवनर के सैनिक सलाहकार मेजर फरमान अली ने तार भेजकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के महा सचिव स प्रार्थना की कि उनकी फौज को पश्चिम पाकिस्तान पहुँचाने म सहायता दी जाय। राष्ट्रपति याह्या खा ने तुरत इस प्रस्ताव का विरोध किया। उधर भार तीय सेना के उच्च अधिकारी बराबर चेतावनी दे रहे थे कि पाकिस्तानी सेना को आत्मसमर्पण कर देना चाहिए अन्यथा सब मारे जायगे। लेकिन पाकिस्तानी सेनापति जनरल नियाजी अपना जिद्द पर डटा हुआ था। उसने कहा कि वह आखिरी दम तक युद्ध लड़ेगा और किसी कीमत पर आत्मसमर्पण नहीं करेगा। बात यह थी कि अमरिका का सातवा बेड़ा बगाल की खाड़ी की ओर चल चुका था। पाकिस्तानी अधिकारियों को विश्वास था कि चीन और अमरिका सक्रिय हस्तक्षेप करके पाकि स्तानी सेना को आत्मसमर्पण से बचा लेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। भारतीय सेनाध्यक्ष ने स्पष्ट शब्दों म चेतावनी देते हुए कहा कि बगलादेश म सारी पाकि स्तानी सेनाए घिर गयी हैं। चारों ओर स रास्ता बन्द हो गया है। वे भाग नहीं सकती हैं। भला इसीम है कि वह आत्मसमर्पण कर दे। पर जनरल नियाजी हथियार डालना नहीं चाहता था। उसने प्रस्ताव किया कि उस अपनी फौजें लेकर स हटाकर कुछ खास क्षेत्र म सीमित करने की अनुमति दी जाय जहाँ स उन्हें पश्चिमी पाकिस्तान भेजा जा सके। जनरल मानिक शा ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। नियाजी हताश था और अब भी आनाकानी कर रहा था। इस पर ढाका स्थित विदेशी राजनयिकों ने उसे वास्तविकता को समझने की सलाह दी। नियाजी के समक्ष कोई विकल्प नहीं था। 15 दिसम्बर को अपराह्न म जनरल नियाजी ने अमरीकी दूतावास के माध्यम स युद्ध विराम करने की प्रार्थना की। भारतीय अधिकारियों ने उत्तर देते हुए कहा कि बगला देश म सभी पाकिस्तानी सेनाओं को तुरत युद्ध बन्द करने

और भारतीय सेनाओं के समक्ष आत्मसमर्पण करने के लिए आह्वान किया जाय। भारतीय जनरल ने यह चेतावनी भी दी कि यदि 16 दिसम्बर को 9 बजे सुबह तक पाकिस्तानी सैनिकों ने युद्ध बन्द करके आत्मसमर्पण नहीं किया तो हमारे जवान पूरी ताकत से अंतिम अभियान शुरू कर देंगे। इस अवधि तक गोलाबारी और बमबारी बन्द करने की एकतरफी घोषणा भी कर दी गयी ताकि आत्मसमर्पण की तैयारियों को पूरा किया जा सके। पाकिस्तानी सैनिक अधिकारियों को यह आश्वासन भी दिया गया कि जो पाकिस्तानी सैनिक और अफसर आत्मसमर्पण करेंगे उनके साथ जेनेवा समझौता के अनुसार अच्छा व्यवहार किया जायगा।

बमबारी विराम अवधि की समाप्ति की दोपहर पहले तक पाकिस्तानी सेनापति का कोई सन्देश प्राप्त नहीं हुआ। तब जब भारतीय सेना पूरे जोर से आक्रमण करने की तैयारी कर रही थी तो जनरल नियाजी ने छः घंटे का समय मांगा। इसी बीच किसी भारतीय वरिष्ठ अधिकारी को ढाका भेजने का अनुरोध किया ताकि वह उसके आत्मसमर्पण पत्र पर हस्ताक्षर कर सकें।

16 दिसम्बर को उसी मैदान में जनरल नियाजी ने भारतीय सेनापतियों के सामने आत्मसमर्पण पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसमें मौ महीने पूर्व अवामी लीग के नेता शेख मुजीबुर्रहमान ने बगावत का झण्डा बुलन्द किया था। नियाजी ने आत्मसमर्पण के नियमों के अनुसार भारतीय जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के सामने अपनी पिस्तौल खोलकर उसकी गोलियाँ भारतीय सेनापति के हाथ में थमा दी और हथियार डालने के प्रतीकस्वरूप अपने माथे को छुआ। उसी समय जनरल नियाजी गणवेश में लगे हुए पद सूचक चिह्नों को उतार लिया गया। आत्मसमर्पण पत्र पर हस्ताक्षर करते समय नियाजी की आँखों में आँसू आ गये। इसलिए कि अंतिम व्यक्ति तक संघर्ष करने का दावा करने के बावजूद उसे अपमानजनक स्थिति में हथियार डालने पड़े। शायद इसलिए भी कि जगजीत सिंह अरोड़ा और नियाजी किसी जमाने में देहरादून में इकट्ठे सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे। दो दशकों बाद अब वह विजेता और विजित के रूप में आमने सामने खड़े थे।

कुल 93 हजार पाकिस्तानी सैनिकों ने आत्मसमर्पण किये। उन्हें बंगला देश में रखना खतरे से खाली नहीं था क्योंकि बंगाली जनता बदला की भावना से प्रेरित होकर उनका सफाया ही कर सकती थी। अतः इन सारे युद्धबन्दियों को बंगला देश से हटाकर भारत लाया गया।

एकतरफा युद्धविराम—भारत का उद्देश्य पाकिस्तानी जमीन पर अधिकार करना नहीं था और इसलिए ज्यों ही बंगला देश स्वाधीन हुआ भारत ने पश्चिमी मोर्चे पर युद्धविराम की एकतरफा घोषणा करने का निर्णय लिया। 16 दिसम्बर को रात पौने आठ बजे यह घोषणा कर दी गयी और तुरत ही सयुक्त राष्ट्रसंघ को इसकी सूचना दे दी गयी। यह घोषणा उस समय हुई जब कि पश्चिमी मोर्चे पर भारतीय

पश्चिमी मोर्चे पर भारत को युद्ध बन्द करना हो या चाहे कोई दल इसके लिए सलाह देता या नहीं।

लेकिन अमेरिकी अधिकारी बराबर इस बात को दुहराते रहे कि उन्होंने सोवियत संघ में दबाव डलवाकर भारत को रोका है कि वह समूचे पश्चिमी पाकिस्तान को खत्म न करे। इस बात का निरन्तर प्रसारित करने के दो उद्देश्य हो सकते थे—राष्ट्रपति निक्सन पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं और जनता को यह समझाने की कोशिश कर रहे होंगे कि भारत-पाक युद्ध में अमरिका ने पाकिस्तान की भरपूर सहायता की। ऐसा कहकर भविष्य के लिए पाकिस्तान संयुक्त राज्य अमरिका के बीच अधिक गहरे सम्बन्ध स्थापित करने की भूमिका तैयार की जा रही थी। इसीलिए इस बात पर जोर दिया जा रहा था कि पश्चिमी पाकिस्तान में प्रचारित हो कि भारत का उद्देश्य पाकिस्तान के अस्तित्व को ही मिटाना था। दूसरा उद्देश्य इसमें संयुक्त राज्य अमरिका के बौद्धिक और विचारशील लोगों द्वारा निक्सन की नीतियों के प्रति रोष प्रकट करने से उत्पन्न प्रभाव को कम करना हो सकता है।

एकतरफा युद्ध विराम की घोषणा की कुछ क्षेत्रों में कड़ी आलोचना हुई। आलोचकों का कहना था कि भारत ने बिना अपने युद्ध उद्देश्यों को पूरा किए ही युद्ध बन्द करके गलती की है। उनके अनुसार पाकिस्तान को पूरी तरह बर्बाद कर देना ताकि भविष्य में वह फिर कभी अपना सर नहीं उठा सके भारत का युद्ध उद्देश्य था। ऐसे ख्याली पुलाव पकाने वालों को निश्चय ही घोर निराशा हुई। लेकिन इन लोगों की आलोचनाओं में कोई दम नहीं है। जो लोग यह चाहते थे कि भारत पाकिस्तान को समाप्त कर दे वे यह भूल रहे थे कि आज के जमाने में यह सम्भव नहीं है। युद्ध बन्द कर देना सर्वथा उचित था क्योंकि इसका एकमात्र उद्देश्य—बंगला देश की स्वाधीनता—पूरा हो चुका था। फिर अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधि पर भी ध्यान रखना था। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत की स्थिति बिगड़ रही थी। साधारण सभा ने 104 मतों से युद्ध विराम का प्रस्ताव पास कर दिया था जिसकी अवहेलना अधिक दिनों तक नहीं की जा सकती थी। सुरक्षा परिषद में भी भारत की स्थिति अत्यन्त नाजुक थी। यदि सोवियत संघ ने वीटो का इस्तेमाल नहीं किया होता तो भारत कहीं का नहीं रहता। यह वीटो चौथी या पांचवीं बार भी इस्तेमाल होता इसकी कोई गारंटी नहीं थी क्योंकि शक्ति सन्तुलन की दृष्टि से सोवियत संघ भी पश्चिमी पाकिस्तान की पूर्ण बर्बादी की इजाजत नहीं देता। उधर अमरिका और चीन का रुख भी कड़ा होता जा रहा था। अमरिका का सातवां बेड़ा बंगाल की खाड़ी में पहुंच चुका था। कुल मिलाकर परिस्थिति गम्भीर होती जा रही थी। ऐसी हालत में युद्ध के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के बाद युद्ध विराम की घोषणा सभी दृष्टियों से वाजिब थी। भारत सरकार ने ऐसा निर्णय करके अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया।

युद्ध में पाकिस्तान की हार के कारण

भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध केवल चौदह दिनों तक चला। इन चौदह दिनों में केवल इतिहास ही नहीं भूगोल भी बदल गया। 25 मार्च के पहले तक जो

पूर्वी पाकिस्तान था वह ढाका में 16 दिसम्बर को पाकिस्तानी सेना के आत्मसमर्पण के साथ ही दुनिया के नक्शे में एक स्वतन्त्र राष्ट्र और एक अलग देश के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। पाकिस्तान के लिए युद्ध बहुत ही महंगा सिद्ध हुआ। उसे अपने देश के एक विशाल भाग—पूर्वी भू भाग से हाथ धोना पड़ा। उसके 93 हजार के लगभग सैनिक युद्धबन्दी बना दिये गये। पश्चिमी मोर्चे पर भी उसको एक बहुत बड़े भू भाग से हाथ धोना पड़ा जो भारतीय सेना के कब्जे में आ गया। इसके विपरीत भारत की क्षति नाम मात्र की रही।

युद्ध के पहले पाकिस्तान तैयारी की पृष्ठभूमि में कोई भी व्यक्ति प्रायः यह नहीं कह सकता था कि पाकिस्तान की ऐसी करारी हार होगी। लेकिन युद्ध के नतीजे ने इन सारी कल्पनाओं को बिखेर दिया। अब प्रश्न उठता है कि पाकिस्तान के पराभव के क्या कारण थे। सर्वप्रथम इसका एक कारण सैनिक था अर्थात सैनिक दृष्टिकोण से पाकिस्तान भारत का मुकाबला नहीं कर सका और उसकी सारी सामरिक नीति विफल हो गयी। लेकिन इसके पराभव के कुछ मौलिक कारण भी थे।

कमजोर नैतिक पक्ष—पाकिस्तान की सामरिक स्थिति तो कमजोर सिद्ध हुई उसका नैतिक पक्ष भी बहुत कमजोर था। बंगला देश की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि एक सच्चे जन आन्दोलन को कोई भी तानाशाही नहीं कुचल सकती है। बंगला देश में भारतीय फौज को मुक्तिवाहिनी और जनता का पूरा समर्थन मिला। मार्च 1971 में ही पूर्वी बंगाल में जो जनजागरण हुआ उससे यह सिद्ध हो गया कि बंगाली जनता अब पाकिस्तानी शोषण को बर्दाश्त नहीं कर सकती है। अतएव वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए युद्ध कर रहा था और इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय सेना की सहायता की थी। जब पूर्व में पाकिस्तानी सेना हार गयी और भारतीय सेना ने प्रवेश किया तो बंगाली जनता ने इसका स्वागत एक विजेता के रूप में नहीं वरन मुक्तिदाता के रूप में किया। भारतीय सेना को उन्होंने मित्र वाहिनी का नाम दिया।

वस्तुतः पाकिस्तान अपनी ही गलतियों का शिकार हुआ। दिसम्बर 1970 में जब पाकिस्तान में प्रजातन्त्रीकरण की प्रक्रिया शुरू की गयी तो उसको यहाँ निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए था। लेकिन पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहों ने निहित स्वार्थों के दबाव में पड़कर इस प्रक्रिया के बीच में ही रोक दिया। मुजीबुर्रहमान को जिन्हें पाकिस्तान का प्रधान मन्त्री बनाया जाना चाहिए था उन्हें जेल में बन्द कर दिया गया। इस पर जो जब बंगला देश की जनता विग्रह करती रही तो उन्हें बुरी तरह कुचला गया और व्यापक पैमाने पर नरसंहार किया गया। ऐसी स्थिति में अपने पूर्वी भाग पर पाकिस्तानी सरकार को शासन करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं रह गया। जब इस प्रश्न को लेकर भारत के साथ उसका लड़ाई हुई तो इसमें उसका हारना अवश्यम्भावी था।

इसके अतिरिक्त पाकिस्तान की राजनीति पिछले पचास वर्षों में चल रहे सत्तासंघर्ष की राजनीति रही है जिस दिन समय पाकिस्तान के राजनीतिक पतन

को समझना कठिन है। यदि केवल एक वाक्य में पाकिस्तान के पराभव की परिभाषा करनी हो तो कहना होगा कि पाकिस्तान के पास किसी भी युद्ध में विजयी होने के लिए सबसे जरूरी हथियार नहीं था। यह हथियार था लोकतन्त्र। लोक समर्थन के अभाव में पाकिस्तान के फौजी शासकों के पास जो अमरीकी या चीनी हथियार थे उनसे पाकिस्तान अपनी लड़ाई बहुत दिनों तक नहीं लड़ सकता था।

भौगोलिक स्थिति —पूर्वी मोर्चे के युद्ध में भूगोल ने पाकिस्तान का साथ नहीं दिया। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में सहस्त्रों किलोमीटर की दूरी थी। भारत का रास्ता बन्द हो जाने से पाकिस्तान वहां कुमक नहीं पहुँचा सकता था। पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्वी बंगाल पहुँचने का अब एक ही रास्ता बच गया था— समुद्र का रास्ता। लेकिन युद्ध शुरू होने पर भारतीय नौसेना ने इस रास्ते की भी घेराबन्दी कर ली जिससे किसी तरह की आपूर्ति का होना बन्द हो गया। यही कारण है कि बंगला देश में पाकिस्तान को अत्यन्त ही अपमानजनक स्थिति में आत्मसमर्पण करना पड़ा।

भारत को हस्तक्षेप का मौका—बंगलादेश में घोर नरसंहार करके तथा जन आन्दोलन को दबाकर पाकिस्तान तत्काल के लिए किसी तरह इस समस्या से छुटकारा पा सकता था यदि उसने भारत को हस्तक्षेप का मौका नहीं दिया होता। पाकिस्तान की सबसे बड़ी गलती यह हुई कि उसने लाखों की संख्या में शरणार्थियों को भारत आने का मौका दिया। इसके कारण भारत को पाकिस्तान के मामले में हस्तक्षेप करने का मौका मिल गया। पाकिस्तान को शुरू में ही यह समझना चाहिए था कि भारत उसका घोर दुश्मन है और पाकिस्तान की किसी भी कमजोर स्थिति से वह अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयास करेगा ठीक उसी तरह जिस तरह पाकिस्तान भी भारत की किसी कमजोर स्थिति से लाभ उठाने से बाज नहीं आता। शरणार्थियों को भेजकर पाकिस्तान ने भारत को बंगला देश में हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। पाकिस्तान की यह महान भूल थी जिसका बड़ा ही कड़ा मूल्य उसे चुकाना पड़ा।

युद्ध के परिणाम

भारतीय विदेश नीति पर प्रभाव—भारत-पाक युद्ध ने भारतीय इतिहास और भूगोल को ही परिवर्तित नहीं किया वरन भारत की विदेश-नीति में भी एक परिवर्तन किया जिसका आमतौर पर स्वागत किया गया। अमरिका को लेकर भारतीय राजनीति में कुछ भ्रम था। युद्ध के पूर्व तक अमरीकी विदेश नीति यह भ्रान्ति उत्पन्न करती रही कि जहाँ तक भारत का प्रश्न है वह उसकी लोकतान्त्रिक परम्पराओं का आदर करता है। लेकिन बंगाल की खाड़ी की ओर अमरिका के सातवें बेड़े के कूच करने के साथ ही भारत में अमरीकी हितों का दुर्ग पूरी तरह ढह गया। भारत के सभी लोगों ने एक स्वर से अमरीकी विदेश-नीति की निन्दा की और उसे लोकतन्त्र का शत्रु तथा फौजी तानाशाहों का मित्र करार दिया।

एक ओर जहाँ भारत में अमरिका के विरोध की लहर आयी वहाँ दूसरी ओर सोवियत संघ की इज्जत बढ़ी। इस समूचे युद्ध के दौरान सोवियत संघ ने जिस तरह

भारत और बंगला देश का साथ दिया उसकी सराहना सबों ने की। संयुक्त राष्ट्रसंघ और सुरक्षा परिषद में युद्ध विराम तथा भारत-पाक युद्ध को लेकर जिस तरह का मतदान हुआ उससे इस बात का अन्दाजा होता है कि भारत की विदेश-नीति एक नयी दिशा लेगी। अब भारतीय विदेश नीति कागजी कार्यवाहियों पर आधारित न होकर भारतीय हितों पर आधारित होगी। भारत के हित जिन राष्ट्रों से जुड़े हैं भारतीय विदेश-नीति उन्हीं राष्ट्रों से सम्बन्ध और मजबूत करेगी। अब भारतीय विदेश-नीति का निर्धारण इस आधार पर होगा—सोवियत संघ पर विश्वास किया जा सकता है अमरिका पर बिल्कुल विश्वास नहीं किया जा सकता है और चीन से डरने की आवश्यकता नहीं है।

दक्षिण एशिया के सन्तुलन पर प्रभाव —इस युद्ध में केवल पाकिस्तान ही पराजित नहीं हुआ बल्कि अमरिका और चीन के हौसलों और महत्त्वाकांक्षाओं की भी पराजय हुई। इन दोनों देशों के राजनीतिक हितों को गहरा क्षति पहुँचा। अमरिका के लिए एशिया में अब टूटे हुए पाकिस्तान के अलावे कोई ठौर नहीं रहा।[1] चीन और अमरिका को एशिया में एक ऐसे देश की जरूरत थी जो भारत के साथ युद्ध या युद्ध की स्थिति बनाये रखता। ऐसा देश केवल पाकिस्तान ही था। लेकिन इसके टूट जाने से इस मनसूबे पर पानी फिर गया। विशेषतया चीन के लिए यह एक करारा हार था। एशिया में सोवियत संघ और चीन दोनों अविभाजित पाकिस्तान पर अपना अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा कर रहे थे। अब पुराने पाकिस्तान के इन दोनों हिस्सों पर ठीक उसी तरह इन दोनों देशों की प्रतिद्वन्द्विता नहीं चल सकती जैसे पहले चलती थी। बंगला देश पर सोवियत संघ का ही प्रभाव रहेगा। चीन ने अपने राजनयिक दलों को बुलाकर फिलहाल उस क्षेत्र में न पड़ने की घोषणा कर दी। दक्षिण एशिया में काबुल से ढाका तक रूसियों की राजनयिक सफलता में काफी तीव्र वृद्धि हुई जो चीन के लिए पराजय थी।

अमेरिका और चीन में बहुत बातों पर मतभेद हो सकता था। लेकिन एक बात पर वे एकमत थे। दोनों ही भारत को एक कमजोर राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। दोनों ही यह चाहते थे कि भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर कर नहीं आये क्योंकि ऐसा होने का मतलब एशिया के सन्तुलन में परिवर्तन था। लेकिन हुआ वह जो वे नहीं चाहते थे। युद्ध के बाद अफगानिस्तान से लेकर मलयेशिया तक

1 The Pakistan military debacle in East Bengal is at the same tim a diplomatic debacle for the United State Futile last minute White House warnings to Moscow to restrain the Indians in their hour of victory and the provocative dispatch of carrier task force to the Bay of Bengal can neither c nc al nor alleviate this disaster to American prestige and posture throughout the democratic world.

—*The New York Times December 14 1971*

फैल हुए भू भाग म भारत एक महाशक्ति के रूप में उभर कर आया। अब तक भारत एक उल्लेखनीय राष्ट्र रहा था। नेहरू के जीवनकाल मे भारत एक नतिक सत्ता रही। 1960 तक उसने ससार म एक शांति ब्रिगेड की भूमिका अदा की। लकिन 1962 मे चीन के साथ हुए युद्ध के बाद भारत की राजनैतिक सत्ता का पराभव हुआ। विश्व की स्थिति बदली और भारत की नतिक भमिका लगभग समाप्त हो गयी। 1962 के भारत चीन युद्ध और 1965 के भारत पाक युद्ध के बाद यह स्पष्ट हो गया कि यदि भारत को ससार में महज नतिक भमिका भी अदा करनी है तो इसके लिए अपनी सनिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा कायम करनी होगी। 1971 के अन्त में भारत को यह प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और अब भारत ससार म एक बड़े राष्ट्र की भूमिका अच्छी तरह अदा कर सकता है। लकिन महाशक्ति बन जाना भी कम खतरनाक नही है। एक बार महाशक्ति की भूमिका स्वीकार कर लने के बाद सम्बन्धित राष्ट्र का शीत युद्ध म शामिल हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। एक बार शीत युद्ध म शामिल होने के बाद सम्बन्धित राष्ट्र एक ऐसी नियति चक्र में फस जाता है जिसमे निकल पाना उसके लिए कठिन हो जाता है।

एक महाशक्ति के रूप मे भारत के उभरने से पास पड़ोस के देश कुछ भयभीत अवश्य हुए। अतएव जरूरी था कि भारत छोटे राष्ट्रों के मन म भय की बजाय विश्वास पदा करे। चीन की भूमिका के सम्ब ध म बोलत हुए चाऊ-एन लाई ने कहा था कि उनका देश एक महाशक्ति की भूमिका अदा करना नही चाहता। वह छोटे राष्ट्रो का विश्वास प्राप्त करना चाहता है। चीन से भी अधिक भारत के लिए यह जरूरी था कि वह एशियाई देशो का विश्वास प्राप्त करे।

भारत की आतरिक राजनीति पर प्रभाव—भारत पाकिस्तान युद्ध के समय यह पहला मौका था जब देश की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों ने अपने सभी मतभेदों को भुला दिया था तथा बगला देश की आजादी का सवाल एक राष्ट्रीय सवाल बन गया था जिसने कि सभी पार्टियो के तारो का एक दूसरे से जोड़ दिया था। मार्च के बाद से ही लगभग सभी पार्टियाँ बगला देश के प्रश्न को लेकर उद्विग्न थीं। बगला देश की आजादी का प्रश्न भारतीय जनता और भारतीय परम्परा के सवश्रेष्ठ अशों का प्रतीक बन गया था। बगला देश भारतीय ससद के लिए भी एक अग्नि परीक्षा था। यदि भारतीय ससद और भारत सरकार ने बगला देश के मुक्ति आन्दोलन का समथन न किया होता तो वह भारत के उदात्त परम्पराओं के साथ सबसे बड़ा विश्वासघात होता।

युद्ध ने भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय नेतृत्व प्रदान किया। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने युद्ध प्रयत्नो को जिस तरह सगठित किया उसम एक अपूव राजनतिक मेधा का पता चलता है। राष्ट्रपति ने उन्हे भारत रत्न की उपाधि देकर उनको उचित मा यता दी। 1962 मे चीनी युद्ध के दौरान लगभग सभी पार्टियाँ श्री नेहरू की आलोचना कर रही थी। इस युद्ध के ठीक नौ वष के बाद ससद के सेन्ट्रल हॉल में सभी पार्टियाँ श्रीमती गाँधी का अभिनन्दन कर रही थीं। इस

युद्ध के पहले तक श्रीमती गांधी एक पार्टी की नेता थी लेकिन युद्धोपरात उन्होंने स्वयं को समूचे राष्ट्र के नेता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। 14 दिसम्बर की शाम के समारोह को देखकर ऐसा लग रहा था जैसे शताब्दियों बाद भारत का एक ऐसा नेता मिला जो कि उसे एक महान राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए दृढ़ संकल्प था।

युद्ध के कुछ ही दिनों के बाद भारत के राज्यों की विधान सभाओं के लिए चुनाव हुआ। केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी को इसमें अप्रत्याशित सफलता मिली। यह चुनाव ऐसी परिस्थितियों में हुआ जिसमें सत्तारूढ़ दल ने अनैतिक लाभ उठाने का पूरा प्रयास किया और फायदा भी उठाया। उसने पाकिस्तान की पराजय से पूरा लाभ उठाया और इसका सारा श्रेय स्वयं ने लिया यद्यपि सम्पूर्ण देश ने संगठित होकर पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध जीता था। सत्तारूढ़ दल ने इन चुनावों में मुजीबुरहमान के व्यक्तित्व से लाभ उठाया जो सर्वथा अनुचित था।

पाकिस्तान में संकट—भारत के साथ चौदह दिनों के युद्ध में बुरी तरह हारने के बाद पाकिस्तान में सैनिक शासकों के विरुद्ध रोष की लहर व्याप्त हो गयी और देश एक घोर संकट में फंस गया। जनता ने याहिया से इस्तीफा की माग की जुलूस निकाले और उपद्रव किये। याह्या पर मुकदमा चलाने की बात की गयी। उन पर सबसे बड़ा आरोप यह था कि उन्होंने भारत के साथ इस तरह युद्ध किया कि पाकिस्तान को हार का सामना करना पड़ा। ऐसी हालत में याह्या को पदत्याग करके हट जाना पड़ा तथा उनकी जगह पर पिपुल्स पार्टी के नेता जुलफिकार अली भुट्टो राष्ट्रपति और मार्शल ला प्रशासक नियुक्त किये गये।

भुट्टो को विरासत के रूप में एक खोखली अर्थ-व्यवस्था दिवालिया राष्ट्र और हौसलापस्त फौज मिली। देश में घोर आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। बलुचिस्तान और सिन्ध की जनता पिछले कई वर्षों से शिकायत कर रही थी। युद्ध में पराजय के बाद उनका विरोध और मुखर तथा व्यापक हो गया। पाकिस्तानी सेना के 93 हजार जवान और अफसरों को युद्ध जीतने के बाद भारत ने बन्दी बना लिया था। नये शासन का जल्दी से जल्दी मुक्त कराने की विकट समस्या थी। इस प्रकार सत्ता सम्हालते ही भुट्टो के सामने कई विकराल समस्याएं थी जिनके समाधान के लिए पाकिस्तान में उथल-पुथल शुरू हो गयी और पाकिस्तान का संकट बहुत गहरा हो गया। पाकिस्तान की विदेश-नीति पूरी तरह हतप्रभ हो गया। विभक्त जनमत विभक्त मन स्थिति और विभक्त नेतृत्व वाला पाकिस्तान नियति के चक्र में बुरी तरह फंस गया। युद्ध ने बोस्निया स्वतंत्र पाकिस्तान की सृष्टि या पाकिस्तान को और विभक्त कर दिया। पराजय ने पाकिस्तान के लिए सभी दरवाजों को बन्द कर दिया।

युद्धोपरान्त पाकिस्तान

पाकिस्तान में संकट—भारत के साथ चौदह दिनों के युद्ध में बुरी तरह मुंह की खाने से उत्पन्न रोष की लहर ने पाकिस्तान के सैनिक शासकों को उनके तख्त से हिला दिया तथा देश को संकट में डाल दिया। दलीय नेताओं और नागरिकों ने अपना भ्रम दूर हो जाने के बाद याह्या के इस्तीफे की माग की ओर एक

कानून तथा मार्शल ला की पाबन्दियों का खुलमखुल्ला उल्लंघन करते हुए जुलूस निकाले और उपद्रव किये। प्रदर्शनकारियों ने तोड़ फोड़ की आग लगायी तथा देश में आर्थिक संकट भी उत्पन्न हो गया। जनता ने याह्या खाँ विरोधी नारे लगाये और उन पर मुकदमा चलाने की बात की जाने लगी। भूतपूर्व एयर मार्शल असगर खाँ ने यह माँग की कि याह्या और उनके युद्ध जनरलों पर खुली अदालत में मुकदमा चलाया जाय क्योंकि उन्होंने विधान को भंग कर भारत के साथ इस तरह युद्ध किया कि पाकिस्तान को हार का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार याह्या की सत्ता के पराभव के आसार युद्ध विराम की घोषणा के तुरंत बाद ही नजर आने लगे। 19 दिसम्बर को इस्लामाबाद से यह घोषणा की गयी कि राष्ट्रपति याह्या खाँ जनता के प्रतिनिधियों को सत्ता सौंपने के बाद अपना इस्तीफा दे देंगे। पाकिस्तान पिपुल्स पार्टी के नेता जुल्फिकार अली भुट्टो जो न्यूयार्क में थे तत्काल स्वदेश बुलाया गया और 20 दिसम्बर 1971 को राष्ट्रपति तथा सैनिक शासन प्रशासक बना दिया गया। कहा गया कि भुट्टो पाकिस्तान की मौजूदा पार्टियों में सबसे बड़ी पार्टी के नेता हैं। इसलिए उन्हें सत्ता सौंपना लोकतंत्र को मान्यता देना है। पर यह गलत तर्क था। भुट्टो को पश्चिमी पाकिस्तान में उस समय बहुमत मिला था जबकि बंगला देश नहीं बना था और युद्ध में पाकिस्तान की पराजय नहीं हुई थी। यदि बदली हुई स्थिति में नये सिरे से चुनाव होता तो उन्हें बहुमत नहीं मिलता।

जो भी हो भुट्टो को एक टूटा हुआ पाकिस्तान मिला और टूटे हुए राष्ट्र की अपनी समस्याएं होती हैं। युद्ध में पराजित होते ही पाकिस्तान के भीतर परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। बंगला देश की घटनाएं तो एक शुरुआत था। इसका प्रभाव पाकिस्तान के अन्य हिस्सों पर भी पड़ा। पाकिस्तान के पंजाबी नेतृत्व के विरुद्ध बलुचिस्तान और सिन्ध की जनता पिछले बीस वर्षों से लगातार अपना विरोध और असंतोष व्यक्त कर रही थी। युद्ध में पराजय के बाद यह विरोध और मुखर तथा व्यापक हो गया। मार्शल लॉ हटाने देश के लिए संविधान बनाने तथा प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारों के गठन के लिए समूचे पाकिस्तान में आन्दोलन ने भयंकर रूप धारण कर लिया।

राष्ट्रपति के रूप में भुट्टो ने बहुत सारे वादे किये। बंगलादेश को पुनः पाकिस्तान का अंग बनाने से लेकर सड़क तक के आदमी को सुखहाल बनाने उसे नागरिक अधिकार देने और देश को गिरावट से उठाकर स्वावलम्बी तथा शक्तिशाली बनाने तक की बहुत सी बातें कहीं। उन्होंने सैनिक कमांडरों की मरम्मत की उद्योगपतियों के निन्दा की और पुलिस पर इल्जाम लगाए। बाद में पराजय के लिये जिम्मेवार कमाण्डरों को सेवामुक्त किया और उद्योगपतियों के पासपत्र जब्त करने के आदेश दिये। सैनिक गवर्नरों को हटाकर चार प्रान्तों में सैनिक गवर्नरों की नियुक्ति की। पाकिस्तान की पराजय और उसके लिए जिम्मेदार सेनाधिकारियों के खिलाफ जाँच आयोग का गठन किया गया। एक अन्य आदेश में ... ... की गयी। इसके अतिरिक्त भुट्टो ने उन बाईस परिवारों के पासपत्र भी रद्द कर दिये जिनके पास कुल मिलाकर पाँच अरब रुपये की पूँजी थी। भुट्टो ने कड़े शब्दों में एलान किया कि उन परिवारों के खिलाफ कदम उठाये जायेंगे जो देश से पैसा बाहर

भेजेंगे। उन्होंने माग की कि जिस धनराशि को व विदेशों म रखे हुए हैं उन्हें व एक निश्चित अवधि तक वापस ले आवें। भुट्टो ने यह भी धमकी दी कि अगर औद्योगिक और कृषि उत्पादन में सुधार नहीं हुआ तो व उनका राष्ट्रीयकरण कर देंगे। पाकिस्तान म पिछले कई वर्षों स अभिव्यक्ति के अधिकार पर प्रतिबन्ध था। भुट्टो ने सत्ता म आते ही इस तरह के प्रतिबन्ध को काफी हद तक हटा दिया। पाकिस्तान को भ्रष्टाचार स मुक्त करने के उद्देश्य स 1200 सरकारी अधिकारियों को अनिवार्यत अवकाश प्राप्त कराया गया।

लेकिन नय राष्ट्रपति को एक ही साथ अनेक समस्याओं न घेर लिया। नेशनल आवामी पार्टी मुस्लिम लीग आदि पार्टियों न एक स्वर म यह माग शुरू कर दी कि पाकिस्तान स मार्शल लॉ हटाया जाय राष्ट्रीय असम्बली का अधिवेशन बुलाया जाय अन्तरिम संविधान लागू किया जाय तथा पख्तूनों और बलूच को स्वतन्त्रता देते हुए लोकतन्त्र की बहाली किया जाय। इन पार्टियों न राष्ट्रपति को खुली चुनौती दी कि बलूचिस्तान और सीमान्त प्रदेश में तुरत प्रतिनिधि शासन कायम किया जाय। नेशनल आवामी पार्टी के नेता खान अब्दुल वली खाँ ने तो खुलकर कह दिया कि यदि भुट्टो असेम्बलियों का अधिवेशन नहीं बुलाते तो वह खुद बलूचिस्तान और पख्तूनिस्तान की असेम्बलियों का अधिवेशन बुलाने सम्बन्धी आदेश जारी करेंगे। वली खाँ न बांग्ला देश को मान्यता देने की भी सलाह दी। इस तरह अन्दरूनी तौर पर परेशानी काफी बढ़ी हुई थी।

सत्ता म आते ही भुट्टो को औद्योगिक दंगों तथा विद्यार्थी आन्दोलनों का भी सामना करना पड़ा। पश्चिमी सीमान्त की पुलिस न भी हड़ताल कर दी।

इसके अतिरिक्त सबसे प्रमुख समस्या युद्धोपरान्त भारत स शान्ति सन्धि की बात था। भारत न पश्चिमी पाकिस्तान के बहुत बड़े इलाके को जीतकर उस पर आधिपत्य कायम कर लिया था। इन इलाकों के नागरिक माग चले गये। इन शरणार्थियों के पुनर्वास की व्यवस्था करनी थी तथा भारतीय आधिपत्यस पाकिस्तानी इलाका को छुड़ाना था। लगभग 93 हजार युद्धबन्दी भारत में कैद थे। उनकी वापसी एक ऐसी विकट समस्या थी जिसे यथाशीघ्र सुलझाये बिना राष्ट्रपति भुट्टो न तो पाकिस्तानी जनता के आक्रोश को शान्त कर सकते थे और न अपनी साख ही जमा सकते थे। लेकिन युद्धबन्दियों का मामला बड़ा ही उलझा हुआ था। बंगला देश की सरकार ने कहा था कि जनसंहार हत्याओं के लिए जिम्मेवार पाकिस्तानी सैनिकों के विरुद्ध कानूनी कारवाई की जायगी। इस सम्बन्ध म बंगला देश के साथ सहयोग करने के लिए भारत सरकार वचनबद्ध थी।

एक अन्य समस्या बंगला देश के तथाकथित बिहारी मुसलमानों स सम्बद्ध थी। पूर्व पाकिस्तान के गैर बंगाली नागरिकों न पाकिस्तान के अधिकारियों के साथ सहयोग किया था। बंगला देश की स्थापना के बाद बंगाली नागरिकों न उनसे बदला लेना शुरू किया और कुछ दंगे फसाद हुए। ऐसे भी बंगला देश म उनका टिका रहना कठिन था। पाकिस्तान के समक्ष समस्या यह थी कि लाखों की संख्या म इन पाकिस्तानी नागरिकों का क्या किया जाय। एक सुझाव यह भी था कि इन्हें पाकिस्तान बुलाकर वहीं बसा दिया जाय अथवा पाकिस्तान में रह रहे बंगाली आबादी के साथ उनकी अदला बदली कर ली जाय। लेकिन यह समाधान भी कठिनाइयों स भरा पड़ा था।

बंगला देश के प्रति दृष्टिकोण—राष्ट्रपति भुट्टो के लिए बंगला देश की

वास्तविकता को स्वीकार करना भी एक कठिन काम था। राष्ट्रपति का पद सम्हालते ही श्री भुट्टो ने कहा था पूर्व बंगाल पाकिस्तान का एक अंग है हम उसे हर तरह की सहायता देंगे। हम वहाँ के नेताओं से बातचीत करने को तैयार हैं बशर्ते कि भारतीय सेना वहाँ से हट जाय। उसी रात उन्होंने यह भी बताया कि शेख मुजीबुर्रहमान को जेल से हटाकर एक मकान में लाया गया है। भुट्टो मुजीब से इस बीच दो बार मिले और इस बात का जोरदार प्रयास किया कि किसी भी शर्त पर शेख पूर्व बंगाल को पाकिस्तान में ही बनाये रखें।

8 जनवरी को शेख मुजीब को रिहा कर दिया गया। भुट्टो ने कहा कि शेख को इसलिए छोड़ा जा रहा है कि वह भारतीय सैनिकों को पूर्व बंगाल से हटाकर और सारी स्थिति को अपने हाथ में लें। लेकिन 10 जनवरी को दिल्ली में शेख ने घोषित कर दिया कि पाकिस्तान के साथ बंगला देश का सम्बन्ध हमेशा हमेशा के लिए समाप्त हो चुका है। इस बात को उन्होंने अपने बाद के कई अन्य भाषणों में दुहराया। लेकिन इसके बावजूद श्री भुट्टो को यह आशा थी कि शेख मुजीब से उनके बेहतर सम्बन्ध हो सकते हैं। उन्होंने कहा कि चाहें तो शेख पूरे पाकिस्तान के राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री बन सकते हैं। पाकिस्तान की एकता के लिए रास्ते में नहीं आयेंगे। उन्होंने पुरानी बातों को भूल जाने की अपील की। लेकिन इसका कोई असर नहीं हुआ।

भुट्टो को शेख के आचरण से निश्चय ही बड़ा दुःख हुआ होगा। उन्होंने संसार के राष्ट्रों को चेतावनी दी कि वे बंगला देश को राजनयिक मान्यता देने में जल्दबाजी न करें। लेकिन उनकी इस अपील का भी कोई परिणाम नहीं निकला। प्रारम्भ में पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों ने बंगला देश को मान्यता दी। इस पर भुट्टो ने उनके साथ अपना कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। जब राष्ट्रमण्डल के कुछ राष्ट्रों ने बंगला देश को मान्यता प्रदान की तो पाकिस्तान राष्ट्रमण्डल से भी अलग हो गया। लेकिन मान्यता देनेवाले सभी राष्ट्रों के साथ राजनयिक सम्बन्ध तोड़ने का अभियान राष्ट्रपति भुट्टो बरकरार नहीं रख सके क्योंकि मान्यता उन्हें जल्दी मिलने लगी और पाकिस्तान सभी देशों के साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता था।

विदेश नीति—युद्ध के बाद विदेश नीति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति भुट्टो की जो घोषणाएं हुईं उनमें सर्वप्रथम उन्होंने संयुक्त राज्य अमरिका, जनवादी चीन तथा कुछ अरब राज्यों के प्रति पाकिस्तान की कृतज्ञता का ज्ञापन किया जिनसे युद्ध के समय थोड़ी बहुत मौखिक या वास्तविक सहायता मिली थी। अमरिका के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि उसके साथ पाकिस्तान का पहले जैसा ही मधुर सम्बन्ध बना रहेगा। फरवरी 1972 के प्रारम्भ में राष्ट्रपति ने चीन की यात्रा की और चीनी नेताओं से आर्थिक एवं सैनिक सहायता का आश्वासन प्राप्त किया। इसी बीच सोवियत संघ से भी उन्होंने सम्बन्ध सुधारने का यत्न किया। पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस तथ्य को भली भाँति जानते थे कि सोवियत संघ के अलावे कोई ऐसी ताकत नहीं है जो भारत और बंगला देश से कोई बात मनवा सके। इसीलिए उन्होंने बंगला देश को मान्यता देने पर भी सोवियत संघ से सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया। 17 मार्च को राष्ट्रपति भुट्टो सोवियत संघ गये और सोवियत नेताओं से उपमहाद्वीप की स्थिति पर विचार विमर्श किया। इस वार्ता के दौरान सोवियत प्रधान मन्त्री श्री कोसिजिन ने भारतीय उपमहाद्वीप की समस्या का परस्पर बातचीत द्वारा सीधा समाधान ढूंढने पर बल दिया। कोसिजिन ने यह भी सलाह दी कि वे उपमहाद्वीप की समस्याओं को सुलझाने में

यथार्थ दृष्टिकोण अपनायें। सोवियत प्रधान मंत्री ने यह भी कहा कि—संघर्ष के बदले शांति एवं सहयोग की नीति पर चलने के सिवा स्थिति सुधारने का कोई दूसरा न्यायसंगत रास्ता नहीं है। श्री भुट्टो ने अपने उत्तर में कहा कि वह महान् उम्मीदें लेकर आये हैं और समझते हैं कि वे समस्याएं हल हो सकेंगी जो उपमहाद्वीप के लोगों को विरासत में मिली हैं तथा जिससे आगे शांति का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। उन्होंने कहा कि पाकिस्तान के लोग सोवियत देश के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं। उन्होंने सोवियत नेताओं को यह भी आश्वासन दिया कि पाकिस्तान भारत के खिलाफ शत्रुतापूर्ण प्रचार बन्द कर देगा।

भारत के साथ सम्बन्ध—युद्ध के पहले और युद्ध के समय भुट्टो ने कई बार कहा था कि पाकिस्तान भारत के साथ हजार वर्ष तक युद्ध करता रहेगा लेकिन युद्ध में अपमानजनक पराजय के बाद जब भुट्टो ने राष्ट्रपति का पद सम्हाला तो उन्होंने एक समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाया। भारत के सम्बन्ध में बोलते हुए कई अवसरों पर उन्होंने कहा कि पाकिस्तान एक गरीब देश है। उसे अपने पड़ोसियों के साथ सहअस्तित्व के आधार पर रहने की सबक सीखनी चाहिए। उन्होंने बाद में फिर कहा कि भारत के विरुद्ध पुनः युद्ध की तैयारी में जुटकर पाकिस्तान सिवा पराजय के और कुछ हासिल नहीं कर सकता। भारत के साथ सहयोग करके ही पाकिस्तान अपनी विकट समस्याओं से छुटकारा पा सकता है।

इसके बाद भारतीय पत्रकारों से भी भुट्टो ने मुलाकात की। भारत के कुछ चुने हुए पत्रकारों को पाकिस्तान जाना वह भी ऐसे समय में जबकि दोनों देशों के दौत्य सम्बन्ध टूट चुके थे सुखद आश्चर्य था। 15 मार्च 1972 को टाइम्स आफ इंडिया और स्टेटसमन के प्रतिनिधियों से बातें करते हुए राष्ट्रपति भुट्टो ने कहा कि वे भारतीय प्रधान मन्त्री से यथासम्भव शीघ्र मिलने के लिए उत्सुक हैं। वह भारत और पाकिस्तान की समस्याओं को बातचीत से हल करना चाहते हैं। कश्मीर पर भारत के साथ पाकिस्तान के मौलिक झगड़े के बारे में उन्होंने कुछ नये विचार रखे। उनका कहना था कि कश्मीरियों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिलाना पाकिस्तान का काम नहीं है। इस अधिकार के लिए लड़ना कश्मीरियों का अपना काम है। श्री भुट्टो का विचार यह था कि जैसे क्रान्ति का निर्यात नहीं किया जा सकता वैसे ही आत्मनिर्णय के बुनियादी संघर्ष की प्रेरणा बाहर से नहीं दी जा सकती। भारत और पाकिस्तान 1947 से अब तक चार युद्ध कर चुके हैं लेकिन सैनिक या परराष्ट्र स्तर पर इस समस्या का समाधान करने में विफल रहा है और भारत भी कोई सन्तोषजनक राजनीतिक हल नहीं निकाल सका।

राष्ट्रपति भुट्टो के इन विचारों से ऐसा प्रतीत हुआ कि वह कश्मीर से पाकिस्तान की दृष्टि हटाने की तैयारी कर रहे हैं और वह यह भी मान गए हैं कि उपमहाद्वीप के शक्ति सन्तुलन में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है।

भारतीय पत्रकारों से बातचीत करते हुए राष्ट्रपति भुट्टो ने पाकिस्तानी युद्धबन्दियों के सवाल को भी उठाया। इस प्रश्न पर वे बड़े ही अधीर थे। उन्होंने कहा कि मानवता सदन में पाकिस्तान के लिए सबसे महत्वपूर्ण समस्या युद्धबन्दियों की वापसी है। युद्धबन्दियों को सामने करके मानना स्पष्ट रूप से विरुद्ध था। उन्होंने कहा कि भारत का यह कथन कि युद्धबन्दियों की रिहाई में बंगला देश से विचार विमर्श करना अनिवार्य है गलत है। बंगला देश में जो कुछ हुआ वह केवल मुक्तिवाहिनी द्वारा नहीं हुआ। भारत स्वयं इस पर कोई फैसला ले सकता है। लेकिन यदि

अपने पाकिस्तान को दबाने के लिए बंदियों का इस्तेमाल किया तो मेरे पास केवल दो विकल्प होंगे या तो मैं मान जाऊं और कश्मीर में अथवा अन्य जो भी रेखा आप खींचना चाहें भले ही वह लाहौर से अथवा इससे भी पश्चिम से गुजरती हो उसे स्वीकार कर लूं अथवा मैं अपनी जनता को बता दूं कि युद्ध के अलावा कोई विकल्प नहीं।

इसके तुरन्त बाद श्री भुट्टो सोवियत संघ गये। तीन दिनों की सोवियत संघ की यात्रा के दौरान भारतीय उपमहाद्वीप में शान्तिपूर्ण वातावरण बनाये रखने विद्वेषपूर्ण प्रचार पर नियन्त्रण करने और बिना शर्त भारत और बंगला देश से सम्बन्ध बनाने की प्रबल इच्छा प्रकट करने के बाद स्वदेश लौटते ही राष्ट्रपति भुट्टो ने एक सार्वजनिक सभा में पुनः भारत के विरुद्ध कश्मीर को न भुलाने के अलावा और भी कुछ कड़वा बात कहा। वस्तुतः पाकिस्तान से यह उम्मीद करना कि वह कश्मीर में जनमत संग्रह की बात छोड़ देगा व्यर्थ होगी। कारण कश्मीर का मामला द्विराष्ट्र सिद्धान्त का विस्तार है और इस सिद्धान्त का सहारा छूट जाए तो पाकिस्तान का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।

पाकिस्तान के हक में यही बात अच्छी थी कि राष्ट्रपति भुट्टो जनरल याह्या की सैनिक नीति को छोड़कर शान्ति बनाये रखने की नीति का अनुसरण कर अपने देश की जनता की खुशहाली पर सबसे अधिक ध्यान देते। पाकिस्तान के नये राष्ट्रपति के समक्ष अब दो ही विकल्प थे—एक तो यह कि वे भारत के प्रति अपने विस्फोटक रवैये को कायम रखें जोड़-तोड़ द्वारा विदेशों से हथियार प्राप्त करें और लोगों के जीवन-स्तर की चिन्ता किये बिना सारा पैसा हथियारों के खरीदने में लगा दें और भारत से भिड़ जायं। लेकिन इस तरह का रवैया घातक होगा। पाकिस्तान को चाहिए कि वह वास्तविकता से समझौता करे और भारत तथा बंगला देश से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके उपमहाद्वीप में व्याप्त गुरबत और बेरोजगारी जैसे सामान्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे।

लेकिन प्रश्न यह था कि क्या राष्ट्रपति भुट्टो ऐसा करने में समर्थ हो सकेंगे? भुट्टो संसार के उन इने गिने राजनेताओं में से हैं जो सत्ता प्राप्त करने या उसे बनाये रखने के लिए सब कुछ कर सकते हैं। कट्टरता संकीर्णता और कठोरपन के मामले में वे पाकिस्तान के किसी भी जनरल से एक कदम आगे हैं। उनका भारत विरोध पाकिस्तान के किसी भी राजनेता से अधिक है। पाकिस्तान की जनता एकबार यह स्वीकार कर सकती है कि भारत सचमुच ही उसका दुश्मन नहीं है। लेकिन हजार वर्ष तक भारत से लड़ाई लड़ने की धमकी देनेवाले नेता भुट्टो के गले में कभी यह बात नहीं उतर सकती। दरअसल भारत के विरुद्ध जेहाद के अलावा उनके पास कोई नारा है भी नहीं। अतः भुट्टो को पाकिस्तान का प्रशासक बनाना पाकिस्तान की टूटी हुई कमर के लिए और भी बड़ा अभिशाप है। शेख मुजीब के पास आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम थे। पर भुट्टो के पास ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं है। पाकिस्तान की जनता को भारत विरोध की अफीम खिलाकर ही अपनी सत्ता को बनाये रख सकते हैं।

युद्धोपरान्त भारत पाकिस्तान सम्बन्ध

बंगला देश के उदय के बाद भारत पाकिस्तान सम्बन्ध तबतक केवल मात्र द्विपक्षीय नहीं रह सकता था जबतक कि तीनों से जुड़े मामले निपट न जाते। भारत साथ प्रमुख समस्या युद्ध के बाद शान्ति समझौता की थी। इसमें युद्धबन्दियों का

प्रश्न सबसे जटिल था। 92 हजार पाकिस्तानी युद्धबन्दियों की रिहाई के लिए राष्ट्रपति भुट्टो ने मानवता के नाम पर भारत से कई बार अपीलें कीं। उन्होंने कहा कि इस प्रश्न पर भारत को उदारता का प्रदर्शन करना चाहिए। लेकिन भारत में एस लोगों की कमी नहीं थी जो सख्त रवैये के समर्थक थे। उनका कहना था कि ऐसा करना गलत होगा। आज श्री भुट्टो का युद्धबन्दियों तथा खोई हुई भूमि को वापस लेना है तो वे झुककर बातें कर रहे हैं। चार छः वर्ष बाद वे फिर ललकारने लगेंगे।

युद्धबन्दियों की रिहाई का मामला उतना आसान नहीं था जितना भुट्टो समझते थे। पश्चिमी क्षेत्र के बंदियों की रिहाई में तो विशेष कठिनाई नहीं थी लेकिन पूर्वी क्षेत्र के युद्धबन्दियों का मामला उलझा हुआ था। प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी के बंगला देश की यात्रा के दौरान जो संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गयी थी उसमें स्पष्टतया यह उल्लेख किया गया था कि नृशंस हत्याओं के लिए जिम्मेवार पाकिस्तानी सैनिकों के विरुद्ध बंगला देश की सरकार जो कानूनी कार्रवाई करेगी उसमें भारत पूरा सहयोग देगा। इस दृष्टिकोण से युद्धबन्दियों की वापसी बंगला देश की सहमति के बिना नहीं की जा सकती थी।

राष्ट्रपति भुट्टो बार-बार यह कहते थे कि युद्धबन्दियों के प्रश्न को मानवीय दृष्टिकोण से देखा जाय तथा एक व्यापक शांति समझौते के साथ इसको नहीं जोड़ा जाय। उनका अनुरोध था कि युद्धबन्दियों को शीघ्रातिशीघ्र वापस कर दिया जाय। लेकिन भारत सरकार का कहना था कि अन्तिम शांति-समझौता से अलग करके इस प्रश्न को देखा जा सकता है। युद्धबन्दियों की वापसी पूरे शांति समझौते का एक भाग होगा।

शांति समझौता से सम्बन्धित एक दूसरी कठिनाई कश्मीर में युद्धविराम रेखा थी। युद्ध के दौरान भारतीय सेना ने कश्मीर में युद्ध विराम रेखा को पार करके उसके एक बहुत बड़े भूभाग पर कब्जा कर लिया था। भारतीय नेताओं ने कह दिया था कि इस बार ताशकंद समझौते जैसी कोई चीज नहीं होगी। कश्मीर में युद्ध विराम रेखा समाप्त हो गयी है। अंतर्राष्ट्रीय सीमारेखा और युद्धविराम रेखा में अन्तर होता है। युद्धविराम रेखा हर युद्ध के बाद बदल जाती है। कश्मीर में खींची गयी पिछली युद्धविराम रेखा ताशकन्द समझौते का परिणाम था। अब जब कि पाकिस्तान ने उस समझौते का उल्लंघन करके भारत पर आक्रमण कर दिया तो वह युद्धविराम रेखा भी समाप्त हो गयी।

मरी वार्ता—इन सारी कठिनाइयों के बावजूद युद्धोपरान्त शांति-समझौते की प्रक्रिया शुरू करने की बात दोनों देशों में चलने लगी। यह निश्चित हुआ कि भारत और पाकिस्तान के शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन आयोजित हो। सिद्धान्त के रूप में यह बात मान ली गयी और शिखर सम्मेलन की तैयारी के लिए भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों के बीच अप्रैल 1972 में एक उच्चस्तरीय वार्ता मरी में हुई जिसमें निश्चय किया गया कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति और भारत की प्रधान मंत्री दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों की बातों पर विचार विमर्श करने के लिए जून 1972 में मिलें।

शिमला का शिखर सम्मेलन—इस निश्चय के अनुसार 28 जून 1972 को भारत की प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति का शिखर सम्मेलन शिमला में प्रारम्भ हुआ और 3 जुलाई को नाटकीय ढंग से दोनों देशों के बीच एक समझौता हो गया। इस समझौते के महत्वपूर्ण अंश ये हैं—

1 भारत व पाकिस्तान की सरकारों का सकल्प है कि वे दोनों देशों के बीच अब तक चल आ रहे मनमुटाव और विवादों को समाप्त करके पारस्परिक मैत्री पूर्ण सम्बन्ध व उपमहाद्वीप में स्थायी शांति की स्थापना के लिए काम करेंगी ताकि दोनों देश अपने साधनों एवं शक्ति का उपयोग अपनी जनता के हित में कर सकें।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारत व पाकिस्तान की सरकारें इन बातों पर सहमत हैं कि

(क) दोनों देशों का सकल्प है कि वे अपने मतभेदों को द्विपक्षीय वार्ता द्वारा शांतिपूर्ण उपायों से या ऐसे शांतिपूर्ण उपायों से जिनके बारे में दोनों देशों के बीच सहमति हो गयी हो, हल करेंगे। जबतक दोनों देशों की समस्या का अंतिम हल न निकल जाय कोई भी एक पक्ष स्थिति को नहीं बदलेगा और दोनों देश इस बात का प्रयास करेंगे कि ऐसा कोई काम न हो जिससे शांतिपूर्ण सम्बन्धों को क्षति पहुँचे।

(ख) संयुक्तराष्ट्र घोषणा के अनुसार दोनों राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं करेंगे तथा एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण तथा राजनैतिक स्वतंत्रता में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

2 दोनों ही सरकारें अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक दूसरे के प्रति घृणित प्रचार नहीं करेंगी। दोनों राष्ट्र उन सभी समाचारों को प्रोत्साहन देंगे जिनके माध्यम से आपसी सम्बन्धों में सुधार की आशा हो।

3 आपसी सम्बन्धों में सामान्यता लाने की दृष्टि से (क) दोनों राष्ट्रों के बीच डाक तार सेवा तथा जल, थल, वायुमार्गों द्वारा पुनः सचार व्यवस्था स्थापित की जायगी। (ख) एक दूसरे देश के नागरिक और निकट आयें इसलिए नागरिकों को आने जाने की सुविधायें दी जायगी। (ग) जहाँ तक सम्भव हो सके व्यापारिक एवं आर्थिक मामलों में सहयोग का सिलसिला जल्द से जल्द शुरू हो। (घ) विज्ञान एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदान प्रदान बढ़ाया जायगा।

4 स्थायी शांति कायम करने की प्रक्रिया का सिलसिला आरम्भ करने के लिए दोनों सरकारें सहमत हैं कि। (क) भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में लौट जायगी। (ख) दोनों देश बिना एक दूसरे की स्थिति को क्षति पहुँचाये जम्मू कश्मीर में 7 दिसम्बर 1971 को हुए युद्ध विराम के फलस्वरूप नियन्त्रण रेखा को मान्य रखेंगे। (ग) सेनाओं की वापसी इस समझौते के लागू होने के तीस दिन के भीतर पूरी हो जायगी।

5 दोनों देशों की सरकारें इस बात पर सहमत हैं कि उनके राष्ट्राध्यक्षों की भविष्य में फिर भेंट होगी और ऐसे अवसर पर होगी जो दोनों देशों के लिए सुविधा जनक हो। इस बीच दोनों देशों के प्रतिनिधि स्थायी शांति की स्थापना और सम्बन्धों को सामान्य करने के लिए आवश्यक प्रबन्धों के बारे में विचार विमर्श करें। इनमें युद्धबंदियों एवं नागरिकों की वापसी जम्मू-कश्मीर के अंतिम हल व राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न शामिल हैं।

भारत पाकिस्तान युद्ध के लगभग सात माह बाद शिमला में श्रीमती इन्दिरा गांधी और पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो ने यह समझौता करके इस उप महाद्वीप में एक नये युग का सूत्रपात कराया। यदि दोनों देश सही अर्थ में इस समझौते को लागू करेंगे तो उनके सम्बन्धों का इतिहास ही बदल जा सकता है और पचीस वर्षों

तीस दिन में वापस कर लेंगे। इसका अर्थ यह है कि भारत को पाकिस्तानी पंजाब और सिंध के उस क्षेत्र से अपनी सेनाएं हटानी होंगी जिस पर 1971 दिसम्बर के युद्ध में भारतीय सेना ने अधिकार किया था जब कि पाकिस्तान को केवल 69 वर्ग मील के भारतीय क्षेत्र से ही अपनी सेनाएं हटानी होंगी।

समझौते के इस भाग की कुछ क्षेत्रों में आलोचना की गयी और कहा गया कि भारत ने पाकिस्तानी क्षेत्र से अपनी सेनाएं हटाने का समझौता करके कश्मीर पर पाकिस्तान से सौदेबाजी करने का मौका छोड़ रहा है। ऐसा कहनेवाले यह भी कहते हैं कि ऐसी ही गलती भारत ने ताशकंद में की थी।

लेकिन तथ्यों को समझने से ऐसा आरोप गलत सिद्ध हो जाते हैं। पहले तो ताशकंद और शिमला समझौते का सबसे बड़ा फर्क यह है कि ताशकंद समझौते में भारत ने जम्मू कश्मीर के उन भागों से भी सेनाएं हटाने की बात मान ली थी जिन पर हमारे जवानों ने 1965 के युद्ध में कब्जा किया था। शिमला समझौते में स्पष्ट लिखा गया है कि जम्मू कश्मीर में दोनों पक्ष 17 दिसम्बर 1971 को युद्ध विराम के समय की नियंत्रण रेखा का पूरी तरह पालन करेंगे और कोई पक्ष एकतरफा कार्रवाई से बदलने का यत्न नहीं करेगा। इसका अर्थ यह है कि जम्मू कश्मीर में भारतीय सेनाएं एक इंच भी पीछे नहीं हटेंगी और तथाकथित आजाद कश्मीर के 479 वर्गमील उस क्षेत्र पर जमी रहेगी जिस पर 1971 के युद्ध में कब्जा किया गया था।

शिमला सम्मेलन में जिस बात पर समझौता नहीं हो सका वह भी महत्त्वपूर्ण था। वह युद्धबन्दियों की वापसी के मामले से सम्बन्धित था। सभी रिपोर्टों से यह साफ हो गया था कि एक ओर भारत कश्मीर समस्या के स्थायी हल पर जोर दे रहा था तो दूसरी ओर पाकिस्तान का जोर इस बात पर था कि भारत उसके 96 हजार युद्धबन्दी मुक्त करे। श्री भुट्टो तो पाकिस्तान से यह कहकर चले थे कि वे युद्धबन्दियों को रिहा करने के काम को सबसे ज्यादा प्राथमिकता देंगे और ऐसा उन्होंने किया भी होगा लेकिन शिमला समझौते में इस प्रश्न पर केवल एक पंक्ति थी जिसमें कहा गया था कि इन सवालों पर दोनों के प्रतिनिधि आगे बातचीत करेंगे।

युद्धबन्दियों के बारे में भारत का रुख स्पष्ट था। चूंकि युद्धबन्दियों ने भारत और बंगलादेश के संयुक्त कमान के सामने आत्मसमर्पण किया था इसीलिए बंगला देश की राय के बिना उनके बारे में कोई फैसला नहीं हो सकता। इसके लिए यह जरूरी है कि पाकिस्तान बंगलादेश को मान्यता दे। पाकिस्तान के विदेश विभाग के प्रवक्ता ने शिमला समझौते पर हस्ताक्षर के बाद विदेशी संवाददाताओं के समक्ष कहा है कि पाकिस्तान अगस्त में बंगला देश को मान्यता देगा। फिर उसके बाद ही युद्धबन्दियोंपर तीनों देशों के बीच चर्चा हो सकेगी।

कुल मिलाकर प्रथम भारत पाकिस्तान शिखरवार्ता के परिणाम कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं माने जा सकते। यह बात अलग है कि सभी समस्याएं हल नहीं हो पायीं। सम्मेलन के पूर्व किसी पक्ष को यह गलतफहमी नहीं थी कि शिमला में भारत तथा पाकिस्तान के बीच की सभी समस्याओं का समाधान हो जायगा। केवल यही आशा की गयी थी कि शिखर सम्मेलन से दोनों देशों के सम्बन्धों में एक नये युग का सूत्रपात होगा और वही हुआ। समझौते पर टिप्पणी करते हुए एक समीक्षक ने ठीक ही लिखा था "यह समझौता न भारत की विजय था और न पाकिस्तान की। यह दोनों देशों की समझदारी की विजय थी। इस समझौते से सबसे अधिक

चोट विदेशी षड्यन्त्रकारियों तथा साम्राज्यवादी शक्तियों को इस महाद्वीप के देशों को आपस में टकराकर स्वार्थसिद्ध करते रहने से पहुँची है।

भारत में शिमला समझौते की कटु आलोचनाएँ हुईं। कोई इस समझौते को देश के साथ गद्दारी कहता तो कोई इसे सैनिकों के सम्मान के साथ जोड़कर देखना चाहता था। एक आलोचक ने कहा कि पाकिस्तान की जमीन उसे वापस करके भारत सरकार ने युद्ध के मैदान में जो जीता था वह बातचीत की मेज पर खो दिया। मगर मौलिक प्रश्न यह था कि इस उपमहाद्वीप में कैसे स्थायी तौर पर शान्ति स्थापित हो और इन दोनों गरीब मुल्कों को आपसी तनाव की जिन्दगी से अलग अमन चैन का हो सिर। दावे के साथ यह कोई नहीं कह सकता कि भारत की अधिकृत भूमि को वापस करने का फैसला भारत और पाकिस्तान के बीच स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण कदम सिद्ध हो सकता है। लेकिन इसे एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान माना जा सकता है। शिमला शिखर-वार्ता में भारत ने भावी शान्ति के लिए अग्रिम पूँजी लगायी थी। व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उपमहाद्वीप पर शान्ति बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि भारत और पाकिस्तान आपसी मामलों को तय करने के लिए युद्धों का रास्ता छोड़ दें।

शिमला समझौते के बाद—शिमला से लौटते ही राष्ट्रपति भुट्टो ने पाकिस्तान की राष्ट्रीय एसेम्बली की बैठक बुलायी और समझौते की पुष्टि का प्रस्ताव रखा। एसेम्बली में बहस के दौरान सदस्यों ने समझौते के विभिन्न शर्तों पर अपनी अपनी आशंकाएँ प्रकट कीं। अधिकांश सदस्य इस बात से प्रसन्न नहीं थे कि समझौते में पाकिस्तानी युद्धबन्दियों की रिहाई के सम्बन्ध में कोई फैसला नहीं किया गया था। कुछ सदस्यों ने समझौते का स्वागत तो अवश्य किया मगर स्पष्ट रूप से यह भी व्यक्त की कि यदि पाकिस्तान सचेत नहीं रहा तो भारत धोखा दे सकता है।

बहस में भाग लेते हुए राष्ट्रपति भुट्टो ने प्रस्ताव का पूरा समर्थन किया। उन्होंने कहा कि पाकिस्तान ने किसी भी सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया है। अन्त में एसेम्बली ने समझौते की पुष्टि कर दी। 7 अगस्त को पाकिस्तान ने 6770 भारतीय नागरिकों को रिहा करने की घोषणा भी कर दी।

शिमला-समझौते के कार्यान्वयन के लिए अगस्त 1972 के अन्तिम सप्ताह में भारत और पाकिस्तान के अधिकारियों की बैठक शुरू हुई। लेकिन प्रारम्भ से ही वार्ता में कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं। प्रमुख कठिनाई जम्मू-कश्मीर में वास्तविक नियन्त्रण रेखा के निर्धारण के सम्बन्ध में पैदा हुई। भारतीय प्रतिनिधि मण्डल इस बात पर दृढ़ था कि शिमला समझौते के अनुसार पाक क्षेत्रों से भारतीय सेनाओं के पीछे हटने के साथ साथ ही कश्मीर में वास्तविक नियन्त्रण रेखा निर्धारित की जानी चाहिए। बाद में ठाकर चौक गाँव का प्रश्न भी एक विवाद हुआ। बहुत दिनों तक वार्ता चलने के बाद 7 दिसम्बर 1972 को ठाकुरचौक के बारे में समझौता हो गया तथा 11 दिसम्बर को जम्मू-कश्मीर में पुनरेखांकन सम्बन्धी मानचित्रों पर भी हस्ताक्षर हो गए। तब तुरन्त बाद ठाकुरचौक को भारतीय अधिकारियों के हवाले कर दिया गया। भारतीय सेनाएँ पश्चिमी क्षेत्र में सिन्ध और पंजाब में निर्धारित क्षेत्रों से पीछे हट गयीं। जम्मू-कश्मीर में वास्तविक नियन्त्रण रेखा को अन्तिम रूप से अंकित करने के बाद भारतीय तथा पाकिस्तानी सेनाएँ रेखा पर अपने अपने स्थानों पर चली आयीं।

मानवीय समस्याओं पर समझौता—भारत पाकिस्तान और बंगलादेश के मध्य अभी तक मानवीय प्रश्नों का कोई हल नहीं हो सका था जिसके कारण उप महाद्वीप की स्थिति सामान्य नहीं हो रही थी। 18 अप्रैल 1973 को भारत तथा बंगलादेश की ओर से समस्त मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए एक त्रिसूत्री प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि सम्बद्ध देश सभी मानवीय समस्याओं का हल एक साथ करें अर्थात् पाकिस्तानी युद्धबन्दियों की रिहाई पाकिस्तान में बंगालियों एवं बंगलादेश से बिहारी मुसलमानों की वापसी एक साथ हो। लेकिन पाकिस्तान को यह त्रिसूत्री कार्यक्रम पसन्द नहीं आया। वह केवल युद्धबन्दियों पर ही बातचीत करना चाहता था। अतः युद्धबन्दियों के मामले को लेकर उसने हेग स्थित विश्व न्यायालय में फरियाद की और कहा कि दिसम्बर 1948 के जेनेवा समझौते के अधीन नरसंहार के अपराधियों को सजा देने का अधिकार पाकिस्तान को है। अदालत से उसने आग्रह किया कि वह भारत को आदेश दे कि इस सम्बन्ध में वह कोई कार्यवाही नहीं करे।

इसी बीच राजनयिक स्तर पर भी भारत और पाकिस्तान के बीच थोड़ी बहुत वार्ताएं चलती रहीं। 4 जुलाई 1973 को पी० एन० हक्सर के नेतृत्व में एक भारतीय प्रतिनिधि दल बातचीत प्रारम्भ करने के लिए एकाएक रावलपिंडी पहुँचा। इसमें बंगलादेश का कोई प्रतिनिधि नहीं था क्योंकि अभी तक पाकिस्तान ने बंगलादेश को मान्यता नहीं दी थी। इस स्थिति में भारतीय प्रतिनिधि को वास्तव में दो देशों के हितों का प्रतिनिधित्व करना था। अतः भारतीय प्रतिनिधि दल पहले से ही यह मानकर चला था कि पाकिस्तान के साथ जो भी वार्ता हो वह 18 अप्रैल के भारत बंगलादेश के संयुक्त प्रस्ताव को ही आधार मानकर हो। लेकिन पाकिस्तानी अधिकारियों ने इस सम्बन्ध में कोई विशेष उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया। अतः रावलपिंडी वार्ता में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। वार्ता में एक प्रकार से अबंगाली मुसलमानों की वापसी के प्रश्न पर गतिरोध उत्पन्न हो गया। पाकिस्तान का कहना था कि ये लोग बंगलादेश के ही नागरिक हैं और उन्हें वहाँ रहना चाहिए। अतः यह निश्चय करके कि 18 अगस्त 1973 को इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों के बीच दिल्ली में पुनः वार्ता हो रावलपिंडी वार्ता को स्थगित कर दिया गया।

18 अगस्त 1973 को यह वार्ता नयी दिल्ली में प्रारम्भ हुई। नयी दिल्ली में ग्यारह दिनों तक लगातार अनेक स्तरों पर बातचीत करने के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच कुछ महत्वपूर्ण और नाजुक समस्याओं पर समझौता हो गया। इसके अनुसार पाकिस्तान से सभी बंगालियों, बंगलादेश से काफी बड़ी संख्या में पाकिस्तानी नागरिकों तथा भारत से 195 को छोड़कर सभी युद्धबन्दियों की रिहाई हो एक साथ अदला-बदली करने की बात पर दोनों पक्ष राजी हो गये। समझौते में इस बात का संकेत था कि पाकिस्तान शीघ्र ही बंगलादेश को मान्यता देगा तथा शेख मुजीबुर्रहमान और राष्ट्रपति भुट्टो के बीच प्रत्यक्ष बातचीत होगी। समझौते की धारा तीन में कहा गया था कि बंगलादेश में बचे रहे पाकिस्तानी नागरिकों के भविष्य के बारे में फैसला करने के लिए बंगलादेश और पाकिस्तान के प्रधान मन्त्रियों या उनके प्रतिनिधियों की बातचीत होगी। बंगलादेश ने स्पष्ट कर दिया कि वह ऐसी बैठक में बराबरी के आधार पर ही भाग लेगा। समझौते के अन्तर्गत बंगलादेश ने यह मान लिया कि प्रत्यावर्तन के समय 195 पाकिस्तानी युद्धबन्दियों पर मुकदमा नहीं चलाया जायगा और इस अवधि में वे भारत में ही रहेंगे। बा

सन् 195 पाकिस्तानी युद्धबन्दियों के बारे में फैसला करने के लिए बंगलादेश, भारत और पाकिस्तान की त्रिपक्षीय बातचीत होगी।

इस समझौते के अनुसार तीनों देश प्रत्यावर्तन के काम में ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सहायता ले सकते थे जो मानवीय भलाई का काम करते थे। स्विट्जरलैंड की सरकार के प्रतिनिधियों और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रतिनिधियों को पाकिस्तान स्थित बंगालियों और बंगलादेश स्थित पाकिस्तानियों से मिलने की पूरी छूट दी गयी। यह भी तय हुआ कि पाकिस्तान और बंगलादेश की सरकारें इन प्रतिनिधियों को उनके काम में पूरी सहायता करेंगी। समझौते में इस बात की भी व्यवस्था की गयी कि अदला-बदली किए जाने वाले लोगों के साथ मानवीय व्यवहार किया जाय। प्रत्यावर्तन के कार्यक्रम तय हो जाने पर भारत और पाकिस्तान अपना अपना नाम करने की तिथि निश्चित करेंगे और फिर जल्दी काम शुरू कर दिया जायगा। समझौते में यह आशा भी व्यक्त की गयी थी कि प्रत्यावर्तन का काम पूरा होने से दोनों देशों की बातचीत के लिए अच्छा वातावरण बनेगा जिससे महाद्वीप में समझौते की भावना को प्रोत्साहन मिलेगा।

समझौते पर हस्ताक्षर करने के पहले भारत और पाकिस्तानी प्रतिनिधि दलों के बीच चार सौ घण्टे की बातचीत हुई। कई दृष्टियों से इस समझौते को पूर्ण नहीं माना जा सकता फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसने तनाव के एक दौर को इसने समाप्त कर दिया। भारत ने लगभग सभी पाकिस्तानी युद्धबन्दियों को मुक्त करने का जो फैसला किया उससे भारत को अनेक लाभ हुए। समझौते के द्वारा भारत ने ऐसी समस्या का हल निकालने में सफलता प्राप्त की जो उसके लिए महीनों से परेशानी का कारण बना हुआ था। पाकिस्तान युद्धबन्दियों के मामले को भारत की कमजोरी से भुनाना चाहता था। इससे भारत पर अनावश्यक आर्थिक बोझ पड़ रहा था तथा युद्धबन्दियों को लेकर पाकिस्तान भारत के विरुद्ध निरन्तर प्रचार कर रहा था। पर इस समझौते से भारत ने अपने को एक ऐसे मामले से मुक्त कर लिया जो भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश तीनों के बीच लटका हुआ था।

युद्धबन्दियों की मुक्ति के बदले बंगलादेश को पाकिस्तान में फँसे हुए बंगालियों को वापस प्राप्त करने का मौका मिला। चूँकि समझौते में पाकिस्तान ने सभी बंगालियों को वापस करने की बात मान ली, इसलिए स्पष्ट था कि पाकिस्तान ने उन्हीं बंगालियों पर मुकदमा चलाने का इरादा छोड़ दिया था। बंगलादेश के लिए यह एक महान विजय था। मुजीबुर्रहमान की सरकार के लिए राजनीतिक रूप से बंगालियों की वापसी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया था।

इस समझौते में किसका पलड़ा भारी रहा, यह सोचना ही गलत है। जब मार्च में भारत-बंगलादेश संयुक्त घोषणा पत्र जारी किया गया था तो बंगलादेश की मान्यता न मिल जाने तक पाकिस्तानी युद्धबन्दियों को न छोड़ने के आग्रह को छोड़ दिया गया था। इसमें कोई पाकिस्तान का पलड़ा भारी देख सकता था, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह मानवीयता के आधार पर किया गया था। अगस्त 1973 के समझौते में फायदा घाटा का हिसाब लगाना गलत होगा। वह एक ऐसा समझौता था जो लेन-देन के आधार पर हुआ था। इसमें एक दूसरे ने समझदारी और दूरदर्शिता से काम लिया और इस बात की कोशिश की कि एक दूसरे की बातें इस सीमा तक मान लें जिससे किसी को कोई विशेष नुकसान नहीं हो। इस सम्बन्ध में दो रायें नहीं हो सकतीं कि इस समझौते पर पहुँचने में सब

पक्षों ने त्याग और सहिष्णुता से काम लिया। पाकिस्तान चाहता था कि युद्धाप राधियों समेत सभी युद्धबन्दी छोड़ दिए जायं। बंगलादेश इसके लिए राजी नहीं था। वह चाहता था कि जिन बंगालियों का युद्धापराधियों के रूप में मुकदमा चलाने के लिए रोक लिया गया था उनके सहित सबको पाकिस्तान से वापस भेज दिया जाय पर इधर से युद्धापराधियों को न छोड़ा जाय। पाकिस्तान इससे सहमत नहीं था। वह बंगालियों को बंधक बनाये रखना चाहता था। इसी प्रकार जो ढाई लाख बंगाली बंगलादेश में थे उन सबको पाकिस्तान वापस लेना नहीं चाहता था और बंगलादेश का आग्रह था कि वे सब वापस जायं। लेकिन बाद में दोनों ने अपने अपने आग्रह छोड़ दिये और समझौते में सहयोग दिया। पाकिस्तान यह मान गया कि पाकिस्तान स्थित सब बंगालियों को वापस भेज दिया जायगा और यह किसी को बंधक नहीं रखेगा। उसने यह स्वीकार कर लिया कि युद्धापराधियों के प्रश्न पर बाद में फैसला होगा। उधर बंगलादेश ने अपने यहाँ के सब पाकिस्ता नियों को तुरंत वापस लिए जाने की बात छोड़ दी। उसके लिए समानता का आधार स्वीकार किया गया और शेष का फैसला भावी वार्ता पर छोड़ दिया गया। कुछ लोगों को यह सौदा अच्छा नहीं लगा लेकिन जो हालत थी उसमें इससे अच्छा सौदा नहीं हो सकता था। इसका सबसे बड़ा लाभ यह था कि पाकिस्तान को यदि युद्धापराधियों के प्रश्न को सुलझाने के लिए बंगलादेश को मान्यता देनी पड़ेगी। यह प्रश्न दोनों के बीच प्रत्यक्ष वार्ता से ही सुलझ सकता था और यदि तब तक नहीं हो सकती थी जब तक बंगलादेश को मान्यता न मिल जाती। बंगलादेश में बचे पाकिस्तानियों के प्रश्न को भी समझौते के अनुसार किसी अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय संस्था की सहायता से पाकिस्तान को सुलझाना था। यदि यह न सुलझता तो उसकी गरदन पकड़ने के लिए युद्धापराधी तो हाथ में थे ही।

फरवरी 1974 में पाकिस्तानी नगर लाहौर में इस्लामी राज्यों का शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ। बंगलादेश को इसमें शामिल करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि पाकिस्तान बंगलादेश को राजनयिक मान्यता प्रदान कर दे। कुछ अन्य मुस्लिम राज्यों ने पाकिस्तान को इसके लिए राजी करा लिया और 22 फरवरी 1974 को पाकिस्तान ने बंगलादेश को एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य के रूप में मान्यता दे दी। 23 फरवरी को शेख मुजीबुरहमान अपने अन्य सहयोगियों के साथ इस्लामी सम्मेलन में भाग लेने के लिए लाहौर पहुँचे जहाँ पाकिस्तानी अधिकारियों ने उनका स्वागत सत्कार किया। भारतीय उपमहाद्वीप में शान्ति और सहयोग तथा बंगलादेश तथा पाकिस्तान के बीच सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से यह बड़ा ही महत्वपूर्ण कदम था। इस मान्यता के फलस्वरूप शिमला और दिल्ली समझौते को पूरी तरह लागू करने का मार्ग प्रशस्त हो गया। इन समझौतों के बाद भी तीन देशों के बीच अभी कई समस्याएं थीं जिनका समाधान होना आवश्यक था। पाकिस्तान द्वारा बंगलादेश को मान्यता दिये जाने के फलस्वरूप इन समस्याओं के समाधान का मार्ग भी प्रशस्त हो गया।

अप्रैल 1974 का समझौता—भारत, बंगलादेश और पाकिस्तान के बीच नयी दिल्ली में 5 अप्रैल 1974 को एक त्रिपक्षीय वार्ता प्रारम्भ हुई और 9 अप्रैल को एक समझौता हो गया। समझौते के अनुसार बंगलादेश ने उन 195 पाकिस्तानी युद्धापराधियों का मुकदमा करने का फैसला किया जिनपर कई आरोपों के आधार पर मुकदमा चलाया जानेवाला था। पाकिस्तान ने स्वीकार किया कि बंगलादेश में

को पुन अस्वीकार कर दिया। भारत के परमाणु परीक्षण पर पाकिस्तान की बौखलाहट को अप्रत्याशित नहीं माना जा सकता। दोनों देशों के सम्बन्धों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में पाकिस्तान का सशंकित होना स्वाभाविक था।

सितम्बर 1974 का समझौता :—भारत के परमाणविक परीक्षण से भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में जो तनाव आया उसका प्रभाव कुछ और राजनीतिक क्षेत्रों पर भी पड़ा। 1965 के भारत पाकिस्तान युद्ध में दोनों देशों के बीच चिट्ठी पत्री आवागमन आदि में व्यवधान पड़ गया। यह व्यवधान समाप्त भी नहीं हुआ था कि बंगलादेश का संकट आ पहुँचा और 1970 के घटनाक्रम ने रही-सही कड़ी भी तोड़ दी। शिमला समझौते के बाद भी इन सम्बन्धों के सुधार के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका। लेकिन दोनों देश इन मुद्दों पर समझौता करने के लिए यत्न करते रहे। अन्त इन प्रश्नों पर एक समझौता करने के उद्देश्य से सितम्बर 1974 में दोनों देशों के प्रतिनिधि इस्लामाबाद में मिले जहाँ दोनों के मध्य तीन समझौता पर हस्ताक्षर हो गये। इन समझौता के अनुसार दोनों देशों के बीच डाक, तार संचार और यात्रा सुविधाएं तत्काल जारी करने का निर्णय किया गया। व्यापारिक उड़ानों के सम्बन्ध में भी वार्ताएं हुई लेकिन इस पर कोई निर्णय नहीं हो सका।

इस्लामाबाद में हुए ये समझौते काफी महत्वपूर्ण हैं और इनमें शिमला समझौते के उद्दाम भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। यह विश्वास किया जा सकता है कि इन समझौतों से दोनों देशों में शान्तिप्रिय प्रवृत्तियों को बल मिलेगा।

अध्याय 11

भारत और बंगला देश

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि —1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम भारत के पड़ोस में बंगलादेश का अभ्युदय था। जब पूर्व बंगाल में पाकिस्तानी शासन के विरुद्ध विद्रोह हुआ तब भारत ने स्वतन्त्रता सेनानियों को अपनी पूरी सहानुभूति दी। पाकिस्तान के सैनिक तानाशाही ने जब इस विद्रोह का क्रूर दमन शुरू किया तो भारत ने इसका बड़ा तगड़ा विरोध किया। भारत का कहना था कि पाकिस्तान को अवामी लीग के चुने हुए प्रतिनिधियों के साथ राजनीतिक समझौता कर लेना चाहिए। लेकिन पाकिस्तानी शासकों पर भारत के सुझाव का कोई असर नहीं पड़ा और वे भारत पर आरोप लगाते रहे कि वह पाकिस्तान के आंतरिक मामले में दखल दे रहा है। बाद में पाकिस्तान ने पूर्व बंगाल में जो नर संहार किया उससे त्रस्त होकर लाखों लाख की संख्या में पूर्वी बंगाल से लोग भारत भाग आये। भारत ने न केवल इन शरणार्थियों को शरण दी और उनके भोजन तथा आवास की व्यवस्था की वरन बंगला देश की मुक्तिवाहिनी के जवानों को प्रशिक्षण और हथियार भी दिए एवं आजादी प्राप्त करने के लिए उनका उत्साह भी बढ़ाया। मार्च 1971 में ही बंगला देश की एक अस्थायी सरकार बन गयी थी और भारत सरकार पर दबाव डाला जा रहा था कि वह इस सरकार को मान्यता प्रदान कर दे। लेकिन भारत को भय था कि यदि उसने बंगला देश को मान्यता दे दी तो पाकिस्तान से युद्ध छिड़ जायगा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण भी भारत सरकार मान्यता के प्रश्न को टालती रही।

लेकिन इस बीच भारत सरकार ने बंगला देश में हो रहे भीषण नर संहार को रोकने के लिए कई प्रयास किए। भारत के वरिष्ठ नेताओं को विदेश भेजा गया ताकि वे उन देशों के नेताओं को बंगला देश में घट रही घटनाओं से अवगत करा सकें। इसी बीच विस्थापितों के निरंतर प्रवाह से भारत के समक्ष एक कठिन परिस्थिति पैदा हो गयी। कोई भी शरणार्थी पूर्वी बंगाल लौटने को तैयार नहीं था। अतएव भारत ने यह कहा कि पूर्वी बंगाल की स्थिति में सुधार का एक ही उपाय है कि पाकिस्तान के शासक अवामी लीग के नेताओं से राजनीतिक समझौता कर लें। भारत हमेशा इस बात पर डटा रहा।

बंगला देश की समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के लिए स्वयं भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कई पश्चिमी देशों की यात्रा की। लेकिन उनकी यात्रा का कोई परिणाम नहीं निकला और बंगला देश के प्रश्न को लेकर भारत तथा पाकिस्तान के बीच युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। 3 दिसम्बर 1971 को यह युद्ध प्रारम्भ भी हो गया।

बंगलादेश को मान्यता—युद्ध छिड़ने के कुछ दिन पहले भारत सरकार को बंगला देश के विदेश मंत्री का एक पत्र मिला जिसमें उन्होंने अनुरोध किया था कि भारत तत्काल बंगला देश को मान्यता दे। इस अनुरोध पर विचार हुआ और 6 दिसम्बर को भारत ने बंगला देश को मान्यता दे दी। मान्यता प्राप्ति के उपरान्त

बंगला देश की सरकार ने हुसेन अली को भारत में अपना पहला राजदूत नियुक्त किया। 8 दिसम्बर को अपना परिचयपत्र पेश करते हुए हुसेन अली ने भारत के प्रति अपना आभार व्यक्त किया और यह आशा व्यक्त की कि दोनों देशों की मैत्री निरन्तर दृढ़ होगी।

भारत बंगला देश की पहली संधि —10 दिसम्बर को भारत सरकार और बंगलादेश की सरकार के बीच एक संधि हुई। भारत के प्रधान मन्त्री तथा बंगलादेश के कार्यवाहक राष्ट्रपति नजरुल इस्लाम ने इस संधि पर हस्ताक्षर किया। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समझौता था। इसके अनुसार बंगला देश को पूरी तरह पश्चिमी पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहों के कब्जे से आजाद कराने के लिए भारतीय सेना तथा बंगला देश की मुक्तिवाहिनी का संयुक्त कमान बनाया गया और इस संयुक्त कमान का प्रधान एक भारतीय सेनापति नियुक्त किया गया। समझौते में यह तय हुआ कि दोनों सरकार मिलकर बंगला देश में सामान्य स्थिति लायेंगी तथा सारे बंगला देश में जल्द एक नागरिक प्रशासन स्थापित करेंगी। इस समझौते से बंगला देश में भारतीय सेना के उत्तरदायित्व को भी निश्चित किया गया। यह कहा गया कि ज्योंही बंगलादेश में स्थिति सामान्य होगी भारतीय सैनिक लौट जायगे। शरणार्थियों के वापस लौटने के सम्बन्ध में इस समझौते में व्यवस्था कर दी गयी थी। दोनों देशों की विदेश नीति के सम्बन्ध में कहा गया कि उनका आधार गुटनिरपेक्षता की नीति तथा पंचशील के सिद्धांत होंगे। भारत ने बंगला देश की प्रादेशिक अखंडता की जिम्मेवारी भी ली। पुनर्निर्माण कार्य के लिए भारत ने एक सौ करोड़ रुपये मदद के रूप में देने का वादा किया।

मुजीब की रिहाई में भारत का योगदान—बंगलादेश की आजादी के लिए भारत और पाकिस्तान में जो युद्ध छिड़ा और उसमें पाकिस्तान की जो अपमानजनक पराजय हुई वह भारतीय सेना और मुक्तिवाहिनी के संयुक्त प्रयासों का परिणाम था। युद्ध में पाकिस्तान के हारते ही बंगलादेश की सरकार ढाका में प्रतिष्ठित हो गयी।

अवामी लीग के नेता शेख मुजीबुर्रहमान को 25 मार्च 1971 को ही पाकिस्तानी शासकों ने कैद कर लिया था और उन्हें पूर्वी बंगाल से हटाकर पश्चिमी पाकिस्तान के एक जेल में रख छोड़ा था। स्वतन्त्र बंगला देश की स्थापना के बाद भारत के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण समस्या शेख मुजीब को कैद से मुक्त कराना था। इसके लिए भारत ने ही प्रयास करना था। भारत सरकार ने अन्य विदेशी सरकारों से अनुरोध किया कि वह पाकिस्तानी सरकार पर दबाव डाले जिससे शेख मुजीब को रिहाई मिल जाय। पाकिस्तान सरकार को अंतर्राष्ट्रीय जनमत के समक्ष झुकना पड़ा और 8 जनवरी को शेख कैद से रिहा कर दिये गये।

शेख मुजीब का भारत आगमन—10 जनवरी को शेख मुजीबुर्रहमान लगभग नौ महीने तक पाकिस्तान जेल की यातनाओं को भुगतने के बाद मुक्त होकर दिल्ली आये। दिल्ली में उनका भारतीय जनता और सरकार द्वारा शानदार स्वागत हुआ। इस अवसर पर बोलते हुए शेख मुजीब ने कहा कि बंगला देश की जनता भारत की जनता को आभार प्रकट करती है। भारत ने बंगलादेश की जनता की स्वाधीनता और मर्यादा की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया है। शेख ने फिर कहा कि भारत ने बंगला देश के लिए जो कुछ किया है उसके प्रति वे नतमस्तक है।

भारत-बंगला देश के बीच दूसरी संधि—शेख मुजीबुर्रहमान के ढाका पहुँचने पर बंगला देश की सरकार का पुनर्गठन किया गया और उन्हें प्रधान मंत्री का पद दिया गया। बंगला देश की इस नयी सरकार के समक्ष अनेकानेक समस्याएं और कठिनाइयाँ थीं। भारत में लगभग एक करोड़ विस्थापितों को वापस लाकर बसाना था। सरकार का संगठन बिल्कुल छिन्न भिन्न हो चुका था। उसको चुस्त दुरुस्त करना था। युद्ध के कारण बंगला देश की संचार-व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गयी थी। इसको ठीक करना था। बेरोजगारी की समस्या भी विकराल हो गयी थी। अतएव आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्यक्रम चलाना था। इसके अतिरिक्त कानून और व्यवस्था की समस्या भी थी। मुक्तिवाहिनी के लोगों के पास अस्त्र शस्त्र थे और बदले की भावना से प्रेरित होकर वे गैर बंगाली पाकिस्तानी मुसलमानों के प्रति हिंसात्मक रवैया अपनाये हुए थे। देश में खाद्यान्न की भी बड़ी कमी थी। नयी सरकार को इन सारी समस्याओं का सामना एक ही साथ करना था।

इन समस्याओं के समाधान में सबसे महत्त्वपूर्ण पड़ोसी होने के नाते भारत ने भी अपना दायित्व पूरा करने का वचन दिया। बंगला देश के विदेश मंत्री अब्दुस समद आजाद और भारतीय प्रतिनिधियों के बीच नयी दिल्ली में वार्ता हुई और दोनों के बीच एक समझौता पर हस्ताक्षर हुआ। इसके अनुसार भारत ने बंगला देश को पचास करोड़ रुपए के मूल्य का माल और सेवाएं सहायता के रूप में प्रदान करने का वचन दिया। यह भारत की ओर से बंगला देश के पुनर्निर्माण के प्रति छोटा-सा योगदान था।

इसके अतिरिक्त भारत ने पचास लाख पौंड की विदेशी मुद्रा का ऋण भी बंगलादेश को देने का फैसला किया जो पंद्रह किस्तों में वापस किया जायगा मगर पहले पाँच वर्ष में कोई किस्त नहीं ली जायगी।

बंगलादेश की मान्यता—अभी तक बंगलादेश को केवल भारत और भूटान से ही राजनयिक मान्यता मिल पायी थी। शेख मुजीब की रिहाई के बाद यह निश्चित हो गया कि बंगला देश को शीघ्र ही संसार के अधिकतर देशों से मान्यता मिल जायगी। पाकिस्तान और अमरिका की यह चाल अवश्य रही कि बंगलादेश को कोई मान्यता न दे लेकिन वे सफल नहीं हो सके। ढाका में मुजीबुर के आने से माहौल बदल गया और विभिन्न देशों द्वारा मान्यता का रास्ता खुल गया। पूर्वी जर्मनी ने पहले बंगला देश को मान्यता दी। उसके बाद पूर्वी यूरोप के देशों ने। फिर नेपाल लो ... बाद में पश्चिमी यूरोप के देशों ने भी बंगला देश को मान्यता दे दी। मलयेशिया और इंडोनेशिया की मान्यता भी बंगला देश को इसी समय मिल गयी। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बंगला देश का प्रवेश हो गया। इस बात में भी बंगला देश को भारत की पूरी सहायता मिली।

जनवरी 1972 में काहिरा में अफ्रेशियाई एकता सम्मेलन हुआ। बंगला देश का एक प्रतिनिधि मण्डल भी इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए काहिरा पहुँचा। लेकिन पाकिस्तान ने इसके भाग लेने का विरोध किया। उसने साफ में कह दिया कि यदि सम्मेलन में बंगला देश के प्रतिनिधि को भाग लेने के लिए बुलाया गया तो पाकिस्तान सम्मेलन का बहिष्कार करेगा। पश्चिम एशिया के कुछ इस्लामी देशों ने पाकिस्तान का समर्थन भी किया। किन्तु इसी दौरान भारत सरकार ने भी बड़ा कड़ा रुख अपनाया। उसने अपना इरादा जाहिर करते हुए साफ-साफ कह दिया कि बंगला देश को बुलाये बिना भारत काहिरा सम्मेलन में

कतई भाग नहीं लगा। सम्मेलन के राजनीतिक सत्र में बोलते हुए भारतीय प्रतिनिधि दल के नेता केशव देव मालवीय ने यह बिल्कुल साफ कह दिया कि भारत किसी भी उस प्रस्ताव को मंजूर नहीं करेगा जो भारतीय उपमहाद्वीप में की गयी वास्तविकता से आंख मूंद कर लिखा गया होगा। भारतीय प्रतिनिधि दल अपने प्रयास में सफल रहा और आखिरा सम्मेलन ने इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि बगला देश के साढ़े सात करोड़ लोगों को इस बात का पूरा हक है कि वे अपनी मर्जी के अनुसार अपने अधिकारों और भाग्य का फैसला करें। बाद में बगला देश को सम्मेलन का स्थायी सदस्य बना दिया गया।

मुजीब का कलकत्ता आगमन — 6 फरवरी 1971 को बगलादेश के प्रधान मंत्री के रूप में भारत सरकार के निमन्त्रण पर शेख मुजीबुर्रहमान कलकत्ता आये और दो दिन तक भारतीय नेताओं से उनकी वार्ताएं हुईं। दोनों देशों के नेताओं के इस मिलन के अवसर पर भारत और बगला देश के बीच स्थायी मित्रता की आधार शिला रखी गयी। इस बार जो शिखर सम्मेलन हुआ उसमें दोनों देशों के भावी सम्बन्धों की रूपरेखा तैयार की गयी। इस अवसर पर यह आशा व्यक्त की गयी कि भारत और बगला देश के सम्बन्ध स्थायी रूप से एक दूसरे के सहयोग और मित्रता के आधार पर स्थापित होंगे ताकि पूरे एशिया और विशेषकर भारत उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति के द्वारा आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का अवसर प्राप्त हो।

कलकत्ता में श्रीमती इन्दिरा गांधी और शेख मुजीबुरहमान के बीच अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर वार्ताएं हुईं जिसमें बगला देश के शरणार्थी और पाकिस्तानी विनाशलीला से पीड़ित लाखों परिवारों के पुनर्वास की समस्या तथा भविष्य में भारत और बगलादेश के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार विमर्श हुआ। पूर्व घोषित नीति के अनुसार भारत ने वचन दिया कि वह बगला देश के आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। भारत ने बगला देश को एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य माना। इस नीति के अनुसार भारत ने यह घोषित किया कि 25 मार्च से पहले भारत बगला देश से अपनी सारी सेनाएं वापस बुला लेगा। भारतीय नेताओं ने पहले ही घोषणा की थी कि सेनाएं तभी तक बगला देश में रहेंगी जब तक वहां की सरकार इसकी आवश्यकता महसूस करेगी। यह निश्चय स्वागत योग्य था क्योंकि दूसरे की फौज परवशता की प्रतीक मानी जाती है। इसके अतिरिक्त सेनाएं वापस निष्कासन के सिलसिले में बिना किसी निश्चित समझौता होने से उन दलों में जो पाकिस्तान के समर्थक थे उन्हें यह कहने का मौका नहीं रहा कि भारत साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से प्रेरित है।

दोनों देशों के बीच व्यापार के सम्बन्ध में यह निश्चय प्रकट किया गया कि जहां तक हो सके भारत और बगलादेश के बीच सरकारी माध्यम से ही व्यापार हो ताकि दोनों देशों के असामाजिक तत्वों को उनकी मित्रता से नाजायज लाभ उठाने का अवसर नहीं मिले। इन सारे फैसलों को एक संयुक्त घोषणा में रखा गया। संयुक्त वक्तव्य को संयुक्त घोषणा का नाम दिया गया और भारत के विदेश मंत्रालय के एक प्रवक्ता ने स्पष्टीकरण करते हुए बताया कि वक्तव्य में तथ्य औपचारिक होते हैं जबकि घोषणा दोनों देशों के नेताओं के निश्चय को प्रकट करती है।

इन्दिरा गांधी की ढाका-यात्रा।—16 मार्च 197_ को भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी शेख मुजीब के निमंत्रण पर ढाका पहुंचीं जहां अपार

आक्रमण न करने का वचन दिया गया। सधि के आमुख में कहा गया था कि दोनों देशों की मैत्री त्याग तथा रक्तदान पर जोडी गयी है इसी के परिणामस्वरूप स्वतंत्र बगला देश का उदय हुआ है।

दोनों देशों ने सधि के जरिये विश्व शांति तथा सुरक्षा को मजबूत बनाने तथा उपनिवेशवाद रगभेद तथा साम्राज्यवाद के अतिम रूप में उन्मूलन के साथ करने का सकल्प किया। उनका मत था कि अतर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल सहयोग न कि सघर्ष के आधार पर हल किया जाना चाहिए। सधि की धाराओं में व्यवस्था की गयी है कि दोनों में से यदि किसी देश पर भी हमला हुआ तथा हमले की धमकी हुई तो तत्काल आपस में सलाह मशविरा करेंगे जिससे खतरा दूर किया जा सके और उनकी सुरक्षा हो सके। एक दूसरे के विरुद्ध वे किसी अन्य देश को भी मदद नहीं देंगे न एक दूसरे पर हमला करेंगे। इसके अलावा धारा दस के अधीन वे किसी भी एक अथवा अधिक देशों से खुला अथवा गोपनीय ऐसा कोई समझौता नहीं करेंगे अथवा न कोई जिम्मेवारी लेंगे जो इस सधि के विरुद्ध हो।

इस सधि के बारे में उत्पन्न मतभेद आपसी बातचीत के जरिये हल किये जायगे। हस्ताक्षरकारियों ने एक दूसरे के विरुद्ध किसी भी सैनिक सधि में हिस्सा न लेने की भी घोषणा की। वे अपनी भूमि का उपयोग एक दूसरे के विरुद्ध हमले के लिए नहीं करने देंगे।

उन्होंने तटस्थता तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर अपनी आस्था प्रकट की तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और राष्ट्रीय सार्वभौमता व स्वतत्रता को सबल बनाने पर जोर दिया है साथ ही दोनों देशों ने उपनिवेशवाद तथा रगभेद के विरुद्ध सघर्ष को मदद देने की भी घोषणा की। यह तय हुआ कि बडी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर जिनका उनके हितों पर असर पडता है आपस में नियमित तौर पर सम्पर्क रखेंगे हर स्तर पर इसके लिए बातचीत की जाती रहेगी।

सधि की धारा पाच में आर्थिक वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्र में सर्वांगीण सहयोग तथा आपसी व्यापार परिवहन व सचार के काम में सहयोग बढ़ाने की व्यवस्था की गयी है पनबिजली व सिंचाई के विकास में सयुक्त तौर पर काम किया जायगा। अपने ऐतिहासिक सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए कला साहित्य शिक्षा सस्कृति खेल-कूद तथा स्वास्थ्य के काम में सम्बन्ध बढाया जायगा।

सधि का विश्लेषण—एक दूसरे द्वारा आक्रमण का शिकार होने का खतरा भी इस सधि के बाद नहीं रह गया है। दोनों देशों ने सधि की धारणा के अनुसार प्रतिज्ञा की है कि वे एक दूसरे पर हमला नहीं करेंगे और अपनी जमीन पर से कोई ऐसा काम नहीं होने देंगे जो दोनों देशों में किसी का सैनिक हानि पहुचाए अथवा उसकी सुरक्षा के लिए खतरा पैदा करे। इसके अलावा वे इस बात के लिए भी वचनबद्ध हुए हैं कि वे किसी ऐसे सैनिक गठबन्धन में प्रविष्ट या भागीदार नहीं बनेंगे जो दोनों में से किसी एक के खिलाफ हो। किसी एक के खिलाफ सशस्त्र सघर्ष में फसे किसी तीसरे पक्ष को दोनों में से किसी के भी द्वारा कोई सहायता न देने का निश्चय भी किया गया है। इन सब के बाद एक दूसरे की सुरक्षा अथवा अखडता को एक दूसरे से हानि पहुँचने का कोई खतरा नहीं रहता। जहाँ तक किसी तीसरे से सुरक्षा का सवाल है उसके सबध में सधि की धारा 10 में व्यवस्था कर दी गयी है। उसमें साफ लिखा है कि जब भी तीसरे देश से कोई आक्रमण या

उसका खतरा होगा तो वे उसे समाप्त करने के विषय में विचार करेंगे।

भारत ने बांग्लादेश की आजादी में सक्रिय योग दिया है। उसके पुनर्निर्माण के लिए वह सब प्रकार का सहयोग देने को तैयार था। वह जानता था कि उसका निर्माण जिन सिद्धान्तों और आदर्शों के आधार पर हुआ था उन्हें देखते हुए उसकी रक्षा और विकास में सहयोग न केवल एक पड़ोसी के लिए अपितु [illegible] में समस्त क्षेत्र में शान्ति के लिए हितकर होगा। यही कारण है कि जब प्रधान मन्त्री से किसी ने यह सवाल किया कि क्या सन्धि के अनुसार बांग्लादेश पर हमला भारत पर हमला माना जायगा तो उन्होंने उसके जवाब में यही कहा कि हम स्वभावतः बांग्लादेश की सुरक्षा और स्वतन्त्रता में बहुत दिलचस्पी रखते हैं। बांग्लादेश की जो पृष्ठभूमि है और उसकी सुरक्षा में जो भविष्य निहित है उसकी दृष्टि में यह दिलचस्पी। क्यों न हो।

सन्धि से यह भी प्रकट है कि पारस्परिक सहयोग के लिए कोई क्षेत्र उसमें नहीं छोड़ा गया है। न केवल ऐसी विश्व समस्याओं पर समय समय पर पारस्परिक विचार विमर्श की व्यवस्था की गयी है जो दोनों देशों के हितों पर प्रभाव डाल सकते हैं अपितु यह निश्चय भी व्यक्त किया गया है कि उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के हर रूप के समूलोन्मूलन के लिये वे काम करेंगे। इसके अलावा आर्थिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में भी निकट सहयोग का निश्चय किया गया। समानता, पारस्परिक लाभ आदि के आधार पर व्यापार, संचार और यातायात के क्षेत्र में भी पूर्ण सहयोग का विचार सन्धि का अंग है। बाढ़ नियन्त्रण, जल विद्युत तथा सिंचाई के क्षेत्रों में भी ऐसी पारस्परिक व्यवस्था करने का निश्चय किया गया है जिससे पानी से होने वाले विनाश से अधिक-से-अधिक बचा जा सके और उसका अधिकतम उपयोग भी हो सके। इस सन्धि से यह आशा की जा सकती है कि वह एशिया में शान्ति और विकास के लिए सुदृढ़ आधार बन सकेगी।

इस सन्धि में भारत और बांग्लादेश ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि नदी योजनाओं के निर्माण, सिंचाई तथा बिजली के लिए उनका उपयोग तथा बाढ़ नियन्त्रण के लिए दोनों देश संयुक्त रूप से कार्य करेंगे। श्रीमती गांधी की ढाका यात्रा की समाप्ति पर प्रकाशित संयुक्त घोषणा में स्पष्ट किया गया कि दोनों देशों का संयुक्त नदी आयोग नियुक्त किया जायगा।

इससे इस्लामाबाद द्वारा खड़ा किया गया फरक्का-बाँध का झगड़ा समाप्त हो गया और अब बांग्लादेश और भारत पूर्व की सभी नदियों का दोनों देशों की जनता के लाभ में सही उपयोग कर सकेंगे। बांग्लादेश में होकर असम की नदियों के मार्ग खुल जाने से हमारे देश की आन्तरिक परिवहन व्यवस्था को भारी लाभ होगा तथा इसके अलावा बांग्लादेश भी ब्रह्मपुत्र, गंगा तथा अन्य नदियों के पानी का उपयोग हमारी सहायता से कर पायेगा। क्योंकि नदियाँ हमारे क्षेत्र से निकलकर बांग्लादेश जाती हैं [illegible] का सूच। इस तरह से दोनों देशों की जनता का भारी लाभ कर सकेंगे।

पाकिस्तान सरकार ने दोनों देशों के बीच इस सन्धि को सुरक्षा-समझौता और [illegible] एक सन्धि के [illegible] का नाम दिया। किन्तु बाद में कुछ भी कहा जाय यह सन्धि दोनों देशों की आन्तरिक सुरक्षा और इस क्षेत्र में शान्ति की रक्षा के उद्देश्य से की गयी थी। यह न तो किसी एक या दूसरे देशों के विरुद्ध थी और न ही इसका कोई आक्रामक उद्देश्य था। [illegible] कुछ वर्षों में [illegible] देखा गया है जैसा भारत-सोवियत सन्धि है। इसके विरुद्ध में कुछ लोग कुछ भी कहते रहें

बढ़ोत्तरी के साथ दोनों देशों की निकटता भी बढ़ेगी। भारतीय विदेश व्यापारमन्त्री ललितनारायण मिश्र ने समझौते पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि इस समझौते को केवल व्यापार समझौते की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिए। दोनों देशों की सीमा पर रहने वाले ग्रामीणों के लिए यह समझौता बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें सामान्य आर्थिक सम्बन्ध पुख्ता होंगे।

इस प्रकार १९७२ तक भारत तथा बंगला देश के सम्बन्ध घनिष्ठतम होते गये।

शिमला समझौता और बंगला देश—बंगला देश के अभ्युदय ने भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में एक नये तत्व का समावेश कराया। अतः जब शिमला में भारत और पाकिस्तान के शासनाध्यक्षों का शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ तो उसके पहले भारत सरकार ने बंगला देश की सरकार से पूरा विचार विमर्श कर लिया। शेख मुजीबुर्रहमान को शिखर वार्ता में भारतीय स्थिति के संबंध में अवगत कराने के लिए विदेश मन्त्रालय की नीति नियोजन समिति के अध्यक्ष डी० पी० धर को ढाका भेजा गया। वार्ता प्रारम्भ होने से पूर्व भारत सरकार और बंगला देश की सरकारों के बीच सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर विस्तारपूर्वक विचार विनिमय हुआ। इसमें सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न युद्धबंदियों का था। शेख मुजीब ने भारतीय नेताओं को स्पष्ट बता दिया कि पाकिस्तानियों के विरुद्ध अत्याचार के दोषी सैनिकों पर अभियोग चलाने के लिए वे दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। अतएव भारत ने उन्हें आश्वासन दिया कि बंगला देश के नेताओं से परामर्श के बिना वह बंगला देश में पकड़े गये युद्धबंदियों को छोड़ने के सिलसिले में पाकिस्तान से कोई समझौता नहीं करेगा। यह तय कर लिया गया कि इस प्रश्न को हल करने के लिए पाकिस्तान द्वारा बंगला देश को मान्यता देना और भुट्टो तथा मुजीब के बीच प्रत्यक्ष बातचीत आवश्यक होगी। यही कारण है कि शिमला सम्मेलन में युद्धबंदियों की वापसी के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका। राष्ट्रपति भुट्टो पाकिस्तान से यह कहकर शिमला चले थे कि युद्धबंदियों की रिहाई के प्रश्न को वे सर्वोच्च प्राथमिकता देंगे और ऐसा उन्होंने किया भी। लेकिन भारत ने उन्हें स्पष्ट बता दिया कि बंगला देश की राय के बिना उनके बारे में कोई फैसला नहीं हो सकता और इसके लिए यह जरूरी है कि पाकिस्तान बंगला देश को मान्यता दे।

प्रधान मन्त्री शेख मुजीबुर्रहमान ने एक बार फिर यह संकल्प दोहराया कि दोषी युद्धबंदियों पर बंगला देश में ही मुकदमा चलाया जायगा। शिमला शिखर वार्ता पर यह उनकी तात्कालिक प्रतिक्रिया थी। शिमला में श्री अहमद ने शिमला समझौते पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आशा व्यक्त की कि भुट्टो सहयोग और सद्भावना के साथ पुरानी बातों को भूलकर बंगालियों के विरुद्ध घृणा और शत्रुता के वातावरण को समाप्त करेंगे और ममता रहित बंगला देश को मान्यता प्रदान करेंगे। उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक वार्ता में बंगलादेश भी शामिल नहीं हो जाता। इसके लिए पाकिस्तान को पहले बंगला देश को मान्यता देनी होगी। शिमला समझौते पर बंगला देश के नेताओं की इन प्रतिक्रियाओं को भारत का पूरा समर्थन प्राप्त था।

शिमला समझौता पर बंगला देश की आम प्रतिक्रिया भी अनुकूल रही। बंगलादेश के प्रमुख पत्र मार्निंग न्यूज ने टिप्पणी करते हुए लिखा: शिमला समझौते

ने भारत के इस विचार को सही सिद्ध किया है कि दोनों के आपसी झगड़े द्विपक्षीय और किसी बाहरी हस्तक्षेप के बिना निपटाये जा सकते हैं। समझौते को महान् उपलब्धि माना जायेगा।

बंगलादेश और संयुक्त राष्ट्रसंघ—9 अगस्त 1972 को बांग्लादेश ने संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के लिए प्रार्थना पत्र दाखिल किया। 11 अगस्त को सुरक्षा परिषद् की बैठक में चीन के प्रतिनिधि ने बांग्ला देश के प्रवेश का विरोध करते हुए यह आरोप लगाया कि अब भी बंगला देश में भारतीय सेनाएं मौजूद हैं और बंगला देश ने सुरक्षा परिषद् के गत वर्ष के प्रस्तावों को कार्यान्वित नहीं किया। चीन के प्रतिनिधि ने प्रार्थना पत्र को कार्यसूची में शामिल करने का विरोध किया। पाकिस्तान ने अनुरोध किया कि बंगला देश के प्रवेश की प्रार्थना पर तब तक विचार स्थगित रखा जाय जब तक दिसम्बर 1971 में सुरक्षा परिषद् द्वारा पारित प्रस्ताव का वह पालन नहीं करता। उस प्रस्ताव में पाकिस्तानी युद्धबन्दियों की वापसी का सुझाव दिया गया था। लेकिन सोवियत और भारतीय प्रतिनिधियों ने बांग्लादेश के प्रार्थना पत्र का जबरदस्त समर्थन किया। भारतीय प्रतिनिधि ने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि कुछ शक्तियाँ अनावश्यक रूप से मामलात में राजनीति का प्रवेश करा रही हैं। भारत के प्रतिनिधि समरसेन ने कहा कि पाकिस्तान और बंगला देश के बीच समस्याओं को द्विपक्षीय वार्ताओं से हल किया जा सकता है। इस प्रकार की इच्छा स्वयं बंगलादेश के नेताओं ने व्यक्त की है इसलिए इस आधार पर बंगलादेश के प्रवेश को नहीं रोका जा सकता। लेकिन चीन ने वीटो का प्रयोग करके भारतीय प्रयास को एकदम नाकामयाब कर दिया।

भारत बंगला देश सांस्कृतिक समझौता—चीन की इस कार्रवाई के बावजूद भारत और बंगला देश का सहयोग बढ़ता रहा। 30 दिसम्बर 1972 को भारत बंगला देश सांस्कृतिक समझौता इसी बढ़ते हुए सहयोग का परिणाम था। इस समझौते के द्वारा दोनों देशों के बीच संस्कृति, शिक्षा, विज्ञान और तकनीकी क्षेत्रों में सहयोग और सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध घनिष्ठ करने की व्यवस्था की गयी। समझौते के अनुसार दोनों देश विभिन्न संस्थाओं के बीच सहयोग बढ़ाने का प्रयास करेंगे और संस्कृति, शिक्षा, विज्ञान एवं कला के क्षेत्रों में प्रतिनिधिमण्डलों के आदान प्रदान को प्रोत्साहन देंगे। समझौते में यह भी प्रावधान है कि दोनों देश सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और शिक्षण सामग्री, पुस्तकों, पत्रिकाओं, प्रकाशनों आदि का आदान प्रदान करेंगे। दोनों देश इस बात पर भी सहमत हुए कि समझौते के कार्यान्वयन की समय समय पर जाँच के लिए एक संयुक्त आयोग गठित किया जाय।

भारत विरोधी वातावरण—बंगला देश के निवासियों में मतभेद और असन्तोष बढ़कर पृथक हो जाने का एक कारण यह भी था कि पाकिस्तान पश्चिम से विशेषकर अमरीका से सामरिक सन्धियों के जरिये बंधा रहा। उसकी मुख्य मैत्री ईरान और पश्चिम एशिया के देशों से थी। पूर्व के मुस्लिम बहुल देशों मलेशिया और इन्डोनेशिया को नजरअन्दाज किया जा रहा था। पूर्व पाकिस्तान वाले अपने निकट के पड़ोसी दक्षिण पूर्वेशिया के देशों से दोस्ती करना चाहते थे। पर पश्चिम पाकिस्तान द्वारा सञ्चालित विदेश नीति के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। बंगला देश की मुक्ति और स्वाधीनता के बाद यह स्वाभाविक था कि वहाँ के नेता उसके इन पड़ोसियों से सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न करें। इसी उद्देश्य से सितम्बर 1972 में बंगला देश के विदेश मंत्री अब्दुस्समद आजाद ने नेपाल, बर्मा, थाईलैंड, इन्डोनेशिया, मलयेशिया, सिंगापुर आदि देशों का दौरा किया। यात्रा पर रवाना होने के पूर्व विदेश मंत्री ने कहा

मुख्यतः एक मुस्लिम बहुसंख्यक वाला देश है जहाँ मुसलमानों की आबादी सात करोड़ है। इसी हालत में सम्मेलन के आयोजकों ने बंगला देश को भी इस सम्मेलन में शामिल करने का विचार प्रकट किया। लेकिन बंगला देश के प्रधानमंत्री शेख मजीबुर रहमान ने साफ-साफ कह दिया कि जब तक पाकिस्तान बिना शर्त बंगला देश को मान्यता नहीं देता तब तक पाकिस्तान की भूमि पर हो रहे सम्मेलन में उनके भाग लेने का प्रश्न नहीं उठता। इस पर कुछ अन्य मुस्लिम राज्यों ने दबाव दिया और पाकिस्तान को मान्यता देने पर राजी कर लिया। पाकिस्तान द्वारा मान्यता मिलते ही शेख मजीबुर रहमान इस्लामी सम्मेलन में भाग लेने के लिए लाहौर पहुँचे।

मुस्लिम राज्यों के इस्लामी सम्मेलन को भारत ने कभी भी अच्छी निगाह से नहीं देखा। राजनीति के मजहबीकरण की प्रक्रिया का उसने सदैव विरोध किया है। लेकिन इस्लामी सम्मेलन में शेख मजीब के भाग लेने से भारत को कम-से-कम यह विश्वास हो गया कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के प्रतिनिधि होने के नाते कट्टर धार्मिक राजनीति का विरोध करेंगे।

पाकिस्तान द्वारा बंगलादेश को मान्यता प्रदान करने का निर्णय कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। इसके फलस्वरूप पाकिस्तान और बंगलादेश के पारस्परिक सम्बन्ध के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। दोनों देशों के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध सम्पर्क कायम होने से उनकी सामान्य समस्याओं के समाधान में काफी सहूलियत हो गयी। इस दृष्टिकोण से भारत ने इसका हार्दिक स्वागत किया।

अप्रैल 1974 की त्रिपक्षीय वार्ता—बंगलादेश को मान्यता से इस बात के भी आसार नजर आने लगे कि बंगलादेश ने जिन 195 युद्धबन्दियों के खिलाफ अत्याचार नरसंहार तथा अन्य जघन्य कार्यों के लिए मुकदमा चलाने का निर्णय लिया था उसको सम्भवतः टाल दिया जाय। शेख मजीब ने कहा भी था कि इस बात का निर्णय दिल्ली समझौता के सन्दर्भ में पाकिस्तान, भारत और बंगला देश के नेताओं के त्रिपक्षीय वार्ता में लिया जायगा। 5 अप्रैल 1974 को इस त्रिपक्षीय वार्ता के लिए भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश के विदेश मंत्रियों का सम्मेलन नयी दिल्ली में शुरू हुआ। सम्मेलन शुरू होने के पहले भारत और बंगलादेश के अधिकारियों ने विचार विमर्श करके अपनी रणनीति का निर्धारण कर लिया था। चार दिनों की वार्ता के बाद 9 अप्रैल को तीनों देशों के प्रतिनिधियों ने एक समझौता पर हस्ताक्षर कर दिये। समझौता के अनुसार बंगलादेश 195 पाकिस्तानी युद्धापराधियों को मुक्त करने पर राजी हो गया और पाकिस्तान भी बंगलादेश में रह रहे पाकिस्तानी नागरिकों को वापस लेने के लिए राजी हो गया। इस त्रिपक्षीय समझौता से भारतीय उपमहाद्वीप की स्थिति बहुत हद तक सामान्य हो गयी।

भारत बंगलादेश समझौता (मई 1974)— *बंगला देश में 1971 से जिस सद्भावना को हमने बनाने के लिए भारत सदा प्रयत्नशील रहा।* इसी क्रम में भारत ने प्रधानमंत्री शेख मुजीबुर्रहमान को भारत यात्रा के लिए आमंत्रित किया। 12 मई 1974 को शेख मुजीब दिल्ली की राजकीय यात्रा पर शेख मुजीब दिल्ली आये। इस अवसर पर दोनों देशों के बीच कई समझौते हुए। एक महत्वपूर्ण समझौता सीमांकन को लेकर हुआ। भारत और बंगलादेश की सीमाएँ काफी अस्पष्ट थीं। 1947 में जिस तरह विभाजन हुआ था उसके कई स्थानों पर स्थिति यह थी कि मकान का आँगन एक देश में पड़ता था और आँगन भारत में था या आधा हिस्सा बंगला देश में और आधा भारत में। इन तमाम समस्याओं को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी हो गया था कि जहाँ

जमीन का पुनर्सीमांकन किया जाय और स्थानों की अदला-बदली की जाय। इसी आधार पर यह निर्णय लिया गया कि जहाँ इस तरह के क्षेत्र नदी सीमा को अस्पष्ट बना रहे हों या व्यावहारिक दिक्कतें पैदा कर रहे हों वहाँ क्षेत्रों की अदला-बदली कर ली जाय। यह सारा काम तीन किस्तों में पूरा करने का निश्चय किया गया। कुछ काम 1974 के अन्त तक समाप्त हो जायगा, कुछ मई 1975 तक तथा शेष 1975 के अन्त तक। परिवर्तित इलाकों की जनसंख्या को परिवर्तित नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार होगा। इसी समझौते के अन्तर्गत बेरूबाड़ी का मामला भी तय किया गया। बेरूबाड़ी का क्षेत्र भारत में रहेगा और इसके बदले भारत दहाग्राम तथा अंगारकोट क्षेत्र पर बंगला देश का आधिपत्य स्वीकार करेगा। भारत तीनबीघा नामक स्थान के निकट बंगला देश को 178 x 85 मीटर जमीन पट्टे के रूप में देगा। इससे बंगलादेश में दहाग्राम और पटग्राम थाना के बीच का रास्ता खुल जायगा।

सीमा से सम्बन्धित इस समझौते ने एक पीढ़ी से चले आ रहे सीमा विवाद को हल कर दिया। भारत-पाक वैमनस्य तथा उच्चतम न्यायालय में चल रहे मुकदमों के कारण बेरूबाड़ी विवाद पिछले कई वर्षों से अनिश्चित था।

सीमावर्ती समझौते के अतिरिक्त दोनों देशों के मध्य की आर्थिक तथा ऋण सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके अन्तर्गत भारत बंगला देश को 41 करोड़ रुपये का ऋण तथा चार उद्योग बंगला देश में स्थापित करने में सहायता देगा। यह समझौता पन्द्रह वर्ष के लिए हुआ है तथा सूद की दर केवल पाँच प्रतिशत रखा गया है। बंगला देश इस ऋण का उपयोग भारत से माल-सामान का आयात करने में करेगा। बंगला देश भारत से मुख्यतः रेल के डिब्बे, रेल उपकरण, कृषि उपकरण, चाय, जूट और सीमेंट मिलों की मशीनरी खरीदेगा। उत्पादन, व्यापार तथा तकनीकी विकास के लिए मन्त्रिस्तर का एक संयुक्त आर्थिक आयोग बनाया जायगा। बंगलादेश में अखौरा से भारत में अगरतला तक रेल लाइन बनाने के लिए संयुक्त सर्वेक्षण किया जायगा। तस्करी रोकने के लिए उच्चस्तरीय समिति स्थापित की गयी जो समय समय पर तस्करी रोकने के लिए कदम उठायेगी तथा उन्हें लागू करने का फैसला किया करेगी। भारत और बंगला देश के बीच छोटा-मोटा तस्कर व्यापार चल रहा था। इससे दोनों देशों की अर्थ-व्यवस्था को क्षति पहुँच रही थी। दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि तस्कर व्यापार को रोकने के लिए सख्त-से-सख्त कदम उठाया जाना चाहिए।

फरक्का बाँध—लेकिन इस बार भी दोनों देशों के बीच फरक्का बाँध पर कोई समझौता नहीं हो सका। भारत और बंगला देश के बीच गंगा के पानी के इस्तेमाल का सवाल एक [illegible] का प्रतीक बन रहा था। श्रीमती गांधी और शेख मुजीब दोनों ने फरक्का योजना की शुरुआत के पहले गंगा के जल से सम्बन्धित विवाद को हल करने की इच्छा जाहिर की। दोनों का यह कहना था कि जिन दिनों गंगा में पानी कम होता है उन दिनों दोनों देशों द्वारा गंगा के पानी के इस्तेमाल के लिए कोई ऐसा रास्ता निकाला जाना चाहिए जिससे कि किसी के हितों को क्षति न पहुँचे। दोनों नेताओं के इस शिखर-सम्मेलन में इस समस्या पर काफी विचार-विमर्श हुआ लेकिन कोई अन्तिम समझौता नहीं हो सका। लेकिन जब दोनों देशों का संयुक्त घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ तो उसमें यह विश्वास प्रकट किया गया कि मैत्री और सहयोग की भावना से 1974 के अन्त तक इस समस्या का भी समाधान हो जायगा।

मई 1974 के इस समझौत म दोना देशा का सम्ब ध और भी घनिष्ठ हुआ है। फिलहाल बगला देश की सरकार और जनता के मन म भारत को लेकर किसी तरह की शंकाए नही हैं। लेकिन भारत सरकार की यह जिम्मेवारी है कि वह आगे कोई एसा काय न करे जिसम कि बगलादेश की जनता या सरकार के मन में भारत के प्रति किसी तरह का स देह पदा हो। भारत का यह जिम्मेवारी हो जाती है कि वह बगला देश म 1971 म अर्जित सद्भावना को स्थायी बनाने क लिए बराबर प्रयत्नशील रहे और बगला देश की जनता को यह महसूस कराये कि भारत स उस कभी भी किसी तरह की आशका नहीं हो सकती।

अफगानिस्तान के बीच तीन लड़ाइयाँ हुईं। इन लड़ाइयों के परिणामस्वरूप अफगानिस्तान पूरी तरह अंग्रेजों के प्रभुत्व और नियन्त्रण में आ गया।

1921 में अफगानिस्तान को पूर्ण स्वतन्त्र और सम्प्रभुता सम्पन्न देश के रूप में मान्यता मिल गयी। 1924 में अफगानिस्तान के कुछ सामन्तों ने शाह अमीनुल्ला के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। 1929 में नादिरशाह अफगानिस्तान का नया अमीर घोषित हुआ। उसे अधिकांश अफगान प्रदेशों को अपने नियन्त्रण में लाने में सफल हो गया। नादिर शाह की हत्या के उपरान्त उसका पुत्र जहीरशाह अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठा। 1934 में अफगानिस्तान राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर उसका पदार्पण हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध में उसने तटस्थता की नीति का अवलम्बन किया। भारत के विभाजन के बाद उसकी सरहद पाकिस्तान के साथ लग गयी।

अफगानिस्तान के साथ भारत का सम्बन्ध

भारत और अफगानिस्तान के सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन हैं। बल्ख के खण्डहर बामियान में बुद्ध की विशाल मूर्ति का मनिष्क तथा अन्य कुषाण राजाओं के सिक्के, गजनी के उत्कीर्ण प्रस्तर खण्ड, नगराम के तोरण तथा काबुल में बाजार के मध्य और आसामाई की मूर्ति भारत अफगानिस्तान सम्बन्धों के ऐतिहासिक प्रतीक हैं। अफगानिस्तान के प्रबुद्ध वर्ग का एक हिस्सा स्वयं को आर्यवंशीय कहने में गौरव का अनुभव करता है।

1919 में अमानुल्लाह के शासनारूढ़ होने से भारत और अफगानिस्तान के सम्बन्धों में एक नया अध्याय शुरू हुआ। वह एक प्रगतिशील विचार का आदमी था और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में उसकी पूरी सहानुभूति थी। उन दिनों काँग्रेस पर गांधीजी के नेतृत्व की स्थापना होने से ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन ने जड़ पकड़ा। उस समय अमानुल्लाह ने ब्रिटिश वायसराय को लिखा था कि जब तक आप भारतीयों को आजादी नहीं दे देते तथा रौलेट ऐक्ट को खत्म नहीं करते अफगानिस्तान और ब्रिटिश सरकार के बीच सम्बन्ध पूरी तरह ठीक नहीं हो सकते। भारतीय नेताओं की भी अफगानिस्तान के प्रति पूरी सहानुभूति रहती थी। पंडित नेहरू ने अपनी आत्मकथा में अफगानिस्तान के प्रति अपने सहानुभूति विचार व्यक्त किये हैं।

पख्तूनिस्तान की माँग—भारत की स्वतन्त्रता और विभाजन के पश्चात् विदेश-नीति के क्षेत्र में अफगानिस्तान के समक्ष अनेक प्रबल चिह्न खड़े हो गये क्योंकि अंग्रेजों द्वारा छोड़ी गयी पख्तूनिस्तान की समस्या अब तीव्रतर रूप से शुरू हुई। अफगानिस्तान की सरकार ने स्पष्ट रूप से डूरण्ड रेखा की मान्यता तो वापस कर ली पर तु यह माँग की कि डूरण्ड रेखा के आर पार जो बहुसंख्यक पठान रहते हैं उन्हें स्वशासन का अधिकार दिया जाय और उनके लिए पख्तूनिस्तान के नाम से एक अलग राज्य कायम किया जाय। अफगानों को इस बात का दुःख था कि सारा भारत आजाद हो गया लेकिन वे पठान जो भारत के अंग नहीं थे और जिन्होंने भारत की आजादी की लड़ाई में प्रमुख हिस्सा लिया था उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। उनका दुःख तब और बढ़ गया जब पाकिस्तान जैसे इस्लामी राष्ट्र द्वारा भी अंग्रेजों के समान ही नीति चलाने की घोषणा की गयी। अफगानिस्तान के शासकों ने पाया

1953 से 1963 के काल में जब सरदार दाऊद खाँ अफगानिस्तान के प्रधान मन्त्री थे भारत और अफगानिस्तान के सम्बन्धों में काफी घनिष्ठता रही। इसी काल में भारत के साथ अफगानिस्तान का साढ़े तीन करोड़ रुपये का व्यापार समझौता हुआ जो आज चार-पाँच करोड़ तक पहुँच गया है। पुनः इसी काल में पण्डित नेहरू और डा० राधाकृष्णन ने काबुल की तथा बादशाह जहीरशाह ने दिल्ली की यात्रा की।

1963 में सरदार दाऊद खाँ के पतन के पश्चात् भी भारत अफगान मैत्री में कोई अन्तर नहीं आया। अफगान प्रधान मन्त्री मोहम्मद यूसुफ तथा बादशाह जहीरशाह ने भारत की यात्रा की और उपराष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन ने अफगानिस्तान की यात्रा की। अक्टूबर 1966 में अफगान सरकार को भारत सरकार ने सौ पलंग वाले अस्पताल की भेंट दी। इस अस्पताल के निर्माण का कार्य अभी चल रहा है। 4 अक्टूबर 1963 को दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक, तकनीकी तथा वैज्ञानिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। मई 1969 में भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी अफगानिस्तान की पाँच दिवसीय सद्भावना यात्रा पर गयीं। वहाँ उनका अपूर्व स्वागत हुआ। अफगानिस्तान के शाह जहीरशाह ने इस अवसर पर बोलते हुए कहा कि भारत अफगानिस्तान की दोस्ती में केवल निरन्तरता ही नहीं है बल्कि उसमें लगातार वृद्धि हुई है। इन्दिरा गाँधी और अफगान प्रधान मन्त्री नूर अहमद एतमादी के बीच जो औपचारिक वार्ता हुई उसमें यह तय हुआ कि भारत तथा अफगानिस्तान के बीच आर्थिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिए एक संयुक्त आयोग की स्थापना की जाय। स्मरणीय है कि भारत तथा ईरान के बीच हाल में मन्त्री स्तर पर इसी प्रकार के एक आयोग की स्थापना हुई थी। अतएव भारत ने इस सुझाव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह आयोग आर्थिक सहयोग तथा तकनीकी सहायता सम्बन्धी उन सभी बातों पर विचार करेगा जो भारत और अफगानिस्तान के लिए हितकर हो सकता है।

बदली हुई एशियाई राजनय और भारत अफगान सम्बन्ध—एशिया की बदलती हुई राजनयिक परिस्थिति ने अफगानिस्तान को एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान दे दिया है। 1963 में सरदार दाऊद के पतन का एक कारण यह भी था कि वे पाकिस्तान के कट्टर विरोधी थे और पख्तूनिस्तान के प्रश्न पर पाकिस्तान से बुरी तरह उलझ गये थे। इसके परिणामस्वरूप पाकिस्तान और अफगानिस्तान का राजनीतिक सम्बन्ध भी विच्छेद हो गया था। 1963 में डा० यूसुफ के नेतृत्व में नयी सरकार बनी और दोनों देशों के बीच राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हुआ। पाकिस्तान और अफगानिस्तान का सम्बन्ध धीरे धीरे सुधरने लगा और 1966 आते आते यह सम्बन्ध लगभग सामान्य हो गया। पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बढ़ते हुए सम्बन्धों से सामान्य रूप से भारत को कोई हानि नहीं है। लेकिन खतरा केवल एक बात का है कि पाकिस्तान अपने बढ़ते हुए सम्बन्धों का प्रयोग भारत के विरुद्ध न करे। इस स्थिति का सामना करने के लिए भारत के नीति निर्माताओं को तैयार रहना चाहिए।

इसी तरह अफगानिस्तान में चीन का प्रभाव भी प्रचुर मात्रा में बढ़ रहा है। 1966 में चीन ने एक प्रस्ताव रखा था कि वह अफगानिस्तान के उत्तरी प्रान्त बदख्शाँ में एक लम्बी सड़क बनाये जो चीन और अफगानिस्तान के बीच यातायात का उत्तम साधन बन सके। फिलहाल लगभग चार सौ चीनी विशेषज्ञों के रूप में अफगानिस्तान

में व्यय कर रहे हैं। यद्यपि चीन से मदद लेते हुए अफगान सरकार भारी संकोच करती है तथापि चीन अपनी विशिष्ट राजनीति से अपना प्रभाव अपनी आर्थिक सहायता की तुलना में कहीं अधिक बढ़ा लेता है।

चीन के प्रभाव बढ़ने से अफगानिस्तान में सोवियत संघ की रुचि बढ़ी है। सोवियत नेता इस बात के लिए यत्नशील हैं कि अफगानिस्तान में चीन का प्रभाव न बढ़े। इसी सम्बन्ध में सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन ने मई 1969 में अफगानिस्तान की यात्रा की।

इन सभी बातों पर ध्यान रखते हुए भारत को अफगानिस्तान के प्रति अपनी नीति का निर्धारण करना है। सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्षेत्र में सहयोग करके भारत अपने इस पड़ोसी राष्ट्र के साथ अपनी मित्रता बढ़ा सकता है। जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है यह भारत के लिए अवश्य ही कठिन कार्य है क्योंकि अफगानिस्तान को मदद देने के लिए उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं है। अफगान सरकार को भारत अनुदान के रूप में कितनी सहायता दे सकता है यह इस पर निर्भर करता है कि भारत अपने एक अच्छे पड़ोसी मित्र के लिए स्वयं कहाँ तक त्याग करने को तैयार है। वैसे भारत ने अफगानिस्तान को आर्थिक क्षेत्र में काफी सहायता दी है लेकिन सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्षेत्र में इस सहयोग को और अधिक बढ़ाया जा सकता है।

(2) लंका और भारत

लंका भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप के समीप एक छोटा सा देश है। इसके [illegible] की लम्बाई [illegible] मील है और इसका लगभग पचीस हजार वर्ग मील है। सांस्कृतिक आधारों पर भारत के साथ यह द्वीप अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। सामरिक दृष्टि से भारत के लिए इसका इतना महत्व रहा है कि द्वीप के इतिहास पर भारत के घटनाचक्र और इतिहास का गहरा प्रभाव पड़ा है। सामरिक महत्व की जगह होने से भारतीय महाद्वीप पर आक्रमण और अधिकार करने वाली किसी भी महत्वाकांक्षी शक्ति की गृद्ध दृष्टि से यह द्वीप बच नहीं पाया। सोलहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह यूरोपीय उपनिवेशवादी शक्तियों के चंगुल में कराहता रहा। पुर्तगाल तदुपरान्त हालैंड और अन्त में अंग्रेजों ने यहाँ पर अपना अधिकार स्थापित किया। 1947 में ब्रिटेन ने इस द्वीप को स्वतन्त्र कर देने का निश्चय किया और 4 फरवरी 1948 को यहाँ से ब्रिटिश शासन का अन्त हो गया।

भारत विरोधी रुख—स्वतन्त्रता के उपरान्त 1953 में जान कोटलेवाला (John Kotelawala) लंका के प्रधान मन्त्री थे उस समय भारत और लंका के सम्बन्ध को कतई अच्छा या सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता है। (डडले सेनानायक लंका के प्रथम प्रधान मन्त्री थे।) यद्यपि स्वतन्त्र होने के बाद भारत ने अनेक बार यह स्पष्ट कर दिया कि वह लंका की स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता का पूरा सम्मान करता है फिर भी कुछ कारणों से लंका की सरकार भारत के प्रति शंकालु बनी रही। यद्यपि लंका की सरकार किसी सैनिक गुट में शामिल नहीं हुई और सामान्य तटस्थता की नीति का ही अनुसरण करती रही लेकिन उसका झुकाव पूरी तरह पश्चिमी गुट की ओर था और वह साम्यवादी गुट का विरोधी बना रहा। इस नीति के मूल में सम्भवतः भारत का भय काम कर रहा था। इसी कारण लंका की सरकार ने त्रिंकोमाली (Trincomalee) का नौसैनिक अड्डा और कटुनायक (Katu

nayake) का हवाई अड्डा ब्रिटिश नियन्त्रण में रहने देने का निश्चय किया। लंका की संसद् में जब सरकार के इस निर्णय का विरोध हुआ तो जान कोटलेवाला ने इसको उचित ठहराते हुए कहा कि लंका के प्रति भारतीय साम्राज्यवादियों की महत्त्वाकांक्षा को ध्यान में रखते हुए ऐसा करना सर्वथा ठीक है।

उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में दोनों देशों के दृष्टिकोण में महान् अन्तर था और इस प्रश्न पर 1955 के बांडुंग सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू और कोटलेवाला में खुली टक्कर हो गयी। बांडुंग सम्मेलन को बुलाने में लंका ने भारत के साथ सहयोग किया लेकिन जब सम्मेलन शुरू हुआ और उपनिवेशवाद पर वहाँ एक प्रस्ताव रखा गया तो कोटलेवाला ने कहा कि हम पश्चिम के उपनिवेशवाद के साथ-साथ सोवियत संघ के उपनिवेशवाद की भी निन्दा करनी चाहिए। पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों को उन्होंने सोवियत संघ का उपनिवेश कहा और एशिया तथा अफ्रिका में पश्चिम के उपनिवेशों के साथ उनकी तुलना की। इस प्रश्न पर सम्मेलन में एक भारी बवण्डर खड़ा हो गया और हस्तक्षेप करते हुए नेहरू ने कहा कि सम्मेलन में भाग लेनेवालों को यह नहीं भूलना चाहिये कि वे अपने-अपने देशों की सरकारों के प्रतिनिधि हैं। इनमें से बहुतों का सम्बन्ध चेकोस्लोवाकिया पोलैंड आदि देशों से है और वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य भी हैं। संघ उन्हें पूर्ण सम्प्रभतायुक्त राष्ट्र मानता है। इस हालत में उन्हें उपनिवेश कहना उचित नहीं है।

भारत और लंका के बीच मनमुटाव का एक दूसरा कारण पाक जलडमरूमध्य (Palk Strait) में स्थित एक छोटे से टापू को लेकर था। कच्छातीव (Kachcha Tivu) द्वीप के स्वामित्व के लिए भारत और लंका के बीच कुछ मतभेद उत्पन्न हो गया। 1956 में भाषा को लेकर लंका में कुछ उपद्रव हुए। लंका की सरकार ने सिंहली को लंका की एकमात्र राजभाषा घोषित करने का निर्णय किया। पहले तमिल भाषा को भी यह स्थान प्राप्त था। अतः तमिल भाषाभाषी लोगों ने इसका विरोध किया और इसके कारण कुछ उपद्रव भी हुए। लंका के सरकारी क्षेत्रों में ऐसा विश्वास किया जाता था कि इन उपद्रवों के पीछे भारत का भी हाथ है। लेकिन इन सभी समस्याओं से बढ़कर लंका में बसने वाले प्रवासी भारतीयों की नागरिकता की समस्या थी जिसके कारण दोनों देशों का सम्बन्ध खराब होता रहा। इस प्रश्न पर हम बाद में विचार करेंगे।

भारत के प्रति लंका की नीति में परिवर्तन—जिस तेजी के साथ कोटलेवाला लंका को पश्चिमी गुट के साथ आबद्ध किये चले जा रहे थे उसको देखकर प्रगतिवादी विचार के कुछ लंकावासी बड़े चिन्तित थे। अतः जब 1956 में चुनाव हुआ तो कोटलेवाला के दल को पीपुल्स यूनाइटेड फ्रंट ने पराजित कर दिया। इस फ्रंट

1 M S Rajan *India in World Affairs* p 385

कोटलेवाला का यह आरोप सरदार के एम पणिक्कर के भाषण पर आधारित था जिसमें उसने कहा था कि भारत की सुरक्षा के लिए त्रिंकोमाली पर भारतीय प्रभुत्व का कायम होना आवश्यक है या कम से कम वहाँ भारत का नौसैनिक अड्डा होना चाहिए। पणिक्कर एक गैरसरकारी व्यक्ति की हैसियत से बोल रहे थे और इसलिए उनके इस भाषण को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए था। कोटलेवाला के आरोप का खण्डन करते हुए 16 सितम्बर 1954 को नेहरू ने कहा कि हमने कभी किसी भारतीय मुनरो सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया। लंका के प्रधानमन्त्री का विचार भ्रान्तियों पर आधारित है। देखिए वही (एम एस राजन की पुस्तक)।

प्रवासियों को वही अधिकार प्राप्त थे जो लंका के निवासियों को थे। लेकिन 1948 में जब लंका स्वतंत्र हुआ तो वहाँ की सरकार ने यह अनुभव किया कि इतनी बड़ी संख्या में भारतीयों के लंका में रहने (इस समय भारतीयों की संख्या 950 000 थी) के कारण वहाँ के मूल निवासियों को पर्याप्त अवसर सुलभ नहीं हो पायगा। अतः उन्होंने अधिकांश भारतीयों को भारत वापस भेजने का निश्चय किया। लंका की संसद ने तुरंत एक अधिनियम बनाये जिसके आधार पर भारतीय मूल के लोगों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया और उनसे यह कहा गया कि लंका की नागरिकता प्राप्त करने के लिए वे इस बात का सबूत दें कि उनका जन्म लंका में हुआ है अथवा 1939 से वे लंका में निवास कर रहे हैं। लंका की सरकार का ध्येय यह था कि वह ऐसी व्यवस्था करे ताकि कम से कम भारतीयों को वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो और सभी अनागरिकों को लंका से हटाया जा सके। लंका सरकार के इस उद्देश्य के मूल में तीन चार बातें थी

(1) आर्थिक कारण से भारत के तमिल मजदूरों और लंका के सिंहली लोगों के बीच प्रतिस्पर्धा स्वाभाविक रूप से पैदा हो गयी। सिंहली लोग यह चाहने लगे कि प्रवासी भारतीय वापस लौट जाय क्योंकि उनके कारण सिंहली लोगों का रोजगार के अवसर पर वंचित रहना पड़ता है। लंका की सरकार को अपने देश के निवासियों के आर्थिक कल्याण के लिए कुछ करना था।

(2) लंका में रहनेवाले भारतीयों का दृष्टिकोण अत्यन्त संदेहजनक था। वे वर्षों से लंका में रहने के बाद भी स्थानीय नागरिकों के साथ अभी घुलमिल नहीं सके थे। उनकी जड़ें अभी तक भारत में ही बनी हुई थीं। प्रतिवर्ष वे अपने पूर्वजों के भारतीय निवास स्थानों को जाते थे और उनके विवाह संबंध भी भारत में ही होते थे। लंका के लोगों का यह कहना था कि चूँकि लंका के साथ उनका कोई मानसिक अथवा आध्यात्मिक लगाव नहीं है इसलिए उन्हें अपने मूल देश को लौट जाना चाहिए।

(3) लंका के अनुसार प्रवासी भारतीय लंका की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ सिद्ध हो रहे थे। भारतीय मजदूर वहाँ कुछ भी कमाते थे उसे भारत को भेज देते थे अथवा उसे भारत में खर्च करते थे। लंका के विदेशी विनिमय पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता था।

(4) इस समस्या का एक राजनीतिक पहलू भी था। भारतीयों में साम्प्रदायिक बंधन बड़ा दृढ़ था और इस आधार पर वे लंका के चुनाव को बहुत हद तक प्रभावित करते थे। इसी कारण 1949 में एक निर्वाचन कानून पास करके भारतीयों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया।

नेहरू कोटलेवाला समझौता —भारत सरकार ने इस समस्या का हल करने के लिए लंका की सरकार से वार्ता आरम्भ की। जून 1953 में जवाहरलाल नेहरू और डडले सेनानायक ने समस्या पर लंदन में विचार किया किन्तु वार्ता न [illegible] निष्फल। सेनानायक ने भारतीयों के अनिवार्य वापसी (Compulsory repatriation) पर जोर दिया जिसको पंडित नेहरू ने स्वीकार नहीं किया।

जनवरी 1954 में पंडित नेहरू ने सेनानायक के उत्तराधिकारी जॉन कोटेलावाला को समस्या पर बातचीत करने के लिए दिल्ली आमंत्रित किया और इस प्रश्न पर एक समझौता हुआ जिसको नेहरू-कोटेलावाला समझौता कहते हैं। इस समझौते के द्वारा यह निश्चित हुआ कि जो भारतीय लंका की नागरिकता प्राप्त करना

चाहते हैं उनके नाम एक रजिस्टर में दर्ज कर लिए जाएँ और जो अपना भारतीय नागरिकता का प्रमाण देने के लिए तैयार नहीं हैं उन्हें भारत वापस भेज दिया जाय। समझौते में यह कहा गया था कि एक पृथक भारतीय मतदाता [illegible] जायगी जिससे [illegible] नहीं रहा है। [illegible] भारतीयों के [illegible] का [illegible] था [illegible] समझौते में कर लिया गया और [illegible] में भारतीयों के [illegible] पर [illegible] लगा लिया गया।

नेहरू-कोटेलावाला समझौता को सभी पक्षों में मान्य कहा। इसको भारत लंका विवाद का उचित और सम्मानजनक हल माना गया। किन्तु लंका के प्रवासी भारतीयों ने इसका विरोध किया और इसलिए यह समझौता असफल रहा। बाद में प्रधान मन्त्री कोटेलावाला के एक वक्तव्य ने समझौते को पूरी तरह से व्यर्थ बना दिया। समझौते की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि इसका [illegible] एक-एक भारतीय को लंका से निकाला जा सकता है। इसके बाद प्रवासी भारतीय विरोधी कार्यों को तेज किया गया। इसके प्रत्युत्तर में भारत सरकार ने लंका और भारत के बीच आने जाने वालों के लिए वीसा (visa) का लेना अनिवार्य कर दिया।

नेहरू-कोटेलावाला समझौते के अन्तर्गत दिसम्बर 1953 से जनवरी 1955 तक लंका सरकार ने नागरिकता प्राप्त करने के इच्छुक 81 500 व्यक्तियों के प्रार्थना पत्रों में से केवल 7 500 व्यक्तियों के प्रार्थना पत्र स्वीकार किये जबकि इसी काल में भारतीय उच्चायुक्त ने भारत लौटने के इच्छुक 8 000 व्यक्तियों में से 5 600 व्यक्तियों के प्रार्थना पत्र स्वीकार किये। अक्टूबर 1954 में दिल्ली में पुन नेहरू और कोटेलावाला की मुलाकात हुई। इस भेंट में दोनों प्रधान मन्त्री इस बात पर सहमत हो गये (10 अक्टूबर 1954) कि दोनों सरकारों द्वारा राज्यविहीन व्यक्तियों की संख्या कम करने के प्रयत्न किये जाने चाहिए। यह निश्चय हुआ कि लंका सरकार अपनी पंजीकरण (*registration*) प्रक्रिया में शीघ्रता करे और भारत और लंका के नागरिकों का पंजीकरण भी दस वर्ष की अवधि में समाप्त कर दिया जाय। इस सम्बन्ध में *1956 57* में लंका के तत्कालीन प्रधान मन्त्री भण्डारनायके द्वारा भी बातचीत की गई परन्तु समस्या का कोई हल नहीं निकाला जा सका।

1964 का समझौता —यद्यपि लंका में प्रवासी भारतीयों की समस्या का कोई हल नहीं निकला फिर भी इस सम्बन्ध में दोनों ओर से प्रयास जारी रहे। अन्त में 29 अक्टूबर 1964 को प्रधान मन्त्री लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती भण्डारनायके के बीच एक समझौता हो गया। यह समझौता किसी सन्धि के रूप में नहीं बल्कि दोनों प्रधान मन्त्रियों के बीच हुए पत्र-व्यवहार तथा अक्टूबर 1964 में दोनों की भारत में परस्पर वार्ता के पश्चात् संयुक्त विज्ञप्ति में निहित था। समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं

(i) समझौते का मुख्य उद्देश्य यह घोषित किया गया कि लंका में निवास करनेवाले समस्त भारतीय प्रवासी जो अभी तक भारत अथवा लंका किसी के नागरिक नहीं हैं किसी एक देश के नागरिक अवश्य बन जाय।

(ii) इस प्रकार के राज्य विहीन नागरिकों की संख्या उस समय लगभग 9 75 000 आँकी गई। इस सम्बन्ध में यह समझौता हुआ कि इनमें से 3 00 000 व्यक्तियों को उनके परिवारों की स्वाभाविक वृद्धि के साथ लंका सरकार नागरिकता प्रदान कर देगी तथा 5 25 000 व्यक्तियों को उनके परिवारों की स्वाभाविक वृद्धि सहित भारत अपने यहाँ बुलाना स्वीकार करता है। समझौते में शेष 1 50 000

व्यक्तियों के भविष्य का निर्णय एक अलग समझौते पर छोड़ दिया गया।

(iii) भारत को लौटाये जाने वाले व्यक्ति अगले पन्द्रह वर्षों में एक योजना के अनुसार निश्चित संख्या में प्रति वर्ष भारत आते रहेंगे और इसी प्रकार लंका द्वारा भी नागरिकता प्रदान करने का काम पन्द्रह वर्ष में इसी प्रकार की एक आनुपातिक योजना द्वारा पूरा किया जायगा।

(iv) भारत को लौटाये जानेवाले व्यक्तियों को उनके भारत जाने के समय तक लंका की सरकार सभी प्रकार की ऐसी सुविधाएं प्रदान करेगी जो अन्य विदेशी नागरिकों को प्रदान की जाती हैं परन्तु उन्हें विदेशों का धन भेजने की सुविधा नहीं दी जायगी।

(v) भारत को लौटते समय ऐसे व्यक्ति अपने साथ उस समय के नियन्त्रणों के अनुसार अपनी कमाई की पूंजी आदि ले जा सकेंगे जिसकी सीमा चार हजार रुपये से कम किसी हालत में नहीं होगी।

इस समझौते के द्वारा भारत और लंका के बीच भारतीय प्रवासियों की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाला गया किन्तु कतिपय क्षेत्रों में सीमा हो के दर्शा में यह आलोचना का पात्र बना। भारत में कहा गया कि मुठभेड़ तक लंका में निवास करनेवाले सभी व्यक्तियों को लंका द्वारा ही नागरिकता प्रदान की जानी चाहिए थी। भारत द्वारा उन्हें वापस लेना स्वीकार करना अनुचित है। लंका में समझौते की आलोचना इस आधार पर हुई कि इसमें मनुष्यों को एक वस्तु के रूप में मान कर उनका बटवारा सम्पत्ति के बटवारे की तरह किया गया है जिसमें व्यक्तियों की इच्छा का कोई स्थान नहीं है। आलोचकों के अनुसार 1 50 000 व्यक्तियों के भाग्य का निपटारा करना और 8 25 000 व्यक्तियों के भाग्य का निपटारा नहीं करके भी उनका अन्तिम निर्णय पन्द्रह वर्षों के लम्बे समय में करना समझौते का बड़ा भारी दोष है।

कच्छादीव का प्रश्न — मार्च 1968 में कच्छातीव के स्वामित्व का सवाल भारत और लंका के बीच एक विवाद शुरू हो गया। हिन्द महासागर का पाक खाड़ी में स्थित निर्जन कच्छतीव पर भारत और लंका दोनों देशों की सरकारों ने दावा किया। केवल मार्च महीने को छोड़कर पूरे वर्ष यहाँ आदमियों के दर्शन नहीं होते। मार्च के महीने में जब यहाँ मसीही सेंट एंथनी का पर्व मनाया जाता है तब यहाँ भारत और लंका दोनों ही देश से तीर्थयात्री पहुँचते हैं। 1968 के मार्च में इस मेले के अवसर पर लंका की सरकार ने द्वीप में अपनी पुलिस भेज दी। भारत में इस पर विरोध प्रकट किया गया और दोनों देशों की सरकारों के दावे प्रतिदावे आने लगे। हिन्द महासागर के विशाल परिवेश में अपने आकार की हीनता में डूबा सा कच्छादीव एकाएक समाचारपत्रों के प्रथम पृष्ठ का विषय बन गया और भारत तथा लंका के बीच मनमुटाव का एक कारण सिद्ध हुआ।

कच्छादीव का क्षेत्रफल मुश्किल से एक वर्गमील होगा। वह भारत से बाईस किलोमीटर और श्रीलंका से अठारह किलोमीटर दूर है। यहाँ न तो पीने का पानी उपलब्ध है और न ही कोई जानवर देखने को मिलता है। इस रेगिस्तानी द्वीप में वनस्पति के नाम पर छोटे छोटे पौधे होते हैं। आवास के नाम पर टिन की छतवाला सेंट एन्टनी का एक गिरजाघर है जहाँ लगभग एक सौ व्यक्ति टिक सकते हैं। इस छोटे से द्वीप पर पहले पहल विवाद 1921 में हुआ था। वर्तमान काल में दो कारणों से इस द्वीप का महत्व बढ़ गया। यह माना जाता है कि द्वीप के आसपास तेल के काफी

अधिकार है और इस कारण दोनों ही देश द्वीप पर अपना अपना अधिकार जताते थे। दूसरे यह द्वीप एक एसे महत्वपूर्ण स्थान पर स्थित है कि किसी भी विदेशी शक्ति के वहाँ आने पर भारत की सामरिक स्थिति को खतरा पैदा हो सकता था। जिस प्रकार श्रीलंका में चीन का प्रभाव बढ़ता रहा था उससे भारत का सशंकित होना स्वाभाविक था। भारत नहीं चाहता कि कच्छातीव में किसी भी प्रकार से चीनियों या अन्य किसी विदेशी शक्ति का दबदबा बने और बढ़े।

सितम्बर 1968 में लंका के प्रधान मंत्री डडले सेनानायक भारत-यात्रा पर आये। इस अवसर पर कच्छातीव और भारतीय प्रवासियों के प्रश्न पर दोनों पक्षों के बीच पुनः विचार विमर्श हुआ। कच्छातीव की समस्या पर सेनानायक ने कहा कि यह एक पुराना विवाद है जिसको अन्तराष्ट्रीय विधि के नियमों के अनुसार तय किया जा सकता है। वस्तुतः उन्होंने इस बात का संकेत किया कि कच्छातीव का मसला कोई मसला नहीं है बल्कि कुछ भ्रान्तियाँ हैं जिनके कारण विवाद खड़ा हो गया है। अन्त में भारत और लंका दोनों के प्रधान मंत्रियों ने यह राय व्यक्त की कि इस सवाल को सरकारी स्तर पर शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने में कोई मुश्किल नहीं होना चाहिए।

अपनी इस भारत यात्रा के अवसर पर सेनानायक ने प्रवासी भारतीयों के लिए एक रियायत की घोषणा की। उन्होंने बतलाया कि लंका की सरकार ने वहाँ के राज्यहीन भारतीयों की कुछ आर्थिक अड़चनों से मुक्त करने का फैसला किया है। इस फैसले के मुताबिक 1964 के भारत-लंका समझौते के अन्तर्गत जिन भारतीयों को भारत वापस भेजा जाना है उन्हें लगभग 75 000 रुपयों (लंका के मूल्य के) की सम्पत्ति भारत ले जाने की इजाजत रहेगी। 1964 में जो समझौता हुआ था उसके अनुसार पाँच लाख पच्चास हजार राज्यविहीन भारतीयों को भारत वापस भजने का निर्णय लिया गया था। उस समझौते के नियमों के मुताबिक उन व्यक्तियों को अपना सम्पत्ति भारत ले जाने के लिए लंका विदेशी मुद्रा प्राप्ति प्रमाणपत्र हासिल करना होता। अब सेनानायक की घोषणा के फलस्वरूप वे लगभग एक लाख भारतीय रुपये की सम्पत्ति ला सकेंगे। अब तक सम्पत्ति विनिमय की अड़चन के कारण राज्यहीन भारतीयों का विनिमय लगभग रुका हुआ-सा था। अब इसके बाद में इस सिलसिले में जान आयगी और यह आशा की जा सकती है कि पन्द्रह वर्षों में यह विनिमय पूरा हो चुका होगा।

भारत और लंका के सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिए सेनानायक ने कुछ और भी घोषणाएं कीं। उन्होंने कहा कि अगले महीने लंका के कृषकों का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत आयगा और एवज में भारत अपना एक प्रतिनिधिमण्डल लंका भजेगा। भारतीय विशेषज्ञ लंका में नारियल उत्पादन की विधियों का अध्ययन करने के अलावा लंका की फलदार बागों की योजना का अध्ययन करेंगे। सेनानायक ने भारत लंका के व्यापार को पारस्परिक हितों की दृष्टि से संगठित करना आवश्यक बताया। उन्होंने नई दिल्ली में एक प्रेस-सम्मेलन में घोषणा की कि चाय उद्योग के विषय में भारत और लंका एक दूसरे के सहयोग से काम करने का निश्चय कर चुके हैं और उनके संगठित होने से अन्य देश भी चाय के विषय में संगठित होंगे तथा एक बहुत बड़ा बाजार होने में मदद मिलेगी जिसके फलस्वरूप अच्छी-खासी विदेशी मुद्रा कमायी जा सकेगी। स्पष्ट है कि इस प्रकार लंका और भारत के पारस्परिक सम्बन्धों में पर्याप्त सुधार हो रहा है। भारत-लंका समझौते के अन्तर्गत जन्म से नागरिकता विहीन भारतीय भारत

आ चुके हैं। तेरह हजार वापस आने के लिए पंजीकृत हुए हैं तथा ससा हजार के विषय में झगड़ा हो रहा है। साढ़े पाँच हजार भारतीयों को नागरिकता प्रदान कर दी गयी है।

श्रीलंका का चुनाव और भारत से सम्बन्ध--जनवरी 1970 में भारत के राष्ट्रपति वराह गिरि वेंकट गिरि ने पाँच दिनों के लिए लंका की राजकीय यात्रा की। यह यात्रा हर दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रही। अपार जनसमुदाय ने राष्ट्रपति का स्वागत किया। कुछ वर्ष पूर्व श्री गिरि लंका में भारत के प्रथम उच्चायुक्त रहे थे। इस समय उन्होंने भारत और लंका के सम्बन्धों को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

जून 1970 में लंका में आम चुनाव हुआ और श्रीमती सिरिमावो भण्डारनायक के नेतृत्व में वहाँ एक नयी सरकार गठित हुई। उस समय इस बात की आशंका व्यक्त की गयी कि लंका कुछ भारत विरोधी नीति का अवलम्बन करेगा। श्रीमती भण्डारनायक का दल अधिक राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था।

प्रमुख रूप से सिंहली जनता का समर्थन प्राप्त करने के कारण तमिलभाषियों का उसे व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त वर्तमान प्रधानमंत्री साम्यवादी देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती रही है। श्रीमती भण्डारनायक ने भारत चीन संघर्ष के बाद कोलम्बो प्रस्तावों को प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी यद्यपि इन प्रस्तावों से भारत और चीन के बीच कोई विशेष घनिष्ठता पैदा नहीं हुई। फिर भी इस बात की सम्भावना है कि लंका की नयी प्रधानमंत्री भारत चीन के बीच नया सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश करें। मगर इस बात की भी आशंकाएँ हैं कि श्रीमती भण्डारनायक के शासनकाल में लंका चीन के अधिक निकट चला जाय क्योंकि आर्थिक दृष्टि से चीन के आयात निर्यात का बहुत बड़ा केन्द्र लंका है। इसके अतिरिक्त हिन्द महासागर में कुछ छोटे छोटे टापुओं को लेकर भी मतभेद पैदा हो सकता है। चुनाव में भाग लेने वाले एक दल सिंहल महाजन प्रकाश ने अपने चुनाव अभियान का भारत के विरुद्ध प्रचार करने में उपयोग किया।

इन आशंकाओं के बावजूद लंका की नयी सरकार ने आश्वासन दिया कि वह 1964 के समझौते को अक्षरशः क्रियान्वित करेगी। लेकिन आर्थिक दृष्टिकोण से नयी सरकार ने कुछ ऐसे कदम उठाये हैं जिनको भारत विरोधी कदम कहा जा सकता है। सरकार ने पन्द्रह भारतीयों के व्यापारिक आयात लाइसेंस रद्द कर दिये हैं। व्यापार और उद्योग पर भारतीयों के एकाधिकार को समाप्त किया जा रहा है। लंका में भारतीय फिल्म बहुत प्रिय हैं। उनकी लोकप्रियता कम करने के लिए और अपने देश की फिल्मों को अधिक प्रिय बनाने की गरज से मौजूदा सरकार ने निर्यात में पचीस प्रतिशत की कटौती कर दी। भूतपूर्व प्रधानमंत्री डडले सेनानायक के समय में भी भारतीय फिल्मों के आयात पर पन्द्रह प्रतिशत कटौती की गयी थी। इस प्रकार की कटौती का भारतीय फिल्म उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो था। फिल्म फेडरेशन के अध्यक्ष श्री [illegible] ने लंका के मंत्री से इस बारे [illegible] भेंट कर [illegible] पत्र बनाना चाहा तो मंत्री ने उनसे मिलने से इन्कार कर [illegible]। लंका के मन्त्रियों के इस प्रकार के रवैये से यह आशंका पैदा हुई कि भारत और लंका में जो पुरातनी सम्बन्ध थे उन पर [illegible] सकता है।

1971 में आमतौर पर भारत चीन और कहीं [illegible] हुआ। इस अवसर पर चीन ने एक करोड़ साठ लाख रुपए मूल्य का चावल [illegible] इस घटना श्रीलंका को उपहार के तौर पर देने का वादा किया। साथ ही [illegible]

भारत आया। अपनी भारत यात्रा के दौरान श्रीमती भण्डारनायके प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी से मिलीं। मुख्य रूप से उनकी बातचीत दोनों देशों की आर्थिक समस्याओं को लेकर हुई। दोनों देशों के आर्थिक सहयोग के लिए कई योजनाओं पर विचार विमर्श हुए। 1964 में भारत और श्रीलंका में राज्य विहीन नागरिकों के सम्बन्ध में जो समझौता हुआ था उसके अनुसार श्रीलंका में बसे प्रवासी भारतीयों के एक भारी संख्या को पन्द्रह वर्षों के अन्तराल अर्थात 1979 तक भारत आना था। श्रीलंका के अधिकारी इस प्रक्रिया की रफ्तार से सन्तुष्ट नहीं थे। उनके अनुसार देश में जिस बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या पैदा होती जा रही थी उस पर पार पाने का एक मात्र तरीका इन बचे हुए राज्य विहीन नागरिकों की शीघ्र वापसी था। पिछले वर्ष अप्रैल में जब प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी श्रीलंका के दौरे पर गयी थीं तब भी यह प्रश्न उठाया गया था। इस बार जब पुनः यह प्रश्न उठा तो श्रीमती गांधी ने भारत आने वाले लोगों की संख्या में [illegible] प्रतिशत और वृद्धि करने का आश्वासन दिया।

भारत और श्रीलंका के बीच दूसरा मुख्य विवाद कच्चाटीव को लेकर है जिसके सम्बन्ध में दोनों देशों ने निश्चय किया था कि वे शांतिपूर्ण ढंग से इसका समाधान निकालेंगे। जब श्रीमती भण्डारनायके दिल्ली आयीं तो श्रीमती गांधी से इस सम्बन्ध पर भी उनकी वार्ता हुई। लेकिन इस बार भी इस विवाद पर कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सका।

श्रीमती इन्दिरा गांधी और श्रीमती भण्डारनायके के बीच कुछ राजनीतिक मामलों पर भी बातचीत हुई और यह बातचीत मुख्यतः हिन्द महासागर से सम्बन्धित थी जहाँ महाशक्तियों की गतिविधियों में बहुत वृद्धि हुई है। दोनों प्रधानमंत्रियों का विचार था कि हिन्द महासागर को शांति का क्षेत्र बना रहना चाहिए तथा हस्तक्षेप नहीं करनी चाहिए।

श्रीलंका की सरकार के लिए भारतीय मूल के राज्यविहीन नागरिकों की समस्या और कच्छातीव की समस्याओं का सन्तोषजनक हल निकालना निरन्तर आवश्यक होता जा रहा था। देश में मुद्रास्फीति की स्थिति उपभोक्ता वस्तुओं में बढ़ते हुए मूल्य और उनके अभाव में वृद्धि से आर्थिक कठिनाइयों और अशांति का दौर शुरू हो गया। देश का भुगतान सन्तुलन बिगड़ गया इस प्रकार श्रीलंका की भीतरी समस्या दिनों दिन बढ़ती गयी जिस तरह आर्थिक कठिनाइयों के दौर में श्रीलंका की सरकार गुजर रही थी उससे देश में असुरक्षा की स्थिति पैदा हो गयी। यदि श्रीमती भण्डारनायके भारतीय मूल के राज्य विहीन नागरिकों तथा कच्छातीव की समस्या का कोई हल नहीं निकाल लेती तो उनकी स्थिति और भी कठिन हो सकती थी।

कच्छादीव पर समझौता—भारत और श्रीलंका के बीच कच्छातीव एक अच्छा खासा विवाद का विषय बन गयी। इन दोनों पड़ोसी देशों ने शांतिपूर्ण तरीके से इस समस्या का समाधान निश्चय किया। कई वर्षों तक कच्छातीव से सम्बन्धित कागजातों का अध्ययन किया गया। इस अध्ययन से यह पता चला कि यद्यपि रामनद के राजा कच्छातीव के ऊपर अधिकार रखते थे पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि कच्छातीव पर भारत का अधिकार रहा है। डच शासन के जमाने में कच्छातीव को जाफना के समान सीमा क्षेत्र में माना जाता था। 1974 में भारत में ब्रिटिश शासन के प्रतिनिधि ने यह सिफारिश की कि कच्छातीव को सीलोन के सीमा क्षेत्र में मान लिया जाय। पुर्तगाली दस्तावेजों के अनुसार भी कच्छातीव श्रीलंका की समुद्री

हुआ। 1937 में अलग होने के बाद बर्मा पर भारत का मुद्दा था। इस पर कुछ विवाद खड़ा हुआ था लेकिन इस समझौता ने इसका सन्तोषजनक हल निकाल दिया। चावल का सौदा और कर्ज के मसले में समझौता इस बात का सबूत था कि भारत बर्मा के आर्थिक पुनर्निर्माण में रुचि रखता है और चाहता है कि इसका यह छोटा सा पड़ोसी जल्द से जल्द अपना विकास करने में सफल हो।

17 नवम्बर 1955 को भारत और बर्मा के बीच एक और समझौता हुआ। इस समझौते के द्वारा भारत ने बर्मा को चार प्रतिशत ब्याज पर 20 करोड़ रुपये का कर्ज दिया। भारतीय लोकसभा में इस समझौते की आलोचना भी हुई। यह कहा गया कि भारत स्वयं एक गरीब देश है और इतनी बड़ी रकम वह दूसरे को कर्ज क्या दे सकता है। लेकिन भारत सरकार ने कई कारणों से इसे उचित बताया। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत भी भारत और बर्मा के बीच कई बातों पर सहयोग होते रहे।

स्वाधीनता प्राप्त करने के उपरान्त बर्मा को अनेक गम्भीर आन्तरिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। परन्तु सत्ता जिनके हाथ में बर्मा का शासन सूत्र था, में फूट पड़ गयी। एक उनका समर्थन करने लगा और दूसरा उनका विरोध। बर्मा के साम्यवादियों ने जो बाद में चीन में जा रहे थे अपना स्थिति से असन्तुष्ट होकर जगह-जगह हिंसा करना आरम्भ किया। साम्यवादी दल के सरकार विरोधी अभियान में कारेन जनजाति के विद्रोही भी शामिल हो गए। भारत सरकार ने इन उपद्रवों के प्रति पूर्ण तटस्थता की नीति का अवलम्बन किया।

बर्मा की अवस्था तब और भी गम्भीर हो गयी जब लगभग दस हजार कोमिन्तांग सैनिक चीन से भागकर बर्मा में घुस आये और सीमान्त क्षेत्रों में उपद्रव फैलाने लगे। 1953 में बर्मा ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में यह शिकायत की कि उसके देश में कोमिन्तांग की सेना घुस आयी है और बर्मा में तोड़फोड़ का काम कर रही है। अतः उनको तुरन्त निकालने की कार्यवाई की जानी चाहिए। एशिया के और देशों के साथ मिलकर भारतीय प्रतिनिधिमंडल ने साधारण सभा में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें यह माँग की गयी कि इस सेना को बर्मा से हटाने के लिए तत्काल कार्यवाई की जाय। बर्मा में कोमिन्तांग सेना की उपस्थिति के विरोध में भारत ने बर्मा की सरकार का पूरा-पूरा समर्थन किया।

1954 में जब भारत ने पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तो बर्मा ने इसका समर्थन किया और पंचशील सन्धि पर हस्ताक्षर किया। 1955 के बांडुंग सम्मेलन में भारत और बर्मा के प्रतिनिधि ने घनिष्ठ रूप से मिल-जुल कर काम किया।

बर्मा-चीन सीमा विवाद और भारत—चीन के साथ बर्मा का भी एक सीमा विवाद था। नवम्बर 1956 में बर्मा के प्रधान मन्त्री उनू ने चोन से शान्तिपूर्ण वार्ता द्वारा सीमा विवाद का समाधान करने के लिए पिकिंग की यात्रा की। परन्तु चीन ने न केवल बर्मा के उत्तर की लम्बी सीमा जिसका निर्धारण मैकमोहन रेखा के विस्तार द्वारा किया गया था, स्वीकार करने से इन्कार कर दिया बल्कि उसने बर्मा प्रदेशों के कुछ अन्य भागों पर भी अपने दावे को दोहराया। फलतः उस समय दोनों देशों के बीच इस प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका।

1960 में पिकिंग ने बर्मा के नये राज्याध्यक्ष जनरल नेविन को सीमा विवाद तय करने के लिए आमन्त्रित किया। भारत को नीचा दिखाने के लिए चीन इस

समय अपने सभी पड़ोसियों के साथ सीमा विवाद तय कर लेने के लिए बड़ा उत्सुक था। नेविन की पिकिंग यात्रा के फलस्वरूप 28 जनवरी 1960 को बर्मा और चीन के मध्य एक मैत्री एवं अनाक्रमण समझौता सम्पन्न हुआ और इस तरह लम्बे समय से चला आ रहा सीमा विवाद सुलझा लिया गया।

भारत को यह समझौता निश्चय ही पसन्द नहीं आया। यद्यपि सरकारी तौर पर इस पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की गयी। लेकिन चीन की कूटनीति की सफलता से भारत की चिन्ता और बढ़ी। 1962 के भारत चीन युद्ध में बर्मा ने तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाया। वस्तुतः भारत और चीन के मध्य बर्मा की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसके लिए अपने दो शक्तिशाली पड़ोसियों के झगड़े में तटस्थता की नीति का अवलम्बन करना ही हितकर है।

बर्मा में प्रवासी भारतीयों की समस्या—बर्मा में छः लाख से अधिक भारतीय रहते थे। वहाँ के प्राय सारे व्यापार-व्यवसाय पर इन्हीं लोगों का प्रभुत्व था। बर्मा की दस लाख एकड़ भूमि पर भी भारतीयों का ही स्वामित्व था। 1953 में बर्मा ने इन सभी जमीनों का राष्ट्रीयकरण कर लिया। भारत के दृष्टिकोण में बर्मा की सरकार ने इसके लिए क्षतिपूर्ति की रकम दी वह अपर्याप्त थी। अतः भारत सरकार इस प्रश्न पर बर्मा सरकार से बातचीत करना चाहती थी। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका। 1955 में बर्मा से भारत आने पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये और बर्मा से मनिआर्डर या अन्य साधनों द्वारा भारत रुपया भेजने पर भी रोक लगा दिया। 1962 63 में बर्मा की सरकार ने भारतीयों के व्यवसाय-व्यापार का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया। फलतः रोजगार के अभाव में बहुत से भारतीयों को बर्मा छोड़ना पड़ा। इसके कारण भारत और बर्मा के बीच कुछ कटुता आयी लेकिन बात आगे नहीं बढ़ी।

ऐसी कुछ बातों को छोड़कर जेनरल नेविन के नेतृत्व में भारत और बर्मा के सम्बन्ध में काफी सुधार हुए हैं। दिसम्बर 1965 में प्रधान मंत्री लालबहादुर शास्त्री ने रंगून की यात्रा की। 1961 में प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी ने भी बर्मा की यात्रा की। इस तरह समय समय पर जेनरल नेविन भी भारत आते रहे। यात्राओं के आदान प्रदान से दोनों देशों का सम्बन्ध निरंतर बढ़ता रहा है। भारत और बर्मा के बीच सीमांकन को छोड़ कर कोई ऐसा विवाद नहीं है जिस पर ये दो देश अलग अलग दृष्टिकोण अपनायें। मगर यह विवाद भी कुछ समय पहले प्राय सुलझ चुका है। इन दोनों देशों के बीच 90 मील लम्बी सीमा का अंकन वार्ता की मेज पर सम्पन्न हुआ। वास्तव में इस लम्बी सीमा का थोड़ा सा हिस्सा ही विवाद का विषय बन सकता था।

गम्भीर सीमा विवाद के अभाव के बावजूद कुछ ऐसे विषय हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से दोनों देशों के सम्बन्धों पर गम्भीर प्रभाव डाल सकते हैं। नागा और नागालैण्ड के विद्रोहियों ने प्राय चीन से सहायता प्राप्त करने के लिए बर्मा सीमा का उपयोग किया है। नागा विद्रोही भारत की प्रतिष्ठा के लिए जितना बड़ा खतरा है उससे बड़ा खतरा वे बर्मा के लिए सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिए बर्मा सरकार ने भारत के इस प्रयास में सहयोग दिया है कि भारतीय नागा विद्रोही बर्मा क्षेत्र में होकर चीन न जा पायें। अप्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाले विषयों में बर्मा और चीन के सम्बन्ध हैं। पिछले वर्ष जब श्रीमती गांधी रंगून गयी थीं तो जेनरल नेविन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि बर्मा अपने पड़ोसियों के साथ मित्रतापूर्वक रहना चाहता है। इसका अर्थ यह

निकाला गया कि भारत और चीन के विवाद में बर्मा तटस्थ रहना पसन्द करता है। इस तटस्थता के पीछे चीन के आतंक की मनोवृत्ति काम कर रही थी। जिन दिनों भारत और चीन के बीच सीमा विवाद जोर पकड़ रहा था उन्हीं दिनों बर्मा ने चीन के साथ अपनी सीमाओं का अंकन सफलतापूर्वक किया क्योंकि बर्मा चीन के कोप का भाजन बनना नहीं चाहता था।

भारत और नेपाल
(India and Nepal)

नेपाल की भौगोलिक और राजनीतिक स्थिति—नेपाल हिमालय पर्वत के दक्षिणी ढलान पर बसा है। उसके उत्तर में तिब्बत और दक्षिण में भारत है। भारत उसका निकटतम पड़ोसी है। उसकी भौगोलिक सीमाएं एक दूसरे से मिली हुई हैं। जब से तिब्बत चीन के प्रत्यक्ष शासन में आया है तब से नेपाल की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गयी है। चीन और भारत के बीच यह मध्यवर्ती राज्य बन गया है। इस कारण चीन और भारत के सम्बन्धों में नेपाल एक अत्यन्त प्रभावकारी तत्त्व बन गया है।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक नेपाल कोई संगठित राज्य नहीं था। इसके विभिन्न भागों पर विभिन्न जमींदारों का अधिकार था जो एक प्रकार से स्वतन्त्र शासकों के रूप में शासन करते थे। 1769 में महाराज पृथ्वी नारायण शाह ने सम्पूर्ण नेपाल का राजनीतिक एकीकरण कर उसे एक संगठित राज्य का रूप दिया। राजनीतिक दृष्टि से नेपाल के इतिहास में दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना 1846 में घटी जब जंग बहादुर ने राज्य की सत्ता को हस्तगत करके राजा की स्थिति को एकदम महत्त्वहीन बना दिया और स्वयं सर्वेसर्वा बन गया। अब व्यावहारिक दृष्टिकोण से राणा ही नेपाल का वास्तविक शासक होने लगा। राणा जंगबहादुर के पदासीन होने के बाद से लगभग सौ वर्षों तक राणा परिवार के विभिन्न व्यक्तियों ने प्रधान मन्त्री के रूप में नेपाल की जनता पर निरंकुश शासन किया।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रसार के क्रम में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और नेपाल के बीच एक संघर्ष हुआ। अंग्रेजों ने नेपाल को हराकर 1816 में उस पर सुगौली की सन्धि आरोपित कर दी। इस सन्धि के अनुसार नेपाल को अपने भूभाग के कुछ हिस्सों को कम्पनी सरकार को देना पड़ा। काठमांडू में एक ब्रिटिश रेजिडेंट रहने लगा और नेपाल पूरी तरह से अंग्रेजों के प्रभाव में आ गया। नेपाल के आन्तरिक मामले में ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप नहीं किया। वहाँ राणाओं का निरंकुश शासन चलता रहा।

स्वतन्त्र भारत और नेपाल—निकटतम पड़ोसी होने के नाते नेपाल में भारत की दिलचस्पी स्वाभाविक है। भारत के स्वतन्त्र होने के समय जो नयी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न हुई उसने नेपाल की स्थिति को और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया। 1947 में भी नेपाल में ब्रिटिश सेना के लिए गोरखों की भरती किया जाता था। चीन में कम्युनिस्ट चीन के अभ्युदय से यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि तिब्बत पर वह पूरा तरह अधिकार कर लेगा। इस हालत में नेपाल और चीन की सीमा बिल्कुल मिल जायेगी। चीन में कम्युनिस्टों के अभ्युदय से संयुक्त राज्य अमरिका भी नेपाल की राजनीति में दिलचस्पी लेने लगा। इस तरह नेपाल में कई तरह के स्वार्थों के बीच टक्कर की सम्भावना हो गयी और इस बात की सम्भावना बढ़ गयी

कि नेपाल शीत युद्ध का स्थल बन जायगा। भारत की सुरक्षा की दृष्टि से यह निश्चय ही एक चिन्ता का विषय था और कोई भी भारतीय सरकार नेपाल की राजनीति की ओर से उदासीन नहीं रह सकती थी। भारत का विचार था कि विदेशी हस्तक्षेप को सफलतापूर्वक रोकने के लिए नेपाल राजनैतिक तथा आर्थिक सुदृढ़ता प्राप्त करे और इस कार्य में भारत उसको सहायता प्रदान करने के लिए प्रस्तुत था। इसलिए 1947 से ही स्वतन्त्र भारत नेपाल के भविष्य में रुचि लेना प्रारम्भ किया। 1947 में नेपाल के प्रधान मन्त्री ने एक ऐसे व्यक्ति की माग भारत सरकार से की जो नेपाल के लिए एक संविधान बनाने में नेपाल सरकार को सलाह मशविरा दे सके। भारत सरकार ने इस कार्य में नेपाल की मदद के लिए एक वरिष्ठ भारतीय राजनीतिज्ञ श्री श्रीप्रकाश को नेपाल भेजा। उनकी सहायता से नेपाल के लिए एक संविधान का प्रारूप तैयार हुआ। लेकिन चूंकि इस संविधान से राणाशाही की निरंकुशता का अन्त हो रहा था इसलिए राणाओं ने इसे कार्यान्वित नहीं होने दिया।

राजनैतिक दृष्टि से नेपाल में दृढ़ता लाने के लिए यह आवश्यक था कि नेपाल में पुरानी सामन्तशाही का अन्त कर लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था स्थापित हो। इसके लिए नेपाली कांग्रेस के नेता बहुत दिनों से सक्रिय थे और भारत सरकार उनके साथ सहानुभूति रखती थी। ब्रिटिश काल में भारत और नेपाल के बीच जो सन्धि हुई थी उसको भारत सरकार स्वयं नहीं मान सकती थी क्योंकि उसमें साम्राज्य वाद की बू थी। भारत सरकार नये सिरे से नेपाल के साथ एक सन्धि करना चाहती थी। 1949 के उत्तरार्ध में भारत सरकार ने नेपाल के राजनयिक अधिकारियों के साथ नयी सन्धि करने के बारे में वार्ता आरम्भ की लेकिन नेपाल सरकार इसे टालती रही। नवम्बर 1949 में नेपाल के प्रधान मन्त्री के पुत्र और नेपाल सरकार के विदेश विभाग के महानिदेशक ने भारत की यात्रा की और प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू से प्रस्तावित सन्धि के बारे में विचार विनिमय किया। इस वार्ता के आधार पर सन्धि का एक मसविदा तैयार किया गया और उसे नेपाल भेज दिया गया। दोनों सरकारों के बीच विचार विनिमय चलता रहा परन्तु कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकला।

इस बीच चीन के गृह युद्ध का फैसला अन्तिम रूप से हो गया। च्यांग काई शेक की पराजय के बाद वहाँ कम्युनिस्ट शासन स्थापित हुआ। इस हालत में भारत सरकार ने अपनी उत्तरी सीमा पर स्थित राज्यों के नये सम्बन्ध स्थापित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। 1949 50 में सिक्किम और भूटान के साथ उसने नयी सन्धियाँ कीं लेकिन नेपाल की स्थिति सिक्किम और भूटान से बिलकुल भिन्न थी क्योंकि नेपाल भारत का संरक्षित राज्य न होकर एक स्वतन्त्र देश था। अतएव कुछ समय तक भारत सरकार के इरादों के बारे में नेपाल सरकार अत्यन्त शंकालु रही।

भारत सरकार ने नेपाल के प्रधान मन्त्री को भारत भ्रमण के लिए आमन्त्रित किया और 1950 में वे भारत यात्रा पर आये। प्रस्तावित सन्धि पर पुन बातचीत हुई। सन्धि के लिए भारत की एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह थी कि नेपाल में लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली स्थापित हो। राणा को यह बात बिलकुल पसंद नहीं आयी। मोहन शमशेर जंगबहादुर को यह विश्वास भी हो गया कि पाकिस्तान और साम्यवादी चीन के विरुद्ध अपनी सुरक्षा को मदद करने के लिए भारत नेपाल की सहायता का प्रबल इच्छुक है। भारत में उनका जो शानदार स्वागत हुआ उससे उनकी यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी। इसका फल हुआ कि उसने भारत के साथ अधिक से अधिक

सौम्यवा ी की नीति अपनायी । इस हालत में प्रस्तावित नेपाल भारत संधि के बारे म पुन कोई अंतिम निर्णय नही हो सका ।

इधर तिब्बत के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट चीन की नीति निरन्तर उग्रतर होती जा रही थी । चीन की नयी सरकार ने साम्राज्यवादी शिकंजे म तिब्बत को मुक्त करने का अपना इरादा व्यक्त कर दिया था और इसके लिए सैनिक तयारी भी शुरू हो गयी थी । इस कारण भारत सरकार अत्य त बेचन थी । नेपाल की सुरक्षा के बारे म भी इसको लेकर उसकी चिन्ता बढ़ गयी थी । इस सन्दर्भ मे भारत नेपाल सम्बन्धो के बारे म 17 मार्च 1950 का भारतीय संसद म पण्डित नेहरू ने एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया और कहा जहाँ तक कुछ एशियाई गतिविधि यों का प्र न है भारत और नेपाल क बीच कोई सनिक समझौता नहीं है लेकिन भारत सरकार द्वारा किसी भी ओर म नेपाल पर आक्रमण सहन करना सम्भव नहीं है । नेपाल पर सम्भावित कोई भी आक्रमण अवश्यम्भावी रूप स भारत की सुरक्षा के लिए खतरा होगा ।

अप्रैल 1940 मे जनरल विजय शमशेर और एन एम दीक्षित न पुन भारत की यात्रा की । प्रस्तावित सधि के बारे में इस बार विस्तारपूर्वक वार्ताएं हुई । दीर्घकाल तक वार्ता चलने के उपरान्त 30 जुलाई 1950 को दोनों देशों के मध्य एक सन्धि सम्पन्न हुई लेकिन इस बीच नेपाल में घट रही घटनाओ के कारण भारत सरकार और नेपाल की राणा सरकार के सम्बन्धों म तनाव उत्पन्न हो गया ।

नेपाल का गृह युद्ध और भारत —राणाशाही से नेपाल को मुक्त करने के लिए नेपाल के राष्ट्रवादी तत्वो ने एक क्रान्ति करने का निश्चय किया । वे नेपाल के राजा को राणा के प्रभाव म मुक्त कराकर एक सवधानिक राजतत्र की स्थापना का उद्देश्य रखते थे । महाराजाधिराज त्रिभुवन नारायण शाह को नेपाली जनता की आकांक्षाओ म पूरी सहानुभूति थी । इस कारण राणा शमशेर जंग बहादुर के साथ उनका तीव्र मतभेद शुरू हो गया । राजमहल म तरह तरह क षड्यन्त्र होने लगे और राणा ने राजा की गतिविधि पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये । नेपाली राष्ट्रवाद के बढते हुए वेग मे राणाशाही अत्यन्त चिन्तित थी और इस बात की सम्भावना की जा रही थी कि इसके लिए वह ब्रिटन या अमेरिका म सहायता प्राप्त करे । इस कारण नेपाल के राजनीतिक उथल-पुथल से भारत का चिन्तित होना स्वाभाविक था । अतएव नेपाल मे लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना मे ही वह अपना हित समझता था ।

6 नवम्बर 1950 को नेपाल के महाराजाधिराज त्रिभुवन नारायण शाह राजपरिवार के चौदह सदस्यो क साथ अपने राजमहल का परित्याग कर भारतीय दूतावास में चले आये और उसकी शरण ग्रहण कर ली । राणा शमशेर जंग ने अपने कुछ प्रतिनिधियो को 7 नवम्बर को महाराजाधिराज को वापस लाने के लिए भेजा परन्तु वह इसके लिए तयार नहीं हुए । इस पर अत्यन्त कुपित होकर प्रधान मन्त्री ने उन्हे सिंहासन से च्युत कर एक बालक (ज्ञानेन्द्र) को नेपाल का राजा घोषित कर दिया । इसके चार दिन उपरान्त त्रिभुवन शाह अपने समस्त परिवार के साथ वायुयान द्वारा भारत चले आये ।

ठीक इसी समय नेपाल के राष्ट्रवादियों ने राणाशाही के खिलाफ अपना सशस्त्र विद्रोह शुरू कर दिया । ये विद्रोही भारत क भू भाग स विद्रोह का सचालन कर रहे थे । भारत ने इसे रोकने की चेष्टा नहीं की और नेपाल क शासको को प्रजातंत्रात्मक सुधार लाने की सलाह दी । विद्रोहियों ने एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की

घोषणा कर दी। प्रधान राणा मन्त्री ने ब्रिटिश सरकार से सहायता और हस्तक्षेप करने का अनुरोध किया परन्तु ब्रिटिश सरकार इस मामले में भारत के विरुद्ध किसी प्रकार का काम करने के लिए सहमत नहीं हुई। भारत सरकार महाराजा त्रिभुवन को ही नेपाल का वैध महाराजा मानती रही। इस बात को जवाहरलाल नेहरू ने अपने 6 दिसम्बर 1950 को संसद में दिये गये एक भाषण द्वारा बिल्कुल स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा कि तीन वर्ष पूर्व हमने नेपाल को यह आश्वासन दिया था कि भारत की यह हार्दिक अभिलाषा है कि नेपाल मजबूत स्वतन्त्र और प्रगतिशील राष्ट्र बने। हमने उसे अधिकतम अधिक मैत्रीपूर्ण ढंग पर यह समझाने का प्रयास किया कि विश्व में बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं और यदि नेपाल इन परिवर्तनों के साथ कन्धे-से कन्धा मिलाकर नहीं चलता तो परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने के लिए विवश कर देंगी। हमारे लिये स्पष्ट कहना कठिन था क्योंकि हम नेपाल में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना नहीं चाहते। लेकिन हमने ईमानदारी के साथ जो मैत्री पूर्ण परामर्श दिया उसकी नेपाल सरकार ने कोई चिन्ता नहीं की।

भारत सरकार के इस रुख के कारण नेपाल की राणाशाही के समक्ष समझौता करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया। फरवरी 1951 के प्रथम सप्ताह में दिल्ली में नेपाली कांग्रेस के प्रतिनिधियों राणा के प्रतिनिधियों और महाराजा त्रिभुवन के मध्य त्रिपक्षीय वार्ता प्रारम्भ हुई और समझौता हो गया। त्रिभुवन पुनः महाराजा के पद पर वापस आये। लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था कायम करने की बात तय हुई। इस आधार पर 18 फरवरी 1951 को काठमाण्डू में नव मन्त्रिमण्डल ने शपथ ग्रहण की जिसमें प्रधान मन्त्री मोहन शमशेर जंगबहादुर और गृह मन्त्री नेपाली कांग्रेस के नेता मातृका प्रसाद कोइराला बने। इस प्रकार नेपाल में सामन्तवाद का अन्त और एक नए युग का प्रारम्भ हुआ। इस कार्य में भारत की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही।

नेपाली कांग्रेस और भारत विरोधी अभियान।—भारत सरकार ने विद्रोह के दौरान नेपाली कांग्रेस का पूरा समर्थन किया था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत सरकार के इस रुख से नेपाल में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था कायम करने में बड़ी सहायता मिली। लेकिन यह एक विचित्र बात है कि नेपाली कांग्रेस के नेताओं के सत्तारूढ़ होने पर भी भारत और नेपाल के पारस्परिक सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हुआ। इसका एक कारण यह था कि साम्यवादी चीन के अभ्युदय से उत्पन्न परिस्थिति के सन्दर्भ में भारत सरकार नेपाल से घनिष्ठतम सम्बन्ध कायम करना चाहती थी। पर नेपाल इसके लिए तैयार नहीं था। दो विशाल पड़ोसियों के बीच मध्यवर्ती राज्य होने के कारण वह तटस्थ रहना चाहता था और यही स्थिति उसके हित के अनुकूल थी। अतएव भारत सरकार को उससे बड़ी निराशा हुई। *इधर नेपाली कांग्रेस भारत के [illegible] सन्तुष्ट नहीं थी।* नेपाल में जो लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था कायम की गयी उससे सामन्तवाद का अन्त नहीं हुआ क्योंकि नेपाली कांग्रेस के पास न तो धन था न समाज के उच्च मध्य वर्गीय थे और राणाओं के हाथ देश में सत्ता का स्थान था। जनता इन बातों को ध्यान में रखकर वे एक को शक्तिशाली कायम नहीं कर सकते थे जिससे अन्तिम जनता का अधिकाधिक कल्याण हो। अतएव इन्होंने जनता का ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करने के लिए उन्होंने भारत विरोधी रुख अपनाया और यह कहना शुरू किया कि भारत नेपाल पर अपना प्रभाव कायम करना चाहता है। इन लोगों ने भारत के विरुद्ध खूब प्रचार करना शुरू किया। मार्च 1953 में नेपाली कांग्रेस के

एवं अन्त में भारत विरोधी प्रचार में अग्रणी रूप से भाग लेना आरम्भ कर दिया। नेपाली कांग्रेस की कार्यसमिति द्वारा एक प्रस्ताव पारित करके यह माँग की गई कि नेपाल और भारत के बीच स्वस्थ सम्बन्ध बनाये रखने और इन दोनों देशों के नागरिकों में गलतफहमियाँ बनने से रोकने के लिए भारत द्वारा अपने नागरिक विभागों और सैनिक मिशन को नेपाल से हटा देना चाहिए। 1953 54 में काठमाण्डू घाटी में भारत विरोधी भावनाएँ बढ़ती रहीं। नेपालियों में यह भावना जोर पकड़ने लगी कि नेपाल को भारत और चीन के मध्य एक अवरोधक (buffer) राज्य की भूमिका का निर्वाह करना चाहिए क्योंकि तिब्बत पर चीनी आधिपत्य हो जाने के उपरान्त भारत और चीनी एक दूसरे के बिल्कुल आमने सामने खड़े हो गये हैं। मई 1954 में जब भारत का एक संसदीय प्रतिनिधिमण्डल काठमाण्डू की सद्भावना यात्रा पर आया तो उसे विरोधी जनसमूह का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि भारतीय राजदूत की गाड़ी पर पत्थर फेंके गये। यह घटना नेपाल में स्पष्ट रूप से विद्यमान भारत विरोधी भावना की परिचायक थी जिसमें आगे आनेवाले कुछ समय तक उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही।

नेपाल की आन्तरिक राजनीति —फरवरी 1951 से मार्च 1955 तक नेपाल की राजनीति पूर्ण अव्यवस्था की राजनीति थी। दिल्ली समझौता (1951) के बाद नेपाल में संयुक्त सरकार की स्थापना की गयी लेकिन कुछ ही दिनों बाद राणाओं और नेपाली कांग्रेस के प्रतिनिधि मन्त्रियों में उग्र मतभेद पैदा हो गये और एक साथ सरकार में रहना उनके लिए कठिन हो गया। इसी समय डॉ० के० आई० सिंह के नेतृत्व में नेपाल में एक सशस्त्र विद्रोह हो गया। इस कारण पश्चिम नेपाल की स्थिति अत्यन्त भयानक हो गयी। नेपाल सरकार के अनुरोध पर भारत सरकार ने डॉ० के० आई० सिंह के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही में सहयोग करना स्वीकार कर लिया। इस कार्यवाही के फलस्वरूप डॉ० सिंह अपने अनुयायी सहित गिरफ्तार कर लिये गये। उधर राणाओं ने अपनी खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए गोरखा दल नामक एक नये दल का संगठन कर लिया। नेपाली कांग्रेस और राणाओं का मतभेद अब बड़ा उग्र हो गया। 14 नवम्बर 1951 को मातृका प्रसाद कोईराला के नेतृत्व में नेपाली कांग्रेस की सरकार बनी। लेकिन इससे भी नेपाल की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। शान्ति और व्यवस्था हर जगह भंग होने लगी। कम्युनिस्टों ने अपना अलग संगठन कायम किया। 22 जनवरी 1952 को डॉ० के० आई० सिंह अपने साथियों सहित जेल से निकल भागे और पुनः विद्रोह कर दिया। उन्होंने दरबार राजकोष सचिवालय हवाई अड्डा और रेडियो स्टेशन पर कब्जा कर लिया और भारत के साथ स्थापित संचार सम्बन्धों को भंग कर दिया। इस मौके पर सेना ने महाराज का साथ दिया और विद्रोह कुचल दिया गया। के० आई० सिंह फरार हो गये। 23 जनवरी 1952 को नेपाल नरेश ने संकट काल की घोषणा कर दी और राजनीतिक पार्टियों पर पाबन्दी लगा दी। इस सम्पूर्ण काल में नेपाल की राजनीति पूरी तरह उलझी रही। इसमें केवल एक ही तथ्य स्पष्ट था—नेपाल के सभी राजनीतिक दलों का भारत विरोधी दृष्टिकोण। नेपाल कांग्रेस गोरखा दल कम्युनिस्ट पार्टी के० आई० सिंह का दल सब के सब भारत विरोधी अभियान में जुटे रहे।

1952 में नेपाली कांग्रेस में फूट पड़ जाने से नेपाल की राजनीति और जटिल हो गयी। कुछ महीनों बाद नेपाल के नरेश बीमार पड़े और इलाज के लिए उन्हें फ्रांस जाना पड़ा। देश का शासन चलाने के लिए उन्होंने एक शाही राज्य परिषद् का गठन कर लिया और इसके अध्यक्ष राजकुमार महेन्द्र बनाये गये। लेकिन नेपाल की स्थिति

विषमता होती जा रही थी। अतः नरेश ने 18 फरवरी 1955 को अपनी रुग्णावस्था में ही एक अध्यादेश जारी करके राज्य परिषद को भंग कर सम्पूर्ण अधिकार सिंहासन के उत्तराधिकारी राजकुमार महेन्द्र विक्रमशाह को सौंप दिये। महेन्द्र ने मन्त्रिमण्डल को समाप्त कर शासन का दायित्व स्वयं ग्रहण कर लिया। 13 मार्च 1955 को महाराज त्रिभुवन की मृत्यु हो गयी। उनके स्थान पर महेन्द्र वीर विक्रमशाह देव नेपाल के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। 27 जनवरी 1956 तक नेपाल नरेश स्वयं शासन सूत्र का संचालन करते रहे। इसके पश्चात् उन्होंने टंका प्रसाद आचार्य को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया। इसी बीच दिसम्बर 1954 में नेपाल को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी मिल गयी। इसके लिए नेपाल को भारत से प्रत्यक्ष सहायता मिली।

टंका प्रसाद आचार्य के प्रधानमन्त्रित्वकाल में भारत-नेपाल सम्बन्ध—टंका प्रसाद आचार्य के प्रधान मन्त्री बनने से नेपाल की विदेश-नीति में एक विशेष मोड़ आयी। उनके निर्देशन में नेपाल चीन की ओर झुकने लगा। प्रधान मन्त्री बनने के पूर्व ही आचार्य स्पष्ट रूप से घोषित कर चुके थे कि उनकी सहानुभूति साम्यवाद के साथ है और साम्यवादी व्यवस्था कायम करके ही वह नेपाल में परिवर्तन करने के पक्षपाती थे। प्रधान मन्त्री बनते ही उन्होंने नेपाल की विदेश नीति पर विस्तार से प्रकाश डाला और कहा कि नेपाल सभी देशों से मिल-जुलकर विश्व शान्ति बनाये रखने में अपना योगदान देगा तथा सभी देशों से सहायता प्राप्त करेगा बशर्ते कि इस सहायता के साथ कोई शर्त नहीं जुड़ी हो। आचार्य का झुकाव स्पष्टतया मास्को और पिकिंग की ओर था। उनका उद्देश्य नेपाल में भारत के प्रभाव को कम करना था। 1956 में अपनी भारत यात्रा के दौरान एक अवसर पर उन्होंने कहा कि नेपाल भारत और चीन के मध्य एक सेतु रूप से कार्य करना चाहता है और दोनों से मैत्री चाहता है।

आचार्य की इस नीति के परिणामस्वरूप चीन और नेपाल का सम्बन्ध बढ़ने लगा। अक्टूबर 1956 में आचार्य ने चीन की यात्रा की और जनवरी 1957 में चीन के प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई नेपाल आये। अपनी यात्रा में चाऊ ने नेपाल को अपनी स्वतन्त्रता और स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखने में यथाशक्ति सहायता का आश्वासन ऐसे ढंग से दिया जिससे यह ध्वनित हुआ कि मानों नेपाल की स्वतन्त्रता को भारत से खतरा हो। उन्होंने नेपालियों की एक सभा में यह भी घोषणा की कि नेपालियों और चीनियों में एक ही रक्त प्रवाहित होता है। चीनी प्रधान मन्त्री का यह कथन वास्तव में अत्यन्त राजनैतिक था। इसके एक तो यह अभिप्राय था कि चीनियों और नेपालियों दोनों के पूर्वज मंगोल वंश से सम्बन्धित हैं और दूसरा अभिप्राय यह था कि चीन, नेपाल, भूटान और सिक्किम को एक सूत्र में आबद्ध हो जाना चाहिए।

टंका प्रसाद आचार्य ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में चीनी प्रधानमन्त्री के द्वारा प्रदर्शित मार्ग को स्वीकार कर लिया और उन्हीं की भाषा या भावना में बोलते हुए कहा कि एशिया के अधिकांश देश अविकसित हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि अपने हित साधन में वे कभी-कभी एशियाई एकता की उपेक्षा कर बैठें और मामूली बातों के लिए भटक जायें। हमें इस सम्भावना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और ऐसे कदम उठाने चाहिए कि ऐसे अवसर उपस्थित न हों। स्पष्टतः आचार्य का लक्ष्य भारत जैसे अमरीकी सहायता प्राप्त करने वाले एशियाई देशों की ओर ही था। आचार्य ने यह भी कहा कि भारत की [illegible] दृष्टि में नेपाल में

राष्ट्रीयता के विकास में सहयोग देना चाहिए क्योंकि राष्ट्रीयता के विकास द्वारा ही एशिया में साम्यवाद के प्रसार को रोका जा सकता है। उनका यह कथन अप्रत्यक्ष रूप में भारत पर यह आरोप लगाना था कि भारत नेपाल को अपना पिट्ठू राज्य बनाने का प्रयास करता है जो उसे नहीं करना चाहिए।

टंका प्रसाद आचार्य के प्रधानमन्त्रित्व के काल में ही नेपाल और चीन के मध्य तिब्बत के मामले में एक सन्धि हुई और साम्यवादी चीन ने तीन वर्ष की अवधि में नेपाल को छः करोड़ रुपयों की सहायता देने का वचन दिया। इस समझौते से यह स्पष्ट हो गया कि नेपाल का चीन के प्रति बहुत अधिक झुकाव हो रहा है। इस समझौते से भारतीय जनमत नेपाल के इरादों के प्रति स्वाभाविक रूप में शंकित हो गया। 9 अक्टूबर 1956 को इस समझौते पर टिप्पणी करते हुए हिन्दुस्तान टाइम्स ने लिखा "नेपाल की वर्तमान सरकार चीन के साथ छः करोड़ रुपयों के आर्थिक समझौते पर हस्ताक्षर करके सही मार्ग से हट रही है। नेपाल इस समय उस सहायता का ही सदुपयोग करने की स्थिति में नहीं है जो भारत से उसे मिल रही है। इन स्थितियों में चीन के साथ आर्थिक सहायता समझौता करना केवल एक राजनीतिक चाल है।"

नेपाल और चीन की इस बढ़ती हुई मैत्री की स्थिति में यह नितान्त स्वाभाविक था कि भारत हिमालय के इस क्षेत्र में अपनी कूटनीतिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करता। अतः भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अक्टूबर 1956 में नेपाल की यात्रा की और दिसम्बर 1956 में श्री टंका प्रसाद आचार्य को भारत यात्रा के लिए प्रेरित किया। भारतीय राष्ट्रपति ने अपनी यात्रा के दौरान नेपाली जनता और शासक वर्ग को स्पष्ट शब्दों में इस बात का आश्वासन दिया कि भारत की नेपाल के सम्बन्ध में कोई क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं हैं और न ही वह नेपाल के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप करना चाहता है। राष्ट्रपति ने यह भी घोषणा की कि भारत नेपाल के आर्थिक विकास की तैंतीस करोड़ की योजना में पूरा पूरा सहयोग देगा। 22 अक्टूबर 1956 को काठमाण्डू में अपने भाषण में डॉ० प्रसाद ने भारत और नेपाल के घनिष्ठ सम्बन्धों और पारस्परिक हितों को इन शब्दों में व्यक्त किया "नेपाल की शान्ति और सुरक्षा को कोई भी खतरा भारत की शान्ति और सुरक्षा के लिए भी उतना ही बड़ा खतरा है। आप के मित्र हमारे मित्र हैं और हम आपके।"

के० आई० सिंह का प्रधानमन्त्रित्वकाल और भारत—परन्तु दोनों देशों के नेताओं की इन सद्भावना यात्राओं के उपरान्त भी कोई वांछित परिणाम नहीं निकला और टंका प्रसाद आचार्य के नेतृत्व में नेपाल की विदेश नीति पूर्ववत साम्यवादी चीन की ओर अभिमुख रही। जुलाई 1957 में आचार्य के स्थान पर डॉ० के० आई० सिंह नेपाल के प्रधान मन्त्री बने। यद्यपि उनकी नीति भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने की थी परन्तु आचार्य के समर्थक समाचार-पत्रों ने भारत के विरुद्ध तीव्र प्रचार आन्दोलन प्रारम्भ करते हुए उन पर तरह तरह के आरोप लगाने शुरू कर दिये। *फलस्वरूप भारत के प्रति नेपाली दृष्टिकोण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सका।* डॉ० सिंह को यह कार्य में असफलता मिली और नवम्बर 1957 में उन्हें त्याग पत्र देना पड़ा। डॉ० सिंह ने नेपाल के ऊपर संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव की चर्चा की और यहाँ तक आरोप लगाया कि अमरीकी मिशन तिब्बत में साम्यवादी विरोधी प्रभावों को प्रश्रय करना चाहता है। डॉ० सिंह के प्रधान मन्त्रित्वकाल में अमरीका

सनिक सपक दल को भारत तत्काल वापस बुला ले। श्री बिष्ट ने कहा कि यदि वे भारतीय कमचारी नहीं गये तो वे अपने पद से त्यागपत्र दे देंगे। उनका कहना था कि सीमा पर स्थित इन सामरिक महत्व के सूचना केन्द्रों को अब नेपाली नागरिक अच्छी तरह सम्भाल सकते हैं। प्रधानमन्त्री के अनुसार नेपाल और भारत की मैत्री को सुदृढ़ करने के लिए काठमांडू द्वारा सब कुछ किया जा चुका है जिसके उदाहरण कोसी और गण्डक योजना समझौते हैं। पर इनसे नेपाल का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इसके विपरीत नेपाल को व्यापार और परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयों का भारत में सामना करना पड़ रहा है। भारतीय समाचार पत्रों में नेपाल के विरुद्ध समाचार छापे जा रहे हैं और काठमांडू द्वारा भेजे गये सुझावों के बावजूद दिल्ली ने अब तक नेपाल की कर्णाली योजना में कोई अभिरुचि नहीं ली है।

प्रधानमन्त्री के वक्तव्य को नव चीन समाचार एजेंसी का समर्थन तत्काल मिला। पिकिंग से एक संवाद में एजेंसी ने कहा कि विशेष सम्बन्ध के नाम पर भारत अपने पड़ोसियों के प्रति अपनी विस्तारवादी नीति चलाना चाहता है। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री टंका प्रसाद आचार्य और पंचायत प्रशासन पद्धति की अन्य संस्थाओं युवक और मजदूरों संगठनों द्वारा भी प्रधानमन्त्री के वक्तव्य का समर्थन किया गया। त्रिभुवन विश्वविद्यालय के एक संगठन स्वतन्त्र छात्र मंच ने अपनी सभा में भारत अमेरिका और रूस की आलोचना की। उन्होंने मांग की कि सरकार को भारत की विस्तार वादी नीति का जवाब देना चाहिए। नेपाल के एक विश्वविद्यालय के छात्रों ने भारत विरोधी नारे भारतीय साम्राज्यवाद मुर्दाबाद लगाये।

नेपाली प्रधानमन्त्री श्री बिष्ट ने नेपाली सीमा त चौकियों से भारतीय सनिक कर्मचारियों और सनिक सम्पर्क दल को वापस बुलाने की मांग किस नौबत या दबाव में आकर की यह कहना तो जरा कठिन है मगर इससे भारतीय राजनयिक क्षेत्रों में काफी हलचल और तनाव आ गया। पिछले कुछ दिनों में नेपाल में जिस रफ्तार से भारत विरोधी वातावरण तैयार हो रहा था उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नेपाल पर चीन का रंग बड़ी तेजी से चढ़ रहा था। राजनयिक प्रेक्षक इस बात पर आश्चर्य प्रकट करने लगे कि नेपाल के प्रधानमन्त्री को (यदि उन्हें भारत से कोई शिकायत थी) क्या जरूरत पड़ गयी थी कि वे राजनयिक रास्ता त्यागकर सार्वजनिक मंच से ऐसे विचार व्यक्त करें जिनका उद्देश्य एक मित्र राष्ट्र की प्रतिष्ठा को धक्का लगाना हो। भारत सरकार ने भारतीय वायरलेस कर्मचारियों और भारतीय सनिक सम्पर्क दल 1952 54 में काठमांडू के निवेदन पर ही भेजे थे। नेपाल में भारतीय चौकियों की कुल संख्या सत्रह थी जिन पर केवल अट्ठारह सिपाही और पाँच अफसर रहा करते थे। भारतीय अधिकारियों का कहना था कि यदि इन चौकियों पर से भारतीय कर्मचारियों को हटा लिया गया तो भारत को चीन और तिब्बत की गतिविधि या वहाँ से होनेवाले किसी भी आक्रमण की अग्रिम सूचना प्राप्त नहीं हो सकती। लेकिन नेपाल की सरकार अपनी इस मांग पर अड़ी रही। अतएव जुलाई 1970 में भारतीय सनिक दल को वापस बुला लिया गया। इस कदम से नेपालियों के मन से शायद वह शंका दूर हो गयी कि भारत नेपाल को अपना उपनिवेश समझता है।

1969 70 में भारत और नेपाल का सम्बन्ध कभी हो कटुतापूर्ण रहा। काठमांडू में भारतीय दूतावास का आकार सबसे बड़ा है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में नेपाल की राजधानी में इसकी प्रतिष्ठा और प्रभाव लगातार कम होता गया।

इस काल में नेपालियों की ओर से भारतीय दूतावास और उसके कर्मचारियों को काफी सन्देह से देखा जाता रहा। उच्च स्तर के नेपाली अधिकारी जानबूझकर भारत विरोधी प्रचार करते रहे।

इस प्रकार की स्थिति कैसे आ गयी? प्रारम्भ में तिब्बत से सम्बन्ध के बारे में नेपाल ने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। भारत की स्वाधीनता के समय उसका झुकाव भारत की ओर था जो बिल्कुल स्वाभाविक था। किन्तु यह स्थिति सदा नहीं बनी रही। 1962 में भारत और चीन में युद्ध हुआ और इस प्रकार चीन हिमालय के अंचल में एक प्रबल शक्ति के रूप में उभरा। नेपाली नेताओं ने इस स्थिति की नजरअन्दाज नहीं किया और उन्होंने अब चीन की ओर भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया। चीन ने जो 1956 से ही नेपाल में दिलचस्पी लेता रहा था इस नयी स्थिति से पूरा पूरा लाभ उठाया और नेपाल के आर्थिक निर्माण में सहायता देने का प्रस्ताव किया। परिणामस्वरूप 1964 में दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार उनमें नियमित व्यापार होने लगा। पहले 1965 में और फिर 1968 में इस संधि का नवीनीकरण किया गया। मई 1968 में नेपाल और चीन ने एक वैज्ञानिक और सांस्कृतिक समझौते पर भी हस्ताक्षर किये और अब पिछले दिनों दोनों देशों के बीच एक नया समझौता हुआ है जिसके अनुसार नेपाल आगामी दिनों में दो करोड़ रुपये के चीनी माल का आयात करेगा।

1956 से 1969 तक हुए समझौतों के अन्तर्गत चीन ने कुल मिलाकर अड़तालीस करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता देने का वचन नेपाल को दिया। इन समझौतों से चीन को नेपाल में घुसने का अवसर मिल गया। नेपाल और चीन के मध्य काठमाण्डू-कोदारी राजपथ के निर्माण के सम्बन्ध में भी एक समझौता हुआ। नेपाल से तिब्बत को मिलानेवाली इस सड़क का बड़ा ही सामरिक महत्त्व है। इसने भारत की उत्तरी सीमा को अत्यन्त असुरक्षित बना दिया है। इस प्रकार 1962 के बाद से नेपाल पर चीन का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया और इसका मुख्य लक्ष्य नेपाल में भारत विरोधी भावना को प्रोत्साहित करना था। इस ध्येय में चीन को काफी सफलता मिली।

1970 की व्यापारिक वार्ता—अक्टूबर 1960 में भारत और नेपाल के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ था। इस समझौते की अवधि दस वर्ष की थी और इस प्रकार अक्टूबर 1970 में यह अवधि समाप्त होनेवाली थी। अतएव 1970 के प्रारम्भ में ही एक दूसरे व्यापारिक समझौते के लिए नयी दिल्ली में दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच वार्ता शुरू हुई। लेकिन इस वार्ता को कोई सफलता नहीं मिली क्योंकि दोनों देशों के दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर था। भारत सरकार के अनुसार भारत के बीच से गुजरनेवाली हर विदेशी वस्तु पर कर लगाना चाहिए। अन्य देशों के साथ इसी नियम के आधार पर समझौते होते हैं किन्तु नेपाल सरकार का मत था कि चारों ओर से भूमि से घिरे हुए देश को दूसरे देशों के बीच में से अपना माल गुजारने की हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इस सिलसिले में नेपाल के वाणिज्य सचिव पुष्कर नाथ पन्त ने भारत सरकार की आलोचना की कि वह नेपाल के व्यापार के रास्ते में बाधा उपस्थित कर रही है; जबकि भारत सरकार का कहना था कि नवम्बर 1968 में इन दो देशों के बीच जो समझौता हुआ था उसमें नेपाल ने यह शर्त स्वीकार कर ली था।

भारत नेपाल को व्यापार की सभी जायज सुविधाएँ देने के लिए तैयार था

लेकिन साथ ही यह भी नहीं चाहता था कि पिछले व्यापार समझौते में जो खामियाँ रह गयी थीं उनका अनुचित लाभ उठाया जा सके।

1968 में नेपाल में अनुमानतः पचास हजार टन जूट पैदा हुआ था। घरेलू आवश्यकता के लिए कोई अठारह हजार टन छोड़कर कोई तेरह हजार टन जूट निर्यात करने की बात थी। इसके बावजूद नेपाल बाईस हजार टन जूट निर्यात करना चाहता था। नेपाल में पैदा या बने माल को भारत निःशुल्क बाहर जाने देता था। भारत सरकार का कहना था कि जब नेपाल कहीं और से प्राप्त जूट भेजना चाहता है तो इस बात की सकारण गुंजाइश है कि बाकी जूट चोरी छिपे भारत से नेपाल पहुँचा है। यदि भारतीय व्यापारी नेपाल की मार्फत निर्यात करता है तो वह निर्यात शुल्क से बच जाता है जिसका भारत कभी समर्थन नहीं कर सकता। नेपाल में भारत आनेवाले माल पर तब कोई कर नहीं लगना जबकि वह नेपाल में ही बना हो। मई 1969 में स्टेनलेस स्टील के बर्तनों और रासायनिक रेशे के बने वस्त्रों पर रोक लगा दी गयी क्योंकि नेपाल अपने कोटा से अधिक माल भेज रहा था। नेपाल विदेशी माल भारत में न खपा सके (यानी भारतीय व्यापारी या उपभोक्ता आयात कर से मुक्ति न पा सकें) तो इसके लिए जरूरी था कि ऐसी वस्तुओं का आयात भी युक्तिसंगत परिमाण में हो। यदि नहीं तो उस पर भी कर लगे क्योंकि नेपाल के व्यापारियों को इस तरह के अवैध व्यापार से काफी लाभ होता था।

भारतीय प्रतिनिधियों का कहना था कि जब नेपाल भारत से विशेष व्यापारिक सुविधाएँ चाहता है तब उसका भी फर्ज है कि वह अवैध व्यापार रोकने में भारत की सहायता करे। इसकी जगह यदि वह अनुचित रूप से अपनी भौगोलिक स्थिति का फायदा चाहेगा और हर मामले को राजनीति के रंग में रंगना चाहेगा तो दोनों पक्षों को असुविधा होगी।

इस स्थिति में व्यापारिक समझौता वार्ता का कोई परिणाम नहीं निकला। नेपाल के वाणिज्य मन्त्री नवराज सुबेदी ने भारत नेपाल व्यापारिक वार्ता के बारे में एक बयान जारी करके कहा है कि बातचीत टूट गयी जिससे एक नयी स्थिति पैदा हो गई है और जिसका सामना करने के लिए हमें तैयार रहना होगा। सामान्यतः इस बयान की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि दस वर्षीय व्यापारिक समझौते को नया करने के सम्बन्ध में यह बैठक अन्तिम नहीं थी। समझौते की अवधि अक्टूबर 1970 में समाप्त हो रही थी। सुबेदी को ऐसा बयान देने की आवश्यकता शायद इसलिए पड़ी कि वे भारत से अधिक-से-अधिक सुविधा प्राप्त करना चाहते थे।

वार्ता का दूसरा दौर—सितम्बर 1970 में नेपाल नरेश महेन्द्र दिल्ली आये और प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी से उनकी व्यक्तिगत वार्ता हुई। इसमें दोनों सरकारों द्वारा वार्ता को काफी सन्तोषजनक बताया गया। इसके कुछ ही दिनों बाद जब वर्ष 1970 में व्यापारिक समझौता वार्ता का दूसरा दौर दिल्ली में आरम्भ हुआ। लेकिन यह वार्ता भी असफल हो रही।

नेपाल इस बात पर जोर दे रहा था कि उसे राधिकापुर से होने वाले पाकिस्तान जाने की छूट दे दी जाय जो कि पाकिस्तान से उसके व्यापार की मात्रा को देखते हुए बेतुका लगता था। कई ऐसी चीजों के व्यापार के बारे में जिनके बनाने में विदेशी कच्चे माल की आवश्यकता होती है। नेपाल ने सुझाव रखा है कि इनको गैर सरकारी क्षेत्रों में खुले तौर पर बेचने का उसे पूरा अधिकार दिया जाय।

नेपाल भारत से पेट्रोल और नमक जैसी बुनियादी चीजें आयात करता है

नेपाल सरकार एक सम्बन्ध बन गयी ता बन्दरगाह पर जमीन पट्टे पर लेगा। नेपाल को रेल परिवहन के अलावा बन्दरगाह तक माल ले जाने के लिए सड़क का मार्ग भी उपलब्ध किया गया।

अ यांत्रिक कच्चे माल से भी माल तैयार करते समय यदि पचास प्रतिशत तक नेपाल का कच्चा माल और श्रम लगा हो तो भारत सरकार उसके आयात पर विचार करेगी। नेपाल स्टेनलेस स्टील तथा नकली वस्त्रों का भारत में खुले तौर पर आयात नहीं करेगा। संधि में एक संयुक्त समिति की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी जिसमें दोनों देशों के वरिष्ठ अधिकारी होंगे। संयुक्त समिति की बैठकें जनवरी अथवा जुलाई तथा अक्टूबर में एक बार दिल्ली और एक बार काठमाण्डू में हुआ करेगी।

नेपाल के बड़े उद्योगों द्वारा तैयार माल पर पचीस प्रतिशत तक उत्पादन शुल्क में छूट दी जायगी जिससे वह भारत में तैयार माल का प्रतियोगी बन सके।

भारत ने इस संधि के द्वारा नेपाल को अनेक रियायतें दीं। संधि के अनुसार ऐसे उद्योगों के लिए भारतीय नेपाल में पूंजी लगा सकते हैं जिनके लिए कच्चा माल भारत या नेपाल में उपलब्ध है। इससे नेपाल में औद्योगीकरण होगा। संधि की यह व्यवस्था महत्त्वपूर्ण बतायी गयी। इससे दोनों देशों में आर्थिक सम्बन्ध मजबूत होंगे। इस संधि के साथ ही भारत-नेपाल सम्बन्धों का वह विवादग्रस्त चरण समाप्त हो गया जो 1971 के जनवरी में शुरू हुआ था।

संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद भारत के विदेश व्यापार मंत्री ललित नारायण मिश्र ने कहा सहयोग के क्षेत्र को बढ़ाना नेपाल के उद्योग तथा व्यापार हमारे पारस्परिक हित में है। नेपाल के मंत्री श्री मुखर्जी ने भी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा संधि का नेपाल के लिए विशेष महत्त्व है। यह हमारे व्यापार को बहुक्षेत्रीय बनाने में सहायक होगी। सद्भाव मैत्री तथा पारस्परिक विश्वास से साथ सम्पन्न यह संधि हमारे सम्बन्धों को सुदृढ़ करेगी। समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति में जो कुछ कहा गया उसका सार यही था कि इससे दोनों देशों द्वारा उत्पादित माल के पारस्परिक व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होगा और नेपाल के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए नेपाल द्वारा नेपाली तथा भारतीय माल से निर्मित वस्तुओं के आयात को भारत विशेष सुविधा देगा।

पारगमन परिवहन तथा तस्करी के बारे में जो व्यवस्था निर्धारित की गयी उससे नेपाल की कठिनाइयाँ अवश्य दूर होंगी। अब देखना यह है कि भारत की वह शिकायत कितनी दूर होती है जो पटसन तथा अभ्रक जैसी वस्तुओं का भारत से आयात कर नेपाली व्यापारी विदेशों को निर्यात कर देते थे और अर्जित विदेशी मुद्रा के एक भाग से विलास की वस्तुएँ खरीद कर भारत में बेच देते थे। इससे भारत को दोहरी हानि होती थी। इसे रोकने के लिए नयी संधि में कुछ व्यवस्था तो है लेकिन सफलता मुख्यतः नेपाल की सक्रियता पर निर्भर रहेगी। भारत को भी तस्कर व्यापार रोकने के लिए सीमा पर विशेष चौकसी रखनी पड़ेगी।

इस संधि का उद्देश्य दोनों देशों के बीच व्यापार का विस्तार और उसकी विविधरूपता है। इसीलिए उसमें यह व्यवस्था की गयी है कि दोनों एक दूसरे के माल को अधिकतम प्रश्रय देंगे। भारत कितना अधिक प्रश्रय दे रहा था इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि नेपाल के कच्चे माल को भारत में अबाधित और कर मुक्त प्रवेश मिलेगा। इतना ही नहीं नेपाल के औद्योगिक विकास के लिए उसने

सुधारना सम्भव नहीं था। भारत अपनी प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में नेपाल में अपनी कुछ सैनिक चौकियाँ रखने से जितनी जानकारी प्राप्त कर सकता था उससे कहीं अधिक जानकारी उसे नेपाल सरकार के सहयोग से प्राप्त हो सकती थी। इसलिए अब एक ऐसा समय आ गया था जबकि भारत सरकार को यह महसूस करना चाहिए था कि एक स्वतन्त्र देश के प्रति जो व्यवहार होना चाहिए वही नेपाल के साथ भी होना चाहिए। इसके लिए यह जरूरी था कि नेपाल में वर्तमान परिस्थितियों को समझने के बाद ही वहाँ की आन्तरिक घटनाओं के बारे में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की जाय तथा नेपाल को दी जानेवाली आर्थिक सहायता को राजनैतिक दबाव के लिए इस्तेमाल न किया जाय। इसी प्रकार नेपाल सरकार के लिए भी भारत के साथ मित्रता और सहयोग का वातावरण पैदा करने में ही लाभ था।

नेपाल सरकार का सबसे अधिक भय नेपाली विद्रोहियों से रहा है। नेपाल सरकार का कहना है कि ये विद्रोही आरम्भ से ही भारत में रहते हुए नेपाल के विरुद्ध विद्रोह का संगठन करते रहे हैं। यह सत्य है कि 1963 के बाद से नेपाल के विरोध में कोई संगठित विद्रोह नहीं हुआ तब भी कुछ छिटपुट घटनाएं होती रहीं जिससे नेपाल सरकार की शंकाएं बनी रहीं। भारत सरकार ने भी नेपाल की इन आशंकाओं को दूर करने का प्रयास नहीं किया। 1972 के अगस्त में एक हथियार बन्द गिरोह ने बिहार की सीमा पर नेपाल की एक चौकी हरिपुर पर सशस्त्र हमला किया था। फिर जून 1973 में नेपाल एयरलाइन्स के एक विमान को फारबिसगंज में अपहृत कर ले जाया गया और अपहरणकर्ताओं ने तीस लाख रुपए लूट लिए। नेपाल सरकार का सन्देह था कि यह सब नेपाली कांग्रेस के इशारे पर हुआ। इन घटनाओं के पहले सितम्बर 1971 में दिल्ली में बी० पी० कोइराला ने नेपाल में सशस्त्र क्रांति का आह्वान किया था। इन घटनाओं का यह अर्थ नहीं कि भारत सरकार नेपाली कांग्रेस या नेपाली विद्रोहियों का समर्थन करती थी। वास्तविक बात यह है कि भारत सरकार इन वारदातों के सम्बन्ध में उदासीन रही और इस उदासीनता से नेपाल में अनेक भ्रांतियाँ फैलीं। तथ्य यह है कि नेपाल के सम्बन्ध में भारत सरकार की कोई स्पष्ट नीति नहीं रही है। न तो वह नेपाली विद्रोहियों का समर्थन करती रही है और न ही उसने नेपाली विद्रोहियों का विरोध कर नेपाल की सरकार की आशंकाएं दूर करने का प्रयत्न किया। यदि भारत सरकार के पास कोई स्पष्ट नीति रहती तो या तो वह नेपाली विद्रोहियों की सहायता करती या वह इन विद्रोहियों को भारत में सक्रिय होने की अनुमति नहीं देती।

नेपाल की दूसरी चिन्ता समुद्रतट पर पहुँचने के लिए एक निश्चित मार्ग को प्राप्त करने की है। अन्य मार्ग से व्यापार करने के लिए उसे या तो भारत से गुजरना पड़ेगा या बंगला देश से। नेपाल को ऐसे किसी मार्ग की तलाश है। इस सम्बन्ध में बंगला देश से उसकी बातें हुई लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला। भारत भी ऐसे प्रस्ताव पर विचार करने के लिए तैयार नहीं है। नेपाल का कहना है कि नियमित मार्ग न होने के कारण नेपाल का विदेश व्यापार घाटे में है। वह इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उठाना चाहता है।

चीन या पाकिस्तान के साथ इस दौरान सम्बन्धों में उतार चढ़ाव की बात आम जनता की समझ में आसानी से आ सकती है। मगर नेपाल जैसे राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक पड़ोसी के साथ सम्बन्धों की कटुता की जो कभी-कभी दिख

कुछ खतरनाक रूप में मुखर हो जाता है, जिससे सामान्य भारतीय जनता के लिए कठिन हो जाता है। आंशिक रूप में इसलिए कि भारत और नेपाल के बीच के सम्बन्धों और इन देशों के शासनाधिकारियों के पारस्परिक व्यवहार का कोई ज्ञान स्वयं सामान्य जनता को नहीं रहती और आंशिक रूप में इसलिए कि सामान्य भारतीय नागरिक नेपाल के साथ शत्रुता की स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता। मगर यह एक सच्चाई है कि नेपाल और भारत के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कुछ औपचारिक रह गया है। काठमाण्डू में भारतीय प्रतिनिधियों को सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है और नयी दिल्ली में बैठे हुए परराष्ट्र मन्त्रालय के अधिकारी भी मन्त्री नेपाली अधिकारियों के रूखे व्यवहार और तथाकथित अमित्रतापूर्ण कारवाइयों से रुष्ट होकर इस प्रकार के संकेत दे रहे हैं जिनको अभिमानी से राजनीतिक धमकी माना जा सकता है।

भारत-नेपाल सम्बन्ध के इस उतार-चढ़ाव को देखते हुए इसके विषय में कोई भी निश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है। एक तो यह है प्रारम्भ से ही नेपाल भारत के इरादों के प्रति शंकालु है और उसका यह ख्याल है कि भारत चीन के विरुद्ध उसका प्रयोग करना चाहता है। लेकिन एक मध्यवर्ती राज्य होने के नाते नेपाल भारत और चीन के विवादों में नहीं पड़ना चाहता। वह अनुभव करता है कि यदि उसके दोनों शक्तिशाली पड़ोसी लड़ना शुरू करेंगे तो उसकी सुरक्षा भी खतरे में पड़ जायगी। इसलिए वह दोनों के विवादों के प्रति असंलग्नता की नीति का अवलम्बन करता है और पूर्ण तटस्थ भाव से अपनी नीति का निर्धारण करता है। इस कारण वह भारत और चीन दोनों को एक ही दृष्टि से देखता है। नेपाल की यह नीति भारत के मनोनुकूल नहीं है और इसी कारण नेपाल में बढ़ते चीन के प्रभाव के सम्बन्ध में भारत में तरह-तरह की बातें की जाती हैं। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि नेपाल की सरकार अपनी विदेश-नीति का निर्धारण नेपाल के हित को ध्यान में रखकर ही करेगी। भारतीय कूटनीति की सफलता इस बात में है कि वह एक शान्तिपूर्ण दायरे में रहकर नेपाल के साथ अपना सम्बन्ध सुधार करे ताकि यदि चीन से पुनः कोई संघर्ष हो जाय तो उस स्थिति में वह (नेपाल) भारत विरोधी रुख नहीं अपनावे।

नेपाल और भारत के सम्बन्धों को और अधिक बेहतर बनाने के उद्देश्य से ही फरवरी 1973 में भारतीय प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी नेपाल की यात्रा पर गयीं। नेपाल के नये महाराजा के राज्यारोहण के पश्चात् भारतीय प्रधान मन्त्री की यह पहली यात्रा थी और कई दृष्टियों से इसको एक सफल यात्रा माना जा सकता है। अपने वक्तव्यों, सार्वजनिक भाषणों और गुप्त वार्ताओं के दौरान में श्रीमती गांधी ने उन सभी गलतफहमियों को दूर करने का प्रयास किया जिनके कारण भारत-नेपाल सम्बन्ध में माधुर्य कम होता जा रहा था। अपने कई भाषणों में श्रीमती गांधी ने इस बात पर बल दिया कि भारत की दृष्टि में नेपाल एक सार्वभौम देश है और उसके किसी विचार को उस पर आरोपित करने का भारत का कोई इरादा नहीं है।

सिक्किम की घटनाएं और भारत-नेपाल सम्बन्ध—सिक्किम में सम्पन्न हाल की घटनाओं का असर भी भारत-नेपाल सम्बन्ध पर पड़ा है। सितम्बर 1974 में सिक्किमी जनता के अनुरोध पर भारत ने संविधान में संशोधन करके सिक्किम को भारतीय संघ का एक सहयोगी राज्य का दर्जा दे दिया। नेपाल के हल्कों में भारत के इस कदम को भारतीय साम्राज्यवाद का सबूत माना गया और काठमाण्डू में कई दिनों तक

अति उग्र भारत विरोधी प्रदर्शन हुए। काठमाडू स्थित भारतीय दूतावास पर प्रदर्शन का पहला निशाना बना। कई अन्य भारतीय भी अपमानित किये गये। नेपाली विद्यार्थियों के इस भारत विरोधी प्रदर्शन को कुछ जिम्मेदार नेपाली राजनीतिज्ञों की सहानुभूति और समर्थन भी प्राप्त था। भारत सरकार ने इस प्रदर्शन के खिलाफ एक कड़ा विरोध पत्र नेपाल के विदेश मन्त्री के सम्मुख प्रस्तुत किया।

(5) भारत के संरक्षित राज्य सिक्किम और भूटान

सिक्किम—भारत के पर्वतीय हिमालय अंचल में सिक्किम स्थित है। भारत, नेपाल, भूटान और तिब्बत से घिरे हुए इस रमणीय पर्वतीय देश का कुल क्षेत्रफल अट्ठाईस सौ वर्गमील है। तिब्बत पर चीन के पूर्ण आधिपत्य हो जाने के कारण इस देश का सामरिक महत्व बहुत बढ़ गया है। नाथूला और जेलेपला नामक दो दर्रे तिब्बत से सिक्किम आने के मार्ग हैं जिनके द्वारा यातायात सदा जारी रहा है। अतः सिक्किम चीनियों के लिए उत्तरी भारत में पहुँचने का सबसे छोटा और सरल मार्ग है। इस दृष्टि से सिक्किम भारत का प्रवेश द्वार कहा जा सकता है। यदि भारत और चीन में फिर कोई युद्ध छिड़ जाय और इस युद्ध को अधिक दिनों तक चलने की सम्भावना हो तो चीन का पहला लक्ष्य सिक्किम ही होगा जिसमें वह सभी दिशाओं में आसानी से फैल सके।

अंग्रेजों का प्रवेश—सिक्किम में अंग्रेजों के प्रवेश के पहले तिब्बत, नेपाल, सिक्किम और भूटान के बीच युद्ध सदा होते रहते थे। 1861 में कई बहाने बनाकर ब्रिटिश सेना सिक्किम में घुसी और उस पर अंग्रेजों ने एक सन्धि थोप दी। इसके अनुसार सिक्किम के राजा ने स्थायी रूप से दार्जिलिंग को भारत सरकार को सौंप दिया। भारत और सिक्किम के मध्य आवागमन पर से रोक उठा ली गयी और ब्रिटिश सरकार को सिक्किम का निरीक्षण करने का भी अधिकार प्राप्त हुआ। 1890 और 1893 में चीन तथा ब्रिटिश सरकार के बीच सन्धियाँ हुईं। इनके अनुसार चीन ने सिक्किम पर भारत के संरक्षण को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया और सिक्किम चीन सीमा भी इसी अवसर पर निर्धारित कर दी गयी। ब्रिटिश सरकार ने गंगटोक में अपना एक राजनीतिक अधिकारी नियुक्त किया। शासन में सिक्किम के महाराजा को परामर्श देने के अतिरिक्त राज्य परिषद् की अध्यक्षता करने का अधिकार भी उसे प्राप्त हुआ। 1947 में भारत से अंग्रेजों के हट जाने के बाद भारत पर सिक्किम का यह सारा उत्तरदायित्व आ पड़ा।

1950 की सन्धि—1949 में चीन में कम्युनिस्ट शासन के अभ्युदय से सिक्किम का महत्व बहुत बढ़ गया। अतएव भारत और सिक्किम के बीच 5 दिसम्बर 1950 को एक नयी सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार सिक्किम की सुरक्षा, विदेश सम्बन्ध तथा संचार व्यवस्था का उत्तरदायित्व भारत सरकार ने ग्रहण किया और सिक्किम पूर्ववत भारत का एक संरक्षित प्रदेश स्वीकार किया गया। भारत और सिक्किम के सम्बन्धों का आधार यही समझौता था।

सिक्किम को विभिन्न समस्याओं ने ग्रसित कर रखा था। वहाँ के जनता की आर्थिक स्थिति गिरी हुई है और शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा पिछड़ापन है। राजनीतिक दलों की दशा भी बड़ी शोचनीय है। इन कठिनाइयों के समाधान के लिए भारत ने सिक्किम को पूरी आर्थिक सहायता प्रदान की है। सिक्किम की प्रथम योजना में भारत ने सर्वाधिक सहायता दी जिससे उद्योग, संचार, कृषि, जंगलों और सामाजिक संस्थाओं का विकास किया। सिक्किम की दूसरी योजना के लिए भारत ने एक करोड़ से अधिक रुपये की सहायता दी। भारत की सहायता से वहाँ आर्थिक क्षेत्र

का कई सड़कें बनी हैं। सिक्किम के आर्थिक विकास के लिए भारत सरकार पूर्ण सचेष्ट है।

सिक्किम का जन आन्दोलन (1973) और भारत—मार्च अप्रैल 1973 में सिक्किम में कुछ राजनीतिक घटनाएं वहां हो रहे थे। सिक्किम का सत्ता चोग्याल उच्चस्तरीय राज्य परिषद् बनाती है। इसमें से अठारह सदस्यों का चुनाव होता है और शेष छः चोग्याल मनोनीत करता है। लेकिन चुनाव के मताधिकार बहुत सीमित है। 1973 के प्रारम्भ में राज्य परिषद् का चुनाव हुआ तथा 26 मार्च 1973 को एक छह सदस्यीय कार्यकारी परिषद् ने शपथ ग्रहण किया।

सिक्किम की अधिकांश जनता को यह व्यवस्था पसन्द नहीं था। सिक्किम में राजवंश का शासन है और सरकारी कामकाज में वहां के सभी का प्रतिनिधित्व था लेकिन वास्तविकता यह था कि इस पर केवल चार प्रतिशत लोगों का वर्चस्व था। सिक्किम के विधान के अनुसार उप अल्पसंख्यकों को जो प्रतिनिधित्व प्राप्त था वह परिणाम में दो प्रतिशत के प्रतिनिधित्व के बराबर था।

सिक्किम के दो राजनीतिक दल—राष्ट्रीय कांग्रेस और जनता कांग्रेस ने इस व्यवस्था का विरोध किया और यह मांग की कि शासन व्यवस्था का प्रजातन्त्रीकरण किया जाय। इसपर चोग्याल की सरकार ने जनता कांग्रेस के अध्यक्ष कृष्णचन्द्र प्रधान को गिरफ्तार कर लिया। इसके उपरान्त राष्ट्रीय कांग्रेस और जनता कांग्रेस ने एक संयुक्त कार्रवाई समिति का गठन किया जिसके अध्यक्ष काजी ल्हेन्दुप दोर्जी चुने गये। सिक्किम की अजनतान्त्रिक व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष चलाने का निश्चय किया गया। दोर्जी ने पहले चोग्याल के प्रतिनिधियों से बातें कीं। लेकिन इससे कोई काम नहीं हुआ। तब उन्होंने संघर्ष जारी करने की घोषणा की और कहा कि यह संघर्ष तबतक जारी चलेगा चुनाव कानूनों के खिलाफ होगा। 28 मार्च 1973 को गंगटोक में चोग्याल विरोधी प्रदर्शन का सिलसिला शुरू हुआ और लोगों ने एक व्यक्ति एक मत के नारे लगाये तथा जनता कांग्रेस के अध्यक्ष कृष्णचन्द्र प्रधान की रिहाई की मांग की। लेकिन चोग्याल पर इन प्रदर्शनों का कोई असर नहीं पड़ा।

29 मार्च से प्रदर्शनों में तेजी आने लगी और यह सम्पूर्ण सिक्किम में फैलने लगा। इस जन आन्दोलन ने बाद में विकराल रूप धारण करके चोग्याल के शासन के पांव हिला दिये। चोग्याल ने दमन का रास्ता अपनाया और सैकड़ों व्यक्तियों को कैद कर लिया गया। अप्रैल के प्रथम सप्ताह में सम्पूर्ण सिक्किम में अभूतपूर्व राजनीतिक तनाव रहा। वहां की कानून-व्यवस्था ठप पड़ गयी। स्थिति गृहयुद्ध की हो गयी।

स्थिति को नियंत्रण से बाहर होते देख चोग्याल ने भारत सरकार से मदद मांगी। जनता के प्रतिनिधियों ने भी भारत सरकार से यह अनुरोध किया कि वह कानून और व्यवस्था की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले। सिक्किम की जनता के प्रतिनिधियों ने भारत सरकार से यह आग्रह भी किया कि वह चोग्याल को प्रशासनिक ढांचे में परिवर्तन के लिए बाध्य करे। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि जबतक सिक्किम सरकार प्रशासनिक सुधारों की इच्छा नहीं प्रदर्शित करता तबतक दोनों पक्षों में बातचीत नहीं हो सकता।

सिक्किम के चोग्याल के अनुरोध पर 6 अप्रैल को भारतीय राजनीतिक अधिकारी एस० के० वाजपेयी ने सम्पूर्ण सिक्किम में कानून और व्यवस्था की जिम्मेदारी

अपने हाथ में ले ली और भारत सरकार ने बी. एस. दास को सिक्किम का मुख्य प्रशासक नियुक्त कर दिया। भारत सरकार ने कानून और व्यवस्था की देख रेख के लिए अपनी सेना भी सिक्किम भेज दी। सिक्किम की जनता ने इस कारवाई का स्वागत किया। लेकिन सिक्किम में भारतीय सेना के प्रवेश ने कई प्रश्नों को जन्म दिया। सबसे बड़ा सवाल यह था कि भारतीय सेना सिक्किम में किसके हितों की रक्षा के लिए घुसी? चोग्याल और सिक्किम दरबार के पक्ष में या कि सिक्किम जनता के पक्ष में? यह स्पष्ट है कि सिक्किम की जनता और शासकों के हित आज एक जैसे नहीं हैं एक का हित दूसरे का अहित है। इस हालत में भारत सरकार पर यह जिम्मेवारी है कि वह चोग्याल को जनता के साथ बातचीत करने के लिए बाध्य करे और सिक्किमी जनता के हितों की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयास करे।

8 मई 1973 भारत सरकार की मध्यस्थता के फलस्वरूप सिक्किम में सभी सम्बद्ध पक्षों के बीच एक समझौता हो गया। वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को मान्यता मिल गयी और यह निश्चय किया गया कि सिक्किम में संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना की जाय। इस प्रकार सिक्किम के शासन के प्रजातन्त्रीकरण का रास्ता खुल गया और इसमें भारत सरकार की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही।

भारत के सहराज्य के रूप में सिक्किम—अप्रैल 1973 में जनता की राजनीतिक मांगों को लेकर सिक्किम में हुए जनवादी आन्दोलन ने जब उग्र रूप धारण कर लिया तथा स्थिति जब चोग्याल के नियन्त्रण से बाहर हो गयी तब चोग्याल और जन नेताओं के आग्रह पर भारत सरकार ने राज्य का सम्पूर्ण प्रशासन अपने हाथ में लेकर स्थिति को नियन्त्रित किया। इसके पश्चात् 8 मई 1973 को जनता की मांगों को लेकर भारत सरकार के प्रतिनिधि चोग्याल तथा विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। उपर्युक्त समझौते के अनुसार सिक्किम में पहले से अधिक प्रजातान्त्रिक संविधान की स्थापना के साथ एक पूर्णरूपेण जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना की व्यवस्था की गयी। इस नये संविधान में जनता के मौलिक अधिकार, विधि का शासन, स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष न्यायपालिका तथा जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को और अधिक विधायी तथा प्रशासकीय अधिकार प्रदान किये गये। इस समझौते में वयस्क मताधिकार, सब वर्गों के लिए न्याय संगत प्रतिनिधित्व तथा एक व्यक्ति एक मत के सिद्धांत का स्वीकार किया गया।

15 अप्रिल 1974 को सिक्किम की बत्तीस सदस्यीय विधान सभा के लिए चुनाव हुआ। इस चुनाव में सिक्किम-कांग्रेस ने बत्तीस में इकत्तीस स्थान प्राप्त किये तथा कांग्रेस से प्रतिपक्ष दल नेशनल पार्टी को केवल एक स्थान मिला। विधानसभा के अधिवेशन के प्रथम सत्र में ही सिक्किम कांग्रेस के नेता काजी लेंडुपदोरजी ने एक प्रस्ताव पारित करवा कर चोग्याल के अधिकारों में कटौती की मांग करते हुए कहा कि उनकी भूमिका संवैधानिक प्रधान की होनी चाहिए। प्रस्ताव में भारत सरकार से अनुरोध किया गया कि नया संविधान बनाने के लिए वह सिक्किम में शीघ्र ही अपना सलाहकार नियुक्त करे।

20 जून 1974 को सिक्किम के लिए बनाये गये पहले लिखित संविधान को पारित करने के लिए सार्वजनिक निर्वाचन द्वारा गठित विधानसभा का अधिवेशन शुरू होनेवाला था तो चोग्याल के राजमहल के पहरेदारों और चोग्याल के कुछ समर्थकों तथा उनके परिवार के सदस्यों ने विधानसभा के सामने सदस्यों का घेराव कर दिया और उन्हें भवन में जाने से रोकने की कोशिश की। दो सदस्यों को तो पहरेदार भगा

था। मगर अब परिस्थितियाँ बदल गयीं। भारतीय प्रतिरक्षा के एक सड़क निर्माण विभाग ने स्थानीय मजदूरों की सहायता से कई हजार और चौड़ी सड़कों का निर्माण किया। भारतीय सीमा से लेकर राष्ट्रीय भूटान के कई प्रमुख कस्बों तक ये सड़कें जाती हैं। इसके अतिरिक्त हवाई पट्टियाँ भी बनायी गयी जहाँ हेलीकाप्टर उतर सकते हैं।

भारत के सहयोग से ही भूटान की नयी राजधानी थिम्पू का निर्माण किया गया। आठ हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित यह नगर चारों ओर एक आधुनिक नगर का रूप ले रहा है। इसी नगर में भूटान के प्रशासनिक भवन, सचिवालय और अन्य महत्त्वपूर्ण भवन स्थित हैं। भारत के सहयोग से दूसरे नगर पारो में भी कई महत्त्वपूर्ण भवनों का निर्माण किया गया। विद्यालयों के लिए भवन और अन्य उपयुक्त सामग्री देने के अतिरिक्त भारत सरकार के सहयोग से भूटान में अस्पतालों का भी निर्माण किया गया। भारतीय इंजीनियरों और विशेषज्ञों ने भूटान में विद्युत शक्ति के उत्पादन और विभिन्न स्थानों पर खनिज पदार्थों के खनन के सम्बन्ध में उपयोगी सर्वेक्षण किये। भूटान की शासन पद्धति को आधुनिक बनाने के लिए भी भारतीय विशेषज्ञों का उपयोग किया गया।

सितम्बर 1971 में भूटान संयुक्त राष्ट्रसंघ का 127वाँ सदस्य चुन लिया गया। यद्यपि अपने आकार और जनसंख्या की दृष्टि से यह बड़ा देश नहीं है फिर भी संयुक्तराष्ट्र में इसका प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि भूटान के प्रतिरक्षा और विदेश मामलों में भारत का परामर्श सदा मान्य रहा है फिर भी इस पहाड़ी प्रदेश में अपने राष्ट्रीय अस्तित्व की अभिव्यक्ति की अभिलाषा बढ़ती जा रही थी। इसलिए यह स्वाभाविक था कि इस राष्ट्रवाद को विरोध का रूप लेने से रोकने के लिए भूटान के राजा को संयुक्तराष्ट्र जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी जनता की आवाज पहुँचाने के लिए प्रयास किया जाय। 1966 में ही राजा ने इच्छा व्यक्त की थी कि वह संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनना चाहते हैं मगर भारत द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन करने के बावजूद भूटान ने तुरन्त सदस्यता के लिए आवेदन नहीं दिया। अपितु कई वर्षों तक संयुक्तराष्ट्र महासभा में अपने पर्यवेक्षक भेजकर यह समझने की कोशिश की कि इस अन्तर्राष्ट्रीय मंच का काम किस प्रकार होता है। कुछ लोगों ने यह शंका व्यक्त की कि शायद भूटान को भारत पर विश्वास नहीं रहा है इसलिए वह विदेश मामलों में अपनी राय अन्य देशों पर स्वयं प्रकट करने का प्रयास कर रहा है। मगर वास्तविकता यह है कि भूटान के महाराजा को इस बात का ज्ञान था कि यदि उन्होंने भारत और चीन के बीच निश्चित नीति या अनावश्यक तटस्थता की नीति अपनायी तो भूटान के लिए खतरा पैदा हो सकता है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनने के बाद भी भूटान विदेशी और सैनिक मामलों में भारत के परामर्श को ही महत्त्व प्रदान करता रहा। भूटान के विकास कार्य में भारत का बहुत बड़ा योगदान रहा है और यह भूटान के हित में है कि जहाँ तक हो सके भारत को ही अपनी प्रगति के रास्ते में मार्गदर्शक स्वीकार करे क्योंकि दोनों देशों की परिस्थितियाँ समान हैं। भारतीय विशेषज्ञ और कारीगर अन्य विदेशी कारीगरों की अपेक्षा कम मूल्य में प्राप्त किये जा सकते हैं तथा भूटान के छात्रों की शिक्षा-दीक्षा के लिए भारत से अधिक उपयुक्त स्थान कहीं भी नहीं है।

बंगला देश में घट रही घटनाओं के प्रति भूटान ने बंगला देश को अपना नैतिक समर्थन दिया और भारत के बाद वह ऐसा देश था जिसने स्वतन्त्र

बंगला देश को मान्यता प्रदान की। 20 अगस्त 1972 को भूटान ने यह घोषणा कर दी कि वह केवल भारत और बंगला देश के साथ ही राजनयिक सम्बन्ध रखेगा।

सितम्बर 1972 में भूटान के नरेश की मृत्यु के बाद दोरजी जिग्मी सिंग्ये वांगचुक भूटान के नये नरेश बने। इस अवसर पर भारतीय प्रधान मंत्री की बधाई का उत्तर देते हुए नये नरेश ने कहा कि मेरे हृदय में भी भारत के प्रति वही सम्मान की भावना है जो मेरे पिता के दिल में थी। इससे यह स्पष्ट है कि भूटान के साथ भारत का सम्बन्ध घनिष्ठतम होता जा रहा है।

राष्ट्रमण्डल, ब्रिटेन और भारत

(INDIA BRITAIN AND COMMONWEALTH)

राष्ट्रमण्डल का स्वरूप—ब्रिटिश साम्राज्य (British Empire) ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (British Commonwealth) और राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) एक ही संस्था के द्योतक हैं। तीनों शब्द लगभग समानार्थक हैं और विकल्पानुसार प्रयोग में लाये जाते हैं। किन्तु आजकल राष्ट्रमण्डल शब्द का ही अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है।

राष्ट्रमण्डल एक विचित्र प्रकार का संगठन है जिसे न तो प्रादेशिक संगठन कहा जा सकता है और न एक राज्य (State) का संगठन ही कहा जा सकता है। यह न राष्ट्र है न मैत्री संधि और न संघ ही है। इसे राज्यापरि संस्था भी नहीं कहा जा सकता है।

इस स्वरूप के बावजूद राष्ट्रमण्डल के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। आधुनिक युग का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मंच है जिसके प्रस्तावों और निर्णयों का विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रों के बीच यह स्वेच्छापूर्ण सहयोग का एक प्रकार है और अन्तर्राष्ट्रीय जगत की एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यवस्था है। यह एक ऐसा मंच है जिस पर विश्व के कुछ देश समय समय पर एकत्रित होते हैं। एक दूसरे के विचारों को जानने की चेष्टा करते हैं और जिन बातों पर सम्मत होते हैं उनमें पारस्परिक सहयोग के लिए कार्यक्रम बनाते हैं और उसे कार्यान्वित करते हैं। सदस्य राज्यों के बीच अनेक मतभेदों के बावजूद राष्ट्रमण्डल सहयोग का प्रतीक है।

औपनिवेशिक सम्मेलन—1887 में सम्राज्ञी विक्टोरिया की जुबली के हेतु लन्दन में स्वगामी उपनिवेश के प्रधानमन्त्री एकत्र हुए। इस अवसर का लाभ उठाकर स्वशासी उपनिवेशों तथा साम्राज्य के कुछ बड़े उपनिवेशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन सम्पन्न किया गया। यह प्रथम औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conference) कहलाया। सात वर्ष बाद एक दूसरा अनौपचारिक औपनिवेशिक सम्मेलन ओटावा में हुआ। इसमें ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा एवं व्यापार व्यवस्था तथा व्यापारिक सम्बन्धों पर विचार हुआ। फिर 1897 में सम्राज्ञी विक्टोरिया हीरक जयन्ती के हेतु औपनिवेशिक मन्त्रियों के आगमन का लाभ उठाकर द्वितीय औपनिवेशिक सम्मेलन लन्दन में किया गया। 1902 में सम्राट सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के अवसर पर औपनिवेशिक प्रधानमन्त्रियों का तीसरा सम्मेलन हुआ। चौथा औपनिवेशिक सम्मेलन 1907 में हुआ। उपरोक्त सभी सम्मेलनों में यह महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इसने सम्मेलन को एक नया स्थायी रूप दिया।

नये विधान के अनुसार प्रथम इम्पीरियल कान्फ्रेंस 1911 में हुआ। इसने 1907 के कार्य को आगे बढ़ाया और सम्मेलन के गठन, उपनिवेश कार्यालय के पुनर्गठन और संधियों के सम्बन्ध में डोमिनियनों से परामर्श के सम्बन्ध में कार्यवाही की। विश्वशान्ति सन्धि समझौते, युद्ध प्रारम्भ या बन्द करने के क्षेत्र में डोमिनियनों का

कोई शक्ति नहीं दी गयी फिर भी संधियों के सम्बन्ध में सम्मेलन ने इस आशय का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया कि हेग सम्मेलन (Hague Conference 1911) के ब्रिटिश प्रतिनिधियों को दिये जानेवाले अनुदेशों (instructions) तैयार करते समय डोमिनियनों से भी परामर्श लिया जायगा और उस सम्मेलन में अस्थायी रूप से स्वीकृत किये गये डोमिनियनों को प्रभावित करने वाले कन्वेंशनों को उनके विचार के लिए डोमिनियनों की सरकार को भेजा जायगा।

विदेश नीति के सम्बन्ध में डोमिनियनों को सीमित अधिकार का पता इससे चलता है कि 4 अगस्त 1914 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा डोमिनियनों से परामर्श लिए बिना ही कर दी गयी। ब्रिटिश सरकार की इस घोषणा के द्वारा डोमिनियनों को भी युद्ध में शामिल कर लिया। डोमिनियनों ने इसका विरोध नहीं किया और वे उत्साह से युद्ध प्रयासों में जुट गये। विश्व युद्ध में डोमिनियनों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

विश्व युद्ध के कारण 1915 में होनेवाला इम्पीरियल कांफ्रेंस नहीं हो सका लेकिन डोमिनियन मंत्रियों की लन्दन यात्रा का लाभ उठाकर उनमें विचार विमर्श किया गया। इस विचार विमर्श के क्रम में डोमिनियन सरकारों के प्रतिनिधियों ने यह माँग की कि ब्रिटिश विदेश नीति के निर्धारण में हिस्सा बटाने का अवसर उन्हें भी मिलना चाहिए। डोमिनियनों की यह माँग न्यायोचित थी। ब्रिटिश विदेश नीति का प्रभाव उन पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ रहा था। इसी के परिणामस्वरूप उन्हें युद्ध में शामिल होना पड़ा था और युद्ध में उन्हें अपार धन जन का बलिदान करना पड़ रहा था। लेकिन प्रारम्भ में ब्रिटिश सरकार इस माँग को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हुई। 1916 में जब लायड जार्ज प्रधान मन्त्री हुए तो उन्होंने इस प्रस्ताव पर विचार किया और इस निर्णय के लिए डोमिनियनों के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन के साथ साथ इम्पीरियल वार कबिनेट (Imperial War Cabinet) की स्थापना की गयी। वार कबिनेट की बैठकों में युद्ध और शान्ति दोनों समस्याओं पर विचार होता रहा। वार कबिनेट की बैठकों में समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों में प्रधान मंत्रियों से सलाह मशविरा करने की प्रथा चल पड़ी। यदि देखा जाय तो आजकल होनेवाले प्रधान मन्त्री सम्मेलन का यह पूर्व रूप था। सम्मेलन में यह भी निर्णय किया गया कि इम्पीरियल वार कबिनेट का सम्मेलन प्रतिवर्ष बुलाया जाय।

4 अप्रिल 1917 को इम्पीरियल वार कांफ्रेंस ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके भारत को स्थायी रूप से अपना सदस्य बना लिया। तब से भारत प्रत्येक इम्पीरियल कांफ्रेंस के सम्मेलनों में नियमित ढंग से सदस्य के रूप में भाग लेता रहा। भारत के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण घटना थी। यह निर्णय इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि भारत की डोमिनियन स्थिति प्राप्त करने की आकांक्षाओं को पहली बार स्वीकृति मिली और स्वशासी अधिराज्य हुए बिना कुछ अंशों में भारत को डोमिनियन का दर्जा मिल गया।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रमण्डल का विकास—प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रमण्डल का स्वरूप निखरने लगा। डोमिनियनों को पृथक रूप से पेरिस के शांति सम्मेलन में भाग लेने का अधिकार मिला और उनके प्रतिनिधियों ने स्वतन्त्र रूप से वर्साय संधि एवं अन्य शान्ति संधियों पर हस्ताक्षर किए। वे राष्ट्रसंघ के सदस्य भी बनाये गये। डोमिनियनों के साथ साथ भारत को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को विकसित करने का मौका मिला।

पेरिस के शान्ति सम्मेलन के उपरान्त डोमिनियनों को तेजी से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र देशों का दर्जा दिया जाने लगा। डोमिनियन सरकारें अब विदेशों में अपने कूटनीतिक तथा वाणिज्य प्रतिनिधि भेजने लगी थीं। 1926 में कनाडा ने वाशिंगटन में अपने दूत नियुक्त किये। डोमिनियन सरकारें विदेशी सरकारों के साथ सभी प्रकार की पृथक सन्धियों के सम्बन्ध में बातचीत करने लगी थीं। इस प्रकार डोमिनियनें अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना स्थान बनाते रहे। यह प्रक्रिया कभी तेजी से चलती कभी मन्द गति से।

राष्ट्रमण्डल और द्वितीय विश्व युद्ध—डोमिनियनों की स्वतन्त्र और विशिष्ट स्थिति का भान द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू होने पर हुआ है। यह प्रथा स्पष्ट हो गयी कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों को स्वतन्त्र रूप से यह निर्णय करने का अधिकार है कि वे युद्ध में भाग लेना चाहते हैं या नहीं। प्रथम विश्व-युद्ध के समय डोमिनियनों को यह अधिकार नहीं था।

राष्ट्रमण्डल का वर्तमान स्वरूप—द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त तक राष्ट्रमण्डल मुख्यतः शुद्ध श्वेत देशों की संस्था थी लेकिन युद्धोपरान्त राष्ट्रमण्डल ने एक नये युग में प्रवेश किया। युद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका के कई ब्रिटिश उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये और उन्होंने राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निश्चय किया। राष्ट्रमण्डल का वर्तमान स्वरूप 1947 में भारतीय उपमहाद्वीप की स्वाधीनता के बाद सामने आया। स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद भारत और पाकिस्तान ने राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निश्चय किया। 1950 में गणराज्य बन जाने पर भी भारत ने राष्ट्रमण्डल से अलग न होने का फैसला किया और ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार किया। इस कारण ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के स्थान पर इसे केवल राष्ट्रमण्डल कहने का निश्चय किया गया। यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ भारत, पाकिस्तान, लंका आदि देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहना स्वीकार किया वहाँ बर्मा और दक्षिणी आयरलैंड सदस्यता से अलग हो गये। बाद में जो भी ब्रिटिश उपनिवेश स्वाधीन हुए उन्होंने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता स्वीकार कर ली। इस समय राष्ट्रमण्डल के सदस्य देशों की संख्या अठाईस है जिनके नाम हैं ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, भारत, पाकिस्तान, लंका, घाना, नाइजीरिया, साइप्रस, सियरा लियोन, जमैका, त्रिनिदाद टोबेगो, युगाण्डा, केन्या, मलयेशिया, तांजानिया, मलावी, माल्टा, जाम्बिया, गाम्बिया, सिंगापुर, गुयाना, बोत्सवाना, लेसोथ, बर्बाडोस, मारिशस और स्वाजीलैंड। इनके अलावा हांगकांग, जिब्राल्टर, फाकलैण्ड द्वीप, ब्रिटानी हौंडूरस, फिजी, गिनबर्ट आदि भी राष्ट्रमण्डल से सम्बद्ध हैं। ये सभी ब्रिटेन के संरक्षित अथवा आश्रित प्रदेश हैं। राष्ट्रमण्डल के स्वाधीन सदस्य देशों की कुल जनसंख्या अस्सी करोड़ से भी अधिक है और ये एक करोड़ वर्गमील से भी अधिक भू भाग पर फैले हुए हैं।[1]

राष्ट्रमण्डल का संगठन—जुलाई 1965 तक ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों के मामलात औपनिवेशिक कार्यालय से सम्बद्ध थे। 1925 में ब्रिटेन तथा राष्ट्रमण्डल के स्वशासी सदस्यों के सम्बन्धों के लिए डोमिनियन के मामलों के लिए एक अलग मन्त्री की नियुक्ति की गयी। जुलाई 1947 में डोमिनियन मामलों के मन्त्री और

1 1965 में स्वतन्त्रता की एकतरफा घोषणा करके रोडेशिया ने राष्ट्रमण्डल में बना रहने का निश्चय किया। इससे पूर्व 1961 में दक्षिणी अफ्रीकी संघ राष्ट्रमण्डल से अलग हो गया था।

कार्यालय के नाम बदल कर क्रमशः राष्ट्रमण्डल मन्त्री (Secretary of State for Commonwealth Affairs) और राष्ट्रमण्डल सम्बन्धी कार्यालय रख दिये गये। अगस्त 1966 से औपनिवेशिक कार्यालय (Colonial Office) का राष्ट्रमण्डल कार्यालय में विलय कर लिया गया और राष्ट्रमण्डल कार्यालय की स्थापना की गयी। 17 अक्टूबर 1968 को ब्रिटेन के विदेश मन्त्रालय (Foreign Office) में राष्ट्रमण्डल कार्यालय को भी मिला लिया गया। यह प्रशासनिक समस्याओं को दूर करने की दृष्टि से किया गया।

जुलाई 1964 के राष्ट्रमण्डल के प्रधान मन्त्री सम्मेलन के बाद प्रकाशित विज्ञप्ति में राष्ट्रमण्डल सचिवालय की स्थापना के लिए प्रस्ताव तैयार करने के निर्देश दिये गये थे। जून 1965 के सम्मेलन में प्रस्ताव स्वीकार कर लिये गये। फलस्वरूप राष्ट्रमण्डल सचिवालय का विधिवत गठन हुआ। कनाडा के आर्नोल्ड स्मिथ राष्ट्रमण्डल के पहले महासचिव बनाये गये जिन्होंने 17 अगस्त 1968 को कार्यभार सम्हाला।

ब्रिटिश ताज राष्ट्रमण्डल का प्रमुख अंग है जिसे सभी सदस्य राष्ट्र राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपि सभी सदस्य राष्ट्रों के सम्बन्ध में कोई वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है। ताज (Crown) अथवा सम्राट या सम्राज्ञी को केवल प्रतीक के रूप में राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष माना जाता है।

राष्ट्रमण्डल का दूसरा और सर्वाधिक प्रभावशाली अंग राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्री सम्मेलन (Commonwealth Prime Minister s Conference) है। इसका अधिवेशन समय-समय पर लन्दन में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की अध्यक्षता में होता है। 1944 से लेकर अबतक (1969 तक) इस तरह के बारह सम्मेलन हुए हैं। इन सम्मेलनों में राजनीतिक और आर्थिक मसले चर्चा के मुख्य विषय रहे हैं। सम्मेलन अपने समय के उभरते हुए अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करता है। 1965 के सम्मेलन में वियतनाम में शांति स्थापना की दृष्टि से ब्रिटिश प्रधान मन्त्री हराल्ड विल्सन की अध्यक्षता में एक शान्ति समिति बनायी गयी। इसके जिम्मे यह काम सौंपा गया कि यह वियतनाम समस्या से सम्बन्धित राष्ट्रों से विचार विनिमय करके वियतनाम में शांति स्थापना के प्रयास करे। इसी सम्मेलन में रोडेशिया के सवाल पर भी विचार किया गया।

राष्ट्रमण्डल में भारत की स्थिति

राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत में प्रारम्भ से ही विवादास्पद विषय रहा है। स्मरणीय है कि राष्ट्रमण्डल की पूर्ववर्ती संस्था इम्पीरियल कान्फ्रेंस में भारत ने 1917 में प्रवेश किया और तब से लेकर अबतक यह इसका सदस्य बना हुआ है। 1947 में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब प्रश्न यह उठा कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहे या नहीं। भारत सरकार ने राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का निश्चय किया। 1950 में भारत का गणतन्त्रीय संविधान लागू हुआ। उस समय यह प्रश्न उठा कि एक गणराज्य किस प्रकार ऐसी संस्था का सदस्य रह सकता है जिसका प्रधान एक राजा है। लेकिन इन समस्याओं का समाधान एक समझौता के द्वारा हो गया। भारतीय लोकमत को संतुष्ट करने के लिए ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से ब्रिटिश शब्द को हटा दिया गया और इस तरह इस संगठन का नाम ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के स्थान पर केवल राष्ट्रमंडल हो गया। अब प्रश्न था कि ब्रिटिश सम्राट के प्रति भारत का

प्रस्ताव किया। इस प्रस्ताव को स्वीकार करने का अर्थ था कांग्रेस ने तथा नेहरू ने विचारों को मानकर निश्चय कर लिया कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से हर प्रकार के सम्बन्धों को तोड़ दे।[1]

स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री बनने के उपरान्त कांग्रेस कार्यक्रम की अध्यक्षता करते वाले पं० नेहरू ने निश्चय किया कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा। अपनी इस परिवर्तित मनोवृत्ति को उचित ठहराते हुए नेहरू ने कहा वर्तमान विश्व में जबकि अनेक विध्वंसकारी शक्तियाँ सक्रिय हैं और हम प्राय युद्ध की कगार पर खड़े हैं मैं सोचता हूँ कि किसी समुदाय से सम्बन्ध विच्छेद करना अच्छी बात नहीं। एक ऐसे सहकारी समुदाय को नष्ट करने की अपेक्षा जीवित रखना ही अच्छा है जो वर्तमान विश्व में कुछ हितकारी कार्य कर सकता है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के और सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए लाभदायक है। इससे भारत को दूसरा की प्रगति में सहयोग मिलेगा।[2]

इस स्थल पर इस प्रश्न का उठना बिल्कुल स्वाभाविक है कि नेहरू के विचारों में इस तरह का परिवर्तन किन किन कारणों से प्रेरित हुआ था। भारतीय संविधान सभा में बोलते हुए नेहरू ने राष्ट्रमण्डल में बने रहने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये थे

(1) यह समझौता स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित है और स्वतन्त्र इच्छा द्वारा ही रद्द भी किया जा सकता है।

(2) परस्पर मन्त्रीपूर्ण व्यवहार तथा सहयोग की इच्छा के अतिरिक्त किसी सदस्य पर किसी तरह का कोई दायित्व या बन्धन नहीं है और उसमें यह शर्त है प्रत्येक राष्ट्र अपने इस व्यवहार तथा सहयोग की मात्रा का निश्चय स्वयं अपनी नीति के आधार पर करेगा।

(3) ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमण्डल का प्रतीक माना गया है परन्तु व्यवहार में वह नितांत प्रभावहीन है।

(4) भारत की स्वाधीनता तथा स्वतन्त्रता में निर्णय में जरा भी सीमित या प्रभावित नहीं हुई है।

(5) भारत राष्ट्रमण्डल को न तो किसी ऐसी उच्चतर संस्था का स्थान देने को ही तैयार है कि वह राष्ट्रों की सम्प्रभुता को सीमित करनेवाली बने और न भारत इस बात के लिए कभी सहमति देगा कि सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक विवाद को राष्ट्रमण्डल के सम्मुख पेश किया जाय। यह एक अलग बात है कि भारत सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों पर मन्त्रीपूर्ण वार्ता में भाग लेने के लिए तैयार हो जाय।

(6) भारत प्रजातिभेद और उपनिवेशवाद पर अपने दृष्टिकोण को अलग रखेगा और उसे इन प्रश्नों पर स्वतन्त्र निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

---

ment of India in the reactionary foreign policy of Britain
—S R Mehrotra *India and the Commonwealth* p 130

1 Thus the Congress had accepted Jawaharlal Nehru's view that India sever all connections with the British Commonwealth —R Coupland *The Indian Problem* p 100

2 *Constituent Assembly Debates* May 16 1949

(7) राष्ट्रमण्डल में भारत के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहयोग मिलेगा। अन्य देश भी पारस्परिक लाभ के सिद्धांत के आधार पर ही भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता प्रदान करना चाहते हैं। आज एक दूसरे पर निर्भरता का युग है। भारत अपने व्यापार वाणिज्य और अपनी अनेक वस्तुओं के लिए दूसरों पर निर्भर है। ब्रिटेन से हमारे प्राचीन सम्बन्ध है और हम कुछ वस्तुओं के लिए बहुत कुछ उस पर निर्भर हैं। अतः उसके साथ पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद कर देने से हमारी अर्थ व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(8) सम्पूर्ण विश्व यह बात देखेगा और समझेगा कि भारत उनके साथ भी सहयोग स्थापित कर सकता है जिनके विरुद्ध अब तक उसने संघर्ष किया है।

(9) राष्ट्रमण्डल की सदस्यता अन्य देशों के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण और सहयोगी सम्बन्धों की स्थापना के मार्ग में बाधक नहीं।

(10) राष्ट्रमण्डल से पृथकता का अर्थ होगा भारत को कुछ समय के लिए विश्व से पूर्णतः पृथक हो जाना। यह एक असंभव स्थिति होगी और वातावरण के प्रभाव से हमारा झुकाव किसी न किसी ओर अवश्य होगा।

इन तथ्यों के अतिरिक्त नेहरू को एक दो और बातों ने राष्ट्रमण्डल में भारत के बने रहने के निश्चय किया और प्रेरित किया। इसका एक आर्थिक कारण था। आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकांश व्यापार ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के देशों पर निर्भर था। इस हालत में एकाएक राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने में कठिनाई थी।

सैनिक दृष्टिकोण से उस समय भारत पूर्णतया ब्रिटेन पर आश्रित था। अपने विस्तृत समुद्रतटीय सीमा की रक्षा के लिए भारत ब्रिटेन की नौ-सेना पर आश्रित था। भारत का पूरा सैनिक संगठन ब्रिटिश पद्धति पर आधारित था और सैनिक आयुधों के लिए वह ब्रिटेन का मुहताज था।

राष्ट्रमण्डल में बने रहने के निर्णय में कुछ लोगों के व्यक्तित्व ने निर्णायक पार्ट अदा किया। अन्तिम ब्रिटिश गवर्नर जेनरल लार्ड माउंटबेटन ने नेहरू को निश्चित रूप से प्रभावित किया। स्वयं नेहरू की अंगरेजियत ने अन्तिम फैसले में महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया।[1] जिस समय जवाहर लाल नेहरू ने राष्ट्रमण्डल में बने रहने का फैसला किया उस समय उनके सामने अन्य उद्देश्यों के साथ शायद एक उद्देश्य यह भी रहा होगा कि इस मंच के द्वारा भारत नवोदित अफ्रीकी और एशियाई देशों का सरगना बन सकता है। स्वाधीनता की तरह दूसरे मामलों में भी उनका मार्गदर्शन कर सकता है। किन्तु नेहरू की नीतियों की विफलता के कारण ऐसा न हो सका और आज स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि भारत में न केवल विरोधी दलों (विशेषकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी) की ओर से राष्ट्रमण्डल छोड़ने की माँग की जाती है बल्कि प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी भी परोक्ष रूप से यह स्वीकार करने लगी हैं कि हो सकता है कि ऐसा समय आय जबकि राष्ट्रमण्डल से भारत को अलग होना पड़े।

1 अंग्रेजी सभ्यता तथा विचारधारा के प्रति नेहरू को बड़ा मोह था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है All my prelection (apart from the political plane) are in favour of England and English people and if I have become what is called an uncompromising opponent of British rule in India it is almost in spite of myself Jawaharlal Nehru *An Autobiography* p 419

फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राष्ट्रमण्डल में भारत के बने रहने का जवाहर लाल नेहरू का निर्णय बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। गणतन्त्र बनने के बाद नेहरू ने भारत के राष्ट्रमंडल में बने रहने का जो निर्णय किया उससे प्रभावित होकर ही ब्रिटेन के अन्य उपनिवेश स्वाधीन होने के बाद राष्ट्रमण्डल में शामिल हुए और उसे विशाल संगठन का रूप दिया। इसी कारण जवाहरलाल को आधुनिक राष्ट्रमण्डल का पिता माना जाता है।

राष्ट्रमण्डल के साथ भारत का सम्बन्ध—इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रमंडल में रहने से भारत की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती और अपनी नीति के निर्धारण में वह पूर्णतया स्वच्छन्द है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रमंडल की सदस्यता भारत के लिए पूरी तरह उपयोगी है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्रमण्डल का नेता ब्रिटेन है और यह एक मूलतः ब्रिटिश संस्था है। पर भारत के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में भारत के प्रति ब्रिटेन का रुख अमैत्रीपूर्ण रहा है। भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से सत्य है। उसने भारत के विरुद्ध पाकिस्तान का हमेशा समर्थन किया है। 1965 में कच्छ के मामले पर उसने पाकिस्तान का पक्ष लिया। कश्मीर के प्रश्न पर उसने सदा पाकिस्तान का समर्थन किया है। 1965 के भारत पाकिस्तान संघर्ष में ब्रिटेन ने भारत को आक्रामक कहा और मुसीबत के दिनों में भारत को सैनिक सहायता देने से इनकार किया। ब्रिटेन के लिए भारत और पाकिस्तान दोनों ही देश समान थे क्योंकि दोनों राष्ट्रमण्डल के सदस्य थे। लेकिन ब्रिटिश सरकार पहले तटस्थ रही और अपनी आँखें पाकिस्तानी घुसपैठियों की ओर से बन्द कर ली। भारत पाक संघर्ष में ब्रिटेन ने निश्चय ही एक पक्षीय दृष्टिकोण अपनाया।

भारत में ब्रिटेन के इस रवैये के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई और 24 सितम्बर 1965 में भारतीय संसद् में हुई बहस के दौरान में यह माँग की गयी कि भारत राष्ट्रमण्डल का परित्याग कर दे। एक सदस्य ने कहा कि भारत के समक्ष अब दो ही रास्ते हैं। वह राष्ट्रमण्डल को छोड़ दे या ब्रिटेन को राष्ट्रमण्डल का नेतृत्व करने से रोक दे।

केन्या के प्रवासी भारतीयों की समस्या को लेकर 1968 के प्रारम्भ में ब्रिटेन और भारत के सम्बन्ध में पुनः तनाव पैदा हुआ और भारत में राष्ट्रमंडल के परित्याग की बात उठने लगी। 1963 में जब केन्या स्वतन्त्र हुआ उस समय वहाँ पचीस हजार के लगभग भारतीय निवास करते थे। केन्या की स्वतन्त्रता के अवसर पर भारतीयों के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न हो गयी। यह समस्या उनकी नागरिकता से सम्बन्धित थी। उस समय भारत सरकार ने चार भारतीयों को पासपोर्ट दिया और शेष भारतीय ब्रिटेन के पासपोर्ट पर ब्रिटेन में रहने लगे।

हाल के वर्षों में अफ्रिकी देशों में सदियों की गुलामी के बाद अफ्रिकीकरण की जो भावना पैदा हुई उससे केन्या की सरकार अछूती नहीं रह सकी। केन्या से पहले तंजानिया और उगांडा में एशियाई गैर नागरिकों को निष्कासित किया जा चुका था। फरवरी 1968 में केन्या की सरकार ने यह निश्चय किया कि ऐसे एशियाई लोगों को जो वहाँ के नागरिक नहीं हैं उनके साथ केन्या में गैर-नागरिक जैसा व्यवहार किया जाय। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि केन्या में बसे एशियाइयों

को जीवन यापन से वंचित हो जाना पड़ेगा।

केन्या सरकार के इस निर्णय से प्रवासी भारतीयों में तहलका मच गया। 1963 में केन्या की स्वाधीनता के समय ब्रिटिश पासपोर्ट प्राप्त करके वे ब्रिटिश नागरिक बन गये थे। अतः यह उम्मीद की जा सकती थी कि ब्रिटेन इन लोगों के प्रति अपना जिम्मेवारी का निर्वाह करेगा लेकिन जब केन्या के भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिक अपने को वहाँ अरक्षित अनुभव करके ब्रिटेन भागने लगे तो ब्रिटेन ने एशियाई बाढ़ को रोकने के उद्देश्य से संसद में एक विधेयक पेश किया। इस विधेयक का उद्देश्य 1 मार्च 1968 के बाद केन्याई भारतीयों का ब्रिटेन में प्रवेश से रोकना था। ब्रिटिश संसद ने इस विधेयक को पारित कर दिया। ब्रिटेन के इस कानून के मुताबिक उस पासपोर्ट की कोई कीमत नहीं रह। जो ब्रिटेन ने दिये थे तथा केन्या के भारतीय अब ब्रिटेन में जाकर नहीं बस सकते थे।

इस घटना ने भारत और ब्रिटेन के संबंध में तनाव उत्पन्न कर दिया। केन्या के भारतीय मूल के ब्रिटिश नागरिकों की जिम्मेवारी स्पष्टतः ब्रिटेन पर थी। लेकिन ब्रिटेन ने इस जिम्मेवारी को निभाने से मुँह मोड़ लिया। इस स्थिति में भारत क्या करता? जहाँ तक कानूनी स्थिति का संबंध था भारत पर उनकी कोई जिम्मेवारी नहीं थी। किन्तु समस्या का एक मानवीय पक्ष भी था। इसके अतिरिक्त केन्या और ब्रिटेन के निर्णयों से प्रभावित होने वाले भारतीय ही सबसे अधिक थे।

जिस समय ब्रिटिश संसद में ब्रिटेन में आनेवाले एशियाइयों को रोकने का विधेयक पेश हुआ उस समय भारत में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अखिल भारतीय कांग्रेस की संसदीय पार्टी में यह सुझाव दिया गया कि ब्रिटिश सरकार से बदला लेने के लिए राष्ट्रमण्डल छोड़ दिया जाय और भारत में ब्रिटिश सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया जाय। यद्यपि प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी ने इन सुझावों को अव्यावहारिक बतलाया फिर भी भारत सरकार ने ब्रिटिश हाइ कमिश्नर जान फ्रीमैन को यह बतला दिया कि एशियाइयों को ब्रिटेन प्रवेश से रोकने वाले अधिनियम का भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों पर घातक असर पड़ेगा। ब्रिटिश सरकार पर इस विरोध का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और 29 फरवरी 1968 को उक्त विधेयक स्वीकार करके केन्या के प्रवासी भारतीयों के ब्रिटिश प्रवेश को रोक दिया गया।

राष्ट्रमण्डल का भविष्य—ब्रिटेन की नीति के कारण राष्ट्रमण्डल की बुनियाद निरन्तर खोखली होती जा रही है। ब्रिटेन में पहले राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिक को विशेष सुविधा दी जाती थी। परन्तु 1962 में ब्रिटेन ने राष्ट्रमण्डलीय प्रवास अधिनियम (Commonwealth Immigration Act) द्वारा राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिकों का विशेष स्थिति का समाप्त कर उन्हें लगभग सामान्य विदेशियों की स्थिति में ला दिया है। यूरोपीय साझा बाजार में शामिल होने की ब्रिटिश आकांक्षा ने राष्ट्रमण्डल की स्थिति को अत्यन्त नगण्य बना दिया है। 26 अक्टूबर 1964 में ही ब्रिटिश सरकार ने खाद्य पदार्थों आदि को छोड़कर लगभग सभी आयातित वस्तुओं पर चाहे वे राष्ट्रमण्डलीय देशों से आयातित हों अथवा अन्य देशों से उनके मूल्य का पन्द्रह प्रतिशत शुल्क लगा दिया जिससे राष्ट्रमण्डलीय देशों को मिलने वाला व्यापारिक लाभ एक बड़ी सीमा तक नष्ट हो गया। रोडेशिया के प्रति ब्रिटेन की ढुलमुल नीति ने राष्ट्रमण्डल के अफ्रीकी देशों के विश्वास को एकदम समाप्त कर दिया। अब ब्रिटेन द्वारा साझा बाजार में सम्मिलित हो जाने पर तो राष्ट्रमण्डलीय देशों को और भी अधिक व्यापारिक हानि उठाना पड़ेगा। ब्रिटेन के इस प्रकार के

मूलत राष्ट्रमण्डल उन देशों का ढीला-सा संगठन है जो कि किसी समय में ब्रिटिश दासता में जकड़े हुए थे। चूंकि ब्रिटेन ने समय को पहचान कर इन देशों को शांतिपूर्ण ढंग से स्वराज्य दे दिया और आर्थिक विकास में सहायता दी। इसलिए ये देश राष्ट्रमण्डल के रूप में ब्रिटेन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए राजी हो गये। लेकिन हाल के वर्षों में ब्रिटेन ने अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर ऐसे निश्चय किये हैं जो राष्ट्रमण्डल के अधिकांश देशों के खिलाफ पड़ते हैं। इससे राष्ट्रमण्डल में ब्रिटेन का विरोध बढ़ा है अब यह विरोध चरम सीमा पर पहुँच रहा है।

इसके मुख्य कारण हैं—दक्षिण अफ्रिका के जातिवादी शासकों को यह कहकर हथियार देना कि वे गुड होप अंतरीप में समुद्री मार्ग की सुरक्षा के लिए हैं जबकि सही मानें में इन हथियारों का प्रयोग गोरे जातिवादी शासक देश की बहुसंख्यक काली जनता को गुलाम बनाये रखने के लिए करेंगे।

दूसरा कारण यह है कि ब्रिटेन ने मारीशस को आजादी देते समय हिंद महासागर के कुछ टापुओं को मारीशस से अलग करके सीधे अपने शासन में कर लिया था। अब उनमें से एक बड़े टापू डियागो गार्शिया में अमेरिका के सहयोग से सैनिक अड्डा बनाया जा रहा है। कहा तो यह जाता है कि यह अड्डा केवल संचार साधनों के लिए बनाया जा रहा है लेकिन सभी जानते हैं कि यदि यह अड्डा बन गया तो वहाँ अमरिका परमाणु अस्त्र रखेगा और उसका मुकाबला करने के लिए रूसी जलपोत हथियारों के साथ हिंद महासागर में गश्त लगाया करेंगे। इस प्रकार हिंद महासागर परमाणु अस्त्रों की परिधि में आ जायगा और फिर यदि लड़ाई शुरू हुई तो हिंद महासागर के चारों ओर के देश उससे प्रभावित हुए बिना न रहेंगे।

तीसरा कारण ब्रिटेन की पुर्तगाल समर्थक नीति है। अफ्रिका महाद्वीप में आज पुर्तगाल ही सबसे बड़ा उपनिवेशवादी राष्ट्र है और अंगोला तथा मोजम्बीक के दो बड़े देश लिस्बन के तोपों के नीचे पिस रहे हैं। ब्रिटिश सरकार एक पुरानी संधि के मातहत लगातार पुर्तगाल का समर्थन कर रही है। मोजम्बीक में जम्बेजी नदी पर बड़ा बाँध बनाने के लिए पुर्तगाल की सहायता ब्रिटिश कम्पनियाँ लंदन सरकार के इशारे पर कर रही है।

चौथा कारण ब्रिटेन की अपनी जातिभेद की नीति है। पूर्वी अफ्रिका में रहने वाले हजारों भारतीयों को ब्रिटेन ने अपने पासपोर्ट दिये थे अब जबकि उन्हें अफ्रिकी देशों से निकाला जा रहा है तब ब्रिटेन उन्हें अपने यहाँ घुसने नहीं देता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार जिन एशियाइयों के पास ब्रिटिश पासपोर्ट है वे ब्रिटिश नागरिक हैं और उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा ब्रिटेन के अन्य नागरिकों के साथ किया जाता है।

पाँचवाँ कारण ब्रिटेन की भेदभाव वाली आर्थिक नीति भी है। ब्रिटेन यूरोपीय साझा मंडी में शामिल होने का यत्न कर रहा है और इसमें राष्ट्रमण्डल के देशों को अपना माल ब्रिटेन में बेचने में अनेक कठिनाइयाँ होंगी। उन्हें दूर करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया जा रहा है।

छठा कारण ब्रिटेन की रोडेशिया सम्बन्धी नीति है। रोडेशिया ब्रिटेन का उपनिवेश था लेकिन वहाँ के गोरे अल्पसंख्यकों ने जबरन एकतरफा आजादी तथा गणराज्य की घोषणा करके बहुसंख्यक कालों को अपना गुलाम बना लिया। ब्रिटेन ने रोडेशिया के कालों पर कुछ स्थानीय गोरों के जबरन शासन को खत्म करने के लिए अपना दायित्व पूरा नहीं किया।

है कि राष्टमंडल में गैर-गोरी जातियों का बहुमत है इसलिए यह प्रस्ताव रखा जाने वाला था कि ब्रिटेन को राष्टमंडल से निकाल दिया जाय। लेकिन ऐसा प्रस्ताव पास होना संभव नहीं था क्योंकि यदि ब्रिटेन को निकाल दिया जाता तो अन्य गोरे देश कनाडा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी राष्ट्रमण्डल छोड़ दे सकते थे।

इस पृष्ठाधार में सिंगापुर राष्टमण्डल सम्मेलन अत्यंत तनावपूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हुआ। सम्मेलन आरम्भ होने से पूर्व यह आशंका व्यक्त की जा रही थी कि यदि ब्रिटिश प्रधान मंत्री एडवर्ड हीथ ने दक्षिण अफ्रिका को हथियार देने का अपना निर्णय नहीं बदला तो तांजानिया जाम्बिया और उगांडा सम्मेलन का बहिष्कार करेंगे। यद्यपि भारतीय प्रधान मन्त्री इस सम्मेलन में स्वयं सम्मिलित नहीं हो सकी लेकिन भारतीय प्रतिनिधि ने हिन्द महासागर ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय साझा बाजार की सदस्यता और दक्षिण अफ्रिका को हथियार दिये जाने के मसलों पर बड़ा ही कड़ा रुख अपनाया। भारतीय प्रतिनिधि ने एक वक्त तो यह भी कहा कि केवल दक्षिण अफ्रिका के साथ ही नहीं बल्कि रोडेशिया और पुर्तगाल के साथ भी राष्टमंडल को कोई संबंध नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार नौ दिनों की परस्पर नोक झोंक के बाद 22 जनवरी को एक पांचसूत्री घोषणापत्र प्रकाशित कर राष्टमंडल का यह सम्मेलन समाप्त हो गया। लेकिन इस पूरी संयुक्त विज्ञप्ति में किसी भी समस्या का स्पष्ट निदान नहीं बताया गया था। इसमें मानवता की समृद्धि और सुरक्षा के लिए शांतिपूर्ण तरीकों का इस्तेमाल जाति रंग या राजनीतिक विचारधारा अलग होने के बावजूद व्यक्ति और उसके समान अधिकारों की स्वाधीनता इस बात की मान्यता कि रंगभेद एक खतरनाक बीमारी है और जातिभेद की भावना एक बुराई है को बढ़ावा नहीं दिया जायगा मानवता के विभिन्न गुटों में धन के असमान वितरण की जो खाई है उसे समाप्त किया जाना चाहिए और युद्ध के सभी कारणों को समाप्त करते हुए न्याय और सहिष्णुता की भावना पैदा करते हुए अन्तर्राष्टीय सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए की आशा व्यक्त की गयी थी। इस घोषणापत्र से यह जरूर हुआ कि राष्टमंडल में फूट की संभावना कुछ समय के लिए स्थगित हो गयी। लेकिन स्वदेश लौटने पर ब्रिटिश प्रधानमंत्री हीथ ने घोषणा की कि वह दक्षिण अफ्रिका को साइमस टाउन समझौते के अन्तर्गत हथियार देने को वचनबद्ध हैं और उसका वह पालन करेंगे। फलतः सम्मेलन के प्रारंभ से परस्पर असहमति का जो दायरा बढ़ता और फैलता-सा दीख रहा था सम्मेलन के समाप्त होने पर और फैल गया। लेकिन यह बात जरूर हुई कि सम्मेलन के दौरान में अफ्रिकी और एशियाई देशों के प्रतिनिधियों ने दिल खोलकर बातें की और इन बातों में उन्होंने ब्रिटेन को ही अपना निशाना बनाया। सिंगापुर सम्मेलन में ब्रिटेन विरोधी अभियान ने जो रुख पकड़ा उसको देखते हुए राष्टमण्डल का भविष्य अब अन्धकारमय ही माना जा सकता है।

राष्ट्रमंडल का ओटावा सम्मेलन—2 11 अगस्त 1973 को राष्टमंडल का उन्नीसवां अधिवेशन कनाडा की राजधानी ओटावा में हुआ। इस बीच राष्टमंडल की सदस्यता में कुछ परिवर्तन हो चुके थे। पाकिस्तान इस संस्था से निकल गया था क्योंकि ब्रिटेन ने 1972 के शुरू में ही बंगला देश को मान्यता दे दी थी। लेकिन पाकिस्तान की जगह बंगला देश ने ले लिया था। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद बहामा राष्टमंडल का एक नया सदस्य हुआ। इसके अलावा इसी समय फरवरी 1974 में स्वतंत्र होनेवाले कैरेबियाई द्वीप ग्रेनाडा ने भी राष्ट्रमंडल की सदस्यता ग्रहण करने की घोषणा कर दी।

ओटावा सम्मेलन में इन बातों पर विचार हुआ जिनके दौरान यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रमण्डल में अब एकता कायम नहीं रह सकता। यह तुरंत ही मालूम पड़ने लगा कि ब्रिटेन की दृष्टि में राष्ट्रमण्डल के सदस्य देशों की मित्रता से कहीं अधिक महत्व की यूरोपीय आर्थिक समुदाय का है। इस प्रश्न पर ब्रिटिश प्रधानमंत्री एडवर्ड हीथ ने राष्ट्रमण्डलीय देशों को एक वर्ष और विशेष रियायतें देने से इन्कार कर दिया जिन्हें वे ब्रिटेन से साझा बाजार में शामिल होने से पूर्व तक मुहैया हो प्राप्त करते रहे थे। इस सम्बन्ध में भारत ने एक प्रस्ताव भी रखा लेकिन ब्रिटेन ने उसे नहीं माना। राष्ट्रमण्डल के अधिकांश सदस्यों के प्रबल आग्रह के बावजूद ब्रिटिश प्रधानमंत्री हिन्द महासागर में परमाणु परीक्षण करने के लिए प्रयास को निरस्त करने के लिए भी सहमत नहीं हुए। रोडेशिया के प्रश्न पर भी इस सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं हुआ क्योंकि एडवर्ड हीथ ने साफ कह दिया कि रोडेशिया का मामला निपटाना राष्ट्रमण्डल का नहीं ब्रिटेन का उत्तरदायित्व है।

इन बातों को देखकर राष्ट्रमण्डल के भविष्य के सम्बन्ध में अब निश्चित रूप से तरह-तरह की आशंकाएं व्यक्त की जाने लगी हैं। राष्ट्रमण्डल के कार्यों से न केवल भारत में असन्तोष है, बल्कि अन्य अनेक सदस्य देश जिनमें अधिकतर अफ्रीकन और एशियाई देश हैं भी असन्तुष्ट हैं। यदि यह असन्तोष इसी प्रकार बना रहा तो राष्ट्रमण्डल की स्थापना का उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। जिस समय राष्ट्रमण्डल की स्थापना की गयी थी, इस बात का ध्यान में रखा गया था कि सम्बद्ध देशों के ब्रिटिश सरकार के प्रति सद्भावों तथा उनके आपसी विवादों को निपटाने की दिशा में वह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा। शुरू में सदस्य देशों के लिए वह एक ऐसा मंच साबित होगा जिसपर एकत्र होकर वे अपनी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के समाधान खोज सकेंगे किन्तु राष्ट्रमण्डल की उपलब्धियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि उसने अपने इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है। प्रजातीय असहिष्णुता, नव-पृथकतावाद और धनी तथा निर्धन देशों के बीच बढ़ती हुई खाई ऐसी समस्याएं हैं जो राष्ट्रमण्डल की बुनियाद का ही खोखला बना रही हैं। ब्रिटेन ने अब तक राष्ट्रमण्डल के प्रति अपने दायित्वों का भली प्रकार नहीं निभाया है और उसके इस रवैया के कारण ही सदस्य देश असन्तुष्ट हैं। यह ठीक है कि राष्ट्रमण्डल अब ब्रिटेन की बपौती संस्था नहीं रह गयी है और न इसको केवल गोरों का क्लब ही माना जा सकता है। परन्तु यह तो सच ही है कि आज भी ब्रिटेन को ही राष्ट्रमण्डल का प्रधान माना जाता है और इस दृष्टि से राष्ट्रमण्डल की समस्याओं के निराकरण में ब्रिटेन की ही जिम्मेवारी सबसे अधिक है। ब्रिटेन इस जिम्मेवारी को कहाँ तक और किस प्रकार निभाता है इस पर राष्ट्रमण्डल का भविष्य निर्भर करता है। लेकिन फिलहाल ब्रिटेन जिस नीति का अवलम्बन कर रहा है उसको देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रमण्डल के विघटन की प्रक्रिया शुरू हो गया है।

●